श्री महावीर जैन ग्रन्थमाला का चतुर्थ पुष्प

श्रीमत्सोमदेवसूरि-विरचित

'नीतिवाक्यामृतम्'

नीतिवाक्यामृत-दीपिकाख्यया भाषाटीकया समेतम्

संशोधितं द्वितीयसंस्करणम्

—अनुवादक-सम्पादक व प्रकाशक—

पं० सुन्दरलाल शास्त्री

जैनन्यायतीर्थ, प्राचीनन्यायतीर्थ व काव्यतीर्थ

अध्यक्ष—श्री महावीर जैन ग्रन्थमाला

कमच्छा बी २१/१२९ ठाकुरबाड़ी

वाराणसी (यू० पी०)

प्राक्कथन—

डॉ० नन्दकिशोर देवराज

सीनियर प्रोफेसर 'दर्शनविभाग'

हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (यू० पी०)

माघ शु० ५ वीर नि० २५०१

वि० सं० २०३२

फरवरी १९७६

द्वितीय आवृत्ति } १२५० प्रति

{ मूल्य बाईस २२ रु० सजिल्द

मुद्रक : श्री वर्द्धमान मुद्रणालय, भेलूपुर वाराणसी (यू० पी०)

समर्पण

श्रीमत्पूज्य आध्यात्मिक सन्त गुरुवर्य्य श्री १०५ क्षुल्लक

गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य के

पवित्र करकमलों में

जिन्होंने अज्ञान-तिमिर से आच्छन्न मेरा मन-मन्दिर अपने
श्रुतज्ञान-प्रदीप से प्रकाशित किया, अतः जिनकी
असीम उपकृति से अनुगृहीत हूँ।

सुन्दरलाल शास्त्री
प्राचीन न्याय-काव्यतीर्थ
सम्पादक



सुन्दरलाल शास्त्री
प्राचीनन्याय-काव्यतीर्थ
—अनुवादक, सम्पादक व प्रकाशक

प्राक्कथन

श्रीमत्सोमदेवसूरि (९५९ ई०) जैन वाङ्मय व जैनेतरवाङ्मय के एक उज्ज्वल रत्न हैं। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है और उनका प्रत्येक ग्रंथ विशिष्ट है। निस्सन्देह उनका सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ 'यशस्तिलकचम्पू' है, जो काव्य के अन्तर्गत आता है। उनका एक और ग्रंथ 'युक्तिचिन्तामणि सूत्र' है, जो एक दार्शनिक कृति है। उनका 'नीतिवाक्यामृत' एक तीसरी विधा का ग्रंथ है, जिसका संस्कृत के नीति-परक साहित्य में विशेष स्थान है।

हमारे देश और संस्कृति में सब प्रकार के ज्ञान और उसके फलभूत विवेक को विशेष महत्त्व दिया गया है। ज्ञान और विवेक की दो कोटियाँ विविक्त की जा सकती हैं, आध्यात्मिक और व्यावहारिक। हमारे यहाँ आध्यात्मिक ज्ञान प्रायः दर्शन का रूप लेता रहा है; यह ज्ञान मुक्ति की ओर ले जाने वाला है, ऐसा माना गया। यह भी कहा गया कि ज्ञान के बिना मुक्ति सम्भव नहीं है (ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः)। कहने की जरूरत नहीं कि जैन-बौद्ध तथा अन्य दर्शनों के अनुसार भी मोक्ष के लिए ज्ञान के साथ नैतिक शुद्धता भी नितान्त आवश्यक मानी गई है।

दूसरी कोटि के ज्ञान और विवेक की उपयोगिता व्यावहारिक जीवन के लिए है। तथा कथित नीति-ग्रंथ पाठको को इस तरह का विवेक देने का प्रयत्न करते हैं। इस कोटि के ग्रंथों में कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' 'शुक्रनीति', 'कामन्दकीय नीतिसार', महाभारत का 'विदुर नीति' प्रकरण-आदि प्रसिद्ध हैं। श्री सोमदेवसूरि का 'नीतिवाक्यामृत' इसी कोटि की रचना है। इस ग्रंथ की कतिपय निजी विशेषतायें हैं। समस्त ग्रंथ सूत्र शैली मे लिखा गया है, उसमें कुल मिलाकर बत्तीस समुद्देश हैं। पहला प्रकरण धर्म समुद्देश है। लेखक ने ग्रंथ का आरम्भ धर्म, अर्थ तथा काम नामक फलों को सम्भव बनाने वाले राज्य के नमस्कार से किया है। अगले सूत्र में धर्म का लक्षण दिया गया है जो वर्त्तमान 'वैशेषिक सूत्र' में पाया जाता है। अगले सूत्रों में धर्म के स्वरूप का कथन किया गया है। वास्तव में सोमदेव की अन्य कृतियों की भाँति इस कृति में भी धर्म का आग्रह प्रधान है। इस दृष्टि से यह ग्रंथ अनेक हिन्दू नीति-ग्रंथों से थोड़ी भिन्नता रखता है। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा। अनेक नीतिकारों का यह कहना है कि सेवक को—विशेषतः राजसेवक को— हर हालत में स्वामी की आज्ञा का पालन करना चाहिए। गुरु के अनुसार यदि स्वामी की आज्ञा हो तो सेवक को समुद्र पार करने के लिए और अग्नि में प्रवेश करने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। किन्तु सोमदेव का कहना है कि सेवक ऐसी आज्ञा को मानने को बाध्य नही है, जो उसके प्राणो को संकट से डालने वाली है, जिससे जनता के विरोध की आशंका हो जाय, अथवा जो पाप में प्रवृत्त कराने वाली हो (दे० पृ० १८५)। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह जैन लेखक किसी भी दशा में पापाचरण को प्रोत्साहन नही देता, और धर्म पर गौरव देता है। यों सोमदेव ने लौकिक व्यावहारिक दृष्टि से हिन्दू वर्ण व्यवस्था को समर्थन दिया है।

'नीतिवाक्यामृत' पर एक मात्र हरिबल ? की संस्कृत टीका उपलब्ध है। प्रस्तुत संस्करण के उपस्कर्ता श्री सुन्दरलाल शास्त्री ने उक्त टीका की सहायता से सोमदेव सूरि के सूत्रों का स्पष्ट, प्राञ्जल भाषा में अनुवाद उपस्थित किया है। उक्त संस्कृत टीका की एक विशेषता यह है कि टीकाकार ने जहाँ-तहाँ अन्य नीति-ग्रंथो के समान भाव प्रकट करने वाले अनेक श्लोक उद्धृत किये है। इस प्रकार पाठक को एक ही पुस्तक से

विस्तृत नीति वाङ्मय का निचोड़ प्राप्त हो जाता है। वस्तुत: नीति और विवेक के क्षेत्र में हिन्दू, जैन तथा अन्य लेखकों में आश्चर्य जनक एक रूपता पाई जाती है। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि संस्कृत वाङ्मय के नीति ग्रंथों का निर्माण विशिष्ट राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों में हुआ था। उन स्थितियों में राजा, मंत्री, गुप्तचरों आदि कीं अपनी-अपनी मर्यादायें, सीमायें, कर्तव्य और जिह्मतायें हुआ करती थीं। आज की परिस्थितियाँ तब के सामन्तवादी समाज से बहुत कुछ भिन्न हैं। फिर भी मनुष्य के स्वभाव में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ है; शासकों की मनोवृत्ति भी विभिन्न देश-कालो में प्राय: एक सी ही होती है। इन दृष्टियों से संस्कृत के नीति-साहित्य का महत्व आज भी अक्षुण्ण है। आशा है इस ग्रंथ के पाठक उसमें संचित की गई विवेक-सामग्री से लाभ और मनोरंजन दोनों प्राप्त करेंगे।

हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी
वसन्तपंचमी १५–२–७६

नन्दकिशोर देवराज
सीनियर प्रोफेसर दर्शनविभाग

सम्पादकीय

'नीयते व्यवस्थाप्यते स्वेषु स्वेषु सदाचारेषु चतुर्वर्णाश्रमलक्षणो लोको यस्यां सा नीतिः'

'नयनं विजिगीषोस्त्रिवर्गेण संयोजनं नीतिः' नीतिवाक्यामृत सं० टी० पृ० २

अर्थात्—चारों वर्णों (ब्राह्मण-आदि) व चारों आश्रमों (ब्रह्मचारी-आदि) में वर्तमान जनता, जिसके द्वारा अपने अपने सदाचारों (सत्कर्तव्यों) में स्थापित की जाती है, उसे 'नीति' कहते हैं।

अथवा विजयश्री के इच्छुक राजा को धर्म, अर्थ व काम इन तीन पुरुषार्थों में संयोग करावे उसे 'नीति' कहते हैं'। उक्त नीति को प्रतिपादन करनेवाले अमृत-सरीखे वाक्य-समूह इस शास्त्र में विद्यमान हैं, इसलिए इसे 'नीतिवाक्यामृत' कहते हैं। प्रस्तुत आचार्य प्रवर ने 'नीति' का माहात्म्य निर्देश करते हुए कहा है—

नीतिर्यथावस्थितमर्थमुपलम्भयति ॥१॥ मन्त्रिसमु० सूत्र ६१

अर्थात्—नीतिशास्त्र का ज्ञान मानव को कर्तव्य-अकर्तव्य के स्वरूप का बोध करा देता है।

नीतिकार वर्ग[१] ने भी नीति की महत्ता और अनीति का दुष्परिणाम निर्देश करते हुए कहा है कि—'माता भी पुत्र का अहित कर सकती है, परन्तु अच्छी तरह विचार-पूर्वक आचरण की हुई नीति-सदाचार प्रवृत्ति कदापि मानव का अहित नहीं कर सकती। अनीति-दुराचार-प्रवृत्ति मानव को भक्षण किये हुए विषफल के समान मार डालती है'।

राजा की दण्डनीति यदि अपराधानुरूप दण्ड देने में समर्थ नहीं है तो समस्त वर्णाश्रम-धर्म की क्षति का उल्लेख करते हुए महाभारतकार[२] ने शान्तिपर्व में कहा है—'राजा द्वारा अपराधानुरूप दण्डनीति का प्रयोग न किये जानेपर वेदत्रयी नष्ट होजाती है और संस्कृति व सदाचार के आधार वृद्धिगत हुए समस्त धर्म नष्ट हो जाते हैं एवं गृहस्थ-आदि चारों वर्णों की मर्यादा भङ्ग होजाती है। इसीप्रकार प्राचीन परम्परा से संबंधित क्षात्रधर्म अर्थात्—क्षत से रक्षा करनेवाले राजधर्म के विनाश होनेपर समस्त लोक व्यवस्था नष्ट होने की संभावना रहती है'।

नीतिशास्त्र की इस महत्वपूर्ण उपयोगिता का अनुभव करके आप्त महापुरुषों ने नीतिशास्त्रों का निर्माण किया, जिनमें कौटिल्य 'अर्थशास्त्र' कामन्दक का 'नीतिसार' श्रीमत्सोमदेवसूरि का यह 'नीतिवाक्यामृत' शुक्र, बृहस्पति एवं विदुरनीति प्रमुख है।

श्रीमत्सोमदेवसूरि ने प्रस्तुत 'नीतिवाक्यामृत' का सुन्दर प्रणयन उसप्रकार सूत्र प्रणाली का आलम्बन कर किया है जिसप्रकार आर्य चाणक्य ने कौटिल्य अर्थशास्त्र का सुन्दर प्रणयन सूत्र प्रणाली का आलम्बन कर किया है। क्योंकि बुद्धिमान व्यक्ति विस्तृत सारभूत तत्व सूत्ररूप में लिखा हुआ स्मरण रखने की क्षमता रखता है।

---

१. तथा च वर्गः—मातापि विकृतिं याति नैव नीतिः स्वनुष्ठिता। अनीतिर्भक्षयेन्मर्त्यं किंपाकमिव भक्षितम् ॥१॥

'नीतिवाक्यामृत' मन्त्रिसमुद्देश सूत्र ६१ का उद्धरण—

२. तथा चोक्तं—'मज्जेत त्रयी दण्डनीतौ हतायां, सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विवृद्धाः।

सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युः, क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे ॥१॥ —महाभारत शान्तिपर्व।

श्रीमद्विद्यानन्दि स्वामी[1] ने अपने 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' में सूत्र का लक्षण निर्देश करते हुए लिखा है कि 'अनेक वर्णों के समूह को 'पद' और सार्थक, सार-युक्त पदसमूह को 'सूत्र' एवं सूत्र-समूह को 'प्रकरण' कहते हैं।

सूत्रवेत्ता[2] विद्वानों ने कहा है कि 'ऐसी गद्यरचना 'सूत्र' है, जो कि अल्प अक्षरों वाली, संशय-हीन, सार-युक्त और व्यापक अर्थ-शालिनी है, अर्थात्—जिसपर भाष्य और वार्तिक लिखे जा सकें। इसीप्रकार जो विराम-शून्य और निर्दोष है'।

श्रीमदुमास्वामी ने 'मोक्षशास्त्र' का ललित प्रणयन भी सूत्र प्रणाली में किया है, जिसपर पूज्यपाद स्वामी ने 'सर्वार्थसिद्धि भाष्य, अकलङ्कस्वामी ने 'तत्त्वार्थ राजवार्तिक' और श्रीमद्विद्यानन्दि स्वामी ने २० हजार श्लोकपरिमाण 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' का सुन्दर प्रणयन किया है।

इसीतरह गौतम ऋषि ने न्यायदर्शन का प्रणयन और कणाद ऋषि ने वैशेषिक दर्शन का प्रणयन सूत्र प्रणाली में किया है, उक्त सूत्रों पर वात्स्यायन-आदि ऋषियों ने 'वात्स्यायन भाष्य' और वार्तिक-आदि निर्माण कर अद्भुत प्रकाश डाला है।

संशोधन में उपयोगी प्राचीन ह० लि० प्रतियाँ—

हमने ५-६ वर्ष पर्यन्त कठोर साधना करके 'नीतिवाक्यामृत' की अनुसन्धान-पूर्ण 'नीतिवाक्यामृत-दीपिका' नाम की भाषाटीका सन् १९५० में प्रकाशित की थी, उस समय इसका संशोधन निम्नप्रकार ह० लि० प्राचीन प्रतियों के आधार पर किया गया था—

१ 'क' प्रति—यह ह० लि० मूल प्रति नं० ७३७, जो कि सन् १८७५-७६ में लिखी गई है, भाण्डारकर रिसर्च गवर्न० लायब्रेरी पूना की है।

२. 'ख' प्रति—यह ह० लि० मू० प्रति नं० १०१२, जो कि सन् १८८७ से १८९१ में लिखी गई है, भाण्डारकर रिसर्च गवर्न० लायब्रेरी पूना की है।

उक्त दोनों प्रतियाँ श्री० धर्म० वा० नेमिचन्द्रजी एडवोकेट सहारनपुर एवं श्री० धर्म० वा० विशालचन्द्र जी बी० ए० एल० एल० बी० आनरैरी मजिस्ट्रेट सहारनपुर के विशेष प्रयत्न करनेपर प्राप्त हुई थीं, अतः उक्त दोनों श्रुतभक्त सज्जनों को हार्दिक धन्यवाद।

३. 'ग' प्रति—यह ह० लि० संस्कृत-टीका-युक्त प्राचीन प्रति श्री० दि० जैन सरस्वती भवन आरा की है, जो कि श्री० के० भुजवली शास्त्री के सौजन्य से प्राप्त हुई थी। अतः हम उक्त शास्त्री जी के कृतज्ञ हैं।

४. 'घ' प्रति—यह ह० लि० मू० प्रति श्री० दि० जैन पंचायती मन्दिर मस्जिद खजूर देहली की है, जो कि श्री० धर्म० वा० बाबूरामजी के सौजन्य से प्राप्त हुई थी, अतः हम उक्त सज्जन के आभारी हैं।

५. 'च'—यह मु० मू० ग्रन्थ है, जो कि बम्बई के गोपालनारायण प्रेस में मुद्रित हुआ है और श्री० श्रद्धेय पं० नाथूरामजी प्रेमी की कृपा से प्राप्त हुआ था। अतः हम प्रेमीजी के आभारी हैं।

हमने इसमें मु० सटीक प्रति का संस्कृत मूल पाठ ज्यों का त्यों प्रकाशित किया है परन्तु जहाँपर प्रायः उद्धरणों संबंधी श्लोकों में कोई अशुद्धि प्रतीत हुई उसे शुद्ध कर दिया है और अधूरे उद्धरणों के श्लोकों को नई पद्य रचना करके परिवर्तित कर दिया है।

---

१. तथा च विद्यानन्दिस्वामी—वर्णात्मकं हि पदं पदसमुदायविशेषः सूत्रं सूत्र-समूहः प्रकरणं। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ?

२. तथा चोक्तं—अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवत् विश्वतोमुखं। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥१॥

इसी तरह ह० लि० प्राचीन प्रतियों के पाठान्तर या अधिक पाठ मूल पाठ में शामिल कर सूत्रों की संख्या में वृद्धि कर दी है।

इस क्लिष्ट ग्रन्थ की उलझी हुई गुत्थियों के सुलझाने में हमें इसकी महत्त्वपूर्ण संस्कृत टीका का आधार मिला। इसी तरह भाषानुवाद को पल्लवित करने में या प्रामाणिक निर्णय देने में 'यशस्तिलकचम्पू', 'आदि पुराण', कौटिल्य 'अर्थशास्त्र', कामन्दकीय 'नीतिसार' व चरकसंहिता-आदि ग्रन्थों का आधार मिला। अतः प्रस्तुत नीतिवाक्यामृत की 'नीतिवाक्यामृत-दीपिका' नाम की भाषाटीका विशेष अध्ययन, मनन और अनुसन्धान-पूर्ण लिखी गई है। इसमें मूलग्रन्थकार की आत्मा ज्यों की त्यों बनाए रखने का भरसक प्रयत्न किया गया है। शतशः सही अनुवाद किया गया है। साधारण संस्कृत पढ़े हुए सज्जन इसे पढ़कर मूल ग्रन्थ लगा सकते हैं और सूत्रों को याद करके अपनी लेखनकला व वक्तृत्व कला मे प्रवीणता प्राप्त कर सकते हैं।

इस ग्रन्थ का संस्कृत टीकाकार राजनैतिक विषय का बहुश्रुत प्रकाण्ड विद्वान् था; उसमें राजनीति के ग्रन्थों की टीका लिखने की यथेष्ट योग्यता थी। क्योंकि उसने सोमदेव सूरि के प्रायः सभी सिद्धान्त भारतीय प्राचीन नीतिकारों के उद्धरणों द्वारा अभिव्यक्त किये है।

हमने स्वयं इसके प्रूफ संशोधन किये हैं, अतः प्रकाशन भी शुद्ध हुआ है, परन्तु कतिपय स्थलों में दृष्टि-दोष से और कतिपय स्थलों में प्रेस की असावधानी से कुछ अशुद्धियाँ (रेफ या मात्रा का कट जाना या छपते समय कोई अक्षर टूट जाना-आदि) रह गई हैं। उसके लिए पाठक महानुभाव क्षमा करते हुए अन्त में प्रकाशित हुए शुद्धिपत्र से संशोधन करते हुए अनुगृहीत करेंगे ऐसी आशा है।

●

आभार

प्रस्तुत श्रुत-सेवा के प्रशस्त कार्य में हमें सबसे अधिक प्रोत्साहन व प्रेरणा श्री० १०८ पूज्य मुनिराज पुष्पदन्तसागरजी महाराज लखनऊ से प्राप्त हुई। अर्थात्—आपने 'नीतिवाक्यामृत' के प्रकाशनार्थ लखनऊ के श्रुतभक्त उदार सज्जनों एवं श्रुतभक्त महिलासमाज से, जिनके नाम अन्त में 'धन्यवाद' शीर्षक में उल्लेख किये गए हैं, सन्तोषजनक आर्थिक सहयोग प्रदान कराकर अनुगृहीत किया, अतः मैं उनका चिरकृतज्ञ हूँ।

इसी तरह चातुर्मास के कारण वाराणसी आये हुए श्री १०८ पूज्य मुनिराज आर्यनन्दी महाराज संस्थापक श्री पार्श्वनाथ दि० जैन ब्रह्मचर्याश्रम (गुरुकुल) एलोरा, (औरंगाबाद) से भी विशेष प्रोत्साहन व प्रेरणा मिली. अर्थात्—आपने भी प्रस्तुत शास्त्र के प्रकाशनार्थ श्रुतभक्त सज्जनों व महिलासमाज से आर्थिक सहयोग दिलाया, अतः मैं इनका भी चिरकृतज्ञ हूँ।

इसीप्रकार श्री १०८ मुनिराज पुष्पदन्तसागर जी महाराज के संघ की श्री धर्म० ब्र० प्यारी देवी का भी आभारी हूँ, जिनका प्रस्तुत सत्कार्य में सहयोग रहा। इसीप्रकार इलाहाबाद, लखनऊ, कानपुर, आगरा, दिल्ली, मिरजापुर, वाराणसी आदि के श्रुतभक्त प्रतिष्ठित उदार सज्जनो एवं श्रुतभक्त महिलाओं का भी, जिनके नाम 'धन्यवाद' शीर्षक में प्रकाशित किये गये हैं, आभारी हूँ।

श्री० श्रद्धेय डॉ० नन्दकिशोर देवराज जी सीनियर प्रोफेसर 'दर्शनविभाग' हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी (यू० पी०) का भी मैं विशेष आभारी एवं चिरकृतज्ञ हूँ, जिन्होंने प्रस्तावना श्रवण कर समुचित सुझाव दिए एवं अनेक व्यस्तताओ के बावजूद भी महत्वपूर्ण साङ्गोपाङ्ग 'प्राक्कथन' लिखकर अनुगृहीत किया।

ग्रन्थ का मुद्रण वाराणसी में हुआ है, अतः समुचित सुझाव व सम्मतियाँ देनेवाले स्थानीय विद्वानों (श्री० श्रद्धेय पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, श्री पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री, श्री पं० दरबारीलाल जी न्यायाचार्य, श्री पं० अमृतलाल जी दर्शन व साहित्याचार्य, प्रो० खुशालचन्द्र जी एम० ए० साहित्याचार्य) का एवं समुचित सुझाव देनेवाले श्री पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य, प्राचार्य श्री दि० जैन संस्कृत महाविद्यालय सागर का भी आभारी हूँ।

हमारे पड़ोसी श्री बा० बलिराम जी M. S. C. वरिष्ठ तकनिकी सहायक धातुकीय अभियान्त्रिक विभाग हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी का भी आभारी हूँ, जिन्होंने यथासमय प्रेस के कार्य में सहयोग प्रदान किया।

श्री० माननीय पं० रामरघुवीरदास जी साहित्यशास्त्री महन्त जो ठाकुरवाड़ी वाराणसी का भी विशेष आभारी हूँ, जो कि बहुत समय से मकान-आदि की सुविधा प्रदान कर श्रुतसेवा में सहयोग प्रदान कर रहे है।

श्री० पं० रणजीतसिंह जी मिश्र व्याकरण व साहित्याचार्य वाराणसी का भी विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने संस्कृत में की हुई ललित पद्य-रचना द्वारा हमारी 'नीतिवाक्यामृत-दीपिका' नाम की भाषाटीका को प्रमाणीभूत व सही अर्थ प्रकट करनेवाली बताकर सुयोग्य निर्णय दिया।

श्री धर्म० ला० बाबूलाल जी, ला० माणिकचन्द्र जी, ला० कपूरचन्द्र जी एवं ला० नरेन्द्रकुमार जी क्लॉथमर्चेन्ट एवं तमाखूमर्चेन्ट का भी आभारी हूँ, जिन्होंने प्रस्तुत श्रुत-सेवा में सन्तोषजनक आर्थिक सहयोग प्रदान किया।

श्री वर्द्धमान मुद्रणालय जवाहरनगर कालोनी वाराणसी के अध्यक्ष श्री० चि० बा० राजकुमार जी B. Com. का भी विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने प्रस्तुत 'नीतिवाक्यामृत' के मुद्रण में विशेष सुविधाएँ प्रदान की।

सुन्दरलाल शास्त्री
प्राचीन न्याय-काव्यतीर्थ
—सम्पादक

प्रस्तावना

'नीतिवाक्यामृत' और आचार्यप्रवर 'श्रीमत्सोमदेवसूरि'।

ग्रन्थ-परिचय

'नीतिवाक्यामृत' संस्कृत वाङ्मय वल्लरी का अनुपम व अतिशय सुगन्धित सुमन है। इसके रचयिता आचार्यप्रवर 'श्रीमत्सोमदेवसूरि' हैं, जो कि उच्चकोटि के दार्शनिक, महाकवि, धर्माचार्य और राजनीति के बहुश्रुत प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनका समय विक्रम की ११वीं शताब्दी का प्रथम पाद है। इस विशाल ग्रन्थरत्न में मानवीय जोवन-स्तर को ऊँचे उठानेवाली धर्मनीति, अर्थनीति, समाजनीति व विशेष रूप से विशुद्ध राजनीति का विशद एव ललित विवेचन है। अर्थात्—मानव संसार को अपनी मर्यादा में स्थिर रखनेवाले राज्य-शासन का एव उसे पल्लवित, सर्वाद्धित व सुरक्षित रखनेवाले राजनैतिक तत्वों का इसमे वैज्ञानिक दृष्टिकोण से गम्भीर विचार किया गया है, अतः मन्थन किये हुए नीतिसमुद्र की इस सारभूत सुधा (अमृत) पान से हमारे पाठक अवश्य सन्तृप्त एवं आल्हादित होगे। संस्कृत गद्यमय सूत्र-पद्धति से लिखे हुए इस विशाल ग्रन्थ में धर्म, अर्थ, काम व अरिषड्वर्ग-समुद्देश प्रभृति नामवाले ३२ समुद्देश (अध्याय) हैं, एव प्रत्येक समुद्देश में 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि स धर्मः' ॥१॥ अधर्मः पुनरेतद्विपरीतफलः ॥२॥ इत्यादि क्रम से ५१, ११, १७, ७, आदि सब मिलाकर १५५० सूत्र है तथा समुद्देशों के नामो के अनुरूप विषय निरूपित है।

ऐसे महत्त्वपूर्ण सस्कृत नैतिक ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवादित होना स्वाधीनता-प्राप्त भारतीय बन्धुओं के लिए विशेष उपयोगी था, अत समाज व राष्ट्र के नैतिक जीवन पुष्प को विकसित करने के उद्देश्य से मै ६ वर्ष की कठोर साधना के पश्चात् इसका अभूतपूर्व, सरल, विस्तृत, ललित, अनुसन्धान-पूर्ण व भावपूर्ण हिन्दी अनुवाद ३२० पृष्ठों मे पाठक-पाठिकाओं को भेंट कर सका हूँ।

प्राचीन राजनैतिक साहित्य—

राजनैतिक ग्रन्थों में से 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' जिसका सुन्दर प्रणयन २२२५ वर्ष पूर्व मौर्यवशज सम्राट् चन्द्रगुप्त के लिए 'आर्य चाणक्य' ने किया था, राजनैतिक तत्वो से ओतः प्रोत है। नन्दवश का मूलोच्छेद करके उसके सिंहासन पर 'चन्द्रगुप्त' को आरूढ़ करानेवाले आर्य चाणक्य प्रकाण्ड राजनीतिज्ञ थे, उनकी राजनैतिक बहुश्रुत विद्वत्ता का प्रतीक यह 'अर्थशास्त्र' है।

आर्य चाणक्य के पश्चात्कालीन एक और प्राचीन कामन्दक का 'नीतिसार' ग्रन्थ उपलब्ध है। यह पद्यमय (श्लोक बद्ध) है, इसमें भी राजनैतिक तत्वों का अच्छा विश्लेषण है।

'कामन्दक' के 'नीतिसार' के बाद हमारी धारणा के अनुसार यह 'नीतिवाक्यामृत' ग्रन्थ ही ऐसा प्रणयन किया गया है, जो कि उक्त दोनों ग्रन्थों की श्रेणी में रक्खा जा सकता है, क्योंकि इसमे शुद्ध राजनैतिक सिद्धान्तों का ललित निरूपण किया गया है।

'नीतिवाक्यामृत' की संस्कृत टीका में उल्लिखित बृहस्पति, शुक्र, भारद्वाज व गर्ग-आदि प्राचीन नीतिकारों के उद्धरणों से प्रतीत होता है कि आचार्यप्रवर श्रीमत्सोमदेवसूरि के समक्ष तत्कालीन समस्त राजनैतिक साहित्य उपलब्ध था और उससे वे आर्य चाणक्य के समान परिचित थे तथापि नये अनुभव एव नये महत्त्वपूर्ण तत्वों

का सम्मिश्रण किये जाने से इसमें ग्रन्थकार की स्वतन्त्र प्रतिभा और मौलिकता प्रत्येक स्थान में प्रस्फुटित हुई प्रतीत होती है।

ग्रन्थकर्ता का परिचय—

'नीतिवाक्यामृत' के रचयिता आचार्यप्रवर श्रीमत्सोमदेवसूरि हैं, जो कि दि० सम्प्रदाय में प्रसिद्ध व प्रामाणिक चार संघों में से देवसंघ के आचार्य थे। नीतिवाक्यामृत की गद्यप्रशस्ति[1] व 'यशस्तिलकचम्पू' की पद्यप्रशस्ति[2] से विदित होता है कि 'सोमदेवसूरि' के गुरु का नाम 'नेमिदेव' व दादा गुरु का नाम 'यशोदेव' था एवं ये 'महेन्द्रदेव' भट्टारक के अनुज (लघुभ्राता) थे। उक्त तीनों महात्माओं (यशोदेव, नेमिदेव व महेन्द्रदेव) एवं सोमदेव की शिष्य परम्परा के संबध में कोई ऐतिहासिक सामग्री (उनकी रचना व शिलालेख-आदि) उपलब्ध न होने से हम कुछ निर्णय न दे सके। प्रस्तुत ग्रन्थकार के गुरु प्रकाण्ड दार्शनिक थे, क्योंकि उन्होंने ९३ वादियों को परास्त कर विजयश्री प्राप्त की थी। इसी प्रकार महेन्द्रदेव भट्टारक की 'वादीन्द्रकालानल' उपाधि उनकी दिग्विजयिनी दार्शनिक विद्वत्ता प्रकट करती है।

ग्रन्थकार की दार्शनिक विद्वत्ता—

श्रीमत्सोमदेवसूरि अपने गुरु व अनुज-सरीखे उद्भट दार्शनिक विद्वान् थे; क्योंकि उन्होंने अपने 'यशस्तिलकचम्पू' के प्रारम्भ में कहा है—

आजन्मसमभ्यासाच्छुष्कात्तर्कात्तृणादिव ममास्याः। मतिसुरभेरभवदिदं सूक्तिपयः सुकृतिनां पुण्यैः ॥१॥

यश० आ० १ श्लोक १७

अर्थात्—सूखी घास के समान जन्मपर्यन्त अभ्यास किये हुए (पक्षान्तर में भक्षण किये हुए) दर्शनशास्त्र के कारण मेरी इस बुद्धिरूपी गाय से यह 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य रूप दूध विद्वानो के पुण्य से उत्पन्न हुआ है। उपमा व रूपकालंकार होने से संकरालंकार।

इसी से यह बात प्रमाणित होती है कि ग्रन्थकर्ता के जीवन का बहुभाग दर्शनशास्त्र के अभ्यास में व्यतीत हुआ था। इसीप्रकार 'स्याद्वादाचलसिंह', 'वादीभपंचानन', 'तार्किकचक्रवर्ती' उपाधियाँ उनकी प्रकाण्ड दार्शनिक विद्वत्ता की प्रतीक हैं। आचार्यप्रवर श्रीमत्सोमदेवसूरि ने अपने 'यशस्तिलकचम्पू' के पंचम आश्वास में सांख्य, जैमिनीय, वाममार्गी व चार्वाकदर्शन के पूर्वपक्ष किये है पश्चात् उनका अनेक प्रबल और अकाट्य दार्शनिक युक्तियों द्वारा निरसन किया है। यथा—

घृष्यमाणो यथाङ्गारः शुक्लतां नैति जातुचित्। विशुद्ध्यति कुतश्चित्तं निसर्गमलिनं तथा ॥१॥

यश० आ० ५ पृ० १५३ श्लोक ६४

न चापरमितस्तादृशः समर्थोऽस्ति यदर्थोऽयं तपः प्रयासः सफलायासः स्यात्। आ० ५ पृ० १५३।

यतः द्वादशवर्षा योषा षोडशवर्षोचितस्थितिः पुरुषः। प्रीतिः परा परस्परमनयोः स्वर्गः स्मृतः सद्भिः ॥

आ० ५ पृ० १५३ श्लोक ६५

अर्थात्—'धूमध्वज' नाम के विद्वान् ने मीमांसक मत का आश्रय लेकर सुदत्ताचार्य से कहा—'जिस

---

१. देखिए नीतिवाक्यामृत का अन्तिम पृष्ठ।

२. श्रीमानस्ति स देवसंघतिलको देवो यशः पूर्वकः। शिष्यस्तस्य बभूव सद्गुणनिधिः श्रीनेमिदेवाह्वयः। तस्याश्चर्यतपःस्थितेस्त्रिनवतेर्जेतुर्महावादिनां। शिष्योऽभूदिह सोमदेव यतिपस्तस्यैष काव्यक्रमः ॥१॥

यश० चं० आश्वास८(श्लोक ४९२)

प्रकार वर्षण किया हुआ अङ्गार (कोयला) कभी भी शुक्लता—शुभ्रता को प्राप्त नहीं होता उसीप्रकार स्वभावतः मलिन चित्त भी किन कारणों से विशुद्ध हो सकता है ? अपितु नहीं हो सकता'।

परलोक स्वभाव वाला स्वर्ग प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं है, जिस निमित्त यह तपश्चर्या का खेद सफल खेद-युक्त हो सके। क्योंकि बारह वर्ष की स्त्री और सोलह वर्ष की योग्य आयु वाला पुरुष, इन दोनों की परस्पर उत्कृष्ट प्रीति (दाम्पत्य प्रेम) को सज्जनों ने स्वर्ग कहा है।'

इदमेव च तत्त्वमुपलभ्याकापि नीलपटेन—

स्त्रीमुद्रां झषकेतनस्य महतीं सर्वार्थसंपत्करीं, ये मोहादवधीरयन्ति कुधियो मिथ्याफलान्वेषिणः।
ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं मुण्डीकृताः लुञ्चिताः केचित् पञ्चशिखीकृताश्च जटिनः कापालिकाश्चापरे ॥१॥

यश० आ० ५ पृ० १५९ श्लोक ७७

अर्थात्—जो मूढ़ बुद्धि झूँठे स्वर्गादि फल का अन्वेषण करनेवाले होकर अज्ञान-वश कामदेव की सर्व-श्रेष्ठ और समस्त प्रयोजनरूप संपत्ति सिद्ध करनेवाली स्त्री मुद्रा का तिरस्कार करते हैं, वे मानों—उसी कामदेव द्वारा विशेष निर्दयतापूर्वक ताड़ित कर मुण्डन किये गए अथवा केश उखाड़नेवाले कर दिये गए एवं मानों—पंच शिखायुक्त (चोटीधारी) किये गए। और कोई तपस्वी कापालिक किये गए[1]।

चण्डकर्मा—'यावज्जीवेत् सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः। भस्मीभूतस्य शान्तस्य पुनरागमनं कुतः ॥

यश० पृ० १५७, श्लोक ७९।

अर्थात्—चण्डकर्मा कहता है—कि निम्न प्रकार नास्तिक दर्शन की मान्यता स्वीकार करनी चाहिए—'जब तक जियो तब तक सुखपूर्वक जीवन-यापन करो, क्योंकि संसार में कोई भी मृत्यु का अविषय नहीं है। अर्थात्—सभी काल-कवलित होते हैं। भस्म की हुई शान्त देह का पुनरागमन किस प्रकार हो सकता है ? अपितु नहीं हो स ता'।

इसके पश्चात् यश० आ० ५, पृ० १५९ से लेकर आचार्यप्रवर ने प्रबल व अकाट्य युक्तियों द्वारा उक्त दार्शनिकों का निरसन किया है।

इससे प्रमाणित होता है कि श्रीमत्सोमदेवसूरि में अनोखी प्रकाण्ड दार्शनिक विद्वत्ता थी।

सोमदेवसूरि का महाकवित्व—

श्रीमत्सोमदेवसूरि द्वारा सुन्दर प्रणयन किया हुआ 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य, जिसके दोनों खंडों (पूर्वार्द्ध व उत्तरार्द्ध) की हम अनुसन्धानपूर्ण 'यशस्तिलक-दीपिका' नाम की भाषाटीका करके प्रकाशित कर चुके हैं, उनके महाकवित्व का प्रतीक है अथवा ज्वलन्त प्रमाण है। क्योंकि इसमें प्रसाद, माधुर्य व ओज ये तीनों काव्यगुण वर्तमान हैं। यह संस्कृत साहित्यसागर का अमूल्य, अनोखा व बेजोड़ रत्न है। इसमें यशोधर महाराज के चरित्र-चित्रण को आधार बनाकर राजनीति, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, आयुर्वेद, ज्योतिष एवं सुभाषित-आदि विषयों के ज्ञान का विशाल खजाना वर्तमान है। अतः यह समूचे संस्कृत साहित्य में अपनी महत्वपूर्ण अनोखी विशेषता रखता है। इसका गद्य 'कादम्बरी' व 'तिलकमञ्जरी' की टक्कर का ही नहीं प्रत्युत उससे भी विशेष महत्वपूर्ण व क्लिष्टतर है। प्रस्तुत महाकाव्य अष्टसहस्री-प्रमाण अर्थात्—आठ हजार श्लोक परिमाण, गद्य, पद्य पद्धति से लिखा गया है। यह सुभाषित व नीतिरत्नों का आकर है। माघ काव्य

१. व्यङ्ग्योत्प्रेक्षालंकारः।

के समान इसके पढ़ लेने पर संस्कृत भाषा का कोई नया शब्द अवशिष्ट नहीं रहता। इसमें हजारों शब्द ऐसे हैं, जो कि वर्तमान कोशग्रन्थों में नहीं पाये जाते। व्यवहार-पटुता और विषय व्युत्पत्ति कराने में यह ग्रन्थ अपूर्व है।

इसके सिवाय सोमदेवसूरि के 'वाक्कल्लोलपयोनिधि' 'कविकुलराज' आदि विशेषण इनके महाकवित्व के प्रदर्शक हैं।

ग्रन्थकार ने स्वयं कहा है—'मैं शब्द और अर्थ-पूर्ण सारे सारस्वत रस (साहित्य रस) को भोग चुका हूँ, अतः अब जो अन्य कवि होंगे वे निस्सन्देह उच्छिष्ट भोजी (जूँठा खाने वाले) होंगे। अर्थात्—वे कोई नई बात न कह सकेंगे।'[1]

धर्माचार्यत्व—यद्यपि अभी तक श्री सोमदेवसूरि का कोई स्वतंत्र धार्मिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है परन्तु 'यशस्तिलक' के अन्तिम तीन आश्वास (६-८), जिनमें उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) साङ्गोपाङ्ग दार्शनिक पद्धति से निरूपण किया गया है एवं 'यशस्तिलक' के चतुर्थ आश्वास में वैदिकी हिंसा का निरसन करके अहिंसा तत्त्व की मार्मिक व्याख्या की गई है, इससे उनका धर्माचार्यत्व प्रकट होता है।

राजनीतिज्ञता—श्रीमत्सोमदेवसूरि के राजनीतिज्ञ होने का प्रमाण उनका 'नीतिवाक्यामृत' तो है ही, इसके सिवाय 'यशस्तिलक' के तृतीय व चतुर्थ आश्वास में भी यशोधर महाराज का चरित्र-चित्रण करते समय राजनीति की मन्दाकिनी प्रवाहित की गई है, यह भी उनकी राजनीतिज्ञता की प्रतीक है।

विशाल अध्ययन—'यशस्तिलकचम्पू' और 'नीतिवाक्यामृत' उनका विशाल अध्ययन प्रकट करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके समय में जितना भी जैन व जैनेतर साहित्य (न्याय, व्याकरण, काव्य व नीति और दर्शन-आदि) उपलब्ध था, उसका उन्होंने गम्भीर व तलस्पर्शी अध्ययन किया था।

ग्रन्थकर्ता का समय और स्थान—'यशस्तिलकचम्पू'[2] की प्रशस्ति में लिखा है कि 'चैत्र शुक्ल १३ शक सं० ८८१ (विक्रम संवत्त १०१६) को, जिससमय श्री 'कृष्णराजदेव' पाण्ड्य, सिंहल, चोल व चेरम प्रभृति राजाओं को जीतकर 'मेलपाटी' नामक सेना-शिविर में थे, उस समय उनके चरणकमलोपजीवी सामन्त 'वद्दिग' की (जो चालुक्यवंशीय 'अरिकेसरी' के प्रथम पुत्र थे) राजधानी 'गंगाधारा'* में यह काव्य समाप्त हुआ और 'नीतिवाक्यामृत' 'यशस्तिलक' के बाद की ललित रचना है, क्योंकि 'नीतिवाक्यामृत' की पूर्वोक्त प्रशस्ति में ग्रन्थकार ने अपने को 'यशस्तिलक' महाकाव्य का कर्ता प्रकट किया है इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रशस्ति लिखते समय वे 'यशस्तिलकचम्पू' का सुन्दर प्रणयन कर चुके थे।

---

१. तथा च सोमदेव सूरिः—मया वागर्थसंभारे भुक्ते सारस्वते रसे। कवयोऽन्ये भविष्यन्ति नूनमुच्छिष्टभोजनाः ॥१॥
यश० उ० आ० ४ श्लोक नं० २२३ पृ० ९५।

२. 'शकनृपकालातीतसंवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु अङ्कतः (८८१) सिद्धार्थसंवत्सरान्तर्गतचैत्रमासमदनत्रयोदश्यां पाण्ड्य-सिंहल-चोल-चेरमप्रभृतीन् महीपतीन् प्रसाध्य मल्पाटी (मेलपाटी) प्रवर्धमानराज्यप्रभावे श्रीकृष्णराजदेवे सति तत्पादपद्मोपजीविनः समधिगतपञ्चमहाशब्दमहासामन्ताधिपतेश्चालुक्यकुलजन्मनः सामन्तचूडामणेः श्रीमदरिकेसरिणः प्रथमपुत्रस्य श्रीमद्वागराजस्य लक्ष्मीप्रवर्धमानवसुधारायां गङ्गाधारायां विनिर्मापितमिदं काव्यमिति।'

*. चालुक्यों की एक शाखा 'जोल' नामक प्रान्त पर राज्य करती थी, जिसका एक भाग इस समय के धारवाड़ जिले में आता है और श्री० आर० नरसिंहाचार्य के मत से चालुक्य अरिकेसरी की राजधानी 'पुलगेरी' में थी, जो कि इस समय 'लक्ष्मेश्वर' के नाम से प्रसिद्ध है। गङ्गाधारा भी संभवतः वही है।

दक्षिण के इतिहास से विदित होता है कि उक्त कृष्णराजदेव (तृतीय कृष्ण) राष्ट्रकूट या राठोर वंश के महाराजा थे और इनका दूसरा नाम 'अकाल वर्ष' था। ये अमोघवर्ष तृतीय के पुत्र थे। इनका राज्यकाल कम से कम शक संवत् ८६७ से ८९४ (विक्रम संवत् १००२ से १०२९) तक प्राय: निश्चित है। ये दक्षिण के सार्वभौम राजा थे और बड़े प्रतापी थे। इनके अधीन अनेक माण्डलिक या करद राज्य थे। 'कृष्णराजदेव' ने जैसा कि सोमदेवसूरि ने 'यशस्तिलक' में लिखा है—सिंहल, चोल, पाण्ड्य और चेरम राजाओं को युद्ध में परास्त किया था। इनके समय में कनड़ी भाषा का सुप्रसिद्ध कवि 'पोन्न' हुआ है, जो जैन था और जिसने 'शान्तिपुराण' नामक श्रेष्ठग्रन्थ की रचना की है। महाराज कृष्णराजदेव के दरबार से उसे 'उभयभाषा कवि चक्रवर्ती' की उपाधि मिली थी।

राष्ट्रकूटों या राठोरों द्वारा दक्षिण के चालुक्य (सोलंकी) वंश का सार्वभौमत्व अपहरण किये जाने से वह निष्प्रभ होगया था। अत: जब तक राष्ट्रकूट सार्वभौम रहे तब तक चालुक्य उनके आज्ञाकारी सामन्त या माण्डलिक बनकर रहे।

अतः अरिकेसरी का पुत्र 'वद्दिग' ऐसा ही एक सामन्त राजा था, जिसकी 'गङ्गाधारा' नाम की राजधानी में 'यशस्तिलक' का ललित प्रणयन हुआ। इसी 'अरिकेसरी' के समय कनड़ी भाषा का सर्वश्रेष्ठ जैनकवि 'पम्प' हुआ है, जिसको रचना पर मुग्ध होकर 'अरिकेसरी' ने उसे 'धर्मपुर' नाम का एक ग्राम पारितोषिक में दिया था। उसके द्वारा प्रणीत दो ग्रन्थ ही इस समय उपलब्ध है—

१. 'आदिपुराण चम्पू' और २. भारत विक्रमार्जुन विजय। पिछले ग्रन्थ का प्रणयन शक संवत् ८६३ (विक्रम सं० ९९८) में 'यशस्तिलक' से १८ वर्ष पूर्व हो चुका था। इसकी रचना के समय अरिकेसरी राज्य करता था। तब उसके १८ वर्ष बाद 'यशस्तिलक के ललित प्रणयन के समय उसका पुत्र सामन्त 'वद्दिग' राज्य करता होगा, यह इतिहास से प्रमाणित होता है। अत: 'नीतिवाक्यामृत' चालुक्यवंशीय अरिकेसरी के पुत्र सामन्त 'वद्दिग' की प्रेरणा से प्रणीत हुआ था, यह निर्णीत है।

उपसंहार—ऐतिहासिक नवीन अनुसन्धान व चिन्तन-आदि पुष्कल परिश्रम व समयाश्रित होते है, अत: हम प्रस्तुत प्रस्तावना में ग्रन्थ व ग्रन्थकर्त्ता के विषय में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से संक्षिप्त प्रकाश डाल सके हैं, आशा है कि सहृदय पाठक-पाठिकाएँ इसे इसी दृष्टि से पढ़ेगी। इति शम्।

वाराणसी
माघ शु० ५ वीर नि० २५०१
वि० सं० २२३२

विनीत—
सुन्दरलाल शास्त्री
प्राचीनन्याय-काव्यतीर्थ
—सम्पादक

एक अमूल्य सम्मति

[प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय में]

श्री० विद्वद्वर्य्य पं० रणजीतसिंह जी मिश्र, व्याकरण व साहित्याचार्य, वाराणसी

शार्दूलविक्रीडितच्छन्दः

यस्यादौ ललितं पदं च सततं नीतिस्सदाचारभाक् । यस्यान्ते हि सुशोभतेऽमृतपदं मध्ये तु वाक्यप्रदं ॥
श्रीमत्सोमकदेवसूरिरचितो ग्रन्थोऽयमन्वर्थभाक् । नैवाद्यापि कृता विशिष्टकृतिना टीका मनोहारिणी ॥१॥
लोकान्वीक्ष्य सदा विमोहितधियो ग्रन्थावबोधं विना । तद्ग्रन्थार्थविशेषवर्णनपरा भावार्थबोधे क्षमा ॥
श्रीमत्सुन्दरलालसौम्यविदुषा टीका हि भाषा कृता । यत्रत्यां च निरीक्ष्य बोधनकलां चित्ते प्रमोदो महान् ॥२॥
अत्रत्यं विपुलं श्रमं बुधवरे पाण्डित्यरूपं तथा । लोकानामुपकारिणीं सुललितां युक्तार्थसंबोधिनीं ।
नव्यां सर्वजनप्रियां गुणवतीं टीकां समालोक्य च । श्रीमत्सुन्दरलालविज्ञनिपुणो योग्यो मतो मादृशां ॥३॥

वंशस्थवृत्तम्

इयं हि टीकाऽध्ययनानुरागिणां विवेकहेतुः प्रतिवादकर्मणां ।
सदोपकारं सुदृढं विधास्यति मतं समीचीनमनारतं मम ॥४॥

अर्थ—अभी तक किसी भी विशिष्ट विद्वान् ने श्रीमत्सोमदेवसूरि के 'नीतिवाक्यामृत' ग्रन्थ को, जो कि सार्थक नामशाली है, चित्त को प्रमुदित करनेवाली भाषा टीका का सुन्दर प्रणयन नहीं किया ॥१॥

जन-समूह को 'नीतिवाक्यामृत' के ज्ञान के बिना, अर्थात्—नैतिक ज्ञान के बिना सदा अज्ञानी देखकर सौम्य प्रकृतिशाली श्रीमत्सुन्दरलाल शास्त्री द्वारा ऐसी भाषा टीका का ललित प्रणयन किया गया है, जो कि ग्रन्थ का सही अर्थ विशेष रूप से निरूपण करने में तत्पर है और भावार्थ प्रकट करने की क्षमता रखती है। जिस टीका की समझाने की कला देखकर निस्सन्देह हमारे चित्त में विशेष आल्हाद (हर्ष) हो रहा है ॥२॥

इस प्रशस्त कार्य संबंधी प्रचुर परिश्रम और टीकाकार की विद्वत्ता देखकर एवं जन-समूह का उपकार करनेवाली, नवीन, सर्वजन-समूह को प्यारी और गुणशालिनी भाषा टीका देखकर श्रीसुन्दरलालजी शास्त्री विद्वानों में निपुण हैं और हम सरीखे विद्वानों द्वारा सुयोग्य विद्वान् माने गये हैं ॥३॥

हमारी यह समीचीन व निश्चित मान्यता है कि यह भाषा टीका, इसके अध्ययन करने में अनुराग करनेवालों के ज्ञान में निमित्त होगी तथा वाद-विवाद करनेवालों या वक्तृत्व कला सीखने वालों का सदा दृढ़ उपकार करेगी ॥४॥

विषयानुक्रमणिका



श्रीसमन्तभद्राय नमः

श्रीमत्सोमदेवसूरि-विरचितं

नीतिवाक्यामृतम्

नीतिवाक्यामृत-दीपिका-नामभाषाटीका-समेतम्

मङ्गलाचरणम्

सोमं सोमसमाकारं सोमाभं सोमसंभवम् ।
सोमदेवं मुनिं नत्वा नीतिवाक्यामृतं ब्रुवे ॥१॥

अर्थ—अक्षयकीर्तिमान, चन्द्रमाके सदृश कान्तियुक्त, अन्तरङ्ग लक्ष्मी (अनन्तदर्शन-अनन्तज्ञानादि) और वहिरङ्ग लक्ष्मी (समवसरणविभूति-आदि) से अलङ्कृत, सोमवंश (चन्द्र वंश) में उत्पन्न होनेवाले एवं त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जाननेवाले (सर्वज्ञ) ऐसे चन्द्रप्रभ तीर्थङ्कर को नमस्कार करके मैं 'नीतिवाक्यामृत'[1] शास्त्र का प्रतिपादन करता हूँ ॥१॥

अनुवादक का मङ्गलाचरण—

जो हैं मोक्षमार्ग के नेता, अरु रागादि विजेता हैं । जिनके पूर्णज्ञान-दर्पण में, जग प्रतिभासित होता है ॥
जिनने कर्मशत्रु-विध्वंसक, नीतितीर्थ दरशाया है । ऐसे श्री ऋषभादि प्रभु को, शत-शत शीश झुकाया है ॥ १ ॥

१. धर्मसमुद्देशः

राज्य-वन्दना—

अथ धर्मार्थकामफलाय राज्याय नमः ॥१॥

अर्थ—धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि करने वाले राज्य को नमस्कार है ॥ १ ॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] के उद्धरण में भी कहा है कि 'ऐसे राज्यरूप वृक्ष को नमस्कार है, जिसकी सन्धि व विग्रह-आदि षड् गुण शाखाएँ हैं, साम, दान-आदि मनोज्ञ पुष्प हैं और जो धर्म, अर्थ, काम रूप फलों को देनेवाला है'।

---

१. चारोंवर्ण (ब्राह्मण-आदि) तथा चारों आश्रमों (ब्रह्मचारी-आदि) में वर्तमान जनता जिसके द्वारा अपने-अपने सदाचारों (सत्कर्तव्यों) में स्थापित की जाती है उसे 'नीति' कहते हैं । अथवा विजयश्री के इच्छुक राजा को धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों से संयोग कराये उसे 'नीति' कहते हैं। उक्त नीति को प्रतिपादन करनेवाले अमृत-सरीखे वाक्य-समूह इस शास्त्र में वर्तमान हैं, अतः इसे 'नीतिवाक्यामृत' कहते हैं ।

२. तथा च शुक्रः—नमोऽस्तु राज्यवृक्षाय षाड्गुण्याय प्रशाखिने । सामादिचारुपुष्पाय त्रिवर्गफलदायिने ॥१॥

धर्म का लक्षण—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥२॥

अर्थ–जिन सत्कर्तव्यों से मानव को स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है उसे 'धर्म' कहते हैं।

विशेषार्थ—'यशस्तिलकचम्पू'[1] में श्रीमत्सोमदेवसूरि ने षष्ठ आश्वास से लेकर अष्टम आश्वास पर्यन्त धर्म की विस्तृत और साङ्गोपाङ्ग व्याख्या की है, पाठकों को उक्त शास्त्र के आधार से जान लेनी चाहिए ॥२॥

अधर्म का लक्षण—

अधर्मः पुनरेतद्विपरीतफलः ॥३॥

अर्थ–जिस कार्य का फल स्वर्ग और मोक्ष से विपरीत हो अर्थात्-नरक और तिर्यञ्च गति के दुःख उत्पन्न करने वाला हो वह 'अधर्म' है ॥३॥

विशेषार्थ–नारद[2] के उद्धरण का अर्थ है कि 'कौलों (नास्तिकों) ने मद्यपान, मांसभक्षण और परस्त्री सेवन-आदि दुष्कर्मों को धर्म माना है परन्तु उनसे प्राणियों को नरक के भयानक दुःख होते हैं, अतः बुद्धिमानों को उनसे दूर रहना चाहिए'।

श्रीमत्सोमदेवसूरि[3] ने 'यशस्तिलक' में कहा है–कि 'हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पांच पाप, प्रमाद अर्थात्-कुशल क्रियाओं में अनादर करना, निर्दयता, तृष्णा-वृद्धि और इन्द्रियों की इच्छानुकूल प्रवृत्ति को असंयम अर्थात् अधर्म कहा है।'

धर्म प्राप्ति के उपाय—

आत्मवत्परत्र कुशलवृत्तिचिन्तनं शक्तितस्त्यागतपसी च धर्माधिगमोपायाः ॥४॥

अर्थ—अपने ही समान दूसरे प्राणियों का हित (कल्याण) चिन्तवन करना, शक्ति के अनुसार पात्रों को दान देना और तपश्चर्या करना ये धर्म-प्राप्ति के उपाय हैं ॥४॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत आचार्य[4] श्री ने 'यशस्तिलक' में लिखा है कि—'नैतिक मानव को समस्त प्राणियों में मैत्रीभाव (समस्त प्राणी सुखी हों) का चिन्तवन करते हुए जो ज्ञानादि गुणो मे विशिष्ट हों, उनके प्रति प्रमोद भाव (हार्दिक प्रेम) का चिन्तन करना चाहिए। दुःखी जीवों के प्रति करुणा और गुणों से हीन (असभ्य उद्धत) पुरुषों के प्रति माध्यस्थ्य भाव (रागद्वेष न करना) का चिन्तवन करना चाहिए।'

यथा शक्ति त्याग के विषय में शुक्र[5] ने लिखा है कि 'विवेकी मानव को अपने धन के अनुसार दान करना चाहिए, जिससे उसके कुटुम्ब को पीड़ा न होने पावे'। जो मूर्ख मनुष्य कुटुम्ब को पीड़ा पहुँचाकर शक्ति से बाहर दान करता है, उसे धर्म नही कहा जा सकता, किन्तु वह पाप है, क्योंकि उससे दाता को अपना देश छोड़ना पड़ता है'।

---

१. देखिए—हमारे द्वारा अनुवादित यश० चं० आश्वास ६ से ८ पर्यन्त।

२. तथा च नारदः—मद्यमांसाशनासंगैर्यो धर्मः कौलसम्मतः। केवलं नरकायैव न स कार्यो विवेकिभिः ॥ १ ॥

३. तथा च सोमदेवसूरिः—अव्रतित्वं प्रमादित्वं निर्दयत्वमतृप्तता। इन्द्रियेच्छानुवर्तित्वं सन्तः प्राहुरसंयमम् ॥ १ ॥
यश० चं० आ० ६ श्लोक १२०

४. तथा च सोमदेवसूरिः—मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि यथाक्रमम्। सत्वे गुणाधिके क्लिष्टे निर्गुणेऽपि च भावयेत् ॥१॥
यश० चं० आ० ७ श्लोक ६५

५. तथा च शुक्रः—आत्मवित्तानुसारेण त्यागः कार्यो विवेकिना। कृतेन येन नो पीडा कुटुम्बस्य प्रजायते ॥१॥
कुटुम्बं पीडयित्वा तु यो धर्मं कुरुते कुधीः। न स धर्मो हि पापं तद्देशत्यागाय केवलं ॥२॥

यथाशक्ति तप करने के विषय में गुरु[1] ने कहा है कि 'जो मानव अपने शरीर को कष्ट पहुँचाकर व्रतों का पालन करता है उसकी आत्मा सन्तुष्ट नहीं होती, अतः आत्म-संतोष के अनुरूप तपश्चर्या करनी चाहिए '।

सर्वोत्तम सत्कर्तव्य—

सर्वसत्वेषु हि समता सर्वाचरणानां परमं चरणम् ॥५॥

अर्थ—समस्त प्राणियों में समताभाव रखना अर्थात् उनकी रक्षा करना सभी सत्कर्तव्यों में सर्वोत्तम कर्तव्य है।

विशेषार्थ—शास्त्रकारों[2] ने लिखा है कि संसार में जितने भी दान, शील, जप व तप-आदि पुण्य कार्य हैं, उन सब में समता (अहिंसा—प्राणिरक्षा) का स्थान सर्व श्रेष्ठ है; क्योंकि दयारूपी नदी के किनारे अन्य सर्व धर्म (दान व शीलादि) तृण और घास की तरह उत्पन्न होते हैं; अतः उसके सूख जानेपर अन्य धर्म किस प्रकार सुरक्षित रह सकते हैं ?

यशस्तिलक[3] में उल्लेख है कि अकेली जीवदया एक ओर है और बाकी की समस्त धार्मिक क्रियाएँ दूसरी ओर हैं, अर्थात्-अन्य समस्त धार्मिक क्रियाओं से जीवदया श्रेष्ठ है; क्योंकि अन्य समस्त धार्मिक क्रियाओं का फल खेती करने सरीखा (भविष्य कालीन) है और जीव दया का फल चिन्तामणि रत्न सरीखा है। अर्थात् अभिलषित वस्तु तत्काल देता है। केवल अहिंसाव्रत के माहात्म्य से ही दयालु मानव दीर्घायु, भाग्यशाली, लक्ष्मीवान्, सुन्दर व कीर्तिमान् होता हैं !

स्वामी समन्तभद्राचार्य[4] ने भी कहा है कि अहिंसा प्राणियों को संसार में परब्रह्म पद (मुक्तिश्री) प्रदान करती है ॥५॥

जीवद्रोहियों की दशा का वर्णन—

न खलु भूतद्रुहां काऽपि क्रिया प्रसूते श्रेयांसि ॥६॥

अर्थ—निस्सन्देह प्राणियों की हिंसा करनेवाले निर्दयी (जीवद्रोही) पुरुषों की कोई भी पुण्य क्रिया कल्याण कारिणी नहीं होती ॥६॥

विशेषार्थ—व्यास[5] का उद्धरण भी समानार्थक है।

अहिंसक होने का फल—

परत्राजिघांसुमनसां व्रतरिक्तमपि चित्तं स्वर्गाय जायते ॥७॥

अर्थ—दूसरे प्राणियों पर अहिंसा का भाव रखने वाले दयालु पुरुषों की विशुद्ध चित्तवृत्ति व्रत-हीन होने पर भी स्वर्ग के सुखों को देनेवाली होती है ॥७॥

---

१. तथा च गुरुः—शरीरं पीडयित्वा तु यो व्रतानि समाचरेत् । न तस्य प्रीयते चात्मा तत्तुष्ट्यास्तप आचरेत् ॥१॥

२. उक्तं च—दयानदीमहातीरे सर्वे धर्मास्तृणाङ्कुराः । तस्यां शोषमुपेतायां कियन्नन्दन्ति ते चिरम् ॥१॥—संगृहीत

३. तथा च सोमदेवसूरिः—एका जीवदयैकत्र परत्र सकलाः क्रियाः । परं फलं तु पूर्वत्र कृषेश्चिन्तामणेरिव ॥१॥
आयुष्मान् सुभगः श्रीमान्सुरूपः कीर्तिमान्नरः । अहिंसाव्रतमाहात्म्यादेकस्मादेव जायते ॥२॥
यश० चं० आ० ७ श्लोक ९२-९३ पृ० ३१२

४. तथा च समन्तभद्राचार्यः—अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं-बृहत्स्वयंभूस्तोत्र से संकलित—

५. तथा च व्यासः—अहिंसकानि भूतानि यो हिनस्ति स निर्दयः । तस्य कर्मक्रिया व्यर्था वर्द्धन्ते चापदः सदा ॥१॥

विशेषार्थ—व्यास[1] का उद्धरण भी समानार्थक है।

असत् त्याग का दुष्परिणाम—

स खलु त्यागो देशत्यागाय यस्मिन् कृते भवत्यात्मनो दौःस्थित्यम् ॥८॥

अर्थ—जिस त्याग से दाता के समस्त कुटुम्बीजन दरिद्र होकर दुःखी होजाते हैं वह त्याग उसे देश-त्याग करा देता है ॥८॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] के उद्धरण से भी उक्त बात का स्पष्टीकरण होता है।

अविवेकी याचक की कटु आलोचना—

स खल्वर्थी परिपन्थी यः परस्य दौःस्थित्यं जानन्नप्यभिलषत्यर्थम् ॥९॥

अर्थ—जो याचक दूसरे की दरिद्रता को जानता हुआ भी उससे धन की याचना करता है वह निश्चय से उसका शत्रु है ॥९॥

विशेषार्थ—बृहस्पति[3] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

शक्ति के अनुसार व्रत-नियम करने का निर्देश—

तद्व्रतमाचरितव्यं यत्र न संशयतुलामारोहतः शरीरमनसी ॥१०॥

अर्थ—मानव को उस व्रत-नियम का पालन करना चाहिये, जिससे उसका शरीर और मन क्लेशित न हो ॥१०॥

विशेषार्थ—चारायण[4] के उद्धरण से भी यही अभिप्राय प्रकट होता है

श्रीमत्सोमदेवसूरि[5] ने 'यशस्तिलकचम्पू' में व्रत के दो लक्षण किये हैं—

सेवनीय वस्तु का संकल्प पूर्वक त्याग करना व्रत है अथवा प्रशस्त कार्यों (दान, पूजा व व्रतादि) में प्रवृत्ति करना और अप्रशस्त निन्द्य-कार्यों (मिथ्यात्व व अन्याय-आदि) के त्याग करने को व्रत कहते हैं।

त्याग का माहात्म्य—

ऐहिकामुत्रिकफलार्थमर्थव्ययस्त्यागः ॥११॥

अर्थ—इसलोक व परलोक सम्बन्धी सुखों की प्राप्ति-हेतु पात्रों के लिए धनादिक देना त्यागधर्म है। अर्थात्—दाता को जिस दान से ऐहिकफल (कीर्ति, सन्मान व कौटुम्बिक श्रीवृद्धि-आदि)एवं पारलौकिक फल (स्वर्गश्री-आदि) प्राप्त हों, उसे त्यागधर्म कहा है ॥११॥

विशेषार्थ—चारायण[6] के उद्धरण में कहा है कि 'धूर्तों, मल्लों, खोटे वैद्यों, जुआरी-आदि के लिए दिया हुआ धन व्यर्थ हैं।

---

१. तथा च व्यासः—येषां परविनाशाय नात्र चित्तं प्रवर्तते। अव्रता अपि ते मर्त्याः स्वर्गं यान्ति दयान्विताः ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—आगतेरधिकं त्यागं यः कुर्यात् तत्सुतादयः। दुःस्थिताः स्युः ऋणग्रस्ताः सोऽपि देशान्तरं व्रजेत्॥१॥

३. तथा च बृहस्पतिः—असन्तमपि यो लौल्याज्जानन्नपि च याचते। साधुः स तस्य शत्रुर्हि यद्दुःखेन प्रयच्छति ॥१॥

४. तथा च चारायणः—अशक्त्या यः शरीरस्य व्रतं नियममेव वा। करोत्यार्तो भवेत्पश्चात् पश्चात्तापात् फलच्युतिः ॥१॥

५. तथा च सोमदेवसूरिः—सकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमो व्रतमुच्यते। प्रवृत्तिविनिवृत्ती वा सदसत्कर्मसंभवे ॥१॥
यश० आ० ७ श्लोक ४७

६. तथा च चारायणः—धूर्ते वंदिनि मल्ले च कुवैद्ये कैतवे शठे। चाटुचारणचौरेषु दत्तं भवति निष्फलं ॥१॥

प्रस्तुत आचार्य[1] श्री ने कहा है कि 'प्राणियों का मन प्रशस्त होने पर भी यदि तप, दान व ईश्वर-भक्ति से रहित है तो वह निस्सन्देह उसप्रकार तप-आदि से होनेवाले फल (स्वर्गश्री-आदि) को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता जिसप्रकार कोठी में भरे हुए धान्य बीज प्रशस्त (अंकुर उत्पन्न करने की शक्तिवाले) होने पर भी धान्य के अंकुरों को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते।

आचार्य[2] श्री ने 'यशस्तिलक' में लिखा है कि 'विद्वानों ने अभय, आहार, औषधि और ज्ञानदान के भेद से चार प्रकार का दान पात्रों के लिए भक्तिपूर्वक यथाशक्ति देने का विधान बताया है। प्रत्येक दान का फल निर्देश करते हुए कहा है कि अभयदान (प्राणियों की रक्षा) से दाता को सुन्दर रूप मिलता है, आहार-दान से भोग सामग्री प्राप्त करनेवाला होता है एवं औषधि दान से निरोगता प्राप्त होती है तथा शास्त्रदान से श्रुतकेवली होता है।

अपात्र में दान देने की निष्फलता—

भस्मनि हुतमिवापात्रेष्वर्थव्ययः ॥१२॥

अर्थ—अपात्र अथवा कुपात्र में धन का व्यय करना राख के ढेर में आहुति देने के समान निरर्थक है ॥१२॥

विशेषार्थ—नारद[3] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

यशस्तिलक[4] में उल्लेख है कि 'भक्ति, तत्वज्ञान व सदाचाररूप रत्नत्रय से शून्य (मिथ्यादृष्टि) मानव को विद्वानों ने अपात्र कहा है, उसके लिए दिया हुआ समस्त दान उसप्रकार निरर्थक है जिस प्रकार ऊसर भूमि में बोया हुआ बीज निरर्थक होता है। पात्रों के लिए दिया हुआ आहार-आदिका दान गृहस्थ श्रावकों की पुण्य-वृद्धि के लिए होता है; क्योंकि निस्सन्देह मेघों का जल सीप में ही पड़ने से मोती होता है अन्यत्र नहीं।

जिनके चित्त मिथ्यात्व से ग्रस्त (आविष्ट) हैं और जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह इन पाप क्रियाओं में प्रवृत्ति करते हैं उनके लिए दान देना वैसा दोष-जनक होता है, जैसे साँप को दूध पिलाना दोष-जनक होता है।

पात्र-भेद—

पात्रं च त्रिविधं धर्मपात्रं कार्यपात्रं कामपात्रं चेति ॥१३॥

अर्थ—पात्र (दान देने योग्य) तीन प्रकार के हैं—धर्मपात्र, कार्यपात्र और कामपात्र।

विशेषार्थ—जिनकी शिक्षा, दीक्षा और सदाचार से हमारा जीवन नैतिक-धार्मिक बने, वह 'धर्मपात्र' है। स्वामी के अनुकूल चलने वाले, चतुर, कर्तव्य-निपुण सेवकों को 'कार्यपात्र' कहा है। इन्द्रिय-जनित सुख का अनुभव करनेवाले मानवों का मन जिसके शरीर-स्पर्श से सुखी होता है, ऐसी उपभोग-योग्य अपनी धर्म-पत्नी 'कामपात्र' है; क्योंकि उससे इहलोक व परलोक सुधरता है ॥१३॥

---

१. तथा च सोमदेवसूरिः—तपोदानार्चनाहीनं मनः सदपि देहिनां। तत्फलप्राप्तये न स्यात् कुशूलस्थितबीजवत् ॥१॥
यश० चं० आ० ८ श्लोक ३३७

२. तथा च सोमदेवसूरिः—अभयाहारभैषज्यश्रुतभेदाच्चतुर्विधम्। दानं मनीषिभिः प्रोक्तं भक्तिशक्तिसमाश्रयम् ॥१॥
सौरूप्यमभयादाहुराहाराद्भोगवान् भवेत्। आरोग्यमौषधाज्ज्ञेयं श्रुतात् स्याच्छ्रुतकेवली ॥२॥
यश० चं० आ० ८ श्लोक ३१४-३१५

३. तथा च नारदः—कुभृत्ये च कुयाने च कुशास्त्रे कुतपस्विनि। कुमित्रे कुत्सिते नार्ये व्ययो भस्महुतं यथा ॥१॥

४. देखिए—यशस्तिलक आ० ८ श्लोक ३४२—३४४

विशेषार्थ—वशिष्ठ[1] ने भी कहा है—कि 'दाता को धर्मपात्र स्वर्ग-सुख देता है। कार्यपात्र लौकिक प्रयोजनों की सिद्धि करता है और कामपात्र उभयलोक में सुखदायक है।'

अन्य पात्र—

एवं कीर्तिपात्रमपीति केचित्[A] ॥१४॥

अर्थ—कोई नीतिकार उक्त पात्रों के सिवाय चौथा 'कीर्तिपात्र' भी मानते हैं। अर्थात्—जिसको दान देने से दाता की कीर्ति हो, वह 'कीर्तिपात्र' है ॥१४॥

कीर्ति-दूषण—

किं तया कीर्त्या या आश्रितान्न बिभर्ति प्रतिरुणद्धि वा धर्मं[2]। भागीरथी-श्री-पर्वतवद्भावानामन्यदेव प्रसिद्धेः कारणं न पुनस्त्यागः यतो न खलु गृहीतारो व्यापिनः सनातनाश्च ॥१५॥

अर्थ—जिससे आश्रितों (अधीन में रहनेवाले कुटुम्बियों तथा सेवकों) का पालन-पोषण न हो सके और जो धार्मिक प्रगति को रोकती है—धर्म के प्रतिकूल हो—उस कीर्ति से क्या लाभ? अर्थात् उसे अपकीर्ति समझनी चाहिए।

गंगा, लक्ष्मी और विन्ध्य व हिमालय-आदि पर्वत विशेष के समान प्रसिद्धि का कारण कुछ दूसरा ही होता है त्याग नहीं; क्योंकि दान ग्रहण करने वाले व्यक्ति व्यापक (विशेष ख्याति-प्राप्त व लोक-प्रसिद्ध) एवं सनातन (शाश्वत रहने वाले) नहीं होते ॥१५॥

विशेषार्थ—विदुर[2] के दो उद्धरणों का अर्थ है कि—'मूर्ख लोग अपने अधीन रहने वालों को पीड़ित करके और धर्म को दूर छोड़कर जो कीर्ति प्राप्त करते है, उनकी उस प्रचुर कीर्ति से क्या लाभ? जुआरी और शराबी लोग स्वार्थवश जिसकी प्रशंसा करते हों एवं व्यभिचारिणी स्त्रियाँ जिसके गुण-गान करती हों, उसकी कीर्ति अपकीर्ति ही समझनी चाहिये।'

अर्थ-दूषण—

स खलु कस्यापि माभूदर्थो यत्रासंविभागः शरणागतानाम् ॥१६॥

अर्थ—जिस धन में से शरणागतों का विभाग न किया जाय (भोजन व वस्त्रादि के प्रदान द्वारा सन्मान न किया जाय) ऐसा कृपण का धन किसी को न हो ॥१६॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[3] ने भी कहा है—कि 'उस कृपण की सम्पत्ति से क्या लाभ? जिसे वह अपनी स्त्री-सरीखी स्वयं भोगता है एवं जिसकी सम्पत्ति वेश्या-सरीखी सर्व-साधारण नहीं है; जो कि पान्थों द्वारा भोगी जा सके'।

एकान्त लोभी की कटु आलोचना—

अर्थिषु संविभागः स्वयमुपभोगश्चार्थस्य हि द्वे फले, नास्त्यौचित्यमेकान्तलुब्धस्य ॥१७॥

---

१. तथा च वशिष्ठः—स्वर्गाय धर्मपात्रं च कार्यपात्रमिह स्मृतं। कामपात्रं निजा कान्ता लोकद्वयप्रदायकं ॥१॥

A. मु० मू० पुस्तक से संगृहीत—सम्पादक

२. तथा च विदुरः—आश्रितान् पीडयित्वा च धर्मं त्यक्त्वा सुदूरतः। या कीर्तिः क्रियते मूढैः किं तयापि प्रभूतया ॥१॥
कैतवा यं प्रशंसन्ति यं प्रशंसन्ति मद्यपाः। यं प्रशंसन्ति बन्धक्यो कीर्तिः साऽकीर्तिरूपिणी ॥२॥

३. तथा च वल्लभदेवः—किं तया क्रियते लक्ष्म्या या वधूरिव केवला। या न वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते ॥१॥

अर्थ—निस्सन्देह सम्पत्ति के दो ही प्रयोजन हैं—याचकों के लिये दान देना और स्वयं उपभोग करना। निरन्तर लोभी के धनका कोई 'औचित्य' नहीं अर्थात्—कृपण को दान और प्रिय वचनों द्वारा दूसरों के लिए सन्तुष्ट करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता ॥१७॥

सुभाषितरत्नभाण्डागार'[1] में कहा है कि 'कृपण और कृपाण (तलवार) इनमें केवल 'आ' (दीर्घमात्रा) का ही भेद है, बाकी सर्व धर्म समान हैं; क्योंकि कृपण अपना धन मुष्टि में रखता है और तलवार भी मुष्टि में धारण की जाती है। कृपण अपने कोष (खजाने) में बैठा रहता है और तलवार भी कोष (म्यानं) में रक्खी जाती है। कृपण मलिन रहता है और कृपाण-तलवार भी मलिन (काली) होती है।'

औचित्य का लक्षण—

दानप्रियवचनाभ्यामन्यस्य हि सन्तोषोत्पादनमौचित्यम् ॥१८॥

अर्थ—दान और प्रिय वचनों द्वारा दूसरों को सन्तुष्ट करने को 'औचित्य' कहते हैं ॥१८॥

यथार्थ लोभी कौन है ?

स खलु लुब्धो यः सत्सु विनियोगादात्मना सह जन्मान्तरेषु नयत्यर्थम् ॥१९॥

अर्थ—निस्सन्देह सच्चा लोभी वही है, जो कि सज्जनों के लिए दान देकर अपने साथ परलोक में धन लेजाता है।

भावार्थ—धन का लोभी लोभी नहीं किन्तु जो उदार है, उसे सच्चा लोभी कहा गया है; क्योंकि पात्र-दान के प्रभाव से उसकी सम्पत्ति अक्षय होकर जन्मान्तर (स्वर्ग-आदि) में मिल जाती है। यहाँपर ग्रन्थकार ने सत्पात्र में दान देने की प्रशंसा की है ॥१९॥

विशेषार्थ—वर्ग[2] का उद्धरण भी समानार्थक है।

दान न देकर मीठो बातों से याचक को रोक रखने वाले की निन्दा—

अदातुः प्रियालापोऽन्यस्य लाभस्यान्तरायः ॥२०॥

अर्थ—जब याचक को दान न देनेवाला व्यक्ति केवल उसे मीठे वचनों से रोक लेता है तो वह उसे अन्य स्थान से मिलने वाले दान की क्षति करता है ॥२०॥

विशेषार्थ—वर्ग[3] ने भी कहा है—कि 'जो मनुष्य याचक को कुछ नहीं देता और स्पष्ट मनाई करके उसे छोड़ देता है, यद्यपि उस समय उसकी आशा भङ्ग होजाती है, परन्तु भविष्य में उसे दुःख नहीं होता'।

सदा दरिद्र असहाय होता है—

सदैव दुःस्थितानां को नाम बन्धुः ॥२१॥

अर्थ—सदैव दुर्दशा (दरिद्रता) में पड़े हुए का कोई सहायक नहीं होता ॥२१॥

विशेषार्थ—जैमिनि[4] ने लिखा है—कि 'दरिद्र व्यक्ति यदि किसी के गृह पर उपकार करने की इच्छा से जाता है, तो वह उसे देखकर 'कहीं यह मुझ से कुछ माँग न लेवे' इस आशङ्का से छिप जाता है।'

१. तथा चोक्तं सुभाषितरत्नभाण्डागारे—दृढतरनिबद्धमुष्टेः कोषनिषण्णस्य सहजमलिनस्य। कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेदः ॥१॥

२. तथा च वर्गः—दत्तं पात्रेऽत्र यद्दानं जायते चाक्षयं हि तत्। जन्मान्तरेषु सर्वेषु दातुस्तैवोपतिष्ठते ॥१॥

३. तथा च वर्गः—प्रत्याख्यानमदाता ना याचकाय करोति यः। तत्क्षणाच्चैव तस्याशा वृथा स्यान्नैव दुःखदा ॥१॥

४. तथा च जैमिनिः—उपकर्तुमपि प्राप्तं निःस्वं दृष्ट्वा स्वमन्दिरे। गुप्तं करोति चात्मानं गृही याचनशङ्कया ॥१॥

याचक के दोष—

नित्यमर्थयमानात् को नाम नोद्विजते ॥२२॥

अर्थ—सदा माँगनेवाले याचक से कौन नहीं घबड़ाता ? ॥२२॥

विशेषार्थ—व्यास[1] का उद्धरण भी समानार्थक है।

तप का लक्षण—

इन्द्रियमनसोर्नियमानुष्ठानं तपः ॥२३॥

अर्थ—पाँच इन्द्रिय (स्पर्शन-आदि) और मन को वश में करते हुए नियमों अर्थात्-शास्त्र-निरूपित कर्तव्यों में प्रवृत्ति करना और शास्त्र-निषिद्ध अकर्तव्यों (हिंसा, मिथ्याभाषण-आदि) से निवृत्ति करना तप है।

विशेषार्थ—आचार्यश्रीने[2] यशस्तिलक में कहा है कि 'तपोनिधियों ने ऐसी शारीरिक क्रिया (उपवास-आदि) व मानसिक क्रिया (प्रायश्चित्त-आदि) को तप कहा है, जो कि अन्तरङ्ग (राग, द्वेष व मोह-आदि) और वहिरङ्ग मल के सन्ताप से सन्तप्त हुई आत्मा की शुद्धि में कारण है।'

शास्त्रकारों[3] ने कहा है कि 'जिस प्रकार अग्नि के विना चाँवल-आदि नही पकाये जा सकते, मिट्टी के विना घट नहीं वन सकता तथा तन्तुओं के विना वस्त्र की उत्पत्ति नहीं हो सकती उसी प्रकार उत्कट तपश्चर्या के विना कर्मों का क्षय नहीं हो सकता' ॥२३॥

नियम का लक्षण—

विहिताचरणं निषिद्धपरिवर्जनं च नियमः ॥२४॥

अर्थ—शास्त्रों में विहित आचार (अहिंसा-आदि) का परिपालन करना और निषिद्ध आचार (हिंसा व मद्यपान-आदि) का परित्याग करना ही नियम है ॥२४॥

विशेषार्थ—नारद[4] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

कर्तव्य-अकर्तव्य में शास्त्र की प्रामाणिकता—

विधिनिषेधावैतिह्यायत्तौ ॥२५॥

अर्थ—कर्तव्य व अकर्तव्य ऐतिह्य (आगम) के अधीन हैं। अर्थात्—श्रेयस्कर कर्तव्यों में प्रवृत्ति और ऐहिक व पारलौकिक दुःखदायक अकर्तव्यों से निवृत्ति का निर्णय पूर्वापर के विरोध से रहित एवं युक्ति-सिद्ध आगम (शास्त्र) ही कर सकता है ॥२५॥

विशेषार्थ—भागुरि[5] ने भी कहा है कि 'शास्त्र-विहित कर्तव्य का पालन करने से प्राणी का शाश्वत कल्याण होता है और शास्त्र-निषिद्ध कार्य भस्म में हवन करने के समान निष्फल होते हैं।

कौन से शास्त्र प्रमाण मानने चाहिए ?

तत्खलु सद्भिः श्रद्धेयमैतिह्यं यत्रन *प्रमाणवाधा पूर्वापरविरोधो वा ॥२६॥

---

१. तथा च व्यासः—मित्रैवं बन्धुवानौ वातिप्रार्थनादित कुर्यात् ? अपि वत्समनिपिबन्तं विषाणैरभिक्षिपति धेनुः ॥१॥

२. देखिए यशस्तिलक आ० ८ श्लोक ४६६

३. देखिए कस्तूरी प्रकरण का तपोद्वार।

४. तथा च नारदः—यद्व्रतं क्रियते सम्यगन्तरायविवर्जितं। न भक्षयेन्निषिद्धं यो नियमः स उदाहृतः ॥१॥

५. तथा च भागुरिः—विधिना विहितं कृत्यं परं श्रेयः प्रयच्छति। विधिना रहितं यच्च यथा भस्महुतं तथा ॥१॥

* 'स्वप्रमाण' इति मु० मू० पुस्तके पाठः।

अर्थ—सज्जनों को उसी ऐतिह्य (आगम) पर श्रद्धा करनी चाहिए, जो कि प्रमाणों से बाधित (प्रतिकूल) न हो और जो पूर्वापर के विरोध से रहित हो ॥२६॥

विशेषार्थ—आचार्य[1] श्री ने 'यशस्तिलक' में लिखा है—कि 'जो आगम परस्पर विरोधी बातों का कथन करनेवाला है व युक्ति (तर्कप्रमाण) से बाधित है, शराबी या पागल की बकवाद-सरीखा वह आगम कैसे प्रमाण माना जा सकता है ?'।

नारद[2] विद्वान् ने भी कहा है कि—'जो अपने सिद्धान्त के माहात्म्य को नष्ट न करता हो अर्थात्—उसकी प्रतिष्ठा करता हो और पूर्वापर के विरोध से रहित हो ऐसे आगम को सत्पुरुष प्रशंसा करते हैं ।'

चंचलचित्तवालों के आचारों की निष्फलता—

हस्तिस्नानमिव सर्वमनुष्ठानमनियमितेन्द्रियमनोवृत्तीनाम् ॥२७॥

अर्थ—जिनकी इन्द्रियाँ और मन काबू में नहीं हैं, उनके समस्त सत्कार्य (दान-आदि) हाथी के स्नान की तरह निष्फल है। जिसप्रकार हाथी स्नान करके पुनः अपने शरीर पर सूँड़ से धूलि डालकर गन्दा होजाता है उसीप्रकार चंचल चित्त व चंचल इन्द्रिय वाले व्यक्ति शुभानुष्ठान के साथ असदनुष्ठान करके अपना शुभानुष्ठान व्यर्थ कर देते है ॥२७॥

विशेषार्थ—सौनक[3] का उद्धरण भी समान अभिप्राय का निरूपक है।

शास्त्रकारो[4] ने कहा है—'जो व्यक्ति इन्द्रियों को वश में किये विना ही शुभ ध्यान करने की लालसा रखता है, वह मूर्ख अग्नि के विना जलाए ही रसोई बनाना चाहता है और जहाज के विना केवल भुजाओं से ही अगाध समुद्र पार करना चाहता है एवं खेत में बीजों के विना बोये ही धान्योत्पत्ति करना चाहता है।'

ज्ञान के अनुकूल आचरण न करनेवाले की कटु आलोचना—

दुर्भगाभरणमिव देहखेदावहमेव ज्ञानं स्वयमनाचरतः ॥२८॥

अर्थ—जो व्यक्ति अनेक शास्त्रों का ज्ञाता विद्वान् होकरके भी शास्त्र विहित आचार (अहिंसा-आदि) के परिपालन मे प्रवृत्ति नही करता, उसका प्रचुरज्ञान दाम्पत्यप्रेम व सन्मान-आदि प्राप्त न कर सकने वाली अभागिनी स्त्री के आभूषण धारण करने के समान व्यर्थ होता है ॥२८॥

विशेषार्थ—राजपुत्र[5] के उद्धरण में भी उक्त विषय का निरूपण है।

(यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्—विष्णुशर्मा)

(सौभाग्यं हि सुदुर्लभम्—वादीभसिंहसूरिः)

परोपदेश की सुलभता—

सुलभः खलु कथक इव परस्य धर्मोपदेशे लोकः ॥२९॥

अर्थ—दूसरों को धर्मोपदेश देने में कुशल पुरुष कथावाचकों की तरह सर्वत्र सुलभ होते हैं ॥२९॥

१. तथा च सोमदेवसूरिः—पूर्वापरविरोधेन यस्तु युक्त्या च बाध्यते । मत्तोन्मत्तवचः प्रख्यः स प्रमाणं किमागमः ॥१॥
यश० आ० ६ श्लोक १०२

२. तथा च नारदः—स्वदर्शनस्य माहात्म्यं यो न हन्यात् स आगमः । पूर्वापराविरोधश्च शस्यते स च साधुभिः ॥१॥

३. तथा च सौनकः—अशुद्धेन्द्रियचित्तो यः कुरुते कांचित्सत्क्रियां । हस्तिस्नानमिव व्यर्थं तस्य सा परिकीर्तिता ॥१॥

४. देखिए—कस्तूरीप्रकरण का इन्द्रियद्वार ।

५. तथा च राजपुत्रः—यः शास्त्रं जानमानोऽपि तदर्थं न करोति च । तद् व्यर्थं तस्य विज्ञेयं दुर्भगाभरणं यथा ॥१॥

विशेषार्थ—वाल्मीकि[1] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

प्रतिदिन के दान और तप का माहात्म्य—

प्रत्यहं किमपि नियमेन प्रयच्छतस्तपस्यतो वा भवन्त्यवश्यं महीयांसः परे लोकाः ॥३०॥

अर्थ—जो धार्मिक पुरुष प्रतिदिन नियम पूर्वक यथाशक्ति पात्र-दान और तपश्चर्या करता है, उसे परलोक में स्वर्ग की उत्तमोत्तम विभूतियाँ प्राप्त होती हैं ॥३०॥

चारायण[2] का उद्धरण भी समानार्थक है।

दैनिक स्वल्प संचय का माहात्म्य—

कालेन संचीयमानः परमाणुरपि जायते मेरुः ॥३१॥

अर्थ—नित्य संचय (वृद्धि) में लायी हुई स्वल्प वस्तु (विद्या व धनादि) भी समय पाकर सुमेरु पर्वत की तरह महान् हो जाती है ॥३१॥

धर्म, विद्या व धन के प्रतिदिन संचय करने का माहात्म्य—

धर्मश्रुतधनानां प्रतिदिनं लवोऽपि संगृह्यमाणो भवति समुद्रादप्यधिकः ॥३२॥

अर्थ—धर्म, विद्या, और धन का प्रतिदिन लेशमात्र भी संग्रह करते रहने से समुद्र से भी अधिक हो जाते हैं ॥३२॥

विशेषार्थ—वर्ग[3] ने भी उक्त विषय का उल्लेख किया है।

नित्य धर्माचरण न करनेवालों की निन्दा—

धर्माय नित्यमनाश्रयमाणानामात्मवञ्चनं भवति ॥३३॥

अर्थ—जो मानव नित्य धर्म का आचरण नहीं करते वे आत्मवञ्चना करते हैं ॥३३॥

विशेषार्थ—वशिष्ठ[4] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

शास्त्रकारों[5] ने कहा है—कि 'जिस प्रकार निर्गन्ध पुष्प, दन्त-हीन मुख और सत्य-हीन वचन शोभायमान नहीं होता उसी प्रकार धर्म-शून्य मानव भी शोभायमान नहीं होता।

आचार्यश्री ने यशस्तिलक[6] में भी कहा है—कि 'जो मानव धर्म से उत्पन्न होनेवाले सांसारिक सुख रूप फल का उपभोग करता हुआ भी धर्मानुष्ठान में आलसी है, वह मूर्ख है, जड़ है, अज्ञानी है और पशु से भी निरापशु है।

पुण्य-प्राप्ति के लिए नित्य प्रयत्नशील होने की प्रेरणा—

कस्य नामैकदैव सम्पद्यते पुण्यराशिः ॥३४॥

---

१. तथा च वाल्मीकिः—सुलभाः धर्मवक्तारो यथा पुस्तकवाचकाः। ये कुर्वन्ति स्वयं धर्मं विरलास्ते महीतले ॥१॥

२. तथा च चारायणः—नित्यं दानप्रवृत्तस्य तपोयुक्तस्य देहिनः। सत्पात्रं नाथ कालो वा स स्याद्येन गतिर्वरा ॥१॥

३. तथा च वर्गः—उपार्जयति यो नित्यं धर्मश्रुतधनानि च। सुस्तोकान्यप्यनन्तानि तानि स्युर्जलधिर्यथा ॥१॥

४. तथा च वशिष्ठः—मनुष्यत्वं समासाद्य यो न धर्मं समाश्रयेत्। आत्मा प्रवंचितस्तेन नरकाय निरूपितः ॥१॥

५. उक्तं च—गन्धेन हीनं कुसुमं न भाति दन्तेन हीनं वदनं न भाति। सत्येन हीनं वचनं न भाति, पुण्येन हीनः पुरुषो न भाति ॥१॥

६. तथा च सोमदेवसूरिः—स मूर्खः स जड़ः सोऽज्ञः स पशुश्च पशोरपि योऽश्नन्नपि फलं धर्मात्धर्मे भवति मन्दधीः ॥१॥

यशस्तिलक आ० ७ श्लोक १७ पृ० २९८

अर्थ—एकबार ही किसको पुण्यराशि प्राप्त हो जाती है ? अर्थात्—लोक में कोई भी व्यक्ति एककाल में पुण्य-राशि का संचय नहीं कर सकता ॥३४॥

उद्योग-हीन के मनोरथों की निष्फलता—

अनाचरतो मनोरथाः स्वप्नराज्यसमाः ॥३५॥

अर्थ—उद्यम न करनेवाले (आलसी) पुरुष के मनोरथ स्वप्न में प्राप्त हुए राज्य-सरीखे क्षणिक और निष्फल होते हैं ॥३५॥

वल्लभदेव[1] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

धर्म-फल भोगते हुए भी अधर्म करने वाले की कटु आलोचना—

धर्मफलमनुभवतोऽप्यधर्मानुष्ठानमनात्मज्ञस्य ॥३६॥

जो मानव धर्म के फल (मनुष्यजन्म, उच्चकुल व धनादि-वैभव-आदि) का उपभोग करता हुआ भी अधर्म करता है वह मूर्ख है ॥३६॥

सौनक[2] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

यशस्तिलक[3] में लिखा है—कि 'जो मानव स्वयं या दूसरों से प्रेरित हुआ भी अधर्म करने की चेष्टा नही करता, वह विद्वान्, महाविद्वान्, बुद्धिमान और वास्तविक पण्डित है।

गुणभद्राचार्य[4] ने भी कहा है कि 'जो मनुष्य अज्ञान-वश धर्म को नष्ट करके उसके फलों (धनादि सम्पत्ति व विद्वत्ता-आदि) का उपभोग करते हैं, वे पापी अनार व आम-आदि के वृक्षों को जड़ से उखाड़कर उनके फल खाते है।'

बुद्धिमान को धर्मानुष्ठान मे स्वयं प्रवृत्ति करनी चाहिए—

कः सुधीर्भेषजमिवात्महितं धर्मं परोपरोधादनुतिष्ठति ॥३७॥

कौन बुद्धिमान् पुरुष औषधि के समान अपनी आत्मा का कल्याण करनेवाले धर्म को दूसरों के अनुरोध (आग्रह) से करता है ? अर्थात्—विवेकी पुरुष धर्मानुष्ठान में स्वयं प्रवृत्त होते हैं ॥३७॥

भागुरि[5] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

धर्मानुष्ठान में बाधाएं—

धर्मानुष्ठाने भवत्यप्रार्थितमपि प्रातिलोम्यं लोकस्य ॥३८॥

अर्थ—धर्मका अनुष्ठान करते समय मनुष्यों को विघ्न-बाधाएँ बिना इच्छा की हुई (बिना बुलाई) उपस्थित हो जाती हैं ॥३८॥

---

१. तथा च वल्लभदेवः—उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः। न हि सिंहस्य सुप्तस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥१॥

२. तथा च सौनकः—अन्यजन्मकृताद्धर्मात्सौख्यं संजायते नृणां। तद्विहीनैर्जायते नाशैस्तेन ते पापसेवकाः ॥१॥

३. तथा च सोमदेवसूरिः—स विद्वान् स महाप्राज्ञः स धीमान् स च पण्डितः। यः स्वतो वान्यतो वापि नाधर्माय समीहते ॥१॥

४. तथा च गुणभद्राचार्यः—कृत्वा धर्मविघातं फलान्यनुभवन्ति ये मोहा—दाच्छिद्य तरून् मूलात् फलानि गृह्णन्ति ते पापाः ॥१॥

आत्मानुशासन से संकलित—

५. तथा च भागुरिः—परोपरोधतो धर्मं भेषजं च करोति यः। आरोग्यं स्वर्गगामित्वं न ताभ्यां संप्रजायते ॥१॥

वर्ग[1] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

पाप कर्म में प्रवृत्ति करनेवाले को उपदेशक व मुखिया की प्रचुरता—

अधर्मकर्मणि को नाम नोपाध्यायः पुरश्चारी वा ॥३९॥

अर्थ—पाप कार्य में प्रवृत्त हुए पुरुष के लिए कौन उपदेशक अथवा अग्रेसर (मुखिया) नहीं होता ? अर्थात्—पापियों को पाप करने के लिए प्रायः सभी लोग प्रेरित करते हैं ॥३९॥

रैभ्य[2] का उद्धरण भी समानार्थक है।

विवेकी पुरुष का कर्तव्य—

कण्ठगतैरपि प्राणैर्नाशुभं कर्म समाचरणीयं कुशलमतिभिः ॥४०॥

अर्थ—बुद्धिमान पुरुषों को प्राणों के कण्ठगत (मरणोन्मुख) होने पर भी पाप कार्य में प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए, पुनः स्वस्थ अवस्था के विषय में तो कहना ही क्या है ॥४०॥

देवल[3] के उद्धरण का भी अर्थ है—कि बुद्धिमानों को प्राण-त्याग का अवसर आने पर भी निन्द्य कर्म नहीं करना चाहिए; क्योंकि निन्द्य कर्म करने से इस लोक में निन्दा और परलोक में अधम गति प्राप्त होती है।'

धूर्त लोगों द्वारा धनाढ्यों को निन्द्य कर्म मे प्रवृत्त करना—

स्वव्यसनतर्पणाय धूर्तैर्दुरीहितवृत्तयः क्रियन्ते श्रीमन्तः ॥४१॥

अर्थ—अपने दुर्व्यसनों अर्थात् मद्यपान-आदि की पूर्ति करने के लिए अथवा अपनी आपत्ति (दरिद्रता-आदि) दूर करने के लिए धूर्त लोग धनाढ्यों को पापमार्ग में प्रवृत्त करते हैं ॥४१॥

दुष्ट की संगति त्याज्य है—

खलसंगेन किं नाम न भवत्यनिष्टम्[4] ॥४२॥

अर्थ—दुष्टों की संगति से कौन सा अनिष्ट (अनर्थ–पाप) नहीं होता ? ॥४२॥

बल्लभदेव[5] के उद्धरण का अर्थ है—कि 'दुर्जनों की सङ्गति-दोष से सज्जन पुरुष निन्द्य कर्म करने में प्रवृत्त हो जाते हैं, दुर्योधन की संगति से महात्मा भीष्मपितामह गायों के हरण में प्रवृत्त हुए'।

दुर्जन-प्रकृति—

अग्निरिव स्वाश्रयमेव दहन्ति दुर्जनाः ॥४३॥

अर्थ—दुष्ट पुरुष अपने आश्रयदाता (कुटुम्ब व स्वामी-आदि) को उसप्रकार नष्ट कर डालते जिसप्रकार अग्नि अपने आश्रय (आधार) काष्ठ को जलाकर नष्ट कर देती है ॥४३॥

का[6] उद्धरण भी उक्त विषय को पुष्टि करता है।

१. तथा च वर्गः—श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि। अश्रेयसि प्रवृत्तानां यान्ति क्वापि विलीनतां ॥१॥
२. तथा च रैभ्य.—सुलभाः पापरक्तस्य लोकाः पापोपदेशका.। स्वयं कृत्वा च ये पापं तदर्थं प्रेरयन्ति च ॥१॥
३. तथा च देवलः—धीमद्भिर्नाशुभं कर्म प्राणत्यागेऽपि सस्थिते। इह लोके यतो निन्दा परलोकेऽधमा गतिः ॥१॥
४. 'खलसंसर्गः किं नाम न करोति ?' इति मू० मु० पुस्तके पाठः।
५. तथा च बल्लभदेवः—असतां संगदोषेण साधवो यान्ति विक्रियां। दुर्योधनप्रसङ्गेन भीष्मो गोहरणे गतः ॥१॥
६. तथा च बल्लभदेवः—धूमः पयोधरपदं कथमप्यवाप्यैषोऽम्बुभिः शमयति ज्वलनस्य तेजः। दैवादवाप्य खलु नीचजनः प्रतिष्ठां, प्रायः स्वयं बन्धुजनमेव तिरस्करोति ॥१॥

परस्त्री-सेवन का कटुफल—

वनगज इव तदात्वसुखलुब्धः को नाम न भवत्यास्पदमापदाम् ? ॥४४॥

अर्थ—परस्त्रीसेवन के तात्कालिक सुख का लोभी कौन मानव जंगली हाथी-सरीखा आपत्तियों का स्थान नहीं होता ? अर्थात्—जिस प्रकार जंगली हाथी हथिनी के उपभोग करने की इच्छा से व्याकुलित हुआ बन्धन में पड़ जाता है उसीप्रकार परस्त्री के तात्कालिक सुख का लोभी मानव भी ऐहिक वध-बन्धनादि के दुःख और पारलौकिक नरकगति के भयानक दुःख भोगता है ॥४४॥

विशेषार्थ—नारद[1] का उद्धरण भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण करता है।

धर्म के उल्लङ्घन करने का दुष्परिणाम—

धर्मातिक्रमाद्धनं परेऽनुभवन्ति स्वयं तु परं पापस्य भाजनं सिंह इव सिन्धुरवधात् ॥४५॥

अर्थ—धर्म (न्याय) का उल्लङ्घन कर मनुष्य चोरी व अन्याय-आदि दुष्कर्मों से धन का संचय करता है और उस धनका उपभोग उसके कुटुम्बीजन (पुत्र-पौत्रादि) करते हैं और धन-कमानेवाला केवल पाप का ही भागी होता है जैसे सिंह हाथी की शिकार करता है, उसे शृगाल-आदि भक्षण करते हैं और वह पाप का भागी होता है ॥४५॥

विशेषार्थ—विदुर[2] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

धर्म-विमुख मानव का भविष्य—

बीजभोजिनः कुटुम्बिन इव नास्त्यधार्मिकस्यायत्यां किमपि शुभम् ॥४६॥

अर्थ—बीज खानेवाले परिवार-युक्त किसान की तरह पापी मनुष्य का भविष्य में कुछ भी कल्याण नही होता। अर्थात्—जिसप्रकार बीज के लिए सुरक्षित किये हुए अन्न का भक्षण करने वाला किसान भविष्य में दुःख भोगता है उसी प्रकार धर्म से विमुख रहने वाला पापी मनुष्य भी परिणाम (भविष्य) में दुःख भोगता है ॥४६॥

विशेषार्थ—भागुरि[3] का उद्धरण भी उक्त बात का समर्थन करता है।

अर्थ और काम को छोड़कर केवल धर्मोपासना करने वाले का अनौचित्य—

यः कामार्थावुपहत्य धर्ममेवोपास्ते स पक्वक्षेत्रं परित्यज्यारण्यं कृषति ॥४७॥

अर्थ—जो मानव काम और अर्थ की उपेक्षा करके केवल धर्म की ही सतत उपासना करता है, वह मानों—पके हुए खेत को छोड़कर जंगल को जोतता है। अर्थात्—जिस प्रकार पकी हुई धान्य से परिपूर्ण खेत की उपेक्षा कर जंगल का जोतना अनुचित है उसी प्रकार अर्थ और काम की उपेक्षा करके केवल धर्माचरण करना भी गृहस्थ श्रावक को अनुचित है ॥४७॥

विशेषार्थ—रैभ्य[4] ने भी कहा है—कि 'काम और अर्थ के साथ धर्माचरण करने से मनुष्य को क्लेश नहीं होता, अतः सुखाभिलाषी पुरुष को काम और अर्थ के साथ धर्म का सेवन करना चाहिए।'

---

१. तथा च नारदः—करिणीस्पर्शसौख्येन प्रमत्ता वनहस्तिनः। बन्धमायान्ति तस्माच्च तदात्वं वर्जयेत् सुखम् ॥१॥

२. तथा च विदुरः—एकाकी कुरुते पापं फलं भुङ्क्ते महाजनः। भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्ता दोषेण लिप्यते ॥१॥

३. तथा च भागुरिः—पापासक्तस्य नो सौख्यं परलोके प्रजायते। बीजाशिहालिकस्येव वसन्ते शरदि स्थिते ॥१॥

४. तथा च रैभ्यः—कामार्थसहितो धर्मो न क्लेशाय प्रजायते। तस्मात्ताभ्यां समेतस्तु कार्य एव सुखार्थिभिः ॥१॥

नीतिकार वादीभसिंह[1] ने भी लिखा है—'यदि परस्पर की बाधा-रहित धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों का सेवन किया जावे तो मानव को बाधा-रहित स्वर्ग-सुख प्राप्त होता है और अनुक्रम से मोक्ष सुख भी प्राप्त होता है' ।

सच्चा बुद्धिमान—

स खलु सुधीर्योऽमुत्र सुखाविरोधेन सुखमनुभवति ॥४८॥

अर्थ—निस्सन्देह वही मानव बुद्धिमान है, जो कि पारलौकिक सुख की क्षति न करता हुआ लौकिक सुख (न्याय प्राप्त भोग) भोगता है ॥४८॥

विशेषार्थ—वर्ग[2] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

अन्याय के सुख-लेश का कटुकफल—

इदमिह परमाश्चर्यं यदन्यायसुखलवादिहामुत्र चानवधिर्दुःखानुबन्धः ॥४९॥

अर्थ—यहां यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि अन्याय (चोरी-छलकपट-आदि) के सुखलेश से मनुष्यों को ऐहिक और पारलौकिक निस्सीम (सीमा-रहित) दुःख भोगने पड़ते हैं ?

भावार्थ—जो लोग चोरी व छलकपट-आदि अन्याय करके धन-संचय करते हुए संसार में किञ्चिन्मात्र सुख भोगते हैं, उन्हें इसका परिणाम महाभयङ्कर होता है। अर्थात्—इस लोक में उन्हें राजदण्ड-आदि और परलोक में नरक-संबंधी अनन्त दुःख भोगने पड़ते हैं। इस बात को बुद्धिमान पुरुष भलीभाँति जानते हैं, परन्तु मूर्खों को इस का ज्ञान नहीं होता यह आश्चर्य जनक है ॥४९॥

विशेषार्थ—वशिष्ठ[3] का उद्धरण भी उक्त विषय में समानार्थक है।

पूर्वजन्म-कृत धर्म-अधर्म की अकाट्य व प्रबल युक्तियों द्वारा सिद्धि—

सुखदुःखादिभिः प्राणिनामुत्कर्षापकर्षौ धर्माधर्मयोर्लिङ्गम् ॥५०॥

अर्थ—संसार में प्राणियों की सुख सामग्री (धनादिवैभव व विद्वत्ता-आदि) से उन्नति (वृद्धि) और दुःखसामग्री (दरिद्रता व मूर्खता-आदि) से अवनति (हानि) देखी जाती है, वही उन्नति और अवनति उनके पूर्वजन्म में किये हुए धर्म और अधर्म का बोध कराती हैं। अर्थात्—लोक में प्राणियों की सुखसामग्री से वृद्धि उनके पूर्वजन्म-कृत धर्म का और दुःखसामग्री से हानि उनके पूर्वजन्मकृत अधर्म का निश्चय कराती है।

भावार्थ—संसार में कोई राजा, कोई रङ्क, कोई धनाढ्य कोई दरिद्र, कोई विद्वान्, कोई मूर्ख, इत्यादि भिन्न-भिन्न प्रकार की विषमताएँ (भेद) दृष्टिगोचर हो रही हैं, इससे निश्चय होता है कि जिस व्यक्ति ने पूर्वजन्म में धर्म किया था, उसे सुखसामग्री प्राप्त हुई और जिसने अधर्म (पाप) किया था, उसे दुःखसामग्री प्राप्त हुई।

विशेषार्थ—दक्ष[4] का उद्धरण भी समानार्थक है।

समन्तभद्राचार्य[5] ने भी कहा है—कि 'संसार में प्राणियों की अनेक प्रकार की सुख-दुःख रूप विचित्र सृष्टि (धनाढ्य व निर्धन-आदि) उनके पूर्वजन्मकृत पुण्य और पाप कर्म के अधीन है। क्योंकि जिन२ कार्यों में

१. तथा च वादीभसिंहसूरिः—परस्पराविरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते। अनर्गलमतः सौख्यमपवर्गोऽप्यनुक्रमात् ॥१॥
क्षत्रचूड़ामणि से—

२. तथा च वर्गः—सेवनाद्यस्य धर्मस्य नरकं प्राप्यते ध्रुवं। धीमता तन्न कर्तव्यं कौलनास्तिककीर्तितम् ॥१॥

३. तथा च वशिष्ठः—चित्रमेतद्धि मूर्खाणां यदन्यायार्जनात् सुखं। अल्पं प्राप्तं विहीन च दुःखं लोकद्वये भवेत् ॥१॥

४. तथा च दक्षः—धर्माधर्मौ कृतं पूर्वं प्राणिनां ज्ञायते स्फुटं। विवृद्धया सुखदुःखस्य चिह्नमेतत् परं तयोः ॥१॥

५. तथा च समन्तभद्राचार्यः—कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः। देवागमस्तोत्रे स्वामी समन्तभद्रः।

भिन्नता होती है, वे भिन्न२ प्रकार के कारणों से उत्पन्न हुए देखे जाते हैं। उदाहरण में जैसे शाल्यंकुर-आदि रूप विभिन्न कार्यों के उत्पादक अनेक प्रकार के शालिबीज-आदि उपलब्ध हैं। अर्थात्-शालि-अंकुर (धान्य-अंकुर) के उत्पादक शालिबीज (धान्य-बीज) और गेहूँ के अकुरों के उत्पादक गेहूँ-बीज लोक में उपलब्ध हैं उसी प्रकार सुख रूप सृष्टि का कारण प्राणियों का पूर्वजन्म-कृत पुण्यकर्म और दुःखरूप सृष्टि का करण पापकर्म युक्ति-सिद्ध हैं; क्योंकि इसमें किसी भी प्रमाण से बाधा नहीं आती; क्योंकि कारण को एक मानने पर कार्य में भेद नहीं हो सकता ॥५०॥

अदृष्ट (दैव) का माहात्म्य—

किमपि हि तद्वस्तु नास्ति यत्र नैश्वर्यमदृष्टाधिष्ठातुः ॥५१॥

निस्सन्देह संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जहाँ अदृष्ट (भाग्य) की प्रभुता (स्वामित्व) नहीं है। अर्थात्—भाग्यशाली धार्मिक व्यक्ति को संसार में सभी अभिलषित वस्तुएँ (धन व विद्वत्ता-आदि) प्राप्त होती हैं ॥५१॥

विशेषार्थ—भृगु[1] का उद्धरण भी उक्त विषय का समर्थन करता है।

नीतिकार भर्तृहरि[2] ने लिखा है—'जिस मनुष्य के पूर्वजन्म-कृत प्रचुर पुण्य का उदय है—जो भाग्य-शाली है—उसको भयङ्कर वन भी प्रधान नगर हो जाता है। सभी लोग उससे सज्जनता का बर्ताव करते हैं। समस्त पृथिवी उसे निधियों और रत्नों से परिपूर्ण मिलती है।'

शास्त्रकारों[3] ने लिखा है—संसारी प्राणियों को मानव जीवन, उच्चवंश, ऐश्वर्य, दीर्घायु, आरोग्यता, सज्जन मित्र, सुपुत्र, धर्मात्मा-पतिव्रता स्त्री, तीर्थङ्कर भगवान् में भक्ति, विद्वत्ता, सज्जनता, जितेन्द्रियता और पात्र-दान में अनुराग ये तेरह प्रकार के सद्गुण पुण्य के विना दुर्लभ है।

यह धर्म धन के इच्छुकों के लिए धन देता है। इच्छित वस्तु चाहने वालों को इच्छित वस्तु देता है। सौभाग्य के इच्छुकों को सौभाग्य और पुत्र के इच्छुकों के लिए पुत्र देता है। राज्य श्री की कामना करनेवालों को राज्य श्री प्रदान करता है। अधिक क्या कहा जावे संसार में ऐसी कोई वस्तु नही है, जिसे यह देने में समर्थ न हो। यह प्राणियों को स्वर्गश्री व मुक्तिश्री भी प्रदान करता है।

इति धर्मसमुद्देशः

१. तथा च भृगुः—अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति। जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति ॥१॥

२. तथा च भर्तृहरिः—भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं। सर्वोजनः सुजनतामुपयाति तस्य ॥ कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निधि-रत्नपूर्णा। यस्यास्ति पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य ॥१॥

३. तथा चोक्तम्—मानुष्यं वरवंशजन्मविभवो दीर्घायुरारोग्यता।
सन्मित्रं सुसुतं सती प्रियतमा भक्तिश्च तीर्थङ्करे ॥
विद्वत्त्वं सुजनत्वमिन्द्रियजयः सत्पात्रदाने रतिः।
एते पुण्यविना त्रयोदशगुणाः संसारिणां दुर्लभाः ॥१॥—संगृहीत

४. तथा चोक्तम्—धर्मोऽयं धनवल्लभेषु धनदः, कामार्थिनां कामदः।
सौभाग्यार्थिषु तत्प्रदः किमपरः पुत्रार्थिनां पुत्रदः।
राज्यार्थिष्वपि राज्यदः किमथवा नानाविकल्पैर्नृणां।
तत् किं यन्न करोति किं च कुरुते स्वर्गापवर्गावपि ॥१॥—संगृहीत

२. अर्थसमुद्देशः

अर्थ का लक्षण—

यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थः ॥१॥

अर्थ—जिससे मनुष्यों के समस्त प्रयोजन अर्थात्-कार्य अथवा योजनाएँ सिद्ध हों उसे अर्थ (धन) कहते हैं।

भावार्थ—उदार नररत्न का धन ही वास्तविक धन है; क्योंकि उससे उसके समस्त लौकिक व पारलौकिक सुख-आदि प्रयोजन सिद्ध होते हैं। परन्तु कृपणों द्वारा जमीन में गाड़ा हुआ धन सच्चा धन नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह उनका उक्त प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकता ॥१॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[1] के उद्धरण में भी उक्त अभिप्राय प्रदर्शित किया गया है।

स्वामी समन्तभद्राचार्य[2] ने कहा है—कि 'इतिहास के आदिकाल में जब प्रजा की जीवन-रक्षा के साधन कल्प वृक्ष नष्ट प्राय हो चुके थे, उस समय प्रजा की प्राण-रक्षा के इच्छुक प्रजापति भगवान् ऋषभदेव तीर्थङ्कर ने सबसे पहले उसे खेती और व्यापार-आदि जीविकोपयोगी साधनों में प्रेरित किया था।'

धनाढ्य होने का उपाय—

सोऽर्थस्य भाजनं योऽर्थानुबन्धेनार्थमनुभवति ॥२॥

अर्थ—जो मानव अर्थानुबन्ध अर्थात्—अप्राप्त धन की प्राप्ति, प्राप्त धन की रक्षा और रक्षित धन की वृद्धि से अर्थ का उपभोग करता है, वह धनाढ्य होता है ॥२॥

विशेषार्थ—वर्ग[3] का उद्धरण भी उक्त विषय का समर्थक है।

अर्थानुबन्ध का लक्षण—

अलब्धलाभो लब्धपरिरक्षणं रक्षितपरिवर्द्धनं चार्थानुबन्धः ॥३॥

अर्थ—व्यापार-आदि से अप्राप्त धन को प्राप्त करना, प्राप्त किये हुए धन की रक्षा करना और सुरक्षित किये हुए धन की वृद्धि करना 'अर्थानुबन्ध' है ॥३॥

विशेषार्थ—हारीत[4] के उद्धरण में अप्राप्त धन की प्राप्ति के विषय में उल्लेख है।

व्यास[5] के उद्धरण में प्राप्त धन की रक्षा के विषय में कहा है।

गर्ग[6] के उद्धरण में सुरक्षित धन की वृद्धि के विषय में निरूपण है।

संचित धन के नाश का कारण—

तीर्थमर्थेनासंभावयन् मधुच्छत्रमिव सर्वात्मना विनश्यति ॥४॥

अर्थ—जो व्यक्ति धन के द्वारा तीर्थों (पात्रों) का सत्कार नही करता उसके धन का शहद के छत्ते

---

१. तथा च वल्लभदेवः—गृहमध्यनिखातेन धनेन धनिनो यदि। भवामः किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम् ॥१॥

२. तथा च स्वामी समन्तभद्राचार्यः—'प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः'
बृहत्स्वयंभूस्तोत्र से संकलित—

३. तथा च वर्गः—अर्थानुबन्धमार्गेण योऽर्थं संसेवते सदा। स तेन मुच्यते नैव कदाचिदिति निश्चयः ॥१॥

४. तथा च हारीतः—असाध्यं नास्ति लोकेऽत्र यस्यार्थः साधनं परम्। सामादिभिरुपायैश्च तस्मादर्थमुपार्जयेत् ॥१॥

५. तथा च व्यासः—यथामिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि। आकाशे पक्षिभिश्चैव तथार्थोऽपि च मानवैः ॥१॥

६. तथा च गर्गः—वृद्धे तु परिदातव्यः सदार्थो धनिकेन च। ततः स वृद्धिमायाति तं बिना क्षयमेव च ॥१॥

सरीखा सर्वनाश हो जाता है; अर्थात् जिस-प्रकार शहद की मक्खियाँ चिरकाल तक पुष्पों से शहद इकट्ठा करती हैं और भौंरों को नहीं खाने देतीं, अतः उनका शहद भील लोग छत्ता तोड़कर ले जाते हैं उसी प्रकार लोभी के धन को भी चोर और राजा वगैरह दण्डित करके छीन लेते हैं ॥४॥

विशेषार्थ—वर्ग[1] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

तीर्थ का लक्षण—

धर्मसमवायिनः कार्यसमवायिनश्च पुरुषास्तीर्थम् ॥५॥

अर्थ—धार्मिक कार्यों में सहायक (विद्वान् पुरुष-आदि) एवं व्यवहार के समस्त कार्यों में सहायक (सेवक-आदि) पुरुषों को तीर्थ कहते हैं ॥५॥

वृहस्पति[2] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

वादीभसिंह[3] सूरिने भी कहा है—'निस्सन्देह मनुष्यों की धन-प्राप्ति का फल सज्जन पुरुषों का पोषण करना ही है; कौए के लिए ही है फल जिसका ऐसा नीम का वृक्ष आम्र वृक्ष-सरीखा प्रशंसनीय नहीं होता।'

जिनका धन नष्ट हो जाता है—

तादात्विक-मूलहर-कदर्येषु नासुलभः प्रत्यवायः ॥६॥

अर्थ—तादात्विक (जो व्यक्ति उपार्जित धन को विना सोच-विचार के खर्च करता है), मूलहर (जो व्यक्ति पिता और पितामह से प्राप्त हुई सम्पत्ति को अन्याय कृत्यों—जुआ व वेश्यावृत्ति-आदि में बर्बाद करता हुआ कुछ भी जीविकोपार्जन नहीं करता) और कदर्य (लोभी) इन तीनों प्रकार के मनुष्यों का धन नष्ट हो जाता है ॥६॥

शुक्र[4] का उद्धरण भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण करता है।

तादात्विक का लक्षण—

यः किमप्यसंचिन्त्योत्पन्नमर्थं व्ययति स तादात्विकः ॥७॥

अर्थ—जो व्यक्ति विना विचारे उपार्जित धन का अपव्यय करता है, वह तादात्विक है। अर्थात्-जो यह नहीं सोचता कि मेरी इतनी आय है, अतः मुझे आय के अनुरूप खर्च करना चाहिए, परन्तु जो इसके विपरीत चलकर आमदनी से अधिक खर्च करता है, उसे 'तादात्विक' कहते हैं ॥७॥

विशेषार्थ—शुक्र[5] का उद्धरण भी समान आशय का वाचक है।

मूलहर का लक्षण—

यः पितृपैतामहमर्थमन्यायेन भक्षयति स मूलहरः ॥८॥

---

१. तथा च वर्गः—यो न यच्छति पात्रेभ्यः स्वधनं कृपणो जनः। तेनैव सह भूपालैश्चौराद्यैर्वा स हन्यते ॥१॥

२. तथा च वृहस्पतिः—तीर्थेषु योजिता अर्था धनिनो वृद्धिमाप्नुयुः। $\frac{1}{2}$

३. तथा च वादीभसिंहसूरिः—संपल्लाभफलं पुंसां सज्जनानां हि पोषणम्। काकार्यफलनिम्बोऽपि श्लाघ्यते न हि चूतवत् ॥१॥ क्षत्रचूडामणि ३ लम्ब श्लोक ९।

४. तथा च शुक्रः—अचिन्तितार्थमश्नाति योऽन्योपार्जितभक्षकः। कृपणश्च त्रयोऽप्येते प्रत्यवायस्य मन्दिरम् ॥१॥

५. तथा च शुक्रः—आगमे यस्य चत्वारो निर्गमे सार्धपंचमः। तस्यार्थाः प्रक्षयं यान्ति सुप्रभूतोऽपि चेत्स्थितः ॥१॥

✽—'यः पितृपैतामहमन्यायेनानुभवति स मूलहरः' मु. मू. प्रती पाठः।

अर्थ—जो व्यक्ति अपने पिता और पितामह-आदि की सम्पत्ति को अन्याय (जुआ व वेश्या-सेवन-आदि) पूर्वक खर्च करता हुआ किञ्चित् भी नवीन धन का उपार्जन नहीं करता वह मूलहर है ॥८॥

विशेषार्थ—गुरु[1] के उद्धरण में भी मूलहर का यही लक्षण उल्लिखित है।

वादीभसिंह[2] सूरि ने भी पर्वत का उदाहरण देते हुए कहा है—'प्रचुर सम्पत्ति भी यदि आय-हीन होकर केवल व्यय-युक्त है तो निस्सन्देह नष्ट हो जाती है'।

कदर्य (लोभी) का लक्षण—

यो भृत्यात्मपीडाभ्यामर्थं संचिनोति स कदर्यः ॥९॥

अर्थ—जो व्यक्ति सेवकों तथा अपने को भी कष्ट पहुँचाकर धन का संचय करता है, वह कदर्य (लोभी) है ॥९॥

विशेषार्थ—यशस्तिलक[3] में उल्लेख है—कि 'जो मानव धर्म-निमित्त और न्याय प्राप्त भोग-निमित्त संचित धन का उपयोग नहीं करता, वह धनाढ्य होकर के भी दरिद्र है और मनुष्य होकर के भी नराधम है'।

तादात्विक व मूलहर का संकट-पूर्ण भविष्य—

तादात्विकमूलहरयोरायत्यां नास्ति कल्याणम् ॥१०॥

अर्थ—तादात्विक और मूलहर का आयति (परिणामावस्था—भविष्य) में कल्याण नहीं होता ॥१०॥

विशेषार्थ—कपिपुत्र[4] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

कदर्य (लोभी) के धन-संचय का दुष्परिणाम—

कदर्यस्यार्थसंग्रहो राजदायादतस्कराणामन्यतमस्य निधिः ॥११॥

अर्थ—लोभी का संचित धन राजा, कुटुम्बी और चोर इनमें से किसी एक की निधि है ॥११॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[5] के उद्धरण में भी उक्त विषय का निरूपण है।

[इत्यर्थ समुद्देश:]

३. कामसमुद्देशः

काम का लक्षण—

आभिमानिकरसानुविद्धा यतः सर्वेन्द्रियप्रीतिः स कामः ॥१॥

अर्थ—बाधा-रहित तन्मयता के साथ जिससे समस्त इन्द्रियों (स्पर्शन-आदि) को परितृप्ति और प्रीति होती है, उसे 'काम' कहते है। उदाहरणार्थ—कामी पुरुष को अपनी प्रिया के मधुर शब्द सुनने से श्रोत्रेन्द्रिय में

---

१. तथा च गुरुः—पितृपैतामहं वित्तं व्यसनैर्यस्तु भक्षयेत्। अन्यन्नोपार्जयेत् किंचित् स दरिद्रो भवेद् ध्रुवम् ॥१॥

२. तथा च वादीभसिंहसूरिः—स्वापतेयमनायं चेत् सव्ययं व्येति भूर्यपि। सर्वदा भुज्यमानो हि पर्वतोऽपि परिक्षयी ॥१॥
क्षत्रचूडामणि ३रा लम्ब श्लोक ५

३. तथा च सोमदेवसूरिः—स श्रीमानपि निःश्रीकःस नरश्च नराधमः। यो न धर्माय भोगाय विनयेत् धनागमम् ॥१॥
यश० चं० उ० आश्वास ७ श्लोक १६९।

४. तथा च कपिपुत्रः—आगमाभ्यधिकं कुर्याद्यो व्ययं यश्च भक्षति। पूर्वोपार्जितं नान्यदर्जयेच्च स सीदति ॥१॥

५. तथा च वल्लभदेवः—दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य। यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥१॥

बाधा-रहित प्रीति (आल्हाद) होती है एवं उसके मनोज्ञ रूप का अवलोकन करने से चक्षुरिन्द्रिय में बाधा-रहित प्रीति उत्पन्न होती है और उसके सुकोमल अङ्गों के स्पर्श से स्पर्शनेन्द्रिय में बाधा-हीन प्रीति उत्पन्न होती है, इत्यादि। अतः स्वस्त्री-मिलन में ही समस्त इन्द्रियों में निर्बाध प्रीति का उद्गम वर्तमान है, इसलिए उसे ही 'काम' कहा जाता है। सारांश यह है कि धार्मिक क्षति-जनक परस्त्री-सेवन और आर्थिक क्षति-जनक वेश्या-सेवन को काम नहीं कहा जा सकता ॥१॥

विशेषार्थ—राजपुत्र[1] के तीन उद्धरणों में काम के विषय में स्पष्टीकरण है।

कैसा कामसेवन सुखप्रद होता है ?

धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत *तत सुखी स्यात् ॥२॥

अर्थ—नैतिक व्यक्ति धर्म और अर्थ की अनुकूलता-पूर्वक (सुरक्षा करता हुआ) काम सेवन करे, उससे वह सुखी होता है अन्यथा नहीं। अर्थात्—परस्त्री सेवन से धार्मिक क्षति और वेश्यासेवन से धन की क्षति होती है, अतः उनका त्याग करते हुए अपनी स्त्री में ही सन्तोष करना चाहिए, तभी सुख प्राप्त हो सकता है ॥२॥

विशेषार्थ—हारीत[2] का उद्धरण भी एक सरीखा अभिप्राय व्यक्त करता है।

त्रिवर्ग-सेवन का क्रम—

समं वा त्रिवर्गं सेवेत ॥३॥

अर्थ—धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों का सेवन समरूप से करना चाहिए। अर्थात्—समय का समान विभाग करके धर्म, अर्थ व काम का सेवन करना चाहिए ॥३॥

विशेषार्थ—नारद[3] के उद्धरण में भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण है।

वादीभसिंह[4] सूरि ने भी कहा है—'यदि मनुष्यों के द्वारा धर्म, अर्थ व काम ये तीनों पुरुषार्थ परस्पर की बाधा-रहित सेवन किये जाँय तो उन्हें विना रुकावट स्वर्ग-सुख मिलता है और अनुक्रम से मोक्ष-सुख भी प्राप्त होता है।'

धर्म, अर्थ और काम में से केवल एक को अधिक सेवन से हानि—

एको ह्यत्यासेवितो धर्मार्थकामानामात्मानमितरौ च पीडयति ॥४॥

अर्थ—जो मानव धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों में से किसी एक का ही अधिक सेवन करता

१. तथा च राजपुत्रः—सर्वेन्द्रियानुरागः स्यात् यस्याः संसेवनेन च। स च कामः परिज्ञेयो यत्तदन्यद्विचेष्टितम् ॥१॥
इन्द्रियाणामसन्तोषं यः कश्चित् सेवते स्त्रियं। स करोति पशोः कर्म नररूपस्य मेहनं ॥२॥
यदिन्द्रियविरोधेन मेहनं क्रियते जनैः। तदन्धस्य पुरो नृत्यं सुगीतं बधिरस्य च ॥३॥

* 'न निःसुखः स्यात्' मु० मू० प्रतौ पाठः।

२. तथा च हारीतः—परदारांस्त्यजेद्यस्तु वेश्यां चैव सदा नरः। न तस्य कामजो दोषः सुखिनो न धनक्षयः ॥१॥

३. तथा च नारदः—प्रहरं सत्रिभागं च प्रथमं धर्ममाचरेत्। द्वितीयं तु ततो वित्तं तृतीयं कामसेवने ॥१॥

४. तथा च वादीभसिंहसूरिः—परस्पराविरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते। अनर्गलमतः सौख्यमपवर्गोऽप्यनुक्रमात् ॥१॥
क्षत्रचूडामणि लम्ब १

है, वह केवल उसी पुरुषार्थ की ही वृद्धि करता है और दूसरे पुरुषार्थों को नष्ट कर डालता है, अर्थात्—दो पुरुषार्थों में बाधा उपस्थित करता है ॥४॥

विशेषार्थ—बृहस्पति[1] का उद्धरण भी समानार्थक है।

आत्म-सुख की अवहेलना (त्याग) करके धनोपार्जन अनुचित है—

परार्थं भारवाहिन इवात्मसुखं निरुन्धानस्य धनोपार्जनम् ॥५॥

अर्थ—जो मानव अपना सुख त्याग कर अर्थात्—विशेष कष्ट उठाकर धनोपार्जन करता है, उसका धन-संचय दूसरों के लिए बोझा ढोनेवाले की तरह निरर्थक है ॥५॥

व्यास[2] के उद्धरण में भी उक्त विषयका स्पष्टीकरण है।

सम्पत्ति की सार्थकता—

इन्द्रियमनः प्रसादनफला हि विभूतयः ॥६॥

अर्थ—निस्सन्देह धनादि ऐश्वर्य का फल इन्द्रियों (स्पर्शन-आदि) और मन की प्रसन्नता है। अर्थात्-जिस सम्पत्ति से अपनी इन्द्रियाँ और मन आल्हादित (प्रसन्न) न रह सके वह सम्पत्ति निरर्थक है ॥६॥

व्यास[3] और चारायण[4] के उद्धरणों द्वारा भी उक्त बात प्रमाणित होती है।

इन्द्रियों को काबू में न करनेवालों की हानि—

नाजितेन्द्रियाणां काऽपि कार्यसिद्धिरस्ति ॥७॥

अर्थ—जिनकी इन्द्रियाँ वश (काबू) में नहीं हैं, उन्हें किसी भी कार्य में स्वल्प भी सफलता नही मिलती। अर्थात्—उनके कोई भी सत्कार्य सिद्ध नहीं हो सकते ॥७॥

विशेषार्थ— शुक्र[5] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

ऋषिपुत्रक[6] ने कहा है कि 'विषयों में आसक्त पुरुष अपने आवश्यक कार्यों में विलम्ब कर देते है, इससे शीघ्रता न करने के कारण उन्हें उनका फल नही मिलता।'

इन्द्रिय जय का लक्षण—

इष्टेऽर्थेऽनासक्तिर्विरुद्धे चाप्रवृत्तिरिन्द्रियजयः ॥८॥

अर्थ—इष्ट पदार्थ (प्रिय वस्तु) में अधिक आसक्त न होना और विरुद्ध अर्थात्—प्रतिकूल वस्तु में प्रवृत्त न होना 'इन्द्रियजय' है ॥८॥

भृगु[7] ने कहा है कि 'यदि मनुष्य शिष्ट पुरुषों के मार्ग का पूर्ण अनुसरण न कर सके तो उसे स्वल्प भी अनुसरण करना चाहिए, जिससे वह 'जितेन्द्रिय' होता है।'

---

१. तथा च बृहस्पतिः—धर्मसंसक्तमनसां कामे स्यात् सुविरागता। अर्थे चापि विशेषेण यतः स स्यादधर्मतः ॥१॥

२. तथा च व्यासः—अतिक्लेशेन ये चार्था धर्मस्यातिक्रमेण च। शत्रूणा प्रतिपातेन मात्मन् तेषु मनः कृथाः ॥१॥

३. तथा च व्यासः—यद्धनं विषयाणां च नैवाल्हादकरं परं। तत्तेषां निष्फलं ज्ञेयं षंढानामिव यौवनम् ॥१॥

४. तथा च चारायणः—सेवादिभिः परिक्लेशैर्विद्यमानधनोऽपि यः। सन्तापं मनसः कुर्यात्तस्योषरवर्षणम् ॥१॥

५. तथा च शुक्रः—यस्य तस्य च कार्यस्य सफलस्य विशेषतः। क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तत्फलम् ॥१॥

६. तथा च ऋषिपुत्रकः—स्वकृतेषु विलम्बन्ते विषयासक्तचेतसः। क्षिप्रम क्रियमाणेषु तेषु तेषां न तत्फलम् ॥१॥

७. तथा च भृगुः—अनुगन्तुं सतां वर्त्म कृत्स्नं यदि न शक्यते। स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं येन स्यात् स्वविनिर्जयः ॥१॥

इन्द्रिय जय का उपाय—

अर्थशास्त्राध्ययनं वा॥ ॥९॥

अर्थ— नीतिशास्त्र का अध्ययन भी इन्द्रियजय का कारण है अथवा नीतिशास्त्र का अध्ययन ही इन्द्रिय जय है। ॥९॥

विशेषार्थ—वर्ग[1] का उद्धरण भी समानार्थक है।

कारणे कार्योपचारात् ॥१०॥

अर्थ—कारण में कार्य का उपचार[2] (मुख्यता न होने पर भी किसी प्रयोजन या निमित्त के वश गौण वस्तु में मुख्य की कल्पना करना) करने से नीतिशास्त्र के अध्ययन को ही पूर्व सूत्र में 'इन्द्रियजय' कहा गया है।

भावार्थ—जिसप्रकार चश्मा को दृष्टि में निमित्त होने से नेत्र माना जाता है उसीप्रकार नीतिशास्त्र के अध्ययन को भी इन्द्रिय जय में निमित्त होने से इन्द्रिय-जय माना गया है ॥१०॥

काम के दोष—

योऽनङ्गेनापि जीयते स कथं पुष्टाङ्गानरातीन् जयेत् ॥११॥

अर्थ—कामदेव को महादेव जी ने भस्म कर दिया था, अतः उसकी 'अनङ्ग' संज्ञा है। यहाँ शब्दश्लेष अलङ्कार पूर्वक कहा गया है कि जो व्यक्ति बिना अङ्गवाले से भी जीता जा सकता है, अर्थात्—जो काम के वशीभूत हो जाता है वह पुष्ट अङ्गवाले अर्थात् शक्तिशाली राज्याङ्गों से युक्त अर्थात्-स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश और सेनावाले शत्रुओं पर किसप्रकार विजय श्री प्राप्त कर सकता है? ॥११॥

विशेषार्थ—भागुरि[3] का उद्धरण भी उक्त विषय में समानार्थक है।

काम-लम्पट असाध्य रोगी है—

कामासक्तस्य नास्ति चिकित्सितम् ॥१२॥

अर्थ—अत्यधिक कामी पुरुष को सन्मार्ग पर लाने के लिए लोक में कोई औषधि (काम से छुड़ानेवाला हितोपदेश-आदि उपाय) नहीं है, क्योंकि काम-लम्पट व्यक्ति हितैषियों के हितकारक उपदेश की अवहेलना करता है ॥१२॥

विशेषार्थ—जैमिनि[4] का उद्धरण भी समानार्थक है।

वादीभसिंहसूरि[5] ने भी कामी पुरुष के दोषों का निरूपण करते हुए उक्त विषय की प्रतिष्ठा की है।

॥ सूत्रद्वयं मु० मू० पुस्तकत संकलितं।

१. तथा च वर्गः—नीतिशास्त्राण्यधीते यस्तस्य दुष्टानि स्वान्यपि। वशगानि शनैर्यान्ति कशाघातैर्हया यथा ॥१॥

२. तथा चोक्तं—'मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते च उपचारः प्रवर्तते'

३. तथा च भागुरिः—ये भूपाः कामसंसक्ता निजराज्याङ्गदुर्बलाः। दुष्टाङ्गास्तान् पराहन्युः पुष्टाङ्गा दुर्बलानि च ॥१॥

४. तथा च जैमिनिः—न शृणोति पितुर्वाक्यं न मातुर्न हितस्य च। कामेन विजितो मर्त्यस्ततो नाशं प्रगच्छति ॥१॥

५. तथा च वादीभसिंहसूरिः—विषयासक्तचित्तानां गुणः को वा न नश्यति। न वैदुष्यं न मानुष्यं नाभिजात्यं न सत्यवाक् ॥१॥

पराराधनजाद्दैन्यात्पैशून्यात्परिवादतः। पराभवात्किमन्येभ्यो न बिभेति हि कामुकः ॥२॥

पाकं त्यागं विवेकं च वैभवं मानितामपि। कामार्ताः खलु मुञ्चन्ति किमन्यैः स्वञ्च जीवितम् ॥३॥

क्षत्रचूड़ामणि लम्ब १ श्लोक १०-१२

स्त्रियों में अत्यन्त आसक्तों के दोष—

न तस्य धनं धर्मः शरीरं वा यस्यास्ति स्त्रीष्वत्यासक्तिः ॥१३॥

अर्थ—स्त्रियों में अत्यन्त आसक्ति करनेवाले कामी पुरुष का धन, धर्म और शरीर नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—क्योंकि कामी पुरुष कृषि और व्यापार-आदि जीविकोपयोगी कार्यो से विमुख रहता है, अतः निर्धन हो जाता है। इसीप्रकार काम-वासना की धुन में लीन होने से धर्म-शून्य हो जाता है एवं अत्यन्त वीर्य के क्षय से क्षय-आदि असाध्य रोगों से ग्रस्त होकर अपने शरीर को काल-कवलित करानेवाला होता है। ॥१३॥

विशेषार्थ—कामन्दक[1] एवं बल्लभदेव[2] के उद्धरणों द्वारा भी उक्त बात का स्पष्टीकरण होता है।

परस्त्री-लम्पट के दोष

विरुद्धकामवृत्तिः समृद्धोऽपि न चिरं नन्दति ॥१४॥

अर्थ—परस्त्री-लम्पट पुरुष धनाढ्य होने पर भी चिरकाल तक लक्ष्मी का उपभोग नहीं कर सकता अर्थात्—दरिद्र हो जाता है ॥१४॥

विशेषार्थ—ऋषिपुत्रक[3] का उद्धरण भी समानार्थक है।

धर्म अर्थ और काम की क्रमिक श्रेष्ठता—

धर्मार्थकामानां युगपत्समवाये पूर्वः पूर्वो गरीयान् ॥१५॥

अर्थ—धर्म, अर्थ और काम इन तीनों के कार्य एक साथ प्राप्त होने पर क्रमशः प्रथम-प्रथम गुरुतर (श्रेष्ठ) है। अर्थात्—काम की अपेक्षा अर्थ और अर्थ की अपेक्षा धर्म का सेवन श्रेष्ठ है ॥१५॥

विशेषार्थ—भागुरि[4] का उद्धरण भी समानार्थक है।

समयानुकूल अर्थ-सेवन की प्रधानता —

कालासहत्वे पुनरर्थ एव ॥१६॥

धर्मकामयोरर्थमूलत्वात् ॥१७॥

अर्थ—समय अर्थात्—धनोपार्जन के अवसर का सहन न होने पर दूसरे धर्म और काम की अपेक्षा अर्थोपार्जन करना ही श्रेष्ठ है। क्योंकि धर्म और काम का मूल कारण अर्थ है।

भावार्थ—यदि किसी मनुष्य को न्यायपूर्वक धनोपार्जन का अवसर प्राप्त हुआ हो और उसके निकल जानेपर उसकी आर्थिक क्षति होती हो तो उसे धर्म और काम की अपेक्षा पूर्व में अर्थोपार्जन करना ही श्रेयस्कर है; क्योंकि 'अर्थ-वाह्यो धर्मो न भवति' अर्थात् धन के विना धर्म नहीं होता ॥१६-१७॥

---

१. तथा च कामन्दकः—नितान्तं संप्रसक्तानां कान्तामुखविलोकने। नाशमायान्ति सुव्यक्तं यौवनेन समं श्रियः ॥१॥

२. तथा च वल्लभदेवः—यः संसेव्यते कामी कामिनी सततं प्रियाम्। तस्य संजायते यक्ष्मा धृतराष्ट्रपितुर्यथा ॥१॥

३. तथा च ऋषिपुत्रकः—परदारतो योऽत्र पुरुष. संप्रजायते। [धनाढ्योऽपि दरिद्रः स्याद् दुष्कीर्तिं लभते सदा]
इस श्लोक का उत्तरार्द्ध सं० टी० पुस्तक में नहीं है, अतः हमने नवीन पद्यरचना करके उसकी पूर्ति की है—सम्पादक

४. तथा च भागुरिः—धर्मचिन्तां तृतीयांशं दिवसस्य समाचरेत्। ततो वित्तार्जने तावन्मात्रं कामार्जने तथा ॥१॥

विशेषार्थ—नारद[1] का उद्धरण भी उक्त विषय में समानार्थक है।

इति कामसमुद्देशः।

४. अरिषड्वर्गसमुद्देशः

राजाओं के छह अन्तरङ्ग शत्रु—

अयुक्तितः प्रणीताः काम-क्रोध-लोभ-मद-मान-हर्षाः क्षितीशानामन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः ॥१॥

अर्थ—अन्यायपूर्वक प्रयोग किये गये काम, क्रोध, लोभ, मद, मान और हर्ष ये राजाओं के छह अन्तरङ्ग शत्रु-समूह हैं ॥१॥

विशेषार्थ—नीतिकार कामन्दक[2] ने लिखा है कि 'सुखाभिलाषी राजाओं को काम, क्रोध, लोभ, हर्ष, मान और मद इन छह शत्रुवर्ग का त्याग कर देना चाहिए। उदाहरणार्थ-राजा दण्डक[3] काम के वशीभूत होकर शुक्राचार्य की कन्या के उपभोग की इच्छा से नष्ट हुआ। राजा 'जनमेजय'[4] ब्राह्मणों पर क्रोध करने से उनके शाप से रुग्ण होकर नष्ट हुआ। 'ऐल' नामका राजा लोभ से और 'वातापि'[5] नामका असुर अपने अभिमान से अगस्त्य द्वारा नष्ट हुआ। पुलस्त्य का बेटा 'रावण' मान से और 'दम्भोद्भव' राजा मद से नष्ट हुआ अर्थात्-ये राजा लोग शत्रुषड्वर्ग के अधीन निधन को प्राप्त हुए। इसके विपरीत-काम-क्रोधादि शत्रु षड्वर्ग पर विजय प्राप्त करने वाले जितेन्द्रिय परशुराम और महान् भाग्यशाली राजा अम्बरीष ने चिरकाल तक पृथ्वी का उपभोग किया है। जो राजा जितेन्द्रिय और नीतिमार्ग का अनुसरण करने वाला (सदाचारी) है, उसकी लक्ष्मी प्रकाशमान और कीर्ति आकाश को स्पर्श करनेवाली होती है'।

अन्याय-पूर्ण कामासक्ति के दोष—

परपरिगृहीतास्वनूढासु च स्त्रीषु दुरभिसन्धिः कामः ॥२॥

अर्थ—परस्त्री, वेश्या और कन्याओं का उपभोग करना यह अनुचित कामशत्रु महादुःखदायक है ॥२॥

विशेषार्थ—गौतम[6] ने भी अयोग्य काम का उक्त लक्षण किया है।

प्रस्तुत आचार्य श्री[7] ने यशस्तिलक में लिखा है—'काम क्षयरोग सरीखा है। यह वैसा समस्त दोषों (पापों) का जनक है जैसा क्षयरोग समस्त दोषों (वात पित्त-आदि की विकृतियों) का जनक

१. तथा च नारदः—अर्थकामौ न सिद्ध्येते दरिद्राणां कथंचन। तस्मादर्थो गुरुस्ताभ्यां संचिन्त्यो ज्ञायते बुधैः ॥१॥

२. तथा च कामन्दकः—कामः क्रोधस्तथा लोभो हर्षो मानो मदस्तथा। षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिन् त्यक्ते सुखी नृपः ॥१॥ दण्डको नृपतिः कामात् क्रोधाच्च जनमेजयः। लोभादैलस्तु राजर्षिर्वातापिर्दर्पतोऽसुरः ॥२॥ पौलस्त्यो राक्षसो मानान्मदाद्दम्भोद्भवो नृपः। प्रयाता: निधनं ह्येते शत्रुषड्वर्गमाश्रिताः ॥३॥
शत्रुषड्वर्गमुत्सृज्य जामदग्न्यो जितेन्द्रियः। अम्बरीषो महाभागो बुभुजाते चिरं महीम् ॥४॥ जितेन्द्रियस्य नृपतेर्नीतिमार्गानुसारिणः। भवन्ति ज्वलिता लक्ष्म्यः कीर्तयश्च नभः स्पृशः ॥५॥ कामन्दकीय नीतिसार, पृ० १२-१३।

३-४-५ देखिए नीतिसार पृ० १२।

६. तथा च गौतमः—अन्याश्रितां च यो नारीं कुमारीं वा निषेवते। तस्य कामः प्रदुःखाय अन्याय मरणाय च ॥१॥

७. तथा च सोमदेवसूरिः—क्षयामयसमः कामः सर्वदोषोदयद्युतिः। उत्सूत्रे तत्र मर्त्यानां कुतः श्रेयः समागमः ॥१॥
,, ,, अनङ्गानलसंलीढे परस्त्रीरतिचेतसि। सद्यस्का विपदो ह्यत्र परत्र च दुरास्पदाः ॥२॥
यश० चं० आ० ७ श्लोक १४५ व १५३।

होता है। अतः उसकी अधिकता में प्रवृत्ति करनेवाले मानवों के लिए कल्याण की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

परस्त्री-लम्पट मनुष्य को ऐहिक और पारलौकिक भयानक दुःख भोगने पड़ते हैं'।

विना विचारे क्रोध करने का दुष्परिणाम—

अविचार्य परस्यात्मनो वापायहेतुः क्रोधः ॥३॥

अर्थ—जो मानव अपनी और शत्रु की शक्ति को न जानकर विना विचारे क्रोध कर बैठता है, वह क्रोध उसके विनाश का कारण हो जाता है ॥३॥

भागुरि[1] का उद्धरण भी समानार्थक है।

लोभ का लक्षण—

❀दानार्हेषु स्वधनाप्रदानं परधनग्रहणं वा लोभः ॥४॥

अर्थ—दान-योग्य पात्रों के लिए धन न देना और अन्याय (चोरी व छलकपट-आदि) पूर्वक दूसरों का धन ग्रहण करना लोभ है ॥४॥

अत्रि[2] विद्वान् का उद्धरण भी सदृश अर्थ का निरूपण करता है।

मान का स्वरूप—

दुरभिनिवेशामोक्षो यथोक्ताग्रहणं वा मानः ॥५॥

अर्थ—दुराग्रह न छोड़ना अर्थात्—पाप कार्यों को न छोड़ना और हितैषी शिष्ट पुरुषों का उपदेश न मानना 'मान' है ॥५॥

विशेषार्थ—व्यास[3] का उद्धरण भी समानार्थक है।

मद का स्वरूप—

कुलबलैश्वर्यरूपविद्यादिभिरात्माहंकारकरणं परप्रकर्षनिबन्धनं वा मदः ॥६॥

अर्थ—कुल, बल, ऐश्वर्य, रूप और विद्या-आदि का अपने में अहंकार (मद) करना और दूसरों की वृद्धि का खण्डन करना या रोकना मद है ॥६॥

विशेषार्थ—जैमिनि[4] का उद्धरण भी समानार्थक है ॥१॥

हर्ष का स्वरूप—

निर्निमित्तमन्यस्य दुःखोत्पादनेन स्वस्यार्थसंचयेन वा मनः प्रतिरञ्जनो हर्षः ॥७॥

अर्थ—विना प्रयोजन दूसरों को दुःख देकर पुलकित-हर्षित होना, और धन-प्राप्ति होने पर मन में प्रमुदित होना हर्ष है ॥७॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[5] का उद्धरण भी समानार्थक है।

इत्यरिषड्वर्गसमुद्देशः

१. तथा च भागुरिः—अविचार्यात्मनः शक्ति परस्य च समुत्सुकः। यः कोपं करोति भूपालः स विनाशं प्रगच्छति ॥१॥

❀'दानार्थेषु मु० मू०। ×'अकारणं परधनग्रहणं वा' मु० मू०।

२. देखिए स० टी० पृ० ४०।

३. तथा च व्यासः—पापकृत्यापरित्यागो युक्तोक्तपरिवर्जनम्। यत्सम्मानाभिधानं स्याद्यथा दुर्योधनस्य च ॥१॥

४. तथा च जैमिनिः—कुलवीर्यस्वरूपाद्यैर्यो गर्वो ज्ञानसम्भवः। स मदः प्रोच्यतेऽन्यस्य येन वा कर्षणं भवेत् ॥१॥

५. तथा च भारद्वाजः—प्रयोजनं विना दुःखं यो दत्वान्यस्य हृष्यति। आत्मनोऽनर्थसंदेहैः हर्षः प्रोच्यते बुधैः ॥१॥

राजा का लक्षण—

योऽनुकूलप्रतिकूलयोरिन्द्रयमस्थानं स राजा ॥१॥

अर्थ—जो, अपने अनुकूल आचरण करनेवालों के प्रति इन्द्र-सरीखा रक्षक हो और प्रतिकूल आचरण करनेवालों के प्रति यमराज के समान कठोर दण्ड देने में समर्थ हो, उसे 'राजा' कहते हैं ॥१॥

विशेषार्थ—'भार्गव' विद्वान्[1] ने भी कहा है—'राजा शत्रुओं के प्रति काल-सरीखा और मित्रों के साथ इन्द्र-सरीखा होता है; क्योंकि कोई व्यक्ति केवल अभिषेक और पट्टबन्धन से राजा नहीं हो सकता; अन्यथा अभिषेक और पट्ट बन्धन-(पट्टी बांधना) आदि चिह्न तो व्रण के भी किये जाते हैं, उसे भी राजा कहने का प्रसङ्ग प्राप्त होगा।'

राजा का धर्म—

राज्ञो हि दुष्टनिग्रहः शिष्टपरिपालनं* च धर्मः ॥२॥

अर्थ—निस्सन्देह दुष्टों का निग्रह अर्थात् दण्ड देना और सज्जनों की रक्षा करना राजा का कर्तव्य है ॥२॥

विशेषार्थ—वर्ग[2] का उद्धरण भी समान अभिप्राय का निरूपक है।

राजा के अयोग्य कार्य—

न पुनः शिरोमुण्डनं जटाधारणादिकम् ॥३॥

अर्थ—शिर-मुड़ाना अथवा जटा-धारण करना-आदि राजा का धर्म नहीं है ॥३॥

विशेषार्थ—भागुरि[3] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

राज्य का स्वरूप—

राज्ञः पृथ्वीपालनोचितं कर्म राज्यं ॥४॥

अर्थ—राजा का 'उसकी पृथ्वी पर रहने वाले प्रजाजनों की रक्षा के योग्य कर्तव्य अर्थात्—षाड्गुण्य (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव) को 'राज्य' कहते हैं ॥४॥

भावार्थ—राजा लोग अपने राज्य की श्रीवृद्धि के लिए दूसरे शत्रुभूत राजाओं से सन्धि (वलिष्ठ शत्रु को धनादि देकर उससे मैत्री स्थापित करना), विग्रह (कमजोर शत्रु से युद्ध छेड़ना), यान (शत्रु पर चढ़ाई करना), आसन (शत्रु की उपेक्षा करना), संश्रय (आत्म-समर्पण करना), और द्वैधीभाव (बलवान् से सन्धि और कमजोर से युद्ध करना) इस षाड्गुण्य का यथोचित प्रयोग करते है, क्योंकि इन राजनैतिक उपायों से उनके राज्य की श्रीवृद्धि होती है।

भावार्थ—वर्ग[4] का उद्धरण भी राज्य के लक्षण में समानार्थक है।

१. तथा च भार्गव.—वर्तते योऽरिमित्राभ्यां यमेन्द्राभः स भूपतिः। अभिषेको व्रणस्यापि व्यञ्जनं पट्टमेव वा ॥१॥

❀ 'प्रतिपालनं' मू० पुस्तके।

२. तथा च वर्गः—विज्ञेयः पार्थिवो धर्मः शिष्टानां परिपालनं। दण्डश्च पापवृत्तीनां गौणोऽन्यः परिकीर्तितः ॥१॥

३. तथा च भागुरिः—व्रतचर्यादिको धर्मो न भूपानां सुखावहः। तेषां धर्मः प्रदानेन प्रजासंरक्षणेन च ॥१॥

४. तथा च वर्गः—षाड्गुण्य-चिन्तनं कर्म राज्यं यत्संप्रकथ्यते। न केवलं विलासाद्यं तेन बाह्यं कथंचन ॥१॥

यो राजा चिन्तयेन्नैव विलासैकमनाः सदा। षाड्गुण्यं तस्य तद्राज्यं सोऽचिरेण प्रणश्यति ॥१॥

संशोधित—सम्पादक

पृथ्वी का यथार्थ स्वरूप—

वर्णाश्रमवती धान्यहिरण्यपशुकुप्य + वृष्टिप्रदानफला च पृथ्वी ।।५।।

अर्थ—जिसपर चारों वर्ण (ब्राह्मण व क्षत्रिय-आदि) और चारों आश्रम (ब्रह्मचारी व गृहस्थ-आदि) के मनुष्य रहते हों, जिसमें विविध भाँति के अन्न (गेहूँ व धान्य-आदि) उत्पन्न होते हों, एवं सुवर्ण चाँदी, गाय-भैंस-आदि अनेक प्रकार के पशु-पक्षी और ताँबा-लोहा-आदि धातुओं की प्रचुर मात्रा में जहाँ प्राप्ति हो वही यथार्थ पृथ्वी है ।।५।।

विशेषार्थ—भृगु[1] का उद्धरण भी समानार्थक है ।

वर्ण-भेद—

***ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राश्च वर्णाः ।।६।।**

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के चार वर्ण हैं ।।६।।

भावार्थ—भगवज्जिनसेनाचार्य[2] ने कहा है—'व्रतों के संस्कार से ब्राह्मण, शस्त्र-धारण करने से क्षत्रिय, न्यायपूर्वक द्रव्योपार्जन से वैश्य और नीचवृत्ति का आश्रय करने से शूद्र कहलाते हैं ।'

आश्रम के भेद—

ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिरित्याश्रमाः ।।७।।

अर्थ—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति ये चार आश्रम हैं ।।७।।

प्रस्तुत आचार्यश्री ने यशस्तिलक[3] में कहा है—'सम्यग्ज्ञान ब्रह्म है, प्राणिरक्षा ब्रह्म है और कामवासना का विशेष निग्रह ब्रह्म है । जो मनुष्य सम्यक् रूप से सम्यग्ज्ञान की आराधना करता है और प्राणिरक्षा में तत्पर रहता है एवं काम पर विजयश्री प्राप्त करता है वही ब्रह्मचारी है ।' जो क्षमा (अहिंसा) रूपी स्त्री में आसक्त है, जिसे सम्यग्ज्ञान और अतिथि प्रिय हैं एवं जो मनरूपी देवता की साधना करता है, वही यथार्थ 'गृहस्थ' है ।' 'जो साधु इन्द्रिय-समूह के वाह्य विषयों (स्पर्शआदि) अथवा टि० के अभिप्राय से मकान-वगैरह वाह्य परिग्रहों को तथा अन्तरङ्ग परिग्रह (राग-द्वेष-आदि)

+ 'विशिष्टफलदा' मु० मू० पुस्तके ।

१. तथा च भृगुः—वर्णाश्रमसमोपेता सर्वकामान् प्रयच्छति । या भूमिर्भूपते राज्यं प्रोक्ता साम्या विडम्बना ।।१।।

* 'ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः शूद्राश्च वर्णाः' मु० मू० पुस्तके ।

२. तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—ब्राह्मणाः व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात् । वणिजोऽर्थार्जना न्याय्यात् शूद्राः न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ।।१।।

आदिपुराण पर्व १६

३. तथा च सोमदेवसूरिः—'ज्ञानं ब्रह्म दया ब्रह्म ब्रह्म कामविनिग्रहः । सम्यगत्र वसन्नात्मा ब्रह्मचारी भवेन्नरः ।।१।।
क्षान्तियोषिति यो सक्तः सम्यग्ज्ञानातिथिप्रियः । स गृहस्थो भवेन्नूनं मनोदैवतसाधकः ।।२।।
ग्राम्यमर्थं बहिश्चान्तर्यः परित्यज्य संयमी । वानप्रस्थः स विज्ञेयो न वनस्थः कुटुम्बवान् ।।३।।
ज्ञानैर्मनो वपुर्वृत्तैर्नियमैरिन्द्रियाणि च । नित्यं यस्य प्रदीप्तानि स तपस्वी न वेषवान् ।।४।।

यश० आ० ८ श्लोक ४०५–४१७ एवं ४२० ।

आदि को त्याग कर संयम धारण करता है, उसे 'वानप्रस्थ' जानना चाहिए, किन्तु जो कुटुम्ब को लेकर वन में निवास करता है, वह 'वानप्रस्थ'' नहीं है। जिसका मन सदा तत्वज्ञान से प्रदीप्त है, शरीर अहिंसा-आदि व्रतों के धारण से प्रदीप्त है एवं जिसकी इन्द्रियाँ सदा सेवनीय पदार्थों के त्याग से प्रदीप्त हैं, वही 'तपस्वी'' है, किन्तु केवल बाह्यवेष-धारक तपस्वी नहीं है'।

'उपकुर्वाणक' ब्रह्मचारी का स्वरूप—

स उपकुर्वाणको ब्रह्मचारी यो वेदमधीत्य स्नायात् ॥८॥

अर्थ—जो वेदाध्ययन (शास्त्राध्ययन) करने के अनन्तर विवाह संस्कार करता है, उसे 'उपकुर्वाणक' ब्रह्मचारी कहते हैं ॥८॥

विशेषार्थ—वर्ग[1] का उद्धरण भी समानाशय प्रकट करता है।

स्नान शब्द का शास्त्र-विहित लक्षण—

स्नानं विवाहदीक्षाभिषेकः* ॥९॥

अर्थ—विवाह संस्कार की दीक्षा के अवसर पर शास्त्र-विहित मन्त्रों द्वारा कराया गया अभिषेक (जल-प्रोक्षण) 'स्नान' है ॥९॥

नैष्ठिक ब्रह्मचारी का लक्षण—

स नैष्ठिको ब्रह्मचारी यस्य प्राणान्तिकमदारकर्म ॥१०॥

अर्थ—जो यावज्जीवन विवाह न करके कामवासना से विरक्त रहे उसे 'नैष्ठिक' ब्रह्मचारी कहा है ॥१०॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[2] के उद्धरण द्वारा भी उक्त बात का स्पष्टीकरण होता है।

पुत्र की विशेषता—

य उत्पन्नः पुनीते वंशं स पुत्रः ॥११॥

अर्थ—जो उत्पन्न होकर नैतिक प्रवृत्ति द्वारा कुल को पवित्र करता है वही सच्चा पुत्र है ॥११॥

विशेषार्थ—भागुरि[3] का उद्धरण भी पुत्र का यही लक्षण निर्देश करता है।

कृतुप्रद ब्रह्मचारी का लक्षण—

कृतोद्वाहः ऋतुप्रदाता कृतुप्रदः[A] ॥१२॥

अर्थ—जो विवाहित होकर केवल सन्तान-प्राप्ति के उद्देश्य से ऋतुकाल में ही स्त्री का उपभोग करता है, उसे 'कृतुप्रद' ब्रह्मचारी कहा है ॥१२॥

विशेषार्थ—वर्ग[4] के उद्धरण से भी उक्त अभिप्राय प्रकट होता है।

१. तथा च वर्ग.—वेदानधीत्य यः कुर्याद्विवाहं यज्ञमेव वा। उपकुर्वाणकः संज्ञां ब्रह्मचारी लभेत सः ॥१॥

* 'दीक्षाविशेष' मु० मू०।

२. तथा च भारद्वाजः—कलत्ररहितस्यात्र यस्य कालोऽतिवर्तते। कष्टेन मृत्युपर्यन्तो ब्रह्मचारी स नैष्ठिकः ॥१॥

३. तथा च भागुरिः—कुलं पाति समुत्थो यः स्वधर्मं प्रतिपालयेत्। पुनीते स्वकुलं पुत्रः पितृमातृपरायण. ॥१॥

A. उक्त सूत्रं सं० टी० पुस्तकात्संकलितं, मु० मू० पुस्तके नास्ति।

४. तथा च वर्गः—सन्तानाय न कामाय यः स्त्रियं कामयेदृतौ। कृतुप्रदः स सर्वेषामुत्तमोत्तमसर्ववित् ॥१॥

पुत्रोत्पत्ति के बिना ऋणग्रस्त अवस्था—

अपुत्रः पुमान् पितॄणामृणभाजनम् ॥१३॥

अर्थ—जो मानव पुत्र को उत्पन्न नहीं करता वह पितरों का ऋणी होता है ॥१३॥

विशेषार्थ—ऋषिपुत्रक[1] का उद्धरण भी उक्त बात का समर्थक है।

शास्त्राध्ययन न करनेवाले मानव की ऋणग्रस्त दशा—

अनध्ययनो ब्रह्मणः* ॥१४॥

अर्थ—जो मनुष्य शास्त्रों का अध्ययन नहीं करता, वह आदि ब्रह्मा (ऋषभदेव तीर्थङ्कर) का ऋणी है ॥१४॥

ऋषिपुत्रक[2] का उद्धरण भी उक्त बात का स्पष्टीकरण करता है।

ईश्वर भक्ति के बिना मानव की ऋणग्रस्त दशा—

***अयजनो देवानाम् ॥१५॥**

अर्थ—देवों (ऋषभदेव-आदि तीर्थङ्करों) की भक्ति न करने वाला मानव उनका ऋणी है ॥१५॥

विशेषार्थ—ऋषिपुत्र[3] का उद्धरण भी समानार्थक है।

जनता का ऋणी—

अहन्तकरो मनुष्याणाम्* ॥१६॥

अर्थ—दूसरों को शोक उत्पन्न न करनेवाला मानव जनता का ऋणी है। अर्थात्—जिसकी मृत्यु हो जाने पर भी जनता को किञ्चिन्मात्र शोक उत्पन्न न हो वह मनुष्यजाति का ऋणी है। अथवा इस सूत्र का यह अर्थ भी हो सकता है कि जो मनुष्य दूसरों को दुःखी देखकर 'हन्त' इस प्रकार खेद-सूचक शब्द प्रकट नहीं करता अर्थात् दूसरों के दुःख में समवेदना प्रकट नहीं करता वह मानवजाति का ऋणी है।

भावार्थ—लोक में दो प्रकार के मनुष्य होते हैं। उत्तम (स्वार्थत्यागी) और अधम-स्वार्थान्ध। स्वार्थ-त्यागी महापुरुष अपने जीवन को काँच की शीशी-सरीखा क्षण-भङ्गुर समझकर स्वार्थ को ठुकराकर जनता का कल्याण करते हैं। वे अपने कर्तव्य-पालन (लोक-सेवा) से जनता के ऋण से मुक्त हो जाते हैं; क्योंकि उसके फलस्वरूप जनता उनके वियोग हो जानेपर शोकाकुल होती है। परन्तु दूसरे स्वार्थान्ध पुरुष परोपकार-विमुख रहते हैं और जनता को कष्ट देते हैं, अतः उनके मर जाने पर भी किसी को जरा भी शोक नहीं होता, अतः वे लोग मनुष्य जाति के ऋणी माने गए है ॥१६॥

महात्मा भर्तृहरि[4]ने भी यही कहा है।

---

१. तथा च ऋषिपुत्रकः—पिता पुत्रमुखं दृष्ट्वा मुच्यते पैतृकादृणात्। अपुत्रश्च पुनर्याति पुसंज्ञं नरकं नरः ॥१॥

* 'ब्रह्मर्षीणाम्' मु० मू० प्रतौ।

२. तथा च ऋषिपुत्रकः—ब्रह्मचारी न वेदं यः पठते मौढ्यमास्थितः। स्वायंभुवमृणं तस्य वृद्धिं याति कुसीदकम् ॥१॥

*. 'अयजमानो' मु० मू० प्रतौ।

३. तथा च ऋषिपुत्रः—नाग्नेः परिग्रहो यस्य विद्यते ब्रह्मचारिणः। ऋणभागी स देवानां जायते नात्र संशयः ॥१॥

* उक्त सूत्र मु० मू० पुस्तक से संकलन किया गया है—सम्पादक

४. तथा च भर्तृहरिः—एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये।

भर्तृहरिशतक।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी पुत्र-रहित होने पर भी ऋण-मुक्त होता है—

आत्मा वै पुत्रो नैष्ठिकस्य ॥१७॥

अर्थ—यावज्जीवन विवाह संस्कार न करनेवाले नैष्ठिक ब्रह्मचारी का आत्मा ही पुत्र है ॥१७॥

विशेषार्थ—ऋषिपुत्रक[1] ने भी नैष्ठिक ब्रह्मचारी की विशेष प्रशंसा की है।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी की सर्वोत्कृष्ट पवित्रता—

अयमात्मात्मानमात्मनि संदधानः परां पूततां सम्पद्यते ॥१८॥

अर्थ—नैष्ठिक ब्रह्मचारी का आत्मा आत्मशक्ति द्वारा आत्मा को आत्मस्वरूप में प्रत्यक्ष करता हुआ अत्यन्त विशुद्धि प्राप्त करता है ॥१८॥

विशेषार्थ—नारद[2] विद्वान् का उद्धरण भी समानार्थक है।

गृहस्थ का लक्षण—

नित्यनैमित्तिकानुष्ठानस्थो गृहस्थः ॥१९॥

अर्थ—जो मानव शास्त्र-विहित नित्य अनुष्ठान, (सत्कर्तव्य) (१. इज्या—तीर्थङ्कर और महर्षियों की भक्ति, २. वार्ता—कृषि व व्यापार-आदि, ३. पात्र-दान ४. स्वाध्याय ५. संयम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय-आदि और ६ तप.) और नैमित्तिक अनुष्ठान (वीरजयन्ती-आदि पर्वों में धर्म-प्रभावना आदि) का पालन करता है उसे 'गृहस्थ' कहा है ॥१९॥

विशेषार्थ—भगवज्जिनसेनाचार्य[3] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

भागुरि[4] के उद्धरण द्वारा भी उक्त आशय प्रकट होता है।

गृहस्थ के नित्य और नैमित्तिक सत्कर्म—

ब्रह्मदेवपित्रतिथिभूतयज्ञा हि नित्यमनुष्ठानम् ॥२०॥

अर्थ—परब्रह्म की पूजा, इष्ट देवों की आराधना, पितृयज्ञ (माता-पिता की आज्ञा-पालन एवं उनकी सेवा-शुश्रूषा-आदि), अतिथियों के लिए भोजनादि का प्रदान, और भूतयज्ञ (लोकसेवा) करना ये गृहस्थ के नित्य अनुष्ठान है ॥२०॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत आचार्य[5]श्री ने यशस्तिलक में लिखा है—'जिनेन्द्र तीर्थङ्करों की पूजा, गुरुजनों की उपासना, शास्त्र स्वाध्याय, संयम (अहिंसा व सत्य-भाषण-आदि व्रतों का धारण), तपश्चर्या और पात्र-दान ये छह सत्कर्तव्य गृहस्थों के द्वारा प्रतिदिन करने के योग्य हैं,

दर्शपौर्णमास्याद्याश्रयं नैमित्तिकम् ॥२१॥

---

१. तथा च ऋषिपुत्रकः—तेनाधीत च यष्टं च पुत्रस्यालोकितं मुखं। नैष्ठिको वीक्ष्यते यस्तु परमात्मानमात्मनि ॥१॥

२. तथा च नारदः—आत्मावलोकनं यस्य जायते नैष्ठिकस्य च। ब्रह्मचर्याणि सर्वाणि यानि तेषां फलं भवेत् ॥१॥

३. तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः। श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥१॥—आदिपुराण पर्व ३८

४. तथा च भागुरिः—नित्यनैमित्तिकपरः श्रद्धया परया युतः। गृहस्थः प्रोच्यते सद्भिरश्रृङ्गः पशुरन्यथा ॥१॥

५. तथा च सोमदेवसूरिः—देवसेवा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः। दानं चैव गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने-दिने ॥१॥

अर्थ—अमावस्या और पूर्णिमा-आदि शुभ-तिथियों में किये जानेवाले धार्मिक उत्सव-आदि प्रशस्त कार्यों को नैमित्तिक अनुष्ठान कहा है ॥२१॥

अन्यमत की अपेक्षा से गृहस्थों के भेद—

वैवाहिकः शालीनो जायावरोऽघोरो गृहस्थाः* ॥२२॥

अर्थ—वैवाहिक (श्रद्धापूर्वक गार्हपत्य अग्नि में ही होम करनेवाला), शालीन (अग्निहोत्र व्रत धारण कर पाँचों अग्नियों का उपासक), जायावर (जिसने एक अग्नि या पाँचों अग्नियों की उपासना पूर्वक शूद्र की धनादि वस्तु न लेने का व्रत लिया हो) और अघोर (जो दक्षिणा-दानपूर्वक अग्निष्टोम यज्ञ करने में तत्पर हो। ये चार प्रकार के गृहस्थ है।

विशेषार्थ—भागुरि[1] के उद्धरणों से उक्त बात का स्पष्टीकरण होता है।

परमत की अपेक्षासे वानप्रस्थ का लक्षण—

यः खलु यथाविधि जानपदमाहारं संसारव्यवहारं च परित्यज्य सकलत्रोऽकलत्रो वा वने प्रतिष्ठते स वानप्रस्थः ॥२३॥

अर्थ—जो गृहस्थ लौकिक आहार और सांसारिक व्यवहार (कृषि व पशु-पालन-आदि) का परित्याग करके स्त्री-सहित अथवा विना स्त्री के विधि-पूर्वक वन को प्रस्थान करता है—चला जाता है वह वानप्रस्थ है ॥२३॥

यति का लक्षण—

यो देहमात्रारामः सम्यग्विद्यानौलाभेन तृष्णासरित्तरणाय योगाय यतते स यतिः ॥२४॥

अर्थ—जो महात्मा अपने शरीरमात्र से ही आनन्दित (प्रमुदित) रहता है अर्थात्—शरीर के सिवाय दूसरे वहिरङ्ग परिग्रह (धन-धान्यादि) और अन्तरङ्ग-परिग्रह (राग-द्वेष व मोहादि) का परित्याग किए हुए है एवं तत्वज्ञानरूपी नौका की प्राप्ति द्वारा तृष्णारूपी नदी के पार करने को ही योग (ध्यान) मानकर उस योग की प्राप्ति-हेतु प्रयत्नशील रहता है, उसे 'यति' कहते है ॥२४॥

विशेषार्थ—हारीत[2] विद्वान् का उद्धरण भी उक्त आशय प्रकट करता है।

स्वामी समन्तभद्राचार्य[3] ने भी कहा है—'जो पंचेन्द्रियों के विषयों की लालसा से रहित हुआ कृषि-आदि आरम्भ और वहिरङ्ग (धन व धान्य-आदि) और अन्तरङ्ग (राग, द्वेष व मोह-आदि) परिग्रह का त्यागी होकर ज्ञान, ध्यान और तपश्चर्या में लीन रहता है उसे 'यति' कहते है'।

राज्य के मूलकारण—

***राज्यस्य मूलं क्रमो विक्रमश्च ॥२५॥**

---

* उक्त सूत्र न तो मु० मू० पुस्तक मे है और न गवर्न० लायब्रेरी पूना की ह० लि० मूलप्रतियों में है, किन्तु केवल मु० सं० टी० पुस्तक में वर्तमान है।

१. देखिए सं० टी० पृष्ठ ४९ श्लोक १ से ४।

२. तथा च हारीतः—आत्मारामो भवेद्यस्तु विद्यासेवनतत्परः। संसारतरणार्थाय योगभाग्यतिरुच्यते ॥१॥

३. तथा च स्वामी समन्तभद्राचार्यः—विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः। ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥१॥

* 'राज्यमूलं. मू. प्रती।

क्रम अर्थात्—कुलपरम्परा से प्राप्त हुआ राज्य और विक्रम (शूरता-सैन्यशक्ति और खजाने की शक्ति) ये दो साधन राज्य के मूल कारण हैं। जिस प्रकार जड़-सहित वृक्ष, शाखा और पुष्प फलादि से वृद्धिंगत होता है उसी प्रकार राज्य भी क्रम और विक्रम से वृद्धिंगत होता है ॥२५॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] का उद्धरण भी समान अर्थ का द्योतक है।

वंशपरम्परा से प्राप्त हुई राज्यश्री की वृद्धि का साधन—

आचारसम्पत्तिः क्रमसम्पत्तिं करोति ॥२६॥

अर्थ—सदाचार लक्ष्मी अर्थात्—कुलाचार का परिपालन रूपलक्ष्मी से क्रमागत राज्यश्री की वृद्धि होती है ॥२६॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] के उद्धरण में भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण है।

पराक्रम को सुशोभित करनेवाला सद्गुण—

अनुत्सेकः खलु विक्रमस्यालङ्कारः ॥२७॥

अर्थ—निस्सन्देह अभिमान (गर्व) न करने से पराक्रम सुशोभित होता है ॥२७॥

विशेषार्थ—गुरु[3] के दो उद्धरण भी प्रस्तुत विषय के निरूपक हैं।

राज्य को सुरक्षित रखने का साधन—

क्रमविक्रमयोरन्यतरपरिग्रहेण राज्यस्य दुष्करः परिणामः ॥२८॥

अर्थ—जो राजा क्रम और पराक्रम इन दोनों में से एक को ही स्वीकार करता है, उसके राज्य का परिणाम दुष्कर होता है अर्थात् उसका राज्य चिरस्थायी नहीं रहता ॥२८॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

नारद[5] ने भी कहा है—'जो राजा पराक्रम से रहित होने के कारण युद्ध से विमुख हो जाता है उसका कुलपरम्परागत राज्य नष्ट हो जाता है'।

बुद्धिमान राजा का लक्षण—

क्रमविक्रमयोरधिष्ठानं बुद्धिमानाहार्यबुद्धिर्वा ॥२९॥

अर्थ—जो राजा स्वयं बुद्धिमान (राजनीतिवेत्ता) है, अथवा जो अमात्य द्वारा दिए हुए उपदेश (राजनीति के सिद्धान्त) का पालन करनेवाला है, वही क्रम और पराक्रम का आश्रय होता है ॥२९॥

विशेषार्थ—शुक्र[6] का उद्धरण भी समानार्थक है।

१. तथा च शुक्रः—क्रमविक्रममूलस्य राज्यस्य तु यथा तरोः। समूलस्य भवेद् वृद्धिस्ताभ्यां हीनस्य संक्षयः ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—लौकिकं व्यवहारं यः कुरुते नयवृद्धितः। तद्वृद्धया वृद्धिमायाति राज्यं तत्र क्रमागतं ॥१॥

३. तथा च गुरुः—भूषणैरपि संत्यक्तः स विरेजे विगर्वकः। सगर्वो भूषणाढ्योऽपि लोकेऽस्मिन् हास्यतां व्रजेत् ॥१॥
योऽमात्यान्मन्यते गर्वान्न गुरून् न च बान्धवान्। शूरोऽहमिति विज्ञेयो म्रियते रावणो यथा ॥२॥

४. तथा च शुक्रः—राज्यं हि सलिलं यद्वद्बलेन समाहृतं। भूयोऽपि तत्ततोऽभ्येति लब्ध्वा कालस्य संक्षयम् ॥१॥

५. तथा च नारदः—पराक्रमच्युतो यस्तु राजा संग्रामकातरः। अपि क्रमागतं तस्य नाशं राज्यं प्रगच्छति ॥१॥

६. तथा च शुक्रः—स बुद्धिसहितो राजा नीतिशौर्यगृहं भवेत्। अथवाऽमात्यबुद्धिस्तु बुद्धिहीनो विनश्यति ॥१॥

बुद्धिमान राजा के लिए राजनीतिविद्या और विनय की आवश्यकता—

यो विद्याविनीतमतिः स बुद्धिमान् ॥३०॥

अर्थ—जो नीतिशास्त्र के अध्ययन से विनीतबुद्धिशाली है, वही बुद्धिमान है ॥३०॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी बुद्धिमान् का उक्त लक्षण किया है।

केवल पराक्रमी राजा की कटु आलोचना—

सिंहस्येव केवलं पौरुषावलम्बिनो न चिरं कुशलम् ॥३१॥

अर्थात्—केवल पराक्रम का आश्रय लेनेवाले राजा का उस प्रकार स्थायी कल्याण नहीं होता (मार दिया जाता है) जिस प्रकार आक्रमण करनेवाले सिंह का स्थायी कल्याण नहीं होता (मार दिया जाता है।)

विशेषार्थ—शुक्र[2] का उद्धरण भी उक्त सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करता है।

बुद्धि शक्ति होने पर भी नीतिशास्त्र के ज्ञान की आवश्यकता—

अशस्त्रः शूर इवाशास्त्रः[A] प्रज्ञावानपि भवति[B] विद्विषां वशः ॥३२॥

अर्थ—जिस प्रकार शूरवीर मनुष्य हथियारों के बिना शत्रुओं द्वारा पराजित कर दिया जाता है उसी प्रकार बुद्धिमान राजा भी नीतिशास्त्र के ज्ञान के बिना शत्रुओं द्वारा पराजित कर दिया जाता है ॥३२॥

गुरु[3] का उद्धरण भी उक्त मान्यता का समर्थन करता है।

शास्त्र तीसरा नेत्र है—

अलोचनगोचरे ह्यर्थे शास्त्रं तृतीयं लोचनं पुरुषाणाम् ॥३३॥

अर्थ—जो पदार्थ का प्रयोजन नेत्रों द्वारा प्रतीत नहीं होता, उसको प्रकाशित करने के लिए शास्त्र मनुष्यों का तीसरा नेत्र है।

भावार्थ—किसी भी कर्तव्य अथवा उसके फल में यदि सन्देह उपस्थित हो जाय कि अमुक कार्य योग्य हैं? अथवा अयोग्य? इसका फल अच्छा है? अथवा बुरा? तो उसको दूर करने में शास्त्रज्ञान ही समर्थ हो सकता है। ऐसे विषय में चक्षु कुछ नहीं कर सकती ॥३३॥

गुरु[4] का उद्धरण भी एक सरीखे अभिप्राय का प्रदर्शक है।

शास्त्रज्ञान से हीन पुरुष की निन्दा—

अनधीतशास्त्रश्चक्षुष्मानपि पुमानन्ध एव ॥३४॥

अर्थ—जिस पुरुष ने शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया, वह चक्षु-सहित होकरके भी अन्धा ही है। अर्थात्—जिस प्रकार अन्धे मनुष्य को सामने रक्खे हुए इष्ट और अनिष्ट पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता

१. तथा च शुक्रः—शास्त्रानुगा भवेद्बुद्धिर्यस्य राज्ञः स बुद्धिमान्। शास्त्रबुद्ध्या विहीनस्तु शौर्ययुक्तो विनश्यति ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—पौरुषान्मृगनाथस्तु हरिः स प्रोच्यते जनैः। शास्त्रबुद्धिविहीनस्तु यतो नाशं स गच्छति ॥१॥

A 'अशास्त्रज्ञः मु० मू०। B. सर्वेषां गोचरः मु० मू०।

३. तथा च गुरुः—नीतिशास्त्रविहीनो यः प्रज्ञावानपि हन्यते। परैः शस्त्रविहीनस्तु चौराद्यैरपि वीर्यवान् ॥१॥

४. तथा च गुरुः—अदृश्यो निजचक्षुर्भ्यां कार्यं सन्देहमागते। शास्त्रेण निश्चय कार्यस्तदर्थं च क्रिया ततः ॥१॥

उसीप्रकार शास्त्रों के ज्ञान से शून्य (मूर्ख मनुष्य) को भी धर्म और अधर्म कर्तव्य और अकर्तव्य का ज्ञान नहीं हो सकता ॥३४॥

भागुरि[1] का उद्धरण भी उक्त बात का स्पष्टीकरण करता है।

मूर्ख पुरुष की निन्दा—

न ह्यज्ञानादपरः पशुरस्ति ॥३५॥

अर्थ—संसार में मूर्ख पुरुष को छोड़कर दूसरा कोई पशु नहीं है; क्योंकि जिसप्रकार पशु घास-आदि भक्षण करके मल-मूत्र-आदि क्षेपण करता है और धर्म-अधर्म—कर्तव्य और अकर्तव्य को नहीं जानता उसीप्रकार मूर्ख मनुष्य भी खान-पानादि क्रिया करके मल-मूत्रादि क्षेपण करता है, और धर्म-अधर्म (कर्तव्य-अकर्तव्य) को नहीं जानता ॥३५॥

विशेषार्थ—वशिष्ठ[2] ने भी कहा है 'कि—'अत्यन्त मूर्खलोग शास्त्रज्ञान से पराङ्मुख-रहित होने के कारण धर्म-अधर्म को नहीं जानते, इसलिए विना सींगों के पशु हैं।'

महात्मा भर्तृहरि[3] ने भी कहा है—कि जिसे संगीत और साहित्य-आदि कलाओं का ज्ञान नहीं है, वह विना सींग और पूँछ का साक्षात् पशु है। इसमें कई लोग यह शङ्का करते हैं—कि यदि मूर्ख मनुष्य यथार्थ में पशु है तो वह घास क्यों नहीं खाता? इसका समाधान यह है कि वह घास न खाकर के भी जीवित है, इसमें पशुओं का उत्तम भाग्य ही कारण है, नहीं तो वह घास भी खाने लगता'।

राज्य-क्षति का कारण—

वरमराजकं भुवनं न तु मूर्खो राजा ॥३६॥

अर्थ—विना राजा का राज्य होना अच्छा है, किन्तु उसमें मूर्ख राजा का होना अच्छा नहीं है ॥३६॥

विशेषार्थ—गुरु[4] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

युवराज पद के अयोग्य राजपुत्र—

असंस्कारं※ रत्नमिव सुजातमपि राजपुत्रं न नायकपदायामनन्ति साधवः ॥३७॥

अर्थ—जिसप्रकार समुद्र-आदि उत्तम स्थान से उत्पन्न हुआ भी रत्न, शाण पर घर्षणादि क्रिया रूप संस्कार के विना आभूषणों में प्रतिष्ठित नहीं किया जाता उसी प्रकार कुलीन वंश में उत्पन्न हुए राजपुत्र को भी नीतिवेत्ता सज्जन पुरुष, नीतिशास्त्र के ज्ञान से सुसंस्कृत हुए विना युवराज पद पर प्रतिष्ठित करने के योग्य नहीं मानते ॥३७॥

दुर्विनीत राजा से प्रजा की क्षति—

न दुर्विनीताद्राज्ञः प्रजानां विनाशादपरोऽस्त्युत्पातः ॥३८॥

१. तथा च भागुरिः—शुभाशुभं न पश्येच्च यथान्धः पुरतः स्थितं। शास्त्रहीनस्तथा मर्त्यो धर्माधर्मौ न विन्दति ॥१॥
२. तथा च वशिष्ठः—मर्त्या मूर्खतमा लोकाः पशवः शृङ्गवर्जिताः। धर्माधर्मौ न जानन्ति यतः शास्त्रपराङ्मुखाः ॥१॥
३. तथा च भर्तृहरिः—साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः। तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनां ॥१॥
४. तथा च गुरुः—अराजकानि राष्ट्राणि रक्षन्तीह परस्परं। मूर्खो राजा भवेद्येषां तानि गच्छन्तीह संक्षयं ॥१॥
※'अकृतसंस्कारं' मु० मू०। = 'नीतिमन्तः' मू० प्रतौ।

अर्थ—दुर्विनीत अर्थात्—योग्य-अयोग्य पदार्थ के विषय में विवेक-हीन राजा से प्रजा का विनाश ही होता है, उसे छोड़कर दूसरा कोई उपद्रव नहीं होता ॥३८॥

विशेषार्थ—हारीत[1] के उद्धरण में भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण है।

दुर्विनीत का लक्षण—

यो॰ युक्तायुक्तयोरविवेकी विपर्यस्तमतिर्वा स दुर्विनीतः ॥३९॥

अर्थ—जो योग्य व अयोग्य पदार्थों के विषय में विवेक-हीन है अर्थात्—जो अयोग्य पुरुषों को दान-सन्मान-आदि से प्रसन्न करनेवाला है और योग्य पुरुषों का अपमान करता है। अथवा जो विपरीत बुद्धिवाला है, अर्थात्—जो शिष्ट पुरुषों के सदाचार की अवहेलना करके पापमार्ग (मद्यपान-आदि कुकृत्यों) में प्रवृत्ति करता है, उसे 'दुर्विनीत' कहते हैं ॥३९॥

विशेपार्थ—नारद[2] के उद्धरण में भी दुर्वृत्त का उक्त लक्षण किया गया है।

राज्य पद के योग्य पुरुष द्रव्य का लक्षण—

यत्र सद्भिराधीयमाना गुणाः संक्रामन्ति तद् द्रव्यं ॥४०॥

अर्थ—जिस पुरुष द्रव्य में, राजनीतिज्ञ सज्जन पुरुषों द्वारा सिखाये गए प्रजापालन के उपयोगी सद्गुण (नीति व आचार सम्पत्ति-आदि) स्थिर रह सकें वह पुरुष द्रव्य राजा होने के योग्य है ॥४०॥

विशेषार्थ—भागुरि[3] का उद्धरण भी उक्त आशय प्रकट करता है।

द्रव्य प्रकृति की महत्ता—

द्रव्यं हि क्रियां विनयति नाद्रव्यं ॥४१॥

अर्थ—निस्सन्देह द्रव्य अर्थात्—प्रशस्त गुणों से अलङ्कृत योग्य पुरुष ही राज्यपद प्राप्त कर सकता है। अद्रव्य अर्थात्—गुण-हीन नहीं ॥४१॥

विशेषार्थ—भागुरि[4] ने भी उक्त विषय का उल्लेख किया है।

द्रव्याद्रव्यप्रकृति युक्त पुरुष राजा होने के योग्य नहीं—

यतो द्रव्याद्रव्यप्रकृतिरपि कश्चित् पुरुषः सङ्कीर्णगजवत्॰ ॥४२॥

अर्थ—द्रव्य प्रकृति वाले पुरुषों में भी द्रव्याद्रव्यरूप सङ्कर प्रकृति वाला कोई पुरुष उसप्रकार राज्य पद के योग्य नहीं हो सकता जिस प्रकार सकीर्ण जाति का हाथी गजराज होने योग्य नहीं होता ॥४२॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[5] का उद्धरण भी उक्त वात का समर्थन करता है।

गुरु[6] ने भी राजद्रव्य के विषय में उक्त उल्लेख किया है।

---

१. तथा च हारीतः—उत्पातो भूमिकम्पाद्यः शान्तिकैर्याति सौम्यताम्। नृपदुर्वृत्तः उत्पातो न कथंचित् प्रशाम्यति ॥१॥

॰'युक्तायुक्तयोगवियोगयोरविवेकमतिर्वा स दुर्विनीतः' इति मु० मू० व ह० लि० मू० प्रतिद्वये पाठः।

२. तथा च नारदः—युक्तायुक्तविवेकं यो न जानाति महीपतिः। दुर्वृत्तः स परिज्ञेयो यो वा वाममति र्भवेत् ॥१॥

३. तथा च भागुरिः—योज्यमाना उपाध्यायै र्यत्र पुंसि स्थिराश्च ते। भवन्ति नरि द्रव्यं तत् प्रोच्यते पार्थिवोचितम् ॥१॥

४ तथा च भागुरिः—गुणाढ्यैः पुरुषैः कृत्य भूरतीना प्रसिद्ध्यति। महत्तरमपि प्रायो निर्गुणैरपि नो लघु ॥१॥

॰उक्त सूत्रं मु० मू० एवं ह० लि० मू० प्रतितः संकलितं—सम्पादक

५. तथा च वल्लभदेवः—शिष्टात्मजो विदग्धोऽपि द्रव्याद्रव्यस्वभावकः। न स्याद्राज्यपदार्होऽसौ गजो मिश्रगुणो यथा ॥१॥

६. तथा च गुरुः—यः स्यात् सर्वगुणोपेतो राजद्रव्यं तदुच्यते। सर्वकृत्येषु भूपानां तदर्हं कृत्यसाधनम् ॥१॥

बुद्धि के आठ गुण और उनके लक्षण—

शुश्रूषा-श्रवण-ग्रहण-धारणा-विज्ञानोहापोह-तत्वाभिनिवेशा बुद्धिगुणाः ॥४३॥

अर्थ—शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारणा, विज्ञान, ऊह, अपोह, और तत्वाभिनिवेश ये बुद्धि के ८ गुण हैं ॥४३॥

(इनके लक्षण ग्रन्थकार ने स्वयं अग्रिम सूत्रों में किये हैं—)

श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा ॥४४॥

श्रवणमाकर्णनम् ॥४५॥

ग्रहणं शास्त्रार्थोपादानं ॥४६॥

***धारणमविस्मरणम् ॥४७॥**

मोहसन्देहविपर्यासव्युदासेन ज्ञानं विज्ञानम् ॥४८॥

विज्ञातमर्थमवलम्ब्यान्येषु व्याप्त्या तथाविधवितर्कणमूहः ॥४९॥

उक्तियुक्तिभ्यां विरुद्धादर्थात् प्रत्यवायसंभावनया व्यावर्तनमपोहः ॥५०॥

अथवा ज्ञानसामान्यमूहो ज्ञानविशेषोऽपोहः ॥५१॥

विज्ञानोहापोहानुगमविशुद्धमिदमित्थमेवेति निश्चयस्तत्वाभिनिवेशः ॥५२॥

अर्थ—शास्त्र या महापुरुषों के हितकारक उपदेश को सुनने की इच्छा शुश्रूषा है ॥४४॥ शास्त्र संबंधी विषयों का सुनना श्रवण है ॥४५॥ शास्त्र के विषय को ग्रहण करना ग्रहण है ॥४६॥ शास्त्र के विषय को जानकर न भूलना, अर्थात्-शास्त्र के विषय को ऐसा याद करना, जिससे बहुत समय तक भूल न सकें, यह बुद्धि का धारणा गुण है ॥४७॥ अज्ञान, सन्देह और विपर्यय इन मिथ्याज्ञानों से रहित यथार्थ ज्ञान होना यह विज्ञान नाम का बुद्धिगुण है ॥४८॥ ज्ञात विषयों का आश्रय लेकर अन्वय व्यतिरेक व्याप्ति के द्वारा जिनकी व्याप्ति मिलती हो ऐसे दूसरे विषयों में उसी प्रकार विचार करना उदाहरणार्थ—जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है जैसे रसोई घर और जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं वहाँ-वहाँ धूम भी नहीं है जैसे तालाब इसप्रकार अन्वय व्यतिरेक व्याप्ति का ज्ञान होना यह ऊह नामका बुद्धिगुण है ॥४९॥

अनुमान-आदि प्रमाण द्वारा निर्णीत (निश्चित हुए) सिद्धान्त का वादी द्वारा किये गए किसी विरोधी अर्थ से खण्डन किये जाने की संभावना होने पर प्रतिवादी द्वारा निरूपित उक्ति और युक्ति के द्वारा उस विरोधी अर्थ का निराकरण करना अपोह नामका बुद्धि-गुण है। उदाहरण के रूप में—आत्मा अनाद्यनन्तः सत्वे सत्यकारणवत्वात् आकाशवत्। अर्थात्-आत्मद्रव्य अनादि और अनन्त है, क्योंकि मौजूद होते हुए उसको उत्पन्न करनेवाले कारणों का अभाव है, अकाश की तरह। इस निश्चित सिद्धान्त का चार्वाक दर्शनकार द्वारा विरुद्ध अर्थ किया जावे तो उसका उक्ति और युक्तियों द्वारा निराकरण करना अपोह है ॥५०॥ अथवा किसी पदार्थ का सामान्य ज्ञान होना ऊह है और विशेष ज्ञान का होना अपोह है ॥५१॥ विज्ञान, ऊह और अपोह इन बुद्धिगुणों के संबंध से परिष्कृत (विशुद्ध हुए) 'यह ऐसा ही है' अन्य प्रकार नहीं है, इस प्रकार के दृढ़ निश्चय को 'तत्वाभिनिवेश' कहते हैं ॥५२॥

---

* 'धारणं कालान्तरेष्वविस्मरणम्' इति मु० मू० पुस्तके। 'धारणं कालान्तरादविस्मरणम्' इति ह० लि० मू० प्रतौ।

भगवज्जिनसेनाचार्य[1] ने भी कहा है—'शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, स्मृति, ऊह, अपोह और निर्णीति ये श्रोताओं के ८ गुण जानना चाहिए।'

विद्याओं के लक्षण और भेद—

याः समधिगम्यात्मनो हितमवैत्यहितं चापोहति ता विद्याः ॥५३॥

अर्थ—मानव जिनको जानकर आत्मा के हित (कल्याण) का और उसके कारणों की प्राप्ति तथा अहित (दुःख) और उसके कारण का परिहार करता है उन्हें विद्याएँ कहते हैं। अर्थात्-व्यक्ति जिनके अभ्यास से सुखप्राप्ति और दुखों का परिहार कर सके वे विद्याएँ है ॥५३॥

विशेषार्थ—भागुरि[2] के उद्धरण से भी उक्त बात का स्पष्टीकरण होता है।

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिरिति चतस्रो राजविद्याः ॥५४॥

अर्थ—आन्वीक्षिकी अर्थात् अध्यात्मविद्या या दर्शन शास्त्र, त्रयी अर्थात् चार वेद, षडङ्ग अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, व ज्योतिर्विद्या ये षडङ्ग, इतिहास, पुराण, मीमांसा, न्याय और धर्मशास्त्र ये चौदह विद्यास्थान, वार्ता (कृषि, पशुपालन और व्यापार) तथा दण्डनीति (अपराध के अनुकूल दण्डविधान) ये चार राजविद्याएँ हैं ॥५४॥

प्रस्तुत विद्याओं के अध्ययन से लाभ—

अधीयानो ह्यान्वीक्षिकीं कार्याकार्याणां बलाबलं हेतुभिर्विचारयति, व्यसनेषु न विषीदति, नाभ्युदयेन विकार्यते, समधिगच्छति* प्रज्ञावाक्यवैशारद्यं ॥५५॥

अर्थ—आन्वीक्षिकी विद्या का अध्ययन करने वाला विद्वान् प्रबल युक्तियों द्वारा कर्तव्य (अहिंसा-आदि) को प्रधान (हितकारक) और अकर्तव्य (मद्य-पान-आदि) को अप्रधान-अहितकारक (दुःखजनक) निश्चय करता है एवं विपत्ति में विषाद (खेद) नहीं करता और सम्पत्ति में विकृत (उन्मत्त) नहीं होता एवं बुद्धि-चातुर्य, और वाक्पटुता प्राप्त करता है ॥५५॥

त्रयीं पठन् वर्णाश्रमाचारेष्वतीव प्रगल्भते, जानाति न समस्तामपि धर्माधर्मस्थितिम् ॥५६॥

अर्थ—त्रयीविद्या का वेत्ता विद्वान् ब्राह्मणादि चारों वर्णों के तथा ब्रह्मचारी-आदि चारों आश्रमों के आचार-ज्ञान में विशेष पटुता प्राप्त करता है और समस्त धर्म-अधर्म (कर्तव्य-अकर्तव्य) की मर्यादा को भलीभाँति जानता है ॥५६॥

युक्तितः प्रवर्तयन् वार्तां सर्वमपि जीवलोकमभिनन्दयति लभते च स्वयं सर्वानपि कामान् ॥५७॥

अर्थ—वार्ताविद्या (कृषि व व्यापार-आदि की शिक्षा) की युक्ति पूर्वक समुचित प्रवृत्ति (प्रयोग) करनेवाला विद्वान् समस्त जनता को सुखी बनाता है और स्वयं भी समस्त अभिलषित भौतिक सुख प्राप्त करता है ॥५७॥

---

१. तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा। स्मृत्यूहापोहनिर्णीतीः श्रोतुरष्टौ गुणान् विदुः ॥१॥
आदिपुराण पर्व १ श्लोक १४६

२. तथा च भागुरिः—यस्तु विद्यामधीत्याथ हितमात्मनि संचयेत्। अहितं नाशयेद्विद्यास्ताश्चान्याः क्लेशदा मताः ॥१॥

* 'प्रज्ञावान् वैशारद्यं' इति मु० मू० व ह० मू० प्रतिद्वये पाठः।

यम इवापराधिषु दण्डप्रणयनेन विद्यमाने राज्ञि न प्रजाः स्वमर्यादामतिक्रामन्ति प्रसीदन्ति च त्रिवर्गफलाः विभूतयः ॥५८॥

अर्थ—जब राजा अपराधियों के लिए यमराज-सरीखा कठोर होकर दण्ड-विधान करता है तब उसके राज्य की प्रजा अपनी मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करती अर्थात्—अपने अपने वर्णाश्रम धर्म पर आरूढ़ होकर अन्याय नहीं कर पाती, जिसके फलस्वरूप राजा को धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों का ऐश्वर्य प्राप्त होता है ॥५८॥

आन्वीक्षिकी विद्या के प्रतिपादक दर्शनों के विषय में अन्य नीतिकारों की मान्यताएँ—

सांख्यं योगो लोकायतिकं चान्वीक्षिकी बौद्धार्हतोः श्रुतेः प्रतिपक्षत्वात् इति नैत्यानि मतानि* ॥५९॥

अन्य नीतिकार ऐसा मानते है कि 'सांख्य, नैयायिक और चार्वाकदर्शन ये तीनों आन्वीक्षिकी (अध्यात्मविद्याएँ) हैं। अर्थात्—अध्यात्मविद्या के प्रतिपादक दर्शन हैं। बौद्ध और आर्हद्दर्शन वेद-विरोधी हैं'।

स्पष्टीकरण—प्रस्तुत सूत्र में आचार्यश्री ने अन्य कुछ नीतिकारों की मान्यतामात्र का उल्लेख किया है, क्योंकि अध्यात्मविद्या का प्रतिपादक जैनदर्शन वेद-समालोचक होनेमात्र से आन्वीक्षिकी विद्या से वहिर्भूत नहीं हो सकता। अन्यथा उनके ऊपर प्राप्त हुआ अतिप्रसङ्गदोष किसी प्रकार निवारण नहीं किया जा सकता। अर्थात्—सांख्य-आदि दर्शन जैनदर्शन के समालोचक होंने के कारण आन्वीक्षिकी विद्या से वहिर्भूत समझे जा सकते है। किसी के द्वारा निरर्थक आक्षेप करने से क्या शिष्ट-दर्शन निन्दा का पात्र हो सकता है?

प्रस्तुत आचार्य प्रवर ने अपने 'यशस्तिलकचम्पू' में प्राचीन नीतिकारों के प्रमाणों द्वारा अनेकान्त-निरूपक आर्हद्दर्शन (जैनदर्शन) को आन्वीक्षिकी (अध्यात्मविद्या) सिद्ध किया है।

सांख्यं योगो लोकायतिकं चान्वीक्षिकी, तस्यां स्यादस्ति स्यान्नास्तीति नग्नश्रमणकः इति वृहस्पतिराखण्डलस्य पुरस्तं समयं कथं प्रत्यवतस्थे ?

यश० आ० ४ पृ० १११

अर्थात्—यशोधर महाराज अपनी माता चन्द्रमती द्वारा जैनधर्म पर किये गये आक्षेपों का समाधान करते हुए अन्य प्राचीन नीतिकारों के प्रमाणों से उसकी प्राचीनता सिद्ध करते हैं कि—'सांख्य, योग और चार्वाकदर्शन' ये आन्वीक्षिकी विद्याएँ हैं और उसी आन्वीक्षिकी विद्या में अनेकान्त का समर्थक नग्नश्रमणक अर्थात्—आर्हद्दर्शन भी अन्तर्भूत है' इसप्रकार वृहस्पति (सुराचार्य) ने इन्द्र के समक्ष उस अनेकान्त समर्थक जैनदर्शन को कैसे समर्थन किया? सारांश यह है कि अन्य नीतिकार वृहस्पति-आदि भी जैनदर्शन को 'आन्वीक्षिकी विद्या स्वीकार करते हैं ॥५९॥

आन्वीक्षिकी विद्या से होनेवाला लाभ—

प्रकृतिपुरुषज्ञो हि राजा सत्वमवलम्बते रजःफलं चापलं च परिहरति तमोभि र्नाभिभूयते[1] ॥६०॥

अर्थ—प्रकृति (शरीर व इन्द्रिय-आदि स्थूल तथा ज्ञानावरण-आदि कर्मरूप सूक्ष्मप्रकृति) और पुरुष-

---

*. इदं सूत्रं केवलं 'क' पुस्तके नास्ति, अन्य ख, ग, घ, च प्रतिषु वरीवर्ति—सम्पादक

१. इदं सूत्रं ग, घ, च, प्रतितः संकलितं, क ख प्रति द्वये नास्ति।

आत्मतत्व के स्वरूप का वेत्ता (भेद ज्ञानी) राजा सात्विक प्रकृति को धारण करता है और रजोगुण से होने वाली चपलता (काम-क्रोध-आदि विकारों से होनेवाली उच्छृङ्खलता (नीतिविरुद्ध प्रवृत्ति) का त्याग कर देता है और तामसिक भावों (अज्ञानादि दोषों) से आक्रान्त नहीं होता ॥६०॥

आन्वीक्षिकी-आदि विद्याओं का उपयोग—

आन्वीक्षिक्यध्यात्मविषये, त्रयी वेदयज्ञादिषु, वार्ता कृषिकर्मादिका, दण्डनीतिः साधुपालनदुष्टनिग्रहः[1] ॥६१॥

अर्थ—आन्वीक्षिकी अध्यात्म विषय का निरूपण करती है, त्रयीविद्या वेद और यज्ञादि का ज्ञान कराती है, वार्ता विद्या कृषि व व्यापार-आदि जीविकोपयोगी कार्यों का बोध कराती है एवं दण्डनीति साधु पुरुषों की रक्षा और दुष्टों के निग्रह करने का मार्ग प्रदर्शित करती है ॥६१॥

गुरु[2] विद्वान् ने भी कहा है—'आन्वीक्षिकी में आत्मज्ञान का, त्रयी में धर्म-अधर्म का, वार्ता में अर्थ और अर्थाभाव का एवं दण्डनीति में नीति और अनीति का प्रतिपादन किया गया है।'

भावार्थ—प्रस्तुत विद्याओं पर हम अन्य नीतिकारों की मान्यता का दिग्दर्शन करके इनके विकास-क्रम पर ऐतिहासिक विचार करते हैं—

मनु के अनुयायी त्रयी, वार्ता और दण्डनीति को मानते हैं। बृहस्पति के अनुयायी वार्ता और दण्डनीति मानते हैं तथा शुक्राचार्य के अनुयायी केवल दण्डनीति विद्या को स्वीकार करते हैं। परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थकार श्रीमत्सोमदेवसूरि आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति इन चारों विद्याओं को मानते हैं; क्योंकि वे भिन्न२ विषयों को दीपक की तरह प्रकाशित करतीं हुईं लोक का उपकार करती हैं।

आर्य चाणक्य[3] ने भी अपने कौटिल्य अर्थशास्त्र में उक्त चारों विद्याओं को स्वीकार किया है। क्योंकि आर्यचाणक्य ने कहा है कि 'विद्याओं की वास्तविकता यही है कि उनसे धर्म-अधर्म का बोध हो।'

आगमानुकूल ऐतिह्य-इतिहास प्रमाण से विदित होता है कि इतिहास के आदिकाल में भगवान् ऋषभदेव ने प्रजा में उक्त चार विद्याओं में से केवल वार्ता—कृषि और व्यापार-आदि की जीविकोपयोगी शिक्षा का प्रचार किया था। आदिपुराण में भगवज्जिनसेनाचार्य[4] ने लिखा है कि 'भगवान् ऋषभदेव तीर्थङ्कर ने इतिहास के आदिकाल में—जब कि प्रजा के जीवन-निर्वाह के साधन कल्पवृक्ष नष्ट प्राय हो चुके थे, अतएव जीविका के विना प्रजा के लोग मृत्यु की आशंका से 'त्रायस्व' 'त्रायस्व' कह रहे थे उस समय भगवान् ने उनकी जीविका के साधन असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प-आदि की शिक्षा दी थी।

समन्तभद्राचार्य[5] ने भी इसी विषय का उल्लेख किया है। क्योंकि जिसप्रकार ऊषरभूमि में धान्य

१. सूत्रमिदं ग, घ, च, प्रतिषु नास्ति क, ख, प्रतितः संकलितं।

२. तथा च गुरुः—आन्वीक्षिक्यात्मविज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ। अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ ॥१॥

३. देखिए कौटिल्य अर्थशास्त्र पृ० ८ से ९।

४. तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—असिर्मषिः कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमेव वा। कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवे ॥१॥ आदिपुराण पर्व १६

५. तथा च समन्तभद्राचार्यः—प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुःशशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ॥½॥ 'बृहत्स्वयंभूस्तोत्र' पृ० १

पैदा नहीं होती उसी प्रकार जीविका के बिना भूखी और व्याकुल जनता भी आन्वीक्षिकी और त्रयी-आदि ललित कलाओं को सीखकर अपनी उन्नति नहीं कर सकती। इसलिये जब प्रजा के लोग आजीविका से निश्चिन्त हुए तब भगवान् ऋषभदेव ने उनकी योग्यता और शरीर-जन्म की दृष्टि से उनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों की स्थापना की। पश्चात् उनके जीविकोपयोगी भिन्न२ कर्त्तव्य निर्देश किये। इसके बाद धार्मिक आचार-विचार की दृष्टि से उनमें खासकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य इन तीनों वर्णों में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति इन चारों आश्रमों की व्यवस्था कर उन्हें उनके धार्मिक कर्तव्य-पालन का उपदेश दिया। इसप्रकार भगवान् ऋषभदेव ने वर्ण और आश्रमों के कर्तव्यों का निर्देश करनेवाली त्रयी विद्या का प्रजा में प्रचार किया।

तत्पश्चात् कृषि और व्यापार-आदि से संचित सम्पत्ति-आदि की रक्षार्थ एवं वर्ण और आश्रमों के कर्तव्यों को भलीभाँति सुरक्षित, वृद्धिंगत व पल्लवित करनेके लिए दण्डनीति का प्रचार किया। अर्थात्-कृषि और व्यापार-आदि से उत्पन्न होनेवाली आय का १६ वाँ हिस्सा राजकोष में दिये जाने का विधान बना। उसके द्वारा संचित राजकोश की शक्ति से सैनिक संगठन किया गया। इस प्रकार 'दण्डनीति' विद्या का प्रचार हुआ। जिसके फलस्वरूप प्रजा की शत्रुवर्ग से रक्षा होने लगी। एवं त्रयी विद्या भी वृद्धिंगत सुरक्षित होने लगी। दण्डनीति से चोर, अन्यायी, प्रजापीड़क और आततायी दुष्ट पुरुषों को दण्ड दिया जाने लगा। अर्थात्-शिष्ट-पालन और दुष्ट-निग्रहरूप तथा सन्धि-विग्रहादिरूप राजनीति का प्रादुर्भाव हुआ। तत्पश्चात् भगवान् ने प्रजा में आन्वीक्षिकी विद्या का प्रचार किया—वर्ण और आश्रमों में विभाजित हुई प्रजा को अपने अपने कर्तव्य-पथ में आरूढ़ करने के लिए व अन्यायी आततायियों से उसकी रक्षा करनेके लिए विधान—फौजदारी और दीवानी के कानून-बनाए गये। इसप्रकार लोक-व्यवहार में उपयोगी आन्वीक्षिकी विद्या का प्रचार किया गया।

एव इसके साथ कर्तव्य कर्म करने और अकर्तव्य के त्याग से प्राणी का शाश्वत् कल्याण क्यों होता है? शरीर व इन्द्रिय-आदि से भिन्न-स्वतन्त्र व अनादि निधन आत्मद्रव्य है। वह पूर्वजन्म और अपरजन्म धारण करता है और अपने द्वारा किये हुए शुभाशुभ कर्मों के अच्छे और बुरे फल भोगता है, इत्यादि गूढ़ विषयों पर अनेक प्रवल एवं अकाट्य (अवाधित) युक्तियों का प्रचार किया। इसप्रकार प्रभु ने प्रजा में सर्व विद्याओं की प्रदीपभूत आन्वीक्षिकी विद्या का प्रचार किया। पश्चात् इसी आन्वीक्षिकी विद्या की विस्तृत व्याख्या केवलज्ञान होने पर की।

अहिंसा, स्याद्वाद, कर्मसिद्धान्त, ईश्वर विषयक उत्कृष्ट विचार और ९ पदार्थ-आदि विषयों पर अपनी दिव्य ध्वनि द्वारा प्रवल एवं अकाट्य युक्तियों से परिपूर्ण दिव्य संदेश दिया—युक्तिपूर्ण भाषण दिये। यह विद्याओं के क्रमिक विकास का संक्षिप्त इतिवृत्त (इतिहास) है। इनका वेत्ता विद्वान् कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र और विश्व के उद्धार करने में समर्थ होता है।

उक्त विद्याओं के अध्ययन में एवं विद्वत्सेवा में प्रवृत्त होना—

चेतयते[1] च विद्यावृद्धसेवायाम् ॥६२॥

अर्थ—आन्वीक्षिकी विद्या में निपुण मानव विद्याओं के अभ्यास में और बहुश्रुत विद्वानों की सेवा में प्रवृत्त होता है ॥६२॥

१. 'उत्सहते' ब, ब, ब प्रतिषु पाठः।

विशेषार्थ—नारद[1] का उद्धरण भी उक्त बात का समर्थक है।

विद्या और विद्वत्सेवा से पराङ्मुख राजा की दुर्दशा—

अज्ञातविद्यावृद्धसंयोगो हि राजा निरंकुशो गज इव सद्यो विनश्यति ॥६३॥

अर्थ—निस्सन्देह जो राजा राजनीति विद्या और विद्वत्सेवा से पराङ्मुख होता है, वह निरंकुश हाथी सरीखा शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥६३॥

विशेषार्थ—ऋषिपुत्र[2] का उद्धरण भी समानार्थक है।

विशिष्ट विद्वानों की सङ्गति से लाभ—

अनधीयानोऽपि विशिष्टजनसंसर्गात्परां व्युत्पत्तिमवाप्नोति ॥६४॥

अर्थ—विद्याओं का अभ्यास न करता हुआ (मूर्ख व्यक्ति) भी विशिष्ट पुरुषों (विद्वानों) की सेवा से उत्कृष्ट कोटि का ज्ञान प्राप्त कर लेता है ॥६४॥

विशेषार्थ—व्यास[3] के उद्धरण में भी उक्त विषय का निरूपण है।

अन्यैव काचित्खलु छायोपजलतरूणाम् ॥६५॥

अर्थ—जिसप्रकार जल के समीपवर्ती वृक्षों की छाया अपूर्व (शीतल-सुखप्रद) होती है उसी प्रकार विशिष्ट पुरुषों के संसर्ग से प्राप्त हुए ज्ञान को शोभा अपूर्व ढङ्ग की होती है ॥६५॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[4] का उद्धरण भी समान आशय का निरूपक है।

राजगुरु के प्रशस्त गुण—

वंशवृत्तविद्याभिजनविशुद्धा हि राज्ञामुपाध्यायाः॥६६॥

अर्थ—निस्सन्देह राज-गुरु वही हो सकते हैं, जो कि वंश परम्परा से विशुद्ध हों, अर्थात् जिनके पूर्वज राजवंश के गुरु रह चुके हों, जिनका चरित्र विशुद्ध हो, ज्ञान निर्मल हो और जो कुलीनता में विशुद्ध हों, अर्थात्—जिनकी कुलीनता लाञ्छन-हीन हो ॥६६॥

विशेषार्थ—नारद[5] का उद्धरण भी उक्त अभिप्राय का स्पष्टीकरण करता है।

शिष्ट पुरुषों का सम्मान करना राजा का कर्तव्य है—

शिष्टानां नीचैराचरन्नरपतिरिहलोके स्वर्गे च महीयते ॥६७॥

अर्थ—शिष्ट पुरुषों के प्रति नम्रता का व्यवहार करनेवाला राजा इस लोक में और स्वर्ग में पूजा जाता है ॥६७॥

विशेषार्थ—हारीत[6] विद्वान् ने भी उक्त बात का समर्थन किया है।

---

१. तथा च नारदः—न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः। यो वै युवाप्यधीयानस्त देवाः स्थविरं विदुः ॥१॥

२. तथा च ऋषिपुत्रः—यो विद्यां वेत्ति नो राजा वृद्धान्नैवोपसेवते। स शीघ्रं नाशमायाति निरंकुश इव द्विपः ॥१॥

३. तथा च व्यासः—विवेकी साधुसंगेन जडोऽपि हि प्रजायते। चन्द्रांशुसेवनान्नूनं यद्वच्च कुमुदाकरः ॥१॥

४. तथा च वल्लभदेवः— अन्यापि जायते शोभा भूपस्यापि जडात्मनः। साधुसंगाद्धि वृक्षस्य सलिलादूरवर्तिनः॥१॥

५. तथा च नारद;— पूर्वेषां पाठका येषां पूर्वजाःवृत्तसंयुताः। विद्याकुलीनतायुक्ताः नृपाणां गुर वश्च ते॥१॥

× 'शिष्टेषु नीचैराचरन्नरपतिरिह परत्र च महीयते' इति पाठः ग,घ,च प्रतिषु।

६. तथा च हारीतः—साधुपूजापरो राजा माहात्म्यं प्राप्य भूतले। स्वर्गगतस्ततो देवैरिन्द्राद्यैरपि पूज्यते॥१॥

राजा द्वारा नमस्कार के योग्य व्यक्ति—

राजा हि परमं दैवतं नासौ कस्मैचित् प्रणमत्यन्यत्र गुरुजनेभ्यः ॥६७॥

अर्थ— निस्सन्देह राजा महान् देवता है, अतः वह अपने माता-पिता व गुरुजनों के सिवाय किसी को नमस्कार नहीं करता ॥६७॥

अशिष्ट की सेवा द्वारा विद्याप्राप्ति अनुचित है—

वरमज्ञानं नाशिष्टजनसेवया विद्या ॥६८॥

अर्थ—मानव को मूर्ख रहना अच्छा है, परन्तु दुष्ट पुरुष की सेवा करके विद्या प्राप्त करना अच्छा नहीं है ॥६८॥

विशेषार्थ—हारीत[1] के उद्धरण से भी उक्त बात का समर्थन होता है।

अलं तेनामृतेन यत्रास्ति विषसंसर्गः ॥६९॥

अर्थ—विष-मिश्रित अमृत से क्या लाभ ? कोई लाभ नहीं। अर्थात्—जिसप्रकार विष-मिश्रित अमृत घातक होता है उसीप्रकार दुष्ट-सेवा से प्राप्त हुआ ज्ञान भी घातक होता है ॥६९॥

विशेषार्थ—नारद[2] के उद्धरण से भी उक्त बात प्रतीत होती है।

गुरु और शिष्य के आचार-विचार की समानता—

गुरुजनशीलमनुसरन्ति प्रायेण शिष्याः ॥७०॥

अर्थ—शिष्यलोग प्रायः गुरुजनों के शील (आचार-विचार) का अनुसरण करते हैं ॥७०॥

विशेषार्थ—वर्ग[3] का उद्धरण भी समानार्थक है।

कुलीन और सदाचारी शिक्षकों से होने वाला लाभ—

नवेषु मृद्भाजनेषु लग्नः संस्कारो ब्रह्मणाप्यन्यथा कर्तुं न शक्यते ॥७१॥

अर्थ—जिसप्रकार नवीन मिट्टी के पात्रों (वर्तनों) में स्थापित की हुई सुगन्धि या दुर्गन्ध-युक्त वस्तु का संस्कार ब्रह्मा के द्वारा भी वदला नहीं जासकता अर्थात् अमिट होता है, उसीप्रकार शिष्यरूपी नवीन पात्रों में कुलीन, सदाचारी व विद्वान् गुरुजनों द्वारा वाल्यकाल में स्थापित किया हुआ संस्कार (शील, सदाचार और सद्विद्या) ब्रह्मा के द्वारा भी मिटाया नहीं जासकता अर्थात्—अमिट होता है ॥७१॥

विशेषार्थ—वर्ग[4] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

दुराग्रही राजा की निन्दा—

अन्ध इव वरं परप्रणेयो राजा न ज्ञानलवदुर्विदग्धः ॥७२॥

अर्थ—जो राजा अन्धे-सरीखा मूर्ख होने पर भी सदा मन्त्री और अमात्य-आदि दूसरों का आश्रय (सहारा) लेकर कर्तव्यमार्ग (सन्धि-विग्रह-आदि) में प्रवृत्ति करनेवाला होता है, उसका होना अच्छा है, किन्तु

१. तथा च हारीतः—वरं जनस्य मूर्खत्वं नाशिष्टजनसेवया। पांडित्यं यस्य संसर्गात् पापात्मा जायते नृपः ॥१॥

२. तथा च नारदः—नास्तिकानां मतं शिष्यः पीयूषमिव मन्यते। दुःखावहं परे लोके नो वैद्विषमिव स्मृतम् ॥१॥

३. तथा च वर्गः—यादृशान् सेवते मर्त्यस्तादृक् चेष्टा प्रजायते। यादृशं स्पृशते देशं वायुस्तद्गन्धमावहेत् ॥१॥

४. तथा च वर्गः—कुविद्यां वा सुविद्यां वा प्रथमं यः पठेन्नरः। तथा कृत्यानि कुर्वाणो न कथंचिन्निवर्तते ॥१॥

जो ज्ञान के लेशमात्र से अपने को महाविद्वान् माननेवाला अभिमानी दुराग्रही है, उसका होना अच्छा नहीं है।

अभिप्राय यह है कि अभिमानी दुराग्रही राजा से राज्य की क्षति होने के सिवाय कोई लाभ नहीं ॥७२॥

विशेषार्थ—गुरु[1] का उद्धरण भी सदृश अभिप्राय प्रकट करता है।

नीलीरक्ते वस्त्र इव को नाम दुर्विदग्धे राज्ञि रागान्तरमाधत्ते ॥७३॥

अर्थ—ज्ञान के लेशमात्र से अपने को महाविद्वान् माननेवाले अभिमानी दुराग्रही राजा के विचार उस तरह बदले नहीं जासकते जिस तरह नील-रंग में रंगे हुए वस्त्र पर कोई दूसरा रंग नहीं चढ़ सकता ॥७३॥

विशेषार्थ—नारद[2] का उद्धरण भी उक्त अभिप्राय का समर्थक है।

राजा के गुणग्राही होने का परिणाम—

यथार्थवादो विदुषां श्रेयस्करो यदि न राजा गुणप्रद्वेषी ॥७४॥

अर्थ—यदि राजा गुणों से द्वेष नहीं करता, अर्थात्-गुणग्राही है तो उसके समक्ष यथार्थ वचन बोलना (कठोर और तत्काल अप्रिय होने पर भी भविष्य में कल्याण-कारक वचन कहना) विद्वानों के लिए श्रेयस्कर है, अन्यथा नहीं ॥७४॥

विशेषार्थ—हारीत[3] का उद्धरण भी समान अभिप्राय व्यक्त करता है।

स्वामी को अहितकर उपदेश देना उचित नहीं—

वरमात्मनो मरणं नाहितोपदेशः स्वामिषु ॥७५॥

अर्थ—शिष्ट पुरुष को स्वयं मर जाना अच्छा है, परन्तु उसे अपने स्वामी के लिए अहितकारक मार्ग का उपदेश देना अच्छा नहीं है ॥७५॥

विशेषार्थ—व्यास[4] ने भी कहा है—'यदि राजा अपनी हितकारक बात को ध्यान देकर नहीं भी सुनता हो, तथापि मन्त्रियों को उसे कर्तव्य-पथ पर आरूढ़ करने के लिये हित की बात समझाते रहना चाहिए। उदाहरणार्थ—जिसप्रकार महात्मा विदुर ने धृतराष्ट्र को उसके दोष नाश करने के लिए अर्थात् अन्याय-पूर्ण राज्य-तृष्णा के त्याग करने के लिए समझाया था'[5] ॥१॥

[इति विद्यावृद्धसमुद्देशः]

१. तथा च गुरुः—मन्त्रिभिर्मन्त्रकुशलैरन्ध' सञ्चार्यते नृपः। कुमार्गेण न स याति स्वल्पज्ञानस्तु गच्छति ॥१॥
२. तथा च नारदः—दुर्विदग्धस्य भूपस्य भावः शक्येत नान्यथा। कर्तुं वर्णोऽत्र यद्वच्च नीलीरक्तस्य वाससः ॥१॥
३. तथा च हारीतः—श्रेयस्कराणि वाक्यानि स्युरुक्तानि यथार्थतः। विद्वद्भिर्यदि भूपालो गुणद्वेषी न चेद्भवेत् ॥१॥
४. तथा च व्यासः—अशृण्वन्नपि बोद्धव्यो मन्त्रिभिः पृथिवीपतिः। यथात्मदोषनाशाय विदुरेणाम्बिकासुत' ॥१॥
५. महात्मा विदुर ने धृतराष्ट्र को अनेक बार श्रेयस्कर उपदेश दिया था-कि 'हे राजन्! अब पाडवों की वनवास-आदि की अवधि पूरी हो चुकी है। अतः आप उनका न्यायप्राप्त राज्य लोटा दें, आपको अन्याय-पूर्ण राज्यलिप्सा या तृष्णा छोड़ देनी चाहिए, अन्यथा आपके कुरुवंश का भविष्य खतरे से खाली न रहेगा। तुम्हे आप्त पुरुषों की बात की अवहेलना न करनी चाहिए। मैं आपको तात्कालिक अप्रिय परन्तु भविष्य में हितकारक बात कह रहा हूँ परन्तु उसने उनकी बात न मानी, इससे वह महाभारत के भयंकर युद्ध में सकुटुम्ब नष्ट होकर अपकीर्ति का पात्र बना।

भावार्थ—हमने[1] भी प्रस्तुत विषय पर समस्यापूर्ति-पूर्वक पद्य रचना की है।

६. आन्वीक्षिकी-समुद्देशः

अध्यात्मयोग का स्वरूप—

आत्ममनोमरुत्तत्त्वसमक्षतायोगलक्षणो ह्यध्यात्मयोगः ॥१॥

अर्थ—चिद्रूप आत्मा, मन, शरीरस्थ प्राणवायु तथा पृथिवी, जल, अग्नि और वायु-आदि तत्त्वों की समान और दृढ़ निश्चलता-लक्षणवाला 'अध्यात्मयोग' है ॥१॥

विशेषार्थ—ऋषिपुत्रक[2] ने भी अध्यात्मयोग का उक्त लक्षण किया है।

व्यास[3] ने भी 'योग' का उक्तप्रकार लक्षण किया है।

उक्त अध्यात्मयोग (धर्मध्यान) के शास्त्रकारों[4] ने चार भेद निर्दिष्ट किये हैं—पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत।

अध्यात्म विद्या से लाभ—

अध्यात्मज्ञो हि राजा सहजशारीरमानसागन्तुभिर्दोषैर्न बाध्यते ॥२॥

अर्थ—अध्यात्मवेत्ता राजा निस्सन्देह स्वाभाविक अर्थात्—कषाय और अज्ञान से उत्पन्न होनेवाले राजसिक व तामसिक दुःख, शारीरिक (बुखार-गलगण्ड-आदि), मानसिक (परकलत्र-आदि की लालसा-जनित दुःख) एवं आगन्तुक दुःखों (अतिवृष्टि, अनावृष्टि-आदि) से पीड़ित नहीं होता ॥२॥

विशेषार्थ— नारद[5] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

आत्मा के क्रीड़ास्थान—

इन्द्रियाणि मनो विषया ज्ञानं भोगायतनमित्यात्मारामः ॥३॥

अर्थ—इन्द्रियाँ (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र), मन, विषय (स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द), ज्ञान और शरीर ये सब आत्मा के क्रीड़ा-स्थान हैं ॥३॥

विशेषार्थ—र्विभिटीक[6] के उद्धरण से भी उक्त बात का स्पष्टीकरण होता है।

आत्मा का स्वरूप—

यत्राहमित्यनुपचरितप्रत्ययः स आत्मा ॥४॥

अर्थ—जिस पदार्थ में 'मैं सुखी हूँ' मैं दुःखी हूँ' आदि यथार्थ अनुभूति हो, वही आत्मा है। अर्थात्—,मैं

---

१. तथा च सुन्दरलालः शास्त्री सम्पादकः—
शिखरिणी छन्दः—
विमुञ्च त्वं वैरं विमलमतिभिः पांडवसुतैः। रितीदं संदिष्टः कुटिलतरबुद्धिः कुरुपतिः॥
अनादृत्यैवैतत् विदुरकथितं शास्त्रविहितं। महानिद्रां प्राप्तो रणशयनमध्ये जडमतिः॥१॥

क्ष 'समसमायोग' इति 'च' प्रतौ पाठः।

२. तथा च ऋषिपुत्रकः—आत्मा मनो मरुत्तत्वं सर्वेषां समता यदा। तदा त्वध्यात्मयोगः स्यान्नराणां ज्ञानदः सदा॥१॥

३. तथा च व्यासः—न पद्मासनतो योगो न च नासाग्रवीक्षणात्। मनसश्चेन्द्रियाणां च संयोगो योग उच्यते॥१॥

४. तथा च शुभचन्द्राचार्यः—(ज्ञानार्णवे) पिंडस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्। चतुर्धा ध्यानमाख्यातं भव्यराजीवभास्करैः॥१॥

५. तथा च नारदः—अध्यात्मज्ञो हि महीपालो न दोषैः परिभूयते। सहजागन्तुकैश्चापि शारीरैर्मानसैस्तथा॥१॥

६. तथा च विभिटीकः—इन्द्रियाणि मनो ज्ञानं विषया भोग एव च। विश्वरूपस्य चैतानि क्रीडास्थानानि कृत्स्नशः॥१॥

सुखी हूँ या मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार के ज्ञान द्वारा जो प्रत्येक प्राणी को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा जाना जाय वही शरीर, इन्द्रिय व मन से पृथक्, चैतन्यात्मक और अनादिनिधन आत्मद्रव्य है ।।४।।

विशेषार्थ—प्रभाचन्द्राचार्य[1] ने भी कहा है—'जिस पदार्थ में 'मैं सुखी हूँ,मैं दुखी हूँ, 'मै इच्छावान् हूँ' इत्यादि यथार्थ, आत्मा को ग्रहण करनेवाला एवं प्रत्येक प्राणी को स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप अहं प्रत्यय हो वही आत्मा है ।

आत्मा की भविष्य सत्ता न मानने से दोष—

असत्यात्मनः प्रेत्यभावे विदुषां विफलं खलु सर्वमनुष्ठानम् ।।५।।

अर्थ—यदि मृत्यु के वाद आत्मा का पुनर्जन्म (भविष्यजन्म) न माना जाय तो संसार में विद्वानों की जो पारलौकिक धार्मिक कर्तव्यों के पालन में प्रवृत्ति होती है, वह व्यर्थ हो जायगी । क्योंकि आत्मा का परलोक-गमन न मानने से उन्हे भविष्य जन्म में उक्त पारलौकिक अनुष्ठानो का स्वर्ग-सुख-आदि फल प्राप्त न होगा । अतः विद्वानों की धार्मिक अनुष्ठानों में प्रवृत्ति आत्मद्रव्य का परलोक-गमन (भविष्यजन्म) सिद्ध करती है ।।५।।

'प्रेक्षापूर्वकारिणां प्रवृत्तेः प्रयोजनेन व्याप्तत्वात्'

विशेषार्थ—याज्ञवल्क्य[2] का उद्धरण भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण करता है । प्रस्तुत आचार्यने[3] अपने 'यशस्तिलकचम्पू' में आत्मा का 'पूर्वजन्म' और भविष्यजन्म अकाट्य युक्तियो द्वारा सिद्ध करते हुए कहा है—'जब जातिस्मरणवाले पुरुष दृष्टिगोचर हो रहे है तब क्या (पूर्वजन्म) नही है ? अर्थात्—जातिस्मरण वाला पुरुष क्यो इस प्रकार कहता है ? कि 'मै पूर्वजन्म में इस प्रकार (अमुक कुल मै अमुक रूप से उत्पन्न होनेवाला) हुआ था ।' एवं क्या निस्सन्देह लोक में राक्षस दृष्टिगोचर नही होते ? अर्थात् -किसी का पिता आदि मरकर राक्षस हुआ श्मशान-भूमि पर जन्म धारण करता हुआ सुना जाता है । अभिप्राय यह है जाति-स्मरणवाले पुरुष का दृष्टान्त आत्मा का पूर्वजन्म और राक्षसों का दृष्टान्त भविष्यजन्म सिद्ध करता है ।

मन का लक्षण—

यतः स्मृतिः प्रत्यवमर्षणमूहापोहनं शिक्षालापक्रियाग्रहणं च भवति तन्मनः ।।६।।

अर्थ—जिसके द्वारा मानव को स्मृति, व्याप्तिज्ञान, संदिग्ध पदार्थ का विचार और निश्चय हो और किसी के द्वारा दी जाने वाली शिक्षा का ग्रहण हो और किसी से की हुई बातचीत का ध्यान पूर्वक सुनना हो उसे मन कहते है ।।६।।

विशेषार्थ—गुरु[4] के उद्धरण में भी मन का यही लक्षण निर्दिष्ट है ।

इन्द्रिय-लक्षण—

आत्मनो विषयानुभवनद्वाराणीन्द्रियाणि ।।७।।

अर्थ—आत्मा को जिनके द्वारा स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द इन विषयों का अनुभव होता है, वे इन्द्रियाँ हैं ।।७।।

---

१. तथा च प्रभाचन्द्राचार्यः—यस्मिन् सुख्यहं दु ख्यहमिच्छावानहमित्याद्यनुपचरिताहंप्रत्यय आत्मग्राही प्रतिप्राणिसंवि-दितरूपो भवति स आत्मा—प्रमेयकमलमार्तण्डः—

२. तथा च याज्ञवल्क्यः—आत्मा सर्वस्य लोकस्य सर्वं भु क्ते शुभाशुभं । मृतस्यान्यत्समासाद्य स्वकर्माहं कलेवरम् ।।१।।

३. तथा च सोमदेवसूरिः—जातिस्मराणामथ रक्षसा च दृष्टः परः किं न समस्ति लोक. ।।$\frac{१}{३}$।।यशस्तिलक आश्वास ४ श्लोक ४५ का तृतीय चतुर्थ चरण ।

४. तथा च गुरुः—ऊहापोहौ तथा चिन्तापरालापावधारणं । यतः संजायते पुंसा तन्मनः परिकीर्तितम् ।।१।।

विशेषार्थ—रैभ्य[1] के उद्धरण में भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण है।

इन्द्रियों के विषय—

शब्दस्पर्शरसरूपगन्धा हि विषयाः ॥८॥

अर्थ—शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध ये इन्द्रियों के विषय हैं ॥८॥

ज्ञान का लक्षण—

समाधीन्द्रियद्वारेण विप्रकृष्टसन्निकृष्टावबोधो ज्ञानम् ॥९॥

अर्थ—ध्यानपूर्वक चिन्तन करने से और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियों द्वारा क्रमशः परोक्ष अर्थात्—देश, काल और स्वभाव से सूक्ष्म पदार्थ—जैसे सुमेरु, राम-रावण-आदि तथा परमाणु-आदि पदार्थ जो इन्द्रियों द्वारा नहीं जाने जा सकते, और प्रत्यक्ष वस्तुओं (समीपवर्ती पदार्थों) के जानने को ज्ञान कहते हैं ॥९॥

सुख का लक्षण—

सुखं प्रीतिः ॥१०॥

अर्थ—जिससे मन और इन्द्रियाँ आनन्दित हों, उसे सुख कहते है ॥१०॥

विशेषार्थ—हारीत[2] ने भी सुख का यही लक्षण कहा है।

सुखाभास—

तत्सुखमप्यसुखं यत्र नास्ति मनोनिर्वृत्तिः ॥११॥

अर्थ—जिस वस्तु में अर्थात् पुत्र व कलत्रादि में मन सन्तुष्ट न हो और उल्टा वैराग्य उत्पन्न हो वह सुख भी दुःख है ॥११॥

विशेषार्थ—वर्ग[3] का उद्धरण भी सुखाभास का उक्त लक्षण करता है।

सुख-साधन—

अभ्यासाभिमानसंप्रत्ययविषयाः सुखस्य कारणानि ॥१२॥

अर्थ—अभ्यास, अभिमान, सम्प्रत्यय और विषय ये सुख प्राप्ति के कारण हैं।

भावार्थ—किसी निश्चित परिणाम पर पहुँचने की दृष्टि से किसी क्रिया को बारम्बार करना 'अभ्यास' है। उदाहरणार्थ-शास्त्र में निपुणता प्राप्त करने की दृष्टि से उनको बार-बार दोहराते रहना-आदि। समाज और राष्ट्र-आदि द्वारा आदर-सम्मान की प्राप्ति होना 'अभिमान' है। वस्तुतः जिसमें जो गुण नहीं है, उसमें उस गुण का आग्रह करना 'संप्रत्यय' है। अर्थात्-निर्गुण पदार्थ में नैतिक चातुर्य से परीक्षा करके उसमें गुण की प्रतिष्ठा करना संप्रत्यय है। उदाहरणार्थ—वीणा-आदि के शब्द सुनकर परीक्षा करके निर्णय करना कि यह मनोज्ञ है या नहीं इत्यादि। इन्द्रियों और मन को सन्तुष्ट करने वाले विषयों की प्राप्ति विषय हैं। ये चार पदार्थ सुख के कारण हैं ॥१२॥

१. तथा च रैभ्यः—इन्द्रियाणि निजान् ग्राह्यविषयान् स पृथक् पृथक्। आत्मनः संप्रयच्छन्ति सुभृत्याः सुप्रभोर्यथा ॥१॥
२. तथा च हारीतः—मनसश्चेन्द्रियाणां च यथानन्दः प्रजायते। दृष्टे वा भक्षिते वापि तत्सुखं सम्प्रकीर्तितम् ॥१॥
३. तथा च वर्गः—सभूतस्यापि मर्त्यस्य मनो यदि विरागकृत्। दुःखी स परिज्ञेयो मनस्तुष्ट्या सुखं यतः ॥१॥

विशेषार्थ—नीतिज्ञों[1] के व हारीत[*] के चार-उद्धरणों में भी उक्त अभ्यास-आदि का स्पष्टीकरण है।

अभ्यास का लक्षण—

क्रियातिशयविपाकहेतुरभ्यासः ॥१३॥

अर्थ—उच्चकोटि की विद्वत्ता प्राप्त करना-आदि किसी परिणाम पर पहुँचने के लक्ष्य विन्दु से अथवा विद्या-सिद्धि प्राप्त करने के लक्ष्य से किसी अध्ययन आदि क्रिया को परिश्रमपूर्वक अनेकवार करना 'अभ्यास' है। उदाहरण के रूप में शास्त्र में निपुणता प्राप्त करने के लक्ष्य विन्दु से शास्त्रों का परिश्रमपूर्वक बार-बार आवर्तन करते रहना (दोहराते रहना) अभ्यास है ॥१३॥

विशेषार्थ—हारीत[2] ने कहा है—'शास्त्रों के अभ्यास से विद्या प्राप्त होती है और उससे धन मिलता है एवं धन-प्राप्ति से मनुष्य निस्सन्देह सुखी होता है।'

अभिमान का स्वरूप—

प्रश्रयसत्कारादिलाभेनात्मनो यदुत्कृष्टत्वसम्भावनमभिमानः ॥१४॥

अर्थ—समाज-हित के कार्य करने पर महान् व्यक्ति या समाज द्वारा व्यक्ति को, आश्रय या सन्मान-आदि की प्राप्ति होने से मानव को अपने में जो उत्कर्ष की भावना उदित होती है उसे 'अभिमान' अर्थात् स्वाभिमान—कहते हैं, जो कि दूसरा सुख का कारण है ॥१४॥

विशेषार्थ—नारद[3] का उद्धरण भी समानार्थक है।

संप्रत्यय का लक्षण—

अतद्गुणे वस्तुनि तद्गुणत्वेनाभिनिवेशः सम्प्रत्ययः ॥१५॥

निर्गुण पदार्थ में नैतिक चातुर्य से परीक्षा करके उसमें गुण की प्रतिष्ठा करना संप्रत्यय है। अर्थात् जिस वस्तु में जो गुण नही है, उसमें उस गुण का अभिनिवेश—आग्रह या प्रतिष्ठा करने को संप्रत्यय कहते हैं ॥१५॥

विशेषार्थ—उदाहरण के रूप में वीणा-आदि वाद्यों के शब्द श्रवण कर परीक्षा करके यह निर्णय करना कि यह मनोज्ञ है या नहीं? इत्यादि। इसी प्रकार सौन्दर्य-मांस-पिण्ड का या स्त्री पुरुष का नित्य रहने वाला गुण नहीं है तथापि उसे सुन्दर मानना संप्रत्यय है।

विशेषार्थ—नारद[4] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

विषय का स्वरूप—

इन्द्रियमनस्तर्पणो भावो विषयः ॥१६॥

---

१. तथा चोक्त—अभ्यासाच्च भवेद्विद्या तथा च निजकर्मणः। तया पूजामवाप्नोति तस्याः स्यात्सर्वदा सुखी ॥१॥
सन्मानपूर्वको लाभः स स्तोकोऽपि सुखावह.। मानहीनः प्रभूतोऽपि साधुभिर्न प्रशस्यते ॥२॥

*३. तथा च हारीतः—अविद्योऽपि गुणान्मर्त्यः स्वशक्त्या य. प्रतिष्ठयेत्। तत्सुखं जायते तस्य स्वप्रतिष्ठासमुद्भवम् ॥३॥
सेवनं विषयाणां यत्सम्मतं सुखकारणं। अमितं च पुनस्तेषां दारिद्र्यकारणं परं ॥४॥

२. तथा च हारीतः—अभ्यासाद्धार्यते विद्या विद्यया लभ्यते धनम्। धनलाभात् सुखी मर्त्यो जायते नात्र संशयः ॥१॥

३. तथा च नारदः—सत्कारपूर्वको यो लाभः स स्तोकोऽपि सुखावहः। अभिमानं ततो धत्ते साधुलोकस्य मध्यतः ॥१॥

४. तथा च नारदः—परोक्षो यो भवेदर्थः स ज्ञेयोऽत्र समाधिना। प्रत्यक्षश्चेन्द्रियैः सर्वैर्निजगोचरमागतः ॥१॥

अर्थ—जिस वस्तु से इन्द्रियाँ और मन सन्तुष्ट हों, उसे विषय कहते हैं ॥१६॥

भावार्थ—शुक्र[1] का उद्धरण भी समान आशय को लिए हुए हैं।

दुःख का लक्षण—

दुःखमप्रीतिः ॥१७॥

अर्थ—जिस वस्तु के देखने पर मन में प्रीति (सन्तोष) न हो अर्थात्—वैराग्य हो वही दुःख है ॥१७॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] के उद्धरण में भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण है।

तद् दुःखमपि न दुःखं यत्र न संक्लिश्यते मनः ॥१८॥

अर्थ—जिस वस्तु के देखने पर मन को संक्लेश (कष्ट) न हो वह दुःख भी दुःख नहीं है ॥१८॥

दुःख के चार भेद व लक्षण—

दुःखं चतुर्विधं सहजं दोषजमागन्तुकमन्तरंगं चेति ॥१९॥

अर्थ—दुःख चार प्रकार के हैं—सहज, दोषज, आगन्तुक और अन्तरङ्ग ॥१९॥

सहजं ❀क्षुत्तृषामनोभूभवं चेति ॥२०॥

A दोषजं वातपित्तकफवैषम्यसम्भूतं ॥२१॥

B आगन्तुकं वर्षातपादिजनितं ॥२२॥

C यच्चिन्त्यते दरिद्रैर्न्यक्कारजं ॥२३॥

न्यक्कारावज्ञेच्छाविघातादिसमुत्थमन्तरङ्गजम् ॥२४॥

अर्थ—भूख-प्यास सम्बन्धी पीड़ा और मनरूपीभूमि में उत्पन्न होनेवाले काम, क्रोध व ईर्ष्या-आदि सहज दुःख हैं ॥२०॥ प्रकृति-ऋतु के विरुद्ध आहार-विहार करने से वात, पित्त और कफ के विकृत होने से उत्पन्न होनेवाले बुखार गलगंडादिरूप शारीरिकरोग-जनित दुःख 'दोषज' दुःख हैं ॥२१॥ अतिवृष्टि और गर्मी आदि से और आकस्मिक घटनाओं से उत्पन्न हुए दुःख 'आगन्तुक' दुःख हैं ॥२२॥ दरिद्र (निर्धन) मनुष्यों द्वारा अनुभव किये जानेवाले और तिरस्कार-आदि से उत्पन्न हुए वध-बंधनादि कष्टों को 'न्यक्कारज' दुःख कहते हैं ॥२३॥ धिक्कार, अनादर और इच्छाविघात (अभिलषित वस्तु न मिलना) आदि कारणों से उत्पन्न होनेवाले दुःख अन्तरङ्गज दुःख हैं ॥२४॥

सदा खेद-खिन्न रहने का दुष्परिणाम—

न तस्यैहिकमामुष्मिकं च फलमस्ति यः क्लेशायासाभ्यां भवति विप्लवप्रकृतिः ॥२५॥

अर्थ—जिस व्यक्ति की बुद्धि निरन्तर क्लेश और खेद करने से नष्ट हो गई है, उसके लिए ऐहिक और पारलौकिक सुख प्राप्त नहीं हो सकते ॥२५॥

विशेषार्थ—व्यास[3] का उद्धरण भी समानार्थक हैं।

१. तथा च शुक्रः—मनसश्चेन्द्रियाणां च संतोषो येन जायते। स भावो विषयः प्रोक्तः प्राणिनां सौख्यदायकः ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—यत्र नो जायते प्रीतिर्दृष्टे वाञ्छादितेऽपि वा। तच्छ्रेष्ठमपि दुःखाय प्राणिनां सम्प्रजायते ॥१॥

❀ 'क्षुत्तपीड़ा' इति ग, घ, च प्रतिषु पाठः। A, B, इदं सूत्रद्वय ग, घ, च प्रतिषु नास्ति, 'क' प्रतितः संकलितं—

C. सूत्रमिदं ग, घ, च प्रतिषु नास्ति, केवलं क प्रतौ वरीवर्ति।

३. देखिए सं० टी० पृ० ७४।

कुत्सित (निन्द्य) पुरुष का लक्षण—

स किं पुरुषो यस्य *महाभियोगे सुवंशधनुष[I] इव नाधिकं जायते बलम् ॥२६॥

अर्थ—जिस मनुष्य में उत्तमवांस वाले धनुष के समान युद्ध-आदि आपत्तिकाल के अवसर पर अधिक पौरुष-वीरता शक्ति का संचार नही होता, वह निन्द्य पुरुष है।

भावार्थ—जिस प्रकार उत्तम बाँसवाले धनुष पर वाण-स्थापन काल में अधिक दृढ़ता आ जाती है उसीप्रकार कुलीन वीर पुरुष में भी युद्ध-आदि आपत्तिकाल के अवसर पर अधिक दृढ़ता (वीरता शक्ति) का संचार हो जाता है एवं जिस प्रकार खराब बांसवाला धनुष वाण चढ़ाते समय टूट जाता है या शिथिल हो जाता है उसी प्रकार कायर पुरुष भी युद्ध-आदि आपत्तिकाल में कायरता धारण कर लेता है, उसमें वीर-शक्ति का संचार नहीं होता ॥२६॥

विशेषार्थ—गुरु[1] विद्वान् का उद्धरण भी उक्त वात का स्पष्ट विवेचन करता है।

इच्छा का लक्षण—

आगामिक्रियाहेतुरभिलाषो वेच्छा* ॥२७॥

अर्थ—भविष्य मे होनेवाले कार्य में जो कारण है वही अभिलाषा अथवा इच्छा है ॥२७॥

विशेषार्थ—गुरु[2] का उद्धरण भी समान आशय अभिव्यक्त करता है।

दोषों से अपनी रक्षा करने का उपाय—

आत्मनः प्रत्यवायेभ्यः प्रत्यावर्तनहेतुर्द्वेषोऽनभिलाषो वा ॥२८॥

अर्थ—अपने को दोषों से सुरक्षित (वचाये रखना) करने के दो उपाय है—प्रथम—उन दोषों और बुराइयों से घृणा करना और दूसरा उन दोषों के करने की इच्छा ही न करना ॥२८॥

विशेषार्थ—गुरु[3] का उद्धरण भी सदृश अभिप्राय को अभिव्यक्त करता है।

उत्साह का स्वरूप—

हिताहितप्राप्तिपरिहारहेतुरुत्साहः ॥२९॥

अर्थ—जिम कर्तव्य के करने में सुख-प्राप्ति और दुःख-परिहार हो, उसे उत्साह कहते हैं ॥२९॥

विशेषार्थ—वर्ग[4] का उद्धरण भी उत्साह के लक्षण-निर्देश में एक सरीखा अभिप्राय प्रकट करता है।

प्रयत्न का स्वरूप—

प्रयत्नः परनिमित्तको भावः ॥३०॥

अर्थ—'मुझे इसका अमुक कार्य अवश्य करना चाहिए' इस प्रकार दूसरों की भलाई के लिए की जाने वाली चित्त की निश्चित्त प्रवृत्ति को 'प्रयत्न' कहते हैं।

---

* 'महायोगेष्वपि' ग, घ, च प्रतिषु। I....'धनुष इव' ग घ च प्रतिषु।

१. तथा च गुरुः—युद्धकाले सुवंस्थानां वीर्योत्कर्षः प्रजायते। येषां च वीर्यहानिः स्यात्तेऽत्र ज्ञेया नपुंसकाः ॥१॥

*'वाञ्छा' च प्रतौ।

२. तथा च गुरुः—भाविकृत्यस्य यो हेतुरभिलाषः स उच्यते। इच्छा वा तस्य सञ्ज्ञा या भवेत् प्राणिनां सदा ॥१॥

३. तथा च गुरुः—आत्मनो यदि दोषाः स्युस्ते निन्द्यां विबुधैर्जनैः। अथवा नैव कर्तव्या वाञ्छा तेषां कदाचन ॥१॥

४. तथा च वर्गः—शुभाप्तिर्यत्र कर्तव्या जायते पापवर्जनम्। हृदयस्य परा तुष्टिः स उत्साहः प्रकीर्तितः ॥१॥

विशेषार्थ—गर्ग[1] का उद्धरण भी उक्त विषय में समानार्थक है।

संस्कार का लक्षण—

सातिशयलाभः संस्कारः ॥३१॥

अर्थ—राजा अथवा जनता से सन्मानपूर्वक धनादि की प्राप्ति होने से जो मानव की प्रतिष्ठा होती है, उसे 'संस्कार' कहते हैं ॥३१॥

विशेषार्थ—गर्ग[2] के उद्धरण में भी यही कहा है।

पूर्वजन्म-साधक संस्कार (ज्ञान विशेष) का लक्षण—

अनेकजन्मकर्माभ्यासवासनावशात् सद्योजातादीनां स्तन्यपिपासादिकं येन क्रियत इति संस्कारः❀ ॥३२॥

अर्थ—अनेक जन्मों में किये हुए कर्मों के अभ्यास की वासना के वश से तत्काल उत्पन्न हुए बच्चे के मन में दुग्ध-पान-आदि में प्रवृत्ति जिसके द्वारा की जाती है वह संस्कार है।

भावार्थ—इस प्राणी ने आयुष्य कर्म के अधीन होकर पूर्वजन्मों में अनेक बार दुग्धपान-आदि में प्रवृत्ति की थी, जिससे इसकी आत्मा में दुग्धपान-आदि विषय का धारणा रूप संस्कार उत्पन्न हो गया था उस संस्कार की वासना के वश से जो स्मरण (यह दुग्धपान मेरा इष्टसाधन है इस प्रकार का स्मृतिज्ञान) उत्पन्न होता है वही संस्कार से उत्पन्न हुआ स्मरण, तत्काल उत्पन्न हुए बच्चों को दुग्धपान-आदि में प्रवृत्त करता है ॥३२॥

विशेषार्थ—न्यायदर्शन के प्रणेता गौतम[3] ऋषि ने अपने गौतम सूत्र में कहा है—कि 'यह प्राणी पूर्व शरीर को छोड़कर जब नवीन शरीर धारण करता है उस समय-उत्पन्न हुए बच्चे की अवस्था में—क्षुधा से पीड़ित हुआ पूर्वजन्म में अनेक बार किए हुए अभ्यस्त आहार को ग्रहण करके ही दुग्धपान-आदि में प्रवृत्ति करता है; क्योंकि इसकी दुग्धपान में प्रवृत्ति और इच्छा विना पूर्वजन्म संबंधी अभ्यस्त आहार-स्मरण के कदापि नहीं हो सकती; क्योंकि वर्तमान समय में जब यह प्राणी क्षुधा से पीड़ित होकर भोजन में, प्रवृत्ति करता है, उसमें पूर्व दिन में किये हुए आहार सम्बन्धी संस्कार से उत्पन्न हुआ स्मृति ज्ञान ही कारण है'।

शरीर का स्वरूप—

भोगायतनं शरीरम् ॥३३॥

अर्थ—शुभ-अशुभ (अच्छे-बुरे) भोगों का स्थान ही शरीर है ॥३३॥

विशेषार्थ—हारीत[4] का उद्धरण भी समानार्थक है।

लोकायतिक दर्शन का लक्षण—

ऐहिकव्यवहारप्रसाधनपरं लोकायतिकम् ॥३४॥

१. तथा च गर्गः—परस्य करणीये यश्चित्तं निश्चित्य धार्यते। प्रयत्नः स च विज्ञेयो गर्गस्य वचनं यथा ॥१॥

२. तथा च गर्गः—सन्मानाद् भूमिपालस्य यो लाभः संप्रजायते। महाजनाच्च सद्भक्तेः प्रतिष्ठा तस्य सा भवेत् ॥१॥

❀ सूत्रमिदं ग, घ, च प्रतितः संकलितं।

३. तथा च गौतमः ऋषिः—प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥१॥ गौतमसूत्र अ० ३ आ० १ सूत्र २२ वाँ।

४. तथा च हारीतः—सुखदुःखानि यान्यत्र कीर्त्यन्ते धरणीतले। तेषां गृहं शरीरं तु यतः कर्माणि सेवते ॥१॥

अर्थ—यह लोक ही सब कुछ है ऐसा मानकर समस्त लौकिक व्यवहारों में प्रवृत्त करानेवाला दर्शन लोकायतिक अर्थात् नास्तिक दर्शन हैं ॥३४॥

विशेषार्थ—नास्तिक दर्शन के अनुयायी वृहस्पति[1] ने कहा है—'मानव को जीवन पर्यन्त सुखपूर्वक जीवन-यापन करना चाहिए, कोई भी मृत्यु से बच नहीं सकता। भस्मीभूत शरीर का पुनर्जन्म कैसे हो सकता है ? अर्थ (धनोपार्जन) और काम (विषयभोग) ये दो ही पुरुषार्थ हैं। शरीर ही आत्मा है।'

राजा को नास्तिकदर्शन का ज्ञान अनिवार्यरूप से होना चाहिए—

लोकायतज्ञो हि राजा राष्ट्रकण्टकानुच्छेदयति ॥३५॥

अर्थ—निस्सन्देह नास्तिकदर्शन का वेत्ता राजा राष्ट्र-कण्टकों—प्रजा को पीड़ित करनेवाले जार-चोर आदि दुष्टों को जड़मूल से नष्ट कर देता है ॥३५॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

कोई क्रिया सर्वथा निर्दोष नही है—

न खल्वेकान्ततो यतीनामप्यनवद्यास्ति क्रिया ॥३६॥

अर्थ—जितेन्द्रिय साधु महापुरुषों की भी क्रिया (अहिंसा व सत्य-आदि) सर्वथा निर्दोष नही होती। पुन: साधारण मनुष्य की क्रिया के विषय में तो कहना ही क्या है ॥३६॥

विशेषार्थ—वर्ग[3] का उद्धरण भी समानार्थक है।

विशेष दयालुता से हानि—

एकान्तेन कारुण्यपरः करतलगतमप्यर्थं रक्षितुं न क्षमः ॥३७॥

अर्थ—निरन्तर दयालुता का वर्ताव करनेवाला मानव हस्ततल पर रक्खे हुए धन की रक्षा करने मे समर्थ नहीं हो सकता ॥३७॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] का उद्धरण भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण करता है।

सदा शान्तचित्तवाले की हानि—

प्रशमैकचित्तं को नाम न परिभवति ? ॥३८॥

अर्थ—सदा शान्त चित्तवाले मानव का लोक में कौन अनादर नही करता ? अर्थात् सभी लोग उसे अनादर की दृष्टि से देखते हैं ॥३८॥

विशेषार्थ—भृगु[5] के उद्धरण का भी अभिप्राय है कि—'जो मानव सदा शान्तचित्त रहता है उसकी स्त्री भी कदापि उसके चरणों का प्रक्षाल नही करती'।

१. तथा च वृहस्पति:—यावज्जीवं सुखं जीवेत् नास्ति मृत्योरगोचर: भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत: ॥१॥
अर्थकामावेव पुरुषार्थौ, देह एव आत्मा-इत्यादि।

२. तथा च शुक्र:—दयां करोति यो राजा राष्ट्रसन्तापकारिणा। स राज्यभ्रंशमाप्नोति [राष्ट्रोच्छेदाद्यसंशयं] ॥१॥
संशोधित परिवर्तित

३. तथा च वर्ग:—अनवद्या सदा तावन्न खल्वेकान्तत: क्रिया। यतीनामपि विद्येत तेषामपि यतश्च्युतिऽ ॥१॥

४. तथा च शुक्र:—दया साधुषु कर्तव्या सीदमानेषु जन्तुषु। असाधुषु दया शुक्र: [स्ववित्तादपि भ्रश्यति] ॥१॥
संशोधित—सम्पादक

५ तथा च भृगु:—' सदा तु शान्तचित्तो य: पुरुष: सम्प्रजायते]। तस्य भार्यापि नो पादौ प्रक्षालयति कर्हिचित् ॥१॥

अपराधी को दण्डविधान राजा का कर्तव्य—

अपराधकारिषु प्रशमो यतीनां भूषणं न महीपतीनाम् ॥३९॥

अर्थ—अपराध करने वालों पर क्षमा धारण करना (उन्हें दण्ड न देना) साधुपुरुषों को शोभा देनेवाला है, न कि राजाओं को। अतः अपराधानुरूप दण्ड देना राजा का कर्तव्य है ॥३९॥

विशेषार्थ—किसी नीतिवेत्ता[1] का उद्धरण भी उक्त बात का समर्थक है।

निष्फल क्रोध और कृपा की निरर्थकता—

धिक् तं पुरुषं यस्यात्मशक्त्या न स्तः कोपप्रसादौ ॥४०॥

अर्थ—जो व्यक्ति अपनी शक्ति में अनुकूल क्रोध और प्रसन्नता प्रदर्शित नहीं कर सकता वह धिक्कार का पात्र है ॥४०॥

विशेषार्थ—व्यास[2] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

दुष्ट-निग्रह न करनेवाले की कटु आलोचना—

स जीवन्नपि मृत एव यो न विक्रामति प्रतिकूलेषु ॥४१॥

अर्थ—जो व्यक्ति अपने विरुद्ध आचरण करने वालों पर पराक्रम प्रदर्शित नहीं करता अर्थात् उनका निग्रह नहीं कर सकता, वह जीवित होता हुआ भी निस्सन्देह मरा हुआ है ॥४१॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] के उद्धरण में भी उक्त मान्यता का स्पष्टीकरण किया गया है।

माघ[4] कवि ने भी उक्त मान्यता का समर्थन किया है।

भस्मनीव निस्तेजसि को नाम निःशङ्कः पदं न कुर्यात्॥ ॥४२॥

अर्थ—आश्चर्य है कि विना अग्निवाली भस्मराशि सरीखे पराक्रम-हीन राजा को कौन व्यक्ति निडर होकर पराजित करने तत्पर नहीं होता ? अर्थात् सभी लोग उसे पराजित करने तत्पर रहते हैं।

अर्थात् जिस तरह अग्नि-रहित भस्मराशि को साधारण मनुष्य भी निडर हुआ पैरों से कुचल देता है उसी तरह पराक्रम-शून्य राजा के साथ साधारण मनुष्य भी निर्भय होकर बगावत करने तत्पर हो जाता है ॥४२॥

विशेषार्थ—शुक्र[5] के उद्धरण में भी प्रस्तुत विषय का निरूपण है।

पाप में अपवाद एवं धर्म-प्रतिष्ठा—

तत् पापमपि न पापं यत्र महान् धर्मानुबन्धः ॥४३॥

---

१. तथा च कश्चिन्नीतिज्ञः—यो राजा निग्रहं कुर्यात् दुष्टेषु स विराजते। प्रसादे च यतस्तेषां तस्य तद्दूषणं परम् ॥१॥

२. तथा च व्यासः—प्रसादो निष्फलो यस्य कोपश्चापि निरर्थकः। न तं भर्तारमिच्छन्ति प्रजाः षण्ढमिव स्त्रियः ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—परिपन्थिषु यो राजा न करोति पराक्रमम्। स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥१॥

४. तथा च माघः कविः—मा जीवन् यः परावज्ञादुःखदग्धोऽपि जीवति। तस्याजननिरेवास्तु जननीक्लेशकारिणः ॥१॥

॥ 'भस्मनि वाऽस्तेजसे वा को नाम निःशङ्कं न दधाति पदं ?' इति ग घ च प्रतिषु पाठः।

५. तथा च शुक्रः—शौर्येण रहितो राजा हीनैरप्यभिभूयते। भस्मराशिर्यथानग्निर्निःशङ्कैः स्पृश्यतेऽरिभिः ॥१॥

अर्थ—जिस पाप के करने पर परिणाम में प्रचुर धर्म की प्राप्ति होती हो, उस पाप को पाप नहीं समझा जाता, किन्तु धर्म ही समझा जाता है ॥४३॥

विशेषार्थ—बादरायण[1] के दो उद्धरणों में भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण है।

अन्यथा पुनर्नरकाय❀ राज्यम् ॥४४॥

अर्थ—अन्यथा अर्थात्—राजा द्वारा उक्त नीति से दुष्टों का निग्रह न किये जाने पर उसका राज्य उसे नरक में ले जाता है ॥४४॥

विशेषार्थ—हारीत[2] का उद्धरण भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण करता है।

अधिकार प्राप्ति दोषजनिका—

बन्धनान्तो नियोगः ॥४५॥

अर्थ—राजाधिकार अन्त में बन्धन का कष्ट देता है। अभिप्राय यह है कि अधिकार प्राप्त हो जानेपर अधिकारी को विविध भाँति के कर्तव्यरूपी बन्धनों में बँध जाना स्वाभाविक होता है ॥४५॥

विशेषार्थ—गुरु[3] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

खल-मैत्री का दुष्परिणाम—

विपदन्ता खलमैत्री ॥४६॥

अर्थ—दुष्टों की मित्रता अन्त में दुःख देनेवाली होती है ॥४६॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[4] का उद्धरण भी समान अभिप्राय प्रकट करता है।

स्त्रियों पर विश्वास करने का दुष्परिणाम—

मरणान्तः स्त्रीषु विश्वासः ॥४७॥

अर्थ—स्त्रियों पर विश्वास करना अन्त में मृत्यु जनक है ॥४७॥

विशेषार्थ—विष्णुशर्मा[5] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

इत्यान्वीक्षिकी-समुद्देशः।

७. त्रयीसमुद्देशः

त्रयी का स्वरूप—

चत्वारो वेदाः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिरिति षडङ्गानीतिहासपुराण मीमांसान्यायधर्मशास्त्रमिति चतुर्दशविद्यास्थानानि त्रयी ॥१॥

---

१. तथा च बादरायणः—त्यजेद्देहं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्। ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥१॥
पापानां निग्रहे राजा परं धर्ममवाप्नुयात्। न तेषां च वधबन्धाद्यैस्तस्य पापं प्रजायते ॥२॥

❀ 'नरकान्तं' ग घ च प्रतिषु।

२. तथा च हारीतः—चौरादिभिर्जनो यस्य शैथिल्येन प्रपीड्यते। स्वयं तु नरकं याति स राजा नात्र संशयः ॥१॥

३. तथा च गुरुः—न जन्म मृत्युना बाह्यं नोच्चैस्तु पतनं विना। न नियोगच्युतो योगो नाधिकारोऽस्त्यबन्धनः ॥१॥

४. तथा च वल्लभदेवः—असत्संगात् पराभूतिं याति पूज्योऽपि मानवः। लोहसंगाद्यतो वह्निस्ताड्यते सुघनैर्घनैः ॥१॥

५. तथा च विष्णुशर्मा—नीयमानः खगेन्द्रेण नागः पौण्डरिकोऽब्रवीत्। स्त्रीणां गुह्यमाख्याति तदन्तं तस्य जीवितम् ॥१॥

अर्थ—चार वेद, अर्थात् ऋग्वेदवाक्य, सामवेदवाक्य, अथर्वणवेद के मन्त्र और यजुर्वेद वाक्य(काण्डी)और शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष व निरुक्त ये वेद के छह् अङ्ग तथा इतिहास(महाभारत व रामायण), पुराण, मीमांसा, न्याय शास्त्र और धर्मशास्त्र इन चतुर्दश विद्या-स्थानों को 'त्रयीविद्या' कहते हैं।

विशेषार्थ—प्रस्तुत शास्त्रकार श्रीमत्सोमदेवसूरि[1] ने 'यशस्तिलकचम्पू' में उक्त चौदह् विद्यास्थानों को 'त्रयीविद्या' कहा है।

भगवज्जिनसेनाचार्य[2] ने वेद के विषय में ललित विश्लेषण किया है।

१. शिक्षा—स्वर और व्यञ्जनादि वर्णों का शुद्ध उच्चारण और शुद्धलेखन को बतलानेवाली विद्या 'शिक्षा' है।

२. कल्प—धार्मिक आचार-विचार या क्रिया काण्डों—गर्भाधान[3]-आदि संस्कारों का निरूपक शास्त्र 'कल्प' है।

३. व्याकरण—जिससे भाषा का शुद्ध लिखना, पढ़ना और बोलने का बोध हो, वह् व्याकरण है।

४. निरुक्त—यौगिक, रूढ़ि और योगरूढ़ि शब्दों के प्रकृति और प्रत्यय-आदि का विश्लेषण करके प्राकरणिक द्रव्यपर्यायात्मक या अनेकधर्मात्मक पदार्थ के निरूपण करने वाले शास्त्र को 'निरुक्त' कहते हैं।

५. छन्द—पद्यों—वर्णवृत्त और मात्रावृत्त छन्दों—के लक्ष्य और लक्षण के निर्देश करनेवाले शास्त्र को 'छन्दशास्त्र' कहते हैं।

६. ज्योतिष—ग्रहों की गति और उससे विश्व के ऊपर होने वाले शुभ और अशुभ फलों को तथा प्रत्येक कार्य के सम्पादन के योग्य शुभ समय को बतानेवाली विद्या को 'ज्योतिर्विद्या' कहते हैं। इस प्रकार ये छह् वेदाङ्ग हैं। इतिहास, पुराण, मीमांसा(विभिन्न और मौलिक सिद्धान्त-बोधक वाक्यों पर शास्त्रानुकूल युक्तियों द्वारा विचार करके समीकरण करनेवाली विद्या), न्याय, (प्रमाण और नयों का विवेचन करनेवाला तर्कशास्त्र) और धर्मशास्त्र (अहिंसा धर्म के पूर्ण तथा व्यवहारिक रूप को विवेचन करनेवाला उपासकाध्ययन-आदि) उक्त चौदह् विद्यास्थानों को 'त्रयीविद्या' कहते है ॥१॥

त्रयीविद्या से लाभ—

त्रयीतः खलु वर्णाश्रमाणां धर्माधर्मव्यवस्था ॥२॥

अर्थ—त्रयी विद्या के आधार से चारों वर्ण (ब्राह्मण-आदि) और चारों आश्रमों (ब्रह्मचारी-आदि) में वर्तमान मनुष्यों की धर्म-अधर्म (कर्तव्य-अकर्तव्य) की व्यवस्था होती है ॥२॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] के उद्धरण में भी उक्त विषय का निरूपण है।

---

१. तथा च सोमदेवसूरिः—ऋचः सामान्यथर्वाणि यजूंष्यङ्गानि भारत। इतिहासः पुराणं च त्रयीदं सर्वमुच्यते ॥१॥
यश० आ० ४ श्लोक १०२ पृ० ६३

२. तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—श्रुतं सुविहितं वेदो द्वादशाङ्गमकल्मषं। हिंसोपदेशि यद्वाक्यं न वेदोऽसौ कृतान्तवाक् ॥१॥
पुराणं धर्मशास्त्रं च तत्स्याद्वधनिषेधि यत्। वधोपदेशि यत्तत्तु ज्ञेयं धूर्तप्रणेतृकम् ॥२॥
आदिपुराण पर्व ३९ श्लोक २२-२३।

३. तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—गर्भान्वयक्रियाश्चैव तथा दीक्षान्वयक्रियाः। कर्त्रन्वयक्रियाश्चेति तास्त्रिधैवं बुधैर्मताः॥१॥
आदिपुराण पर्व ३८ श्लोक ६१

४. तथा च शुक्रः—मन्वाद्याः स्मृतयो याश्च षडङ्गतः प्रकीर्तिताः। वर्णाश्रमाणामाचारस्तासु धर्मोऽत्र केवलं ॥१॥

स्वपक्षानुरागप्रवृत्त्या सर्वे समवायिनो लोकव्यवहारेष्वधिक्रियन्ते ॥३॥

अर्थ—इस त्रयी विद्या के द्वारा समस्त सम्प्रदाय के मनुष्य अपने-अपने मतों में अनुरागपूर्वक प्रवृत्ति करके लोक व्यवहार के अधिकारी होते हैं ॥३॥

धर्मशास्त्र और स्मृतिग्रन्थों का माहात्म्य—

धर्मशास्त्राणि स्मृतयो वेदार्थसंग्रहाद्वेदा एव ॥४॥

अर्थ—धर्मशास्त्र और स्मृतिग्रन्थों में वेदों में निरूपित अर्थ का ही संग्रह हुआ है अतः वे वेद-सरीखीं मान्य हैं ॥४॥

विशेषार्थ—यशस्तिलक[1] में उल्लेख है 'आर्हद्दर्शन के अनुयायी जैनों ने उन लौकिक समस्त विधि-विधानों को तथा वेद और स्मृतिग्रंथों को उतने अंश में प्रमाण माना है, जितने अंश में उनके सम्यक्त्व और चारित्र की क्षति नहीं होती।'

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के समानधर्म—

अध्ययनं यजनं दानं च विप्रक्षत्रियवैश्यानां समानो धर्मः ॥५॥

अर्थ—शास्त्रों का पढ़ना, ईश्वरभक्ति और दान देना ये ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के समान धर्म हैं ॥५॥

विशेषार्थ—कामन्दक[2] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

हारीत[3] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

द्विजाति की परिभाषा—

त्रयो वर्णाः द्विजातयः ॥६॥

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों की द्विजाति संज्ञा है।

भावार्थ—उक्त तीनों वर्णों का शरीर जन्म के सिवाय गर्भाधान-आदि संस्कारों से आत्मजन्म भी होता है, अतः आगम में इनको 'द्विजाति' या 'द्विजन्मा' कहा है ॥६॥

विशेषार्थ—भगवज्जिनसेनाचार्य[4] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

ब्राह्मणों के कर्तव्य—

अध्यापनं याजनं प्रतिग्रहो ब्राह्मणानामेव ॥७॥

अर्थ—शास्त्रों का पढ़ाना, पूजा कराना और दान लेना ये तीन ब्राह्मणों के ही कर्तव्य हैं ॥७॥

विशेषार्थ—भगवज्जिनसेनाचार्य[5] ने भी कहा है—'शास्त्रों का अध्ययन और अध्यापन, दान देना और दान ग्रहण करना और ईश्वर की पूजा करना ये ब्राह्मणों के कर्तव्य हैं।

---

१. तथा च सोमदेवसूरिः—सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः। यत्र सम्यक्त्वहानिर्न न यत्र व्रतदूषणं ॥१॥
श्रुतिः शास्त्रान्तरं वास्तु प्रमाणं कात्र नः क्षतिः ॥२॥

२. तथा च कामन्दकः—इज्याध्ययनदानानि यथा शास्त्रं सनातनः। ब्राह्मणक्षत्रियविशां सामान्यो धर्म उच्यते ॥१॥

३. तथा च हारीतः—वेदाभ्यासस्तथा यज्ञाः स्वशक्त्या दानमेव च। विप्रक्षत्रियवैश्यानां धर्मः साधारणः स्मृतः ॥१॥

४. तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—द्विर्जातो हि द्विजन्मेष्ट. क्रियातो गर्भतश्च यः। क्रियामन्त्रविहीनस्तु केवलं नाम, धारकः ॥१॥ आदिपुराण पर्व ३८ श्लोक ४८

५. तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—अधीत्यध्यापने दानं जिघृक्षेज्येति तत्क्रियाः। आदिपुराण पर्व १६ श्लोक २४६

विशेषार्थ—कामन्दक[1] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

क्षत्रियों के निश्चित कर्तव्य—

भूतसंरक्षणं शस्त्राजीवनं सत्पुरुषोपकारो दीनोद्धरणं रणेऽपलायनं चेति क्षत्रियाणाम् ॥८॥

अर्थ—प्राणियों की रक्षा करना, शस्त्रविद्या द्वारा जीवन निर्वाह करना, शिष्ट पुरुषों का उपकार करना, दीनों का दुःख से उद्धार करना और युद्ध से विमुख न होना ये क्षत्रियों के कर्तव्य हैं ॥८॥

विशेषार्थ—पाराशर[2] का उद्धरण भी समानार्थक है।
प्रस्तुत आचार्य[3] ने 'यशस्तिलकचम्पू' में क्षात्रधर्म का ललित निरूपण किया है।

वैश्यों के नियत कर्तव्य—

वार्ताजीवनमावेशिकपूजनं सत्रप्रपापुण्यारामदयादानादिनिर्मापणं च विशाम् ॥९॥

अर्थ—वैश्यों के निम्न प्रकार नियत कर्त्तव्य हैं—वार्ता अर्थात् कृषि, पशु-पालन और व्यापार द्वारा जीवन निर्वाह करना, अतिथियों का सत्कार करना, और उनकी सेवा शुश्रूषा करना, अन्न-वितरण के स्थान सदावर्त्त, प्याऊ बनवाना, पुण्यकार्य (शिक्षामन्दिर, कन्याविद्यालय, विधवाश्रम, प्रसूतिगृह-आदि) स्थापित करना, जनता के विहार के लिए बगीचे बनवाना और प्राणि-रक्षार्थ दानशालाएँ स्थापित करना ॥९॥

विशेषार्थ—भगवज्जिनसेनाचार्य[4] ने भी इसी प्रकार का उल्लेख किया है।

शुक्र[5] के उद्धरण में भी उक्त विषय का निरूपण है।

शूद्रों के नियत कर्म—

त्रिवर्णोपजीवनं कारुकुशीलवकर्म※ पुण्यपुटवाहनं च शूद्राणाम् ॥१०॥

अर्थ—शूद्रों के निम्नप्रकार कर्म हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा शुश्रूषा करना, शिल्पकला, गीत, नृत्य व वादित्र-आदि कार्य, भाट चारण-आदि कर्म और भिक्षुकों की सेवा करना ॥१०॥

विशेषार्थ—पाराशर[6] के उद्धरण में भी शूद्रों के उक्त कर्मों का निर्देश है।

भगवज्जिनसेनाचार्य[7] ने भी शूद्रों की जीविका के साधन त्रिवर्ण की शुश्रूषा-आदि निर्दिष्ट किये हैं।

---

१. तथा च कामन्दकः—याजनाध्यापने शुद्धे विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः। वृत्तित्रयमिदं प्राहुर्मुनयो ज्येष्ठवर्णिनः ॥१॥

२. तथा च पाराशरः—क्षत्रियेण मृगाः पाल्याः शस्त्रहस्तेन नित्यशः। अनाथोद्धरणं कार्यं साधूना च प्रपूजनम् ॥१॥

३. तथा च सोमदेवसूरिः—भूतसंरक्षणं क्षत्रियाणां महान् धर्मः, स च निरपराधप्राणिवधे निराकृतः स्यात्।
य: शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्यात्। यः कंटको वा निजमण्डलस्य ॥ अस्त्राणि तत्रैव नृपा क्षिपन्ति। न दीनकानीनशुभाशयेषु ॥१॥

४. तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः। श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥१॥
वैश्याश्च कृषिवाणिज्यपशुपाल्योपजीविनः ॥$\frac{1}{2}$॥ आदिपुराण से संकलित—

५. तथा च शुक्रः—कृषिकर्म गवां रक्षा यज्ञाद्यं दम्भवर्जितम्। पुण्यानि मन्त्रपूर्वाणि वैश्यवृत्तिरुदाहृता ॥१॥

※ 'शकटोपवाहनं' ग, घ, च प्रतिषु।

६. तथा च पाराशरः—वर्णत्रयस्य शुश्रूषा नीचचारणकर्म च। भिक्षूणां सेवनं पुण्यं शूद्राणां न विरुध्यते ॥१॥

७. तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—वर्णोत्तमेषु शुश्रूषा तद्वृत्ति र्नैकधा स्मृता ॥$\frac{1}{2}$॥ आदिपुराण पर्व १६

सच्छूद्र का लक्षण—

सकृत् परिणयनव्यवहाराः सच्छूद्राः ॥११॥

अर्थ—जिनके यहाँ कन्याओं का एकबार ही विवाह संस्कार होता है (पुनर्विवाह नहीं होता) उन्हें प्रशस्त शूद्र कहते हैं।

विशेषार्थ—भगवज्जिनसेनाचार्य[1] ने शूद्रों के दो भेद किये हैं—कारु और अकारु। धोबी, नाई और चमार-आदि 'कारु' और उनसे भिन्न 'अकारु'। कारु भी दो प्रकार के हैं—स्पृश्य और अस्पृश्य। प्रजा से अलग रहने वाले (चमार और भंगी-आदि) अस्पृश्य और नाई वगैरह स्पृश्य हैं। यद्यपि उक्त भेदों में सत् शूद्रों का उल्लेख नहीं है परन्तु स्पृश्य शूद्रों (नाई वगैरह) में से जिनमें कन्याओं के एकबार ही विवाह करने की शास्त्र-मर्यादा का पालन होता है, उन्हें सत् शूद्र समझना चाहिए; क्योंकि पिंडशुद्धि के कारण उनमें योग्यता के अनुकूल धर्म-धारण करने की पात्रता है ॥११।

शूद्र भी जिन सद्गुणों से ईश्वर-भक्ति-आदि धर्म-धारण का अधिकारी होता है—

आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्करः शारीरी च विशुद्धिः करोति
शूद्रमपि देवद्विजतपस्विपरिकर्मसु योग्यम् ॥१२॥

अर्थ—सदाचार का निर्दोष पालन अर्थात् मद्यपान और मांसभक्षण-आदि को छोड़कर अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण इन व्रतों का एकदेशपालन करना, गृह के वर्तन और वस्त्र-आदि को साफ सुथरा रखना और शारीरिक शुद्धि अर्थात्-अहिंसा-आदि व्रतधारणरूप प्रायश्चित्त विधि से व स्नान आदि से शरीर को निर्मल रखना ये सद्गुण शूद्र को भी ईश्वर भक्ति तथा ब्राह्मण और तपस्वियों की पूजा-परिचर्या के योग्य बना देते हैं ॥१२॥

चारायण[2] का उद्धरण भी प्रस्तुत मान्यता का स्पष्टीकरण करता है।

सर्वसाधारण द्वारा पालन करने के योग्य धर्म—

आनृशंस्यममृषाभाषित्वं परस्वनिवृत्तिरिच्छानियमः प्रतिलोमावि—
वाहो निषिद्धासु च स्त्रीषु ब्रह्मचर्यमिति सर्वेषां समानो धर्मः ॥१३॥

अर्थ—समस्त प्राणियों पर दयालुता का वर्ताव करना, सत्यभाषण, अर्थात्-हित, मित व प्रियवचन बोलना, अचौर्य अर्थात् विना दिये हुए दूसरे का धन ग्रहण न करना, इच्छाओं पर नियन्त्रण करना, स्वजाति में ही गोत्र टालकर विवाह संबंध करना, निषिद्ध स्त्रियों के साथ समागम न करना, अर्थात् परस्त्रियों के प्रति मातृ-भगिनीभाव यह समस्तवर्ण और आश्रमवालों के लिए समान रूप से पालन करने योग्य धर्म है ॥१३॥

विशेषार्थ—भागुरि[3] का उद्धरण भी समानार्थक है।

---

१. तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—तेषां शुश्रूषणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्वकारवः। कारवो रजकाद्याः स्युस्ततोऽन्ये स्युरकारवः ॥१॥ कारवोऽपि मता द्वेधा स्पृश्यास्पृश्यविकल्पतः। तत्रास्पृश्याः प्रजाबाह्याः स्पृश्याः स्युः कर्तकादयः ॥२॥ आदिपुराण पर्व १६

२. तथा च चारायणः—गृहपात्राणि शुद्धानि व्यवहारः सुनिर्मलः। कायशुद्धिः करोत्येव योग्यं देवादिपूजने ॥१॥

३. तथा च भागुरिः—दया सत्यमचौर्यं च नियमः स्वविवाहकम्। असतावर्जनं कार्यं [धर्मः सार्वः प्रकीर्तितः] संशोधित परिवर्तित—

उक्त विषय पर दृष्टान्त—

आदित्यावलोकनवत् धर्मः खलु सर्वसाधारणो विशेषानुष्ठाने तु नियमः ॥१४॥

अर्थ—निस्सन्देह अहिंसा, सत्य व अचौर्य-आदि साधारण धर्म के पालन करने का सभी वर्ण और आश्रमवाले मानवों के लिए उस तरह अधिकार प्राप्त है जिस तरह सूर्य के दर्शन करने का सभी वर्णवाले मानवों के लिए अधिकार प्राप्त है। परन्तु शास्त्रकारों ने विशेष प्रकार के धर्मानुष्ठान के लिए विशेष नियमों का निर्देश किया है। अर्थात्—प्रत्येक वर्ण और आश्रमवर्ती मानवों के लिए भिन्न-भिन्न धार्मिक कर्त्तव्यों के पालन करने के भिन्न-भिन्न नियम निर्दिष्ट किये हैं ॥१४॥

विशेषार्थ—नारद[1] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

मुनियों का स्वधर्म—

निजागमोक्तमनुष्ठानं यतीनां स्वो धर्मः ॥१५॥

अर्थ—अपने आचार शास्त्र में कहे हुए आचार-विचार का परिपालन करना मुनियों का स्वधर्म है ॥१५॥

विशेषार्थ—चारायण[2] का उद्धरण भी समानार्थक है।

स्वधर्म का उल्लङ्घन करने से प्रायश्चित्त—

स्वधर्मव्यतिक्रमेण यतीनां स्वागमोक्तं प्रायश्चित्तम् ॥१६॥

अर्थ—यदि साधुवर्ग स्वधर्म के परिपालन से च्युत हो जाय तो उसे अपने शास्त्र (प्रायश्चित्त शास्त्र) में कहा हुआ प्रायश्चित्त लेना आवश्यक है ॥१६॥

विशेषार्थ—वर्ग[3] का उद्धरण भी समानार्थक है।

श्रद्धा के अनुरूप उपासना करनी चाहिए—

यो यस्य देवस्य भवेच्छ्रद्धावान् स तं देवं प्रतिष्ठापयेत् ॥१७॥

अर्थ—जो मानव जिस देवता में श्रद्धालु है उसे उसकी प्रतिष्ठा या उपासना करनी चाहिए ॥१७॥

विशेषार्थ—भागुरि[4] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

श्रद्धा-रहित पूजा-विधान के दोष—

अभक्त्या* पूजोपचारः सद्यः शापाय ॥१८॥

अर्थ—विना भक्ति की देव-पूजा या उपासना तत्काल शाप देनेवाली या अनिष्टकारिणी होती है ॥१८॥

विशेषार्थ—बादरायण[5] का उद्धरण भी सदृश अर्थ का वाचक है।

---

१. तथा च नारदः—यस्य वर्णस्य यत्प्रोक्तमनुष्ठानं महर्षिभिः। तत्कर्तव्यं विशेषोऽयं तुल्यधर्मो न केवलं ॥१॥

२. तथा च चारायणः—स्वागमोक्तमनुष्ठानं यत् स धर्मो निजः स्मृत.। लिङ्गिनामेव सर्वेषां योऽन्यः सोऽधर्मलक्षणः ॥१॥

३. तथा च वर्गः—स्वदर्शनविरोधेन यो धर्माधर्ममाचरेत्। स्वागमोक्तं भवेत्तस्य प्रायश्चित्तं विशुद्धये ॥१॥

४. तथा च भागुरिः—यस्योपरि भवेद्भक्तिर्विबुधस्य नृणामिह। स देवस्तैः प्रतिष्ठाप्यो नान्यः स्याच्छ्रेयसे यतः ॥१॥

*. 'अभक्तैः कृतः पूजोपचारः' ग प्रतौ।

५. तथा च बादरायणः—अभक्त्या पूजितो देवस्तत्क्षणे विघ्नमाचरेत्। तस्माच्छ्रद्धासमोपेतैः [पूज्यो भक्त्या बुधोऽभीष्टः]॥१॥

संशोधित—

आचार से च्युत होने पर शुद्धि का साधन—

वर्णाश्रमाणां स्वाचारप्रच्यवने त्रयीतो विशुद्धिः ॥१९॥

अर्थ—जब ब्राह्मण-आदि वर्णों के और ब्रह्मचारी-आदि आश्रमों के मनुष्य अपने आचार से च्युत होवें तो उनकी शुद्धि त्रयी अर्थात् पूर्वोक्त चतुर्दश विद्या-स्थानों मे कहे हुए विधानों के अनुकूल होती है ॥१९॥

राजा को धर्म-आदि त्रिवर्ग की प्राप्ति का उपाय—

स्वधर्मासङ्करः प्रजानां राजानं त्रिवर्गेणोपसंधत्ते ॥२०॥

अर्थ—जब राजा की शासन-पटुता से प्रजा में वर्णसङ्करता और धर्मसङ्करता दोष नहीं होते तो राजा को धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति होती है ॥२०॥

विशेषार्थ—नारद[1] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

प्रजा की रक्षा न करने वाले राजा की कटु आलोचना—

स किंराजा यो न रक्षति प्रजाः ॥२१॥

अर्थ—जो राजा अपनी प्रजा की रक्षा नहीं करता, वह निन्द्य है ॥२१॥

विशेषार्थ—व्यास[2] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

राजा का महत्व—

स्वधर्ममतिक्रामतां सर्वेषां पार्थिवो गुरुः ॥२२॥

अर्थ—यदि ब्राह्मण आदि वर्ण और ब्रह्मचारी आदि आश्रमों के सभी लोग अपने-अपने धर्म का उल्लंघन करने तत्पर हों तो उस अवसर पर राजा ही उनको दण्ड शक्ति से रोकने के लिए उस प्रकार समर्थ होता है जिस प्रकार महावत हाथी को अङ्कुश से उन्मार्ग पर जाने से रोकने में समर्थ होता है ॥२२॥

विशेषार्थ—भृगु[3] ने भी प्रस्तुत विषय का निरूपण किया है।

परिपालक राजा को प्रजा के धर्मपालन का छठा भाग प्राप्त होता है—

परिपालको हि राजा सर्वेषां धर्मषष्ठांशमवाप्नोति ॥२३॥

अर्थ—जो राजा निस्सन्देह समस्त वर्णाश्रम-धर्म की रक्षा करता है, वह उम धर्म के छठे भाग के फल को प्राप्त होता है ॥२३॥

तपस्वियों द्वारा भी राजा का सन्मान—

यदाह वैवस्वतो मनुः* 'उञ्छषड्भागप्रदानेन वनस्था अपि तपस्विनो राजानं सम्भावयन्ति ॥२४॥

तस्यैव तद्भूयाद्यस्तान् गोपायति, इति ॥२५॥

अर्थ—वैवस्वत मनु ने कहा है कि उञ्छवृत्ति करने वाले अर्थात् कण-कण बटोरकर अन्न-संचय

---

१. तथा च नारदः—न भूयाद्यत्र देशे तु प्रजाना वर्णसङ्करः। तत्र धर्मार्थकामं च भूपतेः सम्प्रजायते ॥१॥

२. तथा च व्यासः—यो न राजा प्रजा सम्यग्भोगासक्त प्ररक्षति। स राजा नैव राजा स्यात् स च कापुरुषः स्मृतः ॥१॥

३. तथा च भृगुः—उन्मत्तं यथा नागं महामन्तो निवारयेत्। उन्मार्गेण प्रगच्छन्तं तद्वच्चैव जनं नृपः ॥१॥

* 'यदाह वैवस्वतोमनुः' इति पाठः ग, घ, च प्रतितः संकलितः—सम्पादकः—

द्वारा जीवन-निर्वाह करने वाले—वनवासी तपस्वी भी उञ्छ का छठा हिस्सा प्रदान कर राजा का सम्मान करते हैं ॥२४॥

तपस्वी यह कहते हैं—'जिसकी छत्रच्छाया में रहकर हम लोगों का संरक्षण होता है, उसे यह षष्ठांश प्राप्त हो ॥२५॥

विशेषार्थ—पाराशर[1] ने भी उक्त मान्यता का स्पष्टीकरण किया है।

हारीत[2] ने कहा है कि 'तपस्वियों की रक्षा करने वाला राजा उनकी तपश्चर्या के फल का षष्ठांश प्राप्त करता है'।

अमङ्गल वस्तु भी मङ्गल होती है—

तदमंगलमपि नामंगलं यत्रास्यात्मनो भक्तिः ॥२६॥

अर्थ—जिस वस्तु या व्यक्ति में अपनी श्रद्धा या भक्ति हो, वह अमाङ्गलिक (अशुभ) होने पर भी अमङ्गल कारक (अशुभ) नहीं होती।

भावार्थ—उदाहरणार्थ—लूला व कांणा व्यक्ति कार्य के आरम्भ में उपस्थित हुआ अशुभ समझा जाता है, परन्तु जो उसमें श्रद्धा या प्रेम रखता है, उसके लिए वह माङ्गलिक (शुभ) ही है ॥२६॥

विशेषार्थ—भागुरि[3] का उद्धरण भी समान अभिप्राय का निरूपक है।

मानव-कर्तव्य-

संन्यस्ताग्निपरिग्रहानुपासीत ॥२७॥

अर्थ—संन्यासियों (साधु महात्माओं) और याज्ञिकों की उपासना करनी चाहिए।

भावार्थ—क्योंकि ये लोग परिपक्व बुद्धिशाली, सदाचारी एवं श्रेयस्कर उपदेशक होते हैं, अतः इनकी उपासना करने वाला भी वैसा हो जाता है ॥२७॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[4] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

स्नान के पश्चात् आवश्यक कर्त्तव्य—

स्नात्वा प्राग्देवोपासनान्न कंचन स्पृशेत् ॥२८॥

अर्थ—मनुष्य को स्नान करके ईश्वर-भक्ति करनी चाहिए, उसके पूर्व उसे किसी अस्पृश्य वस्तु का स्पर्श नहीं करना चाहिए ॥२८॥

विशेषार्थ—वर्ग[5] के उद्धरण में भी उक्त उल्लेख है।

देवमन्दिर में प्राप्त हुए मनुष्य का कर्त्तव्य—

देवागारे गतः सर्वान् यतीनात्मसम्बन्धिनीर्जरतीः पश्येत् ॥२९॥

१. तथा च पाराशरः—षड्भागं योऽत्र गृह्णाति कर्षुकीणां तपस्विनाम्। ताश्च पालयते यश्च स तेषां पापभाग्भवेत् ॥१॥
२. तथा च हारीतः—मुनीनां वनसंस्थानां फलमूलाशिनामपि। षड्भागं तपस्तेषां राजा प्राप्नोति रक्षणात् ॥१॥
३. तथा च भागुरिः—यद्यस्य वल्लभं वस्तु तच्चेदग्रे प्रयास्यति। कृत्यारम्भेषु तत्तस्य सुनिन्द्यमपि सिद्धिदम् ॥१॥
४. तथा च वल्लभदेवः—यादृक्षाणां शृणोत्यत्र यादृक्षांश्चावसेवते। तादृक्चेष्टो भवे मर्त्यस्तस्मात् साधून् समाश्रयेत् ॥१॥
५. तथा च वर्गः—स्नात्वा त्वभ्यर्चयेत् देवान् वैश्वानरमतः परं। ततो दानं यथाशक्त्या दत्वा भोजनमाचरेत् ॥१॥

अर्थ—धार्मिक पुरुष को मन्दिर में जाकर ईश्वर भक्ति के पश्चात् समस्त साधुवर्गों को नमस्कार करके कुल वृद्धा स्त्रियों से शिष्टाचार का वर्ताव करना चाहिए ॥२९॥

विशेषार्थ—हारीत[1] के उद्धरण में भी उक्त उल्लेख हैं।

देवमूर्त्ति और साधुजनों की उपासना—

देवाकारोपेतः पाषाणोऽपि नावमन्येत तत्किं पुनर्मनुष्यः ? राजशासनस्य मृत्तिकायामिव लिंगिषु को नाम विचारो, यतः स्वयं मलिनो खलः प्रवर्धयत्येव क्षीरं धेनूनां, न खलु परेषामाचारः स्वस्य पुण्यमारभते किन्तु मनोविशुद्धिः ॥३०॥

अर्थ—देवाकार को प्राप्त हुआ पाषाण अर्थात्—प्रतिष्ठित देवमूर्ति—भी जब तिरस्कार करने योग्य नहीं है तो क्या मनुष्य तिरस्कार करने योग्य है ?

अर्थात्—जिसप्रकार प्रतिष्ठित देवमूर्ति की भक्ति की जाती है उसी प्रकार नैतिक मनुष्य को गुणवान्-पुरुषों की यथायोग्य सेवा शुश्रूषा करनी चाहिए।

प्रतिष्ठित देवमूर्ति उसप्रकार महत्वपूर्ण होती है जिसप्रकार मिट्टी पर लगाई हुई राजशासन (राजकीय आज्ञा) की मुहर महत्वपूर्ण होती है।

नैतिक पुरुष को साधु महापुरुषों के वाह्य मलिन वेष पर विचार नहीं करना चाहिए; क्योंकि स्वयं मलिन भी खली गायों की दूध-वृद्धि में कारण है। क्योंकि दूसरों का आचार-वाह्य साफ सुथरा रहन-सहन आदि—हमारे पुण्य को उत्पन्न नहीं करता किन्तु हमारी मानसिक शुद्धि वास्तविक पुण्य का उद्‌गम करती है ॥३०॥

ब्राह्मण-आदि के स्वभाव—

दीना हि प्रकृतिः प्रायेण ब्राह्मणानाम् ॥३१॥

बलात्कारस्वभावः क्षत्रियाणाम् ॥३२॥

निसर्गतः शाठ्यं किरातानाम् ॥३३॥

ऋजुवक्रशीलता सहजा कृषीबलानाम् ॥३४॥

अर्थ—निस्सन्देह ब्राह्मणों का स्वभाव प्रायः दीन (सीधा-साधा व नम्रता-युक्त) होता है ॥३१॥

क्षत्रियों का स्वभाव दूसरों पर बलात्कार करने का होता है। अर्थात्—अपना बल दिखाने का होता है ॥३२॥

कोल और भील-आदि की प्रकृति स्वभावतः शठता-युक्त होती है ॥३३॥

किसानों की प्रकृति स्वाभाविक सरलता और कुटिलता-युक्त होती है ॥३४॥

ब्राह्मणों आदि की कोप-शान्ति का उपाय—

दानावसानः कोपो ब्राह्मणानाम् ॥३५॥

अर्थ—ब्राह्मणों के क्रोध की शान्ति का उपाय दान है।

अर्थात्—दान मिल जाने से ब्राह्मण सन्तुष्ट हो जाता है ॥३५॥

---

१. तथा च हारीतः—देवायतने च गत्वा सर्वान् पश्येत् स्वभक्तितः। तथाश्रिताम् यतीम् पश्चात्ततो वृद्धाः कुलस्त्रियः ॥१॥

विशेषार्थ—गर्ग[1] का उद्धरण भी समानार्थक है।

प्रणामावसानः कोपो गुरूणाम् ॥३६॥

अर्थ—गुरुजनों की क्रोध-शान्ति प्रणाम करने से होती है ॥३६॥

विशेषार्थ—गर्ग[2] का उद्धरण भी समान-अर्थ का वाचक है।

प्राणावसानः कोपः क्षत्रियाणाम् ॥३७॥

अर्थ—क्षत्रियोंके क्रोध की शान्ति प्राण लेकर ही होती है।

अर्थात्—क्षत्रिय जिस पर कुपित होता है, वह उसके प्राण-हरण किये विना शान्त नहीं होता ॥३७॥

[3]प्रियवचनावसानः कोपो वणिग्जनानाम् ॥३८॥

अर्थ—वैश्यों का क्रोध मीठे वचनों से शान्त हो जाता है ॥३८॥

विशेषार्थ—गर्ग[4] के उद्धरण में भी उक्त उल्लेख है।

वैश्यानां समुद्धारकप्रदानेन कोपोपशमः ॥३९॥

अर्थ—जमींदार वैश्यों का क्रोध-उनका कर्जा चुका देने से शान्त होजाता है ॥३९॥

विशेषार्थ—भृगु[5] का उद्धरण भी समान-आशय प्रकट कर रहा है।

वणिकों की श्री वृद्धि का उपाय—

निश्चलैः परिचितैश्च सह व्यवहारो वणिजां निधिः[6] ॥४०॥

अर्थ—वैश्य लोग उन्हीं के साथ कर्जा देने का व्यवहार करते हैं, जिनके पास मकान व जमीन-आदि होती है और जो एक जगह स्थायी रूप से रहते हों, और जो भलीभाँति परिचित हों, ऐसा करने से अर्थात्—विश्वस्तों के लिए ऋण देने से भविष्य में कोई खतरा (धन डूबने की शङ्का) नहीं रहता, ऐसा करना वैश्यों के लिए निधिरूप है अर्थात्—वैश्यों की श्री वृद्धि होती है ॥४०॥

अधम जातियों के वश करने का उपाय—

[7]दण्डभयोपधिभिर्वशीकरणं नीचजात्यानाम् ॥४१॥

अर्थ—दण्ड का भय और छल-कपट-युक्त वर्ताव नीच जाति के मनुष्यों को वश में करने का साधन—उपाय—है ॥४१॥

विशेषार्थ—गर्ग[8] का उद्धरण भी समान अभिप्राय प्रकट करता है।

इति त्रयीसमुद्देशः

---

१. तथा च गर्गः—सूर्योदये यथा नाशं तमः सद्यः प्रयात्यलम्। तथा दानेन लुब्धस्य कोपो विप्रस्य गच्छति ॥१॥

२. तथा च गर्गः—दुर्जने सुकृतं यद्वत् कृतं याति च संक्षयं। तद्वत् कोपो गुरूणां स प्रणामेन प्रणश्यति ॥१॥

३. 'प्रियवचनावधिकः कोपो वाणिजिकानाम्' ग प्रतौ।

४. तथा च गर्गः—यथा प्रियेण दृष्टेन नश्यति व्याधिर्वियोगजः। प्रियालापेन तद्वद्वणिजां नश्यति ध्रुवं ॥१॥

५. तथा च भृगुः—अपि चेत् पैत्रिको वैरी विशां कोपं प्रजायते। उद्धारकप्रलाभेन निःशेषो विलयं व्रजेत् ॥१॥

६. 'ग' प्रतितः संकलितोऽयं पाठः।

७. 'दण्डभयोपधि वशीकरणं नीचानां' 'ग' प्रतौ पाठः।

८. तथा च गर्गः—सर्वेषां नीचजात्यानां यावन्नो दर्शयेद्भयम्। तावन्नो वशमायान्ति दर्शनीयं ततो भयम् ॥१॥

८. वार्तासमुद्देशः —

वार्ता व वैश्यों की आजीविका—

†कृषिः पशुपालनं वणिज्या च वार्ता वैश्यानाम् ॥१॥

अर्थ—खेती, पशुपालन और व्यापार यह 'वार्ता' है, जो कि वैश्यों की आजीविका हैं ॥१॥

वार्ता की समृद्धि से राजा की श्री वृद्धि—

वार्तासमृद्धौ सर्वाः समृद्धयो राज्ञः ॥२॥

अर्थ—जिस राजा के राज्य में वार्ता अर्थात्-कृषि, पशुपालन और व्यापार की उन्नति होती है, वहाँ पर उसे समस्त विभूतियाँ प्राप्त होती हैं ॥२॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] के उद्धरण में भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण है।

सांसारिक सुख के साधन—

तस्य खलु संसारसुखं यस्य कृषिर्धेनवः शाकवाटः सद्मन्युदपानं च ॥३॥

अर्थ—जिसके यहाँ खेती होती है, गाय-भैंसे हों, शाक-आदि के लिए वाड़ी या बगीचे हैं और मकान में ही मीठे पानी से भरा हुआ कुआ है, उसे निस्सन्देह सांसारिक सुख प्राप्त होता है ॥३॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

फसल के समय धान्य-संग्रह न करनेवाले अपव्ययी राजा की हानि—

विसाध्यराज्ञस्तंत्रपोषणे नियोगिनामुत्सवो महान् कोशक्षयः ॥४॥

अर्थ—जो राजा सैनिकों के भरण-पोषण के लिए खेती की फसल के मौके पर धान्य-संग्रह नहीं करता और सदा मूल्य देकर खरीदता है उसके अधिकारियों के यहाँ विशेष उत्सव होता है और राजा का विशाल खजाना नष्ट हो जाता है ॥४॥

विशेषार्थ—नारद[3] का उद्धरण भी उक्त विषय में समानार्थक है।

आमदनी के बिना सदा खर्च करने वाले की धन-क्षति—

नित्यं हिरण्यव्ययेन मेरुरपि क्षीयते ॥५॥

अर्थ—सदा स्वर्ण व्यय करने से सुमेरु पर्वत-सरीखी प्रचुर धन राशि भी नष्ट हो जाती है।

भावार्थ—जो मानव किञ्चिद् भी धनोपार्जन नहीं करता और सदा संचित धन को व्यय करता रहता है, उसकी प्रचुर धन-राशि समाप्त हो जाती है ॥५॥

शुक्र[4] का उद्धरण भी आय से अधिक व्यय करने से दरिद्रता का निरूपण करता है।

अपव्ययी राजा की हानि—

तत्र सदैव दुर्भिक्षं यत्र राजा विसाधयति ॥६॥

† 'कृषिः पशुपालनं वणिज्या चेति वार्ता' ग प्रतौ पाठः।

१. तथा च शुक्रः—कृषिद्वयं वणिज्याश्च यस्य राष्ट्रे भवन्त्यमी। धर्मार्थकामा भूपस्य तस्य स्युः संख्यया विना ॥१॥

२ तथा च शुक्रः—कृषिगोशाकवाटाश्च जलाश्रयसमन्विता.। गृहे यस्य भवन्त्येते स्वर्गलोकेन तस्य किम् ॥१॥

३. तथा च नारदः—ग्रीष्मे शरदि यो नान्नं संगृह्णाति महीपतिः। नित्यं मूल्येन गृह्णाति तस्य कोशक्षयो भवेत् ॥१॥

४ तथा च शुक्रः—आगमे यस्य चत्वारि निर्गमे सार्धपंचमः। स दरिद्रत्वमाप्नोति वित्तेशोऽपि स्वयं यदि ॥१॥

अर्थ—जहाँ राजा फसल के अवसर पर धान्य संग्रह न करके तन्त्र पोषणार्थ आय से अधिक धन व्यय करता है उसके यहाँ सदा दुर्भिक्ष की स्थिति बनी रहती है ॥६॥

विशेषार्थ—नारद[1] ने लिखा है—'जिस देश में राजा अकाल पड़ने पर अपने खजाने की सम्पत्ति से धान्य खरीद कर प्रजा के लिए देता रहता है तो उसकी प्रजा दुर्भिक्ष के दुःख से पीड़ित नहीं होती।'

राजा को प्रचुर धनराशि की लालसा होने पर राष्ट्र की हानि—

समुद्रस्य पिपासायां कुतो जगति जलानि ? ॥७॥

अर्थ—जब समुद्र ही प्यासा हो जाय तो उस अनन्त जलराशि को पूर्ण करने के लिए संसार में और कहाँ जल प्राप्त हो सकते हैं ?

भावार्थ—शास्त्रों में उल्लेख है कि लवण समुद्र में गंगा और सिन्धु-आदि नदिएँ अपनी १४ हजार सहायक नदियों समेत प्रविष्ट होती हैं ऐसी प्रचुर जलराशि के होने पर भी यदि समुद्र प्यासा रहे तो फिर संसार में जल ही नहीं रह सकते। क्योंकि समुद्र की प्यास को दूर करने के लिए इससे अधिक जलराशि कहीं पाई नहीं जाती। उसी प्रकार राजा भी यदि प्रचुर धनराशि की लालसा रखता हो अर्थात्—उपयुक्त छठे भाग से भी अधिक कर लेने की लालसा प्रजा से रखता हो, तो फिर राष्ट्र में सम्पत्ति किस प्रकार रह सकती है ॥७॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] का उद्धरण भी प्रस्तुत विषय का स्पष्टीकरण करता है।

पशु धन की सुरक्षा अनिवार्य—

स्वयं जीवधनमपश्यतो महती हानिर्मनस्तापश्च क्षुत्पिपासाऽप्रतिकारात् पापं च ॥८॥

अर्थ—गाय-बैल-आदि जीविकोपयोगी धन की स्वयं देखभाल न करने वाले पुरुष को महान् आर्थिक क्षति उठानी पड़ती है एवं उनके मर जाने से उसे अधिक मानसिक पीड़ा होती है तथा उन्हें भूखे-प्यासे बँधे रखने पर उसे महान् पाप बंध भो होता है ॥८॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] का उद्धरण भी प्रस्तुत विषय का स्पष्टीकरण करता है।

वृद्ध-बाल-व्याधितक्षीणान् पशून् बान्धवानिव पोषयेत् ॥९॥

अर्थ—वृद्ध, बच्चे, बीमार, और जर्जर-कमजोर पशुओं का पालन-पोषण अपने बन्धुओं की तरह करना चाहिए ॥९॥

विशेषार्थ—व्यास[4] ने भी इसी प्रकार कहा है।

पशुओं की अकाल मृत्यु—

अतिभारो महान् मार्गश्च पशूनामकाले मरणकारणम् ॥१०॥

अर्थ—अधिक बोझा ढोने से और अधिक मार्ग चलाने से पशुओं की अकाल मृत्यु हो जाती है ॥१०॥

विशेषार्थ—हारीत[5] का उद्धरण भी समान अर्थ का वाचक है।

१. तथा च नारदः—दुर्भिक्षेऽपि समुत्पन्ने यत्र राजा प्रयच्छति। निजार्घ्येण निजं सस्यं तदा लोको न पीड्यते ॥१॥
२. तथा च शुक्रः—षड्भागाभ्यधिको दण्डो यस्य राज्ञः प्रतुष्टये। तस्य राष्ट्रं क्षयं याति राज्यं च तदनन्तरम् ॥१॥
३. तथा च शुक्रः—चतुष्पदादिकं सर्वं स स्वयं यो न पश्यति। तस्य तन्नाशमभ्येति ततः पापमवाप्नुयात् ॥१॥
४. तथा च व्यासः—अनाथान् विकलान् दीनान् क्षुत्परीतान् पशूनपि। दयावान् पोषयेद्यस्तु स स्वर्गे मोदते चिरम् ॥१॥
५. तथा च हारीतः—अतिभारो महान् मार्गः पशूनां मृत्युकारणम्। तस्मादर्द्धभावेन मार्गेणापि प्रयोजयेत् ॥१॥

राज्य में बाहिरी माल आना बन्द होने का कारण—

शुल्कवृद्धिर्बलात्पण्यग्रहणं च देशान्तरभाण्डानामप्रवेशे हेतुः ॥११॥

अर्थ—जिस राज्य में दूसरे देशों की चीजों पर ज्यादा कर (टेक्स) लगाया जाता हो और जहाँ के राजकर्मचारी लोग विक्रय योग्य वस्तुओं को व्यापारियों से बलात् छीन लेते हों वहाँ पर देशान्तर से विक्री की वस्तुओं का आना बन्द हो जाता है ॥११॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी देशान्तर से माल आना बन्द होने के उक्त कारण निरूपित किये हैं।

उक्त बात का उदाहरण द्वारा समर्थन—

काष्ठपात्र्यामेकदैव पदार्थो रध्यते ॥१२॥

अर्थ—काठ की हाँडी में एक ही बार भोजन पकाया जा सकता है, अर्थात्—धोखेबाजी एक ही बार टिक सकती है।

भावार्थ—उसीप्रकार कर-वृद्धि और अधिकारियों द्वारा लूटमार एक ही बार चल सकती है, क्योंकि पश्चात् स्वप्न में भी देशान्तर से माल नहीं आता ॥१२॥

शुक्र[2] का उद्धरण भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण करता है।

मापों—तराजू और बाँटों—की शुद्धता अनिवार्य—

तुलामानयोरव्यवस्था व्यवहारं दूषयति ॥१३॥

अर्थ—जिस राज्य में वणिक लोग तराजू और बाँटों में धोखेबाजी करते हैं, अर्थात्—छोटा-बड़ा रखते हैं, वहाँ पर व्यापार नष्ट हो जाता है।

विशेषार्थ—वर्ग[3] का उद्धरण भी समान अभिप्राय का निरूपक है।

कृत्रिम मूल्य-वृद्धि—मंहगाई के कटुक फल—

वणिग्जनकृतोऽर्घः स्थितानागन्तुकांश्च पीडयति ॥१४॥

अर्थ—जिसके राज्य में व्यापारियों द्वारा अन्न-वस्त्र-आदि वस्तुओं का मूल्य स्वेच्छापूर्वक बढ़ा दिया जाता है, इससे वहाँ की प्रजा को और बाहर से आए हुए लोगों को कष्ट होता है ॥१४॥

विशेषार्थ—हारीत[4] का उद्धरण भी समानार्थ का वाचक है।

वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करने का विचार—

देश-कालभाण्डापेक्षया वा सर्वार्घो भवेत् ॥१५॥

अर्थ—समस्त वस्तुओं (अन्न-वस्त्र-आदि) का मूल्य निर्धारित या स्थिर करने में देश, काल और विक्रय-योग्य पदार्थों का विचार आवश्यक है।

भावार्थ—जो राजा यह जानता है कि मेरे राज्य में या अमुक देश में अमुक वस्तु उत्पन्न हुई है? या नहीं? यह 'देशापेक्षा' है। एवं इस समय दूसरे देशो से हमारे देश में अमुक वस्तु प्रविष्ट हो सकती है? अथवा

१. तथा च शुक्रः—यत्र गृह्णन्ति शुल्कानि पुरुषाः भूपयोजिताः। अर्थहानिं च कुर्वन्ति तत्र नायाति विक्रया ॥१॥
२. तथा च शुक्रः—शुल्कवृद्धिर्भवेद्यत्र बलान्मूल्यं निपात्यते। स्वप्नेऽपि तत्र न स्थाने प्रविशेद्भाण्डविक्रयी ॥१॥
३. तथा च वर्गः—गुरुत्वं च लघुत्वं च तुलामानसमुद्भवम्। द्विप्रकारं भवेद्यत्र वाणिज्यं तत्र नो भवेत् ॥१॥
४. तथा च हारीतः—वणिग्जनकृतो योऽर्घोऽनुज्ञातस्य नियोगिभिः। भूपस्य पीडयेत्सोऽत्र तत्स्थानागन्तुकानपि ॥१॥

नहीं ? इसे 'काकापेक्षा' कहते हैं। उक्त विचार करके समस्त वस्तुओं का मूल्य स्थिर करना चाहिए, जिससे व्यापारी लोग मनचाही मूल्य वृद्धि करके प्रजा को दरिद्र न बना सकें ॥१५॥

व्यापारियों की जाँच पड़ताल—

पण्यतुलामानवृद्धौ राजा स्वयं जागृयात् ॥१६॥

अर्थ—राजा को उन व्यापारियों की स्वयं जांच पड़ताल करनी चाहिए, जो कि बहु मूल्यवाली वस्तुओं में अल्प मूल्यवाली वस्तुओं की मिलावट करते हों। दो प्रकार की तराजू रखते हों तथा नापने तोलने के बटखरे (प्रस्थ और गुञ्जादि) में कमी-वेशी करते हों ॥१६॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] का उद्धरण भी समान अर्थ का वाचक है।

वणिक्स्वभाव की कटु आलोचना—

न वणिग्भ्यः सन्ति परे पश्यतोहराः ॥१७॥

अर्थ—वणिकों से बढ़कर दूसरे कोई प्रत्यक्ष चोर नहीं हैं ॥१७॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[2] ने भी उक्त प्रकार कहा है।

कृत्रिम मूल्य वृद्धि मे राजा का कर्तव्य—

स्पर्द्धया मूल्यवृद्धिर्भाण्डेषु राज्ञो यथोचितं मूल्यं विक्रेतुः ॥१८॥

अर्थ—यदि व्यापारी लोग परस्पर की ईर्षा-वश वस्तुओं का मूल्य बढ़ा देवें तो उस समय राजा का कर्तव्य है कि वह बढ़ाया हुआ मूल्य व्यापारी वर्ग से छीन लेवे और बेचनेवाले व्यापारी को केवल उचित मूल्य ही दे ॥१८॥

विशेषार्थ—हारीत[3] का उद्धरण भी समानार्थक है।

बहुमूल्य वस्तु को अल्पमूल्य में खरीदनेवाले के प्रति राजा का कर्त्तव्य—

अल्पद्रव्येण महाभाण्डं गृह्णतो मूल्याविनाशेन तद्भाण्डं राज्ञः ॥१९॥

अर्थ—यदि किसी बनिये ने किसी चोर-वगैरह की बहुमूल्य सुवर्ण-आदि वस्तु थोड़े मूल्य में खरीद ली हो, तो राजा को खरीददार की वह बहुमूल्य वस्तु जब्त कर लेनी चाहिए, परन्तु खरीददार वनिए के लिए अल्पमूल्य दे देना चाहिए ॥१९॥

विशेषार्थ—नारद[4] का उद्धरण भी समान-आशय का वाचक है।

अन्याय की उपेक्षा से राजकीय हानि—

अन्यायोपेक्षा सर्वं विनाशयति ॥२०॥

१. तथा च शुक्रः—भाण्डसंगात्तुलामानाद्धीनाधिक्याद्वणिग्जनाः। वंचयन्ति जनं मुग्धं तद्विज्ञेयं महीभुजा ॥१॥

२. तथा च वल्लभदेवः—मानेन किंचिन्मूल्येन किंचित्तुलयाऽपि किंचित्कलयापि किंचित्। किंचिच्च किंचिच्च गृहीतुकामाः प्रत्यक्षचौरा वणिजो नराणाम् ॥१॥

३. तथा च हारीतः—स्पर्द्धया विहितं मूल्यं भाण्डस्याप्यधिकं च यत्। मूल्यं भवति तद्राज्ञो विक्रेतुर्वर्धमानकम् ॥१॥

४. तथा च नारदः—भाण्डं चौरादिभिर्दत्तं मुग्धं वाल्पधनेन यत्। तद्भाण्डं भूपतेः कृत्स्नं गृहीतुर्मूल्यमेव च ॥१॥

अर्थ—अन्याय की उपेक्षा करनेवाले राजा का कुलपरम्परा से प्राप्त हुआ समस्त राज्य नष्ट हो जाता है ॥२०॥

विशेषार्थ—गुरु[1] का उद्धरण भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण करता है।

राष्ट्र के कण्टक—

***चौरचरटमन्नपधमनराजवल्लभाटविकतलाराक्षशालिकनियोगिग्रामकूटवार्धुषिका हि राष्ट्रस्य कण्टकाः ॥२१॥**

अर्थ—चोर, देश से बाहिर निकाले हुए अपराधी या गुप्तदूत, खेतों या मकान वगैरह की माप करनेवाले या पाठान्तर में चारण और भाट-आदि, धमन अर्थात् व्यापारियों की वस्तु का मूल्य निर्णय करनेवाले, राजा के प्रेमपात्र, जंगलात विभाग के अधिकारी वर्ग, तलार अर्थात् स्थानों की रक्षार्थ नियुक्त किये गये कोट्टपाल-आदि, आक्षशालिक अर्थात् जुआ खिलाकर जीविका करनेवाले व्यक्ति अथवा सेना के अधिकारी, अधिकारीवर्ग, पटवारी और वार्धुषिक अर्थात्—अन्न-संग्रह करके अकाल की कामना करनेवाले व्यापारी वर्ग, ये राष्ट्र के कण्टक हैं ॥२१॥

विशेषार्थ—गुरु[2] का उद्धरण भी चोर-आदि से राष्ट्र की रक्षा करने का निर्देश करता है।

राष्ट्र-कण्टक कब नहीं होते—

†प्रतापवति राज्ञि निष्ठुरे सति न भवन्ति राष्ट्रकण्टकाः ॥२२॥

अर्थ—यदि राजा प्रतापशाली हो और शासन करने में कठोर हो, अर्थात्—राष्ट्र कण्टकों के उन्मूलन करने में प्रवीण हो, तो उक्त राष्ट्रकण्टक उपद्रव करने में समर्थ नहीं हो सकते ॥२२॥

विशेषार्थ—व्यास[3] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपण करता है।

वार्द्धुषिकों से राष्ट्र की हानि—

***अन्यायवृद्धितो वार्द्धुषिकास्तन्त्रं देशं च नाशयन्ति ॥२३॥**

अर्थ—वार्द्धुषिक अर्थात्—अन्न-संग्रह करके देश में अकाल की स्थिति उत्पन्न करने वाले व्यापारी वर्ग, अन्याय की वृद्धि करके राष्ट्र के तन्त्र (व्यवहार या गाय-भैंस-आदि चतुष्पद पशु) को और समस्त देश को नष्ट कर देते हैं। अथवा पाठान्तर में—जहाँ पर अन्न-संग्रह द्वारा देश में दुर्भिक्ष पैदा करने वाले व्यापारी लोग अनीति से अधिक संख्या में बढ़ जाते हैं, वहाँ पर वे तन्त्र, कोश और देश को नष्ट कर देते हैं ॥२३॥

विशेषार्थ—भृगु[4] का उद्धरण भी उक्त सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करता है।

---

१. तथा च गुरुः—अन्यायान् भूमिपो यत्र न निषेधयति क्षमी। तस्य राज्यं क्षयं याति यद्यपि स्यात् क्रमागतम् ॥१॥

*. 'चरटान्वयधमन' ग, घ च प्रतिषु पाठः।

२. तथा च गुरुः—चौरादिकेभ्यो दुष्टेभ्यो यो न राष्ट्रं प्ररक्षति। तस्य तन्नाशमायाति यदि स्यात्पितृपैतृकम् ॥१॥

†. 'प्रतापवति कण्टकशोधनाधिकरणज्ञे राज्ञि न प्रभवन्ति' इति मु० मू० प्रतौ पाठः।

३. तथा च व्यासः—यथोक्तनीतिनिपुणो यत्र देशे भवेन्नृपः। सप्रतापो विशेषेण चौराद्यैर्न स पीड्यते ॥१॥

*. 'तेषु सर्वे अन्यायवृद्धयो वार्द्धुषिकास्तंत्रं कोशं देशं च विनाशयन्ति' ग, घ, च प्रतिषु पाठः।

४. तथा च भृगुः—यत्र वार्द्धुषिका देशे अनीत्या वृद्धिमाययुः। सर्वलोकक्षयस्तत्र तिरश्चां च विशेषतः ॥१॥

प्रस्तुत वार्द्धुषिकों की कटु आलोचना—

कार्याकार्ययोर्नास्ति दाक्षिण्यं वार्द्धुषिकानाम् ॥२४॥

अर्थ—वार्द्धुषिकों (लोभ वश राष्ट्र का अन्न-संग्रह करके दुर्भिक्ष पैदा करने वाले व्यापारियों) के कर्त्तव्य-अकर्तव्य के विषय में लज्जा नहीं होती, अर्थात् वे प्रायः निर्लज्ज होते हैं अथवा कुटिल प्रकृति वाले होते हैं ॥२४॥

विशेषार्थ—हारीत[1] ने भी वार्द्धुषिकों के विषय में यही कहा है।

शरीर-रक्षार्थ मनुष्य-कर्तव्य—

अप्रियमप्यौषधं पीयते ॥२५॥

अर्थ—शारीरिक स्वास्थ्य के लिए औषधि कड़वी होने पर भी पी जाती है।

भावार्थ—जिस प्रकार शरीर को स्वस्थ रखने के लिए औषधि कड़ुवी होने पर भी पी जाती है उसी प्रकार ऐहिक और पारलौकिक सुख प्राप्ति के लिए धर्म, अर्थ और काम का सेवन परस्पर की बाधारहित करना चाहिए ॥२५॥

विशेषार्थ—वादीभसिंह सूरि[2] ने भी कहा है—कि 'यदि धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों का परस्पर की बाधा-रहित सेवन किया जाय तो उससे मनुष्यों को बाधा-रहित सुख की प्राप्ति होती है और क्रम से मोक्ष सुख भी प्राप्त होता है।

वर्ग[3] का उद्धरण भी उक्त मान्यता की प्रतिष्ठा करता है।

पूर्वोक्त सिद्धान्त का समर्थन—

अहिदष्टा स्वाङ्गुलिरपि च्छिद्यते ॥२६॥

अर्थ—समस्त शरीर की रक्षार्थ सर्प द्वारा डसी गई अपनी अङ्गुलि भी काट डाली जाती है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार विषैली अंगुली काट देने से शरीर स्वस्थ रहता है उसी प्रकार राजदण्ड-आदि का खतरा उत्पन्न करनेवाली अनुचित तृष्णा का त्याग कर देने से भी शरीर स्वस्थ और मन निश्चिन्त रहता है ॥२६॥

किसी नीतिवेत्ता[4] विद्वान् ने भी उक्त बात का समर्थन किया है।

इति वार्ता-समुद्देशः।

९. दण्डनीति-समुद्देशः—

दण्ड-माहात्म्य—

चिकित्सागम इव दोषविशुद्धिहेतुर्दण्डः ॥१॥

अर्थ—प्रजा के दोषों को नष्ट करने में या दूर करने में दण्डनीति उसप्रकार समर्थ है जिसप्रकार

---

१. तथा च हारीतः—वार्द्धुषिकस्य दाक्षिण्यं विद्यते न कथंचन। कृत्याकृत्यं तदर्थं च कृतैः संख्यविवर्जितैः ॥१॥

२. तथा च वादीभसिंह सूरिः—परस्पराविरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते। अनर्गलमतः सौख्यमपवर्गोऽप्यनुक्रमात् ॥१॥

३. तथा च वर्गः—धर्मार्थकामपूर्वैश्च भेषजैर्विविधैरपि। यथा सौख्याद्धिकं पश्येत्तथा कार्यं विपश्चिता ॥१॥

४. तथा च कश्चिन्नीतिकारः—शरीरार्थे न तृष्णा च प्रकर्तव्या विचक्षणैः। शरीरेण सता वित्तं लभ्यते न तु तद्धनैः ॥१॥

आयुर्वेद शास्त्र के अनुकूल औषधि का सेवन रोगी के समस्त वात, पित्त व कफ की विकृति को नष्ट करने में या दूर करने में समर्थ होता है ॥१॥

विशेषार्थ—गर्ग[1] के उद्धरण में भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण है।

आर्य चाणक्य[2] ने भी दण्डनीति का माहात्म्य इसी प्रकार उल्लेख किया है।

दण्डनीति का स्वरूप—

यथादोषं दण्डप्रणयनं दण्डनीतिः ॥२॥

अर्थ—अपराधी के लिए अपराध की न्यूनाधिकता के अनुसार ही दण्ड-विधान करना 'दण्डनीति' है ॥२॥

विशेषार्थ—गुरु[3] का उद्धरण भी समान अभिप्राय प्रकट करता है।

नीतिकार चाणक्य[4] ने भी कहा है—कि "राजा का कर्तव्य है कि वह पुत्र और शत्रु के लिए उनके अपराध के अनुसार पक्षपात-रहित होकर दण्ड देवे। क्योंकि अपराध के अनुसार न्यायोचित दण्ड ही इस लोक और परलोक की रक्षा करता है। दण्डनीति के आश्रय से उसे प्रजा के धर्म, व्यवहार और चरित्र की रक्षा करनी चाहिए। यद्यपि न्यायालय में न्यायाधीश के सामने मुकदमे में वादी और प्रतिवादी दोनों ही अपने-अपने पक्ष को सच्चा कहते हैं एवं वकीलों के माध्यम से अपना-अपना पक्ष सत्य सिद्ध करने में प्रयत्नशील रहते हैं। परन्तु उनमें से सच्चा एक ही होता है। ऐसी अवस्था में दोनों पक्षों को ठीक-ठीक निर्णय करने वाले निम्न लिखित हेतु हो सकते हैं।

१. दृष्टदोष, अर्थात्—जिसका अपराध देख लिया गया हो, २. स्वयंवाद, अर्थात्—जो स्वयं अपना अपराध स्वीकार कर लेवे। ३. सरलता पूर्वक न्यायोचित जिरह, ४. कारणों का उपस्थित कर देना। ५, शपथ कराना।

उक्त पाँचों हेतु यथावश्यक अर्थ के साधक हैं, अर्थात्—अपराधी का अपराध समर्थन करने वाले हैं। यदि वादी-प्रतिवादियों के परस्पर विरुद्ध कथन का उक्त हेतुओं से निर्णय न हो सके तो साक्षियों और खुफिया पुलिस के द्वारा इसका अनुसन्धान कर अपराधी का निश्चय करना चाहिए। अर्थात्—उक्त प्रबल युक्तियों द्वारा-अपराधियों के अपराध का निर्णय करके यथादोष दंडविधान करने से राष्ट्र की सुरक्षा होती है; अतः अपराधानुरूप दंड विधान को 'दंडनीति' कहा गया है।

दण्ड-विधान का लक्ष्य—

प्रजापालनाय राज्ञा दण्डः प्रणीयते न धनार्थम् ॥३॥

अर्थ—प्रजा की रक्षा के उद्देश्य से राजा द्वारा दण्ड-विधान किया जाता है, धन-संग्रह के लिए नहीं ॥३॥

---

१. तथा च गर्गः—अपराधिषु यो दण्ड. स राष्ट्रस्य विशुद्धये। विना येन न सन्देहो मात्स्यो न्यायः प्रवर्तते ॥१॥

२. देखिए—कौटिल्य अर्थशास्त्र दण्डनीति प्रकरण पृ० १२-१३ अ० ४ सूत्र ६-१४।

३. तथा च गुरुः—स्मृत्युक्तवचनैर्दण्डं हीनाधिक्यं प्रपातयन्। अपराधकपापेन लिप्यते न विशुद्धयति ॥१॥

४. तथा च चाणक्यः—दण्डो हि केवलो लोकं परं चेमं च रक्षति। राज्ञा पुत्रे च शत्रौ च यथादोषं समं धृत. ॥१॥

अनुशासद्धि धर्मेण व्यवहारेण संस्थया। न्यायेन च चतुर्थेन चतुरन्तां मही जयेत् ॥२॥

दृष्टदोषः स्वयंवादः स्वपक्षपरपक्षयोः। अनुयोगार्जवं हेतुः शपथश्चार्थसाधकः ॥३॥

पूर्वोत्तरार्थव्याघाते साक्षिवक्तव्यकारणे। चारहस्ताच्च निष्पाते प्रदेष्टव्यः पराजयः ॥४॥

कौटिलीय अर्थशास्त्र धर्मस्थानीय तृ० अधि० अ० १।

विशेषार्थ—गुरु[1] का उद्धरण भी एक सरीखा अभिप्राय प्रकट करता है।

धन-संग्रहार्थ दण्डविधान करने वाले राजा की कटु-आलोचना—

स किं राजा वैद्यो वा यः स्वाजीवनाय प्रजासु दोषमन्वेषयति ॥४॥

अर्थ—जिसप्रकार अपने जीवन निर्वाह के लिए जनता के दोषों (रोगों) का अन्वेषण करनेवाला वैद्य निन्द्य है उसी प्रकार अपने जीवन निर्वाह के लिए प्रजाजनों में दोषों (अपराधों) का अन्वेषण करनेवाला राजा भी निंदनीय है ॥४॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

राजा द्वारा अग्राह्य धन—

दण्ड-द्यूत-मृत-विस्मृत-चौर-पारदारिक-प्रजाविप्लवजानि द्रव्याणि न राजा स्वयमुपयुञ्जीत ॥५॥

अर्थ—अपराधियों के जुर्माना से प्राप्त हुआ धन, जुए से प्राप्त धन, युद्ध में मरे हुए का धन, किसी का भूला हुआ धन, चोरों का धन, अनाथ स्त्री का धन या रक्षक-हीन कन्या का धन और गदर वगैरह प्रजा विलव के कारण जनता द्वारा छूटा हुआ धन, इतने प्रकार के धनों को राजा स्वयं उपयोग में न लावे ॥५॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] ने भी उक्त विषय का संक्षिप्त विवेचन किया है।

अज्ञान-युक्त दण्डनीति का दुष्परिणाम—

दुष्प्रणीतो हि दण्डः कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वा सर्वविद्वेषं करोति ॥६॥

अर्थ—निस्सन्देह काम, क्रोध और अज्ञान के वशीभूत होकर दिये हुए दुष्प्रणीत अर्थात् अन्याय-युक्त दण्ड से राजा से समस्त प्रजा अत्यधिक द्वेष करने लगती है ॥६॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] के दो उद्धरणों में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

दण्ड-विधान न करने का भयङ्कर परिणाम—

अप्रणीतो हि दण्डो मात्स्यन्यायमुत्पादयति, बलीयानबलं ग्रसति इति मात्स्यन्यायः ॥७॥

अर्थ—अपराधानुसार दण्ड न देनेवाले राजा के राज्य में निस्सन्देह 'मात्स्यन्याय' की प्रवृत्ति होती है, अर्थात्—बलवान् पुरुष निर्बल को पीड़ित करने तत्पर हो जाते हैं।

अर्थात्—जिस तरह जल में बड़ी मछली द्वारा छोटी मछली निगली जाती है, उसी तरह बलवान् पुरुषों द्वारा निर्बल पीड़ित किये जाते हैं, इसी को 'मात्स्यन्याय' कहते हैं ॥७॥

विशेषार्थ— गुरु[5] के उद्धरण में भी उक्त विषय का निरूपण है।

इति दण्डनीति समुद्देशः।

---

१. तथा च गुरुः—यो राजा धनलोभेन हीनाधिककरप्रियः। तस्य राष्ट्रं व्रजेन्नाशं न स्यात् परमवृद्धिमत् ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—यो राजा परवाक्येन प्रजादण्डं प्रयच्छति। तस्य राज्यं क्षयं याति तस्माज्ज्ञात्वा प्रदण्डयेत् ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—दुष्प्रणीतानि द्रव्याणि कोशे क्षिपति यो नृपः। स याति धनं गृह्यगृह्यार्थस्वनिर्मिर्यथा ? ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—यथा कुमित्रसंगेन सर्वं शीलं विनश्यति। तथा पापोत्थदंडेन मिश्रं नश्यति तद्धनं ॥१॥
किंचित्कामेन कोपेन किंचित्किंचिच्च जाड्यतः। तस्माद्दूरेण संत्याज्यं पापवित्तं कुमित्रवत् ॥२॥

५. तथा च गुरुः—दण्ड्यं दण्डयति नो यः पापदण्डसमन्वितः। तस्य राष्ट्रे न सन्देहो मात्स्यो न्यायः प्रकीर्तितः ॥२॥

१०. मन्त्रिसमुद्देशः

आहार्यबुद्धि राजा का लक्षण—

मन्त्रिपुरोहितसेनापतीनां यो युक्तयुक्तं करोति स आहार्यबुद्धिः ॥१॥

अर्थ—मन्त्री, पुरोहित और सेनापति के हितकारक वचनों को माननेवाले राजा को 'आहार्यबुद्धि' कहा है ॥१॥

विशेषार्थ—गुरु[1] के उद्धरण में भी मन्त्री-आदि के हितकारक वचनों की अवहेलना करनेवाले दुर्योधन की राज्य-क्षति का निरूपण किया गया है।

आहार्यबुद्धि का माहात्म्य या सत्सङ्ग की प्रतिष्ठा—

असुगन्धमपि सूत्रं कुसुमसंयोगात् किन्नारोहति देवशिरसि ? ॥२॥

अर्थ—सुगन्धि-रहित भी तन्तु (डोरा) पुष्पों के सम्पर्क से क्या देवताओं के मस्तक पर आरोहण नहीं करता ? अर्थात्—जिसतरह पुष्पमाला के सम्पर्क से डोरों की श्रेणी देवताओं के शिर पर धारण की जाती है उसीप्रकार साधारण बुद्धि वाला राजा भी राजनीति वेत्ता मन्त्री-आदि के सम्पर्क से शत्रुओं द्वारा अजेय हो जाता है ॥२॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव का उद्धरण भी समान-आशय का निरूपक है।

उदाहरणमाला द्वारा सत्सङ्ग की प्रतिष्ठा—

महद्भिः पुरुषैः प्रतिष्ठितोऽश्मापि भवति देवः किं पुनर्मनुष्यः ॥३॥

अर्थ—विशिष्ट विद्वान् पुरुषों द्वारा प्रतिष्ठित किया हुआ पाषाण भी जब देवत्व को प्राप्त हो जाता है तब पुनः मनुष्य के विषय में कहना ही क्या है ? अर्थात्—साधारण बुद्धिवाला मानव महापुरुषों के संयोग से महत्व प्राप्त करता है ॥३॥

हारीत[3] के उद्धरण में भी उक्त विषय का एकसरीखा विवेचन है।

उक्त विषय का इतिहास प्रमाण द्वारा समर्थन—

तथा चानुश्रूयते विष्णुगुप्तानुग्रहादनधिकृतोऽपि किल चन्द्रगुप्तः साम्राज्यपदमवापेति ॥४॥

अर्थ—जैसा कि इतिहास बताता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य* (सम्राट् नन्द के पुत्र) ने स्वयं राज्यपद का

---

१. तथा च गुरुः—यो राजा मंत्रिपूर्वाणां न करोति हितं वचः । स शीघ्रं नाशमायाति यथा दुर्योधनो नृपः ॥१॥

२. तथा च वल्लभदेवः—उत्तमानां प्रसङ्गेन लघवो यान्ति गौरवम् । पुष्पमाला प्रसङ्गेन सूत्रं शिरसि धार्यते ॥१॥

३. तथा च हारीतः—पाषाणोऽपि च विबुधःस्थापितो यैः प्रजायते । उत्तमैः पुरुषैस्तैस्तु किं न स्यान्मानुषोऽपरः ॥१॥

*. इतिहास बताता है कि ३२२ ई० पूर्व में नन्दवंश का राजा महापद्मनन्द मगध का सम्राट् था । नन्दवंश के राजा अत्याचारी शासक थे, इसलिए उनकी प्रजा उनसे अप्रसन्न होगई और अन्त में विष्णुगुप्त (चाणक्य नाम के ब्राह्मण विद्वान्) की सहायता से इस वंश के अन्तिम राजा को उसके सेनापति चन्द्रगुप्त मौर्य ने ३२२ ई० पूर्व में राजगद्दी से उतार दिया और स्वयं राजा बन बैठा । मेगास्थनीज नामके यूनानी राजदूत ने, जो कि चन्द्रगुप्त के दरबार में रहता था, चन्द्रगुप्त के शासन के प्रबन्ध की बड़ी प्रशंसा की है । चन्द्रगुप्त ने २४ वर्ष पर्यन्त नीति न्यायपूर्वक राज्य

अधिकारी न होनेपर भी विष्णुगुप्त (चाणक्य विद्वान्) के अनुग्रह (प्रसाद) से साम्राज्य-पद प्राप्त किया ॥४॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] के उद्धरण में भी आर्य चाणक्य की कृपा से चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा राज्यश्री प्राप्त करने का उल्लेख है।

मन्त्रिपद के लिए अपेक्षित गुण—

ब्राह्मणक्षत्रियविशामेकतमं स्वदेशजमाचाराभिजनविशुद्धमव्यसनिनमव्यभिचारिणमधीताखिल-व्यवहारतन्त्रमस्त्रज्ञमशेषोपाधिविशुद्धं च मन्त्रिणं कुर्वीत ॥५॥

अर्थ—मन्त्री-माहात्म्य के वेत्ता राजा को या प्रजा को निम्न प्रकार के गुणों से विभूषित मन्त्री नियुक्त करना चाहिए—जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों में से किसी एक वर्ण का हो किन्तु शूद्र न हो, जो अपने देश का निवासी हो किन्तु विदेश का रहनेवाला न हो, सदाचारी हो अर्थात्—दुष्कर्मों में प्रवृत्ति करनेवाला न हो, किन्तु पवित्र आचरण वाला हो। जो कुलीन हो, अर्थात् जिसका वंश विशुद्ध हो, जो व्यसनो न हो, अर्थात्—जो जुआ खेलना, मद्यपान करना और परस्त्री सेवन-आदि व्यसनों से दूर हो। जो द्रोह करने-वाला न हो, अर्थात्—जो दूसरे राजा से मिला हुआ न हो और केवल अपने स्वामी में ही श्रद्धा रखता हो। जो समस्त व्यवहार विद्या में निपुण हो, अर्थात्—जिसने समस्त नीतिशास्त्रों व धर्मशास्त्रों का रहस्य जान लिया हो। जो अस्त्र-शस्त्र विद्या में निपुण हो और जो शत्रु-चेष्टा की परीक्षा मे निपुण हो अथवा समस्त प्रकार के छल-कपट से रहित हो। अर्थात् दूसरे के छल-कपट का जाननेवाला होकर के भी स्वयं कपट करनेवाला न हो ॥५॥

स्वदेशवासी गुण का महत्व—

समस्तपक्षपातेषु स्वदेशपक्षपातो महान् ॥६॥

अर्थ—समस्त पक्षपातो में अपने देश का पक्षपात महान् है ॥६॥

विशेषार्थ—हारीत[2] के उद्धरण में भी उक्त उल्लेख है।

दुराचार का दुष्परिणाम—

विषनिषेक इव दुराचारः सर्वान् गुणान् दूषयति ॥७॥

शासन किया। कथासरितसागर में लिखा है कि नन्द राजा के पास ९९ करोड़ सुवर्णमुद्राएँ थी, अतएव इसका नाम नवनन्द था। चाणक्य ने विषकन्या के प्रयोग से इसी नंद को मरवा कर चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध की राजगद्दी पर आसीन किया। किन्तु इतने विशाल साम्राज्य के अधिपति की मृत्यु के बाद सरलता पूर्वक उक्त साम्राज्य को हस्तगत करना टेढ़ी खीर थी। क्योंकि नन्द के मन्त्री राक्षस-आदि उसकी मृत्यु के बाद उसके वंशजों को राजगद्दी पर बिठाकर मगध साम्राज्य को उसी वंश में रखने की निरन्तर चेष्टा करते रहे। इन मन्त्रियों ने बड़ी दृढ़ता से चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त की सम्मिलित शक्ति का घोर विरोध किया। कवि विशाखदत्त मुद्राराक्षस में लिखते है—कि शक, यवन, कम्बोज और पारसीक-आदि जाति के राजा चन्द्रगुप्त ओर पर्वतेश्वर की सहायता कर रहे थे। तथापि नन्दवंश के मन्त्रियों ने चन्द्रगुप्त को करीब ५-६ वर्षो तक पाटलिपुत्र में प्रवेश नही करने दिया। किन्तु कौटिल्य (चाणक्य) की कुटिल नीति के सामने इन्हें सिर झुकाना पड़ा। अन्त में विजयी चन्द्रगुप्त ने आर्य चाणक्य की सहायता से नन्दवंश का मूलोच्छेद करके सुगांगप्रासाद में विशेष समारोह के साथ प्रवेश किया।

१. तथा च शुक्रः—महामात्यं वरो राजा निर्विकल्पं करोति यः। एकशोऽपि महीं लेभे हीनोऽपि वृहलो यथा ॥१॥

२. तथा च हारीतः—स्वदेशजममात्यं यः कुरुते पृथिवीपतिः। आपत्कालेन सम्प्राप्तेन स तेन विमुच्यते ॥१॥

अर्थ—दुराचार व्यक्ति के समस्त गुणों को उस प्रकार नष्ट कर देता है जिस प्रकार विष-भक्षण शरीर को जीवन-शक्ति नष्ट कर देता है ॥७॥

विशेषार्थ—अत्रि[1] के उद्धरण में भी उक्त उल्लेख है—

नीच कुलवाला मन्त्री—

दुष्परिजनो मोहेन कुतोऽप्यपकृत्य न जुगुप्सते ॥८॥

अर्थ—नीच कुल का मन्त्री राजा से द्रोह करके भी अज्ञान-वंश किसी से लज्जा का अनुभव नहीं करता ॥८॥

विशेषार्थ—यम[2] का उद्धरण भी सदृश-अभिप्राय का प्रदर्शक है।

व्यसनी मन्त्री से राजा की हानि—

सव्यसनसचिवो राजारूढव्यालगज इव नासुलभोऽपायः ॥९॥

अर्थ—जिस राजा का मन्त्री व्यसनशील है, अर्थात्—जुआ, मद्यपान और परस्त्री-सेवन-आदि व्यसनों में फँसा हुआ है उसका नाश उस प्रकार दुर्लभ नहीं होता, अर्थात्—सुलभ होता है जिस प्रकार दुष्ट हाथी पर आरोहण करनेवाले मानव का नाश दुर्लभ नहीं होता, अर्थात्—सुलभ होता है ॥९॥

स्वामिद्रोही मन्त्री से हानि—

किं तेन केनापि यो विपदि नोपतिष्ठते ॥१०॥

अर्थ—उस मन्त्री मित्र या सेवक से क्या लाभ ? जो विपत्ति के अवसर पर अपने स्वामी या मित्र की सहायता नहीं करता, किन्तु उल्टा उससे द्रोह करता है, चाहे वह कितना ही विद्वान् और व्यवहार-कुशल ही क्यों न हो ॥१०॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] विद्वान् का उद्धरण भी समान अर्थ का वाचक है।

उक्त बात का समर्थन—

भोज्येऽसम्मतोऽपि हि सुलभो लोकः* ॥११॥

अर्थ—निस्सन्देह भोजन की बेला मे तो बिना निमन्त्रण के आनेवाले लोग भी सुलभ होते है। अर्थात्—सुख के समय सभी लोग सहायक हो जाते है किन्तु दुःख में कोई सहायक नही होता। अतः विपत्ति में सहायता करनेवाला व्यक्ति ही राज-मन्त्री पद के योग्य होता है अन्य नहीं ॥११॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[4] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

१. तथा च अत्रिः—दुराचारममात्यं य. कुरुते पृथिवीपतिः। भूपाहींस्तस्य मन्त्रेण गुणान् सर्वान् प्रणाशयेत् ॥१॥

२. तथा च यमः—अकुलीनस्य नो लज्जा स्वामिद्रोहे कृते सति। [मन्त्रिणं कुलहीनं च तस्मान्न स्थापयेद् बुध.] ॥१॥

संशोधित—

३. तथा च शुक्र —किं तेन मन्त्रिणा योऽत्र व्यसने समुपस्थिते। व्यभिचारं करोत्येव गुणैः सर्वैर्युतोऽपि वा ॥१॥

* 'पात्रसमितौ हि सुलभो लोक.' ग घ च प्रतिषु पाठ.।

४. तथा च वल्लभदेवः—समृद्धिकाले संप्राप्ने परोऽपि स्वजनायते। अकुलीनोऽपि चामात्यो दुर्लभः स महीभृताम् ॥१॥

व्यवहार-पटुता आवश्यक—

किं तस्य भक्त्या यो न वेत्ति स्वामिनो हितोपायमहितप्रतीकारं वा ॥१२॥

अर्थ—जो मन्त्री अपने स्वामी की उन्नति के उपाय (कोश-वृद्धि-आदि) और दुःखों का प्रतीकार (शत्रु-नाश-आदि) को नहीं जानता उस मन्त्री की केवल भक्ति से क्या लाभ ? अर्थात्—जो व्यक्ति राजा का हित-साधन और अहित-प्रतीकार के उपाय नहीं जानता उसे राजमन्त्री पद पर आसीन करने से कोई लाभ नहीं ॥१२॥

विशेषार्थ—गुरु[1] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

शास्त्रवेत्ता होकर के भी कायरता दिखानें वाले मन्त्री की अनुपयोगिता—

किं तेन सहायेनास्त्रज्ञेन मन्त्रिणा यस्यात्मरक्षणेऽप्यस्त्रं न प्रभवति ॥१३॥

अर्थ—जिसका शस्त्र (खड्ग-आदि) अपनी रक्षा करने में भी समर्थ नहीं है, ऐसे शस्त्रविद्या में प्रवीण सहायक मन्त्री से राजा का क्या लाभ हो सकता है ? ॥१३॥

उपधा का लक्षण—

धर्मार्थकामभयेषु व्याजेन परिचित्तपरीक्षणमुपधा ॥१४॥

अर्थ—शत्रु के धर्म, अर्थ, काम और भय की जानकारी के लिए, अर्थात्—अमुक शत्रुभूत राजा धार्मिक है ? अथवा अधार्मिक है ? उसके खजाने में प्रचुर सम्पत्ति है ? अथवा नहीं ? वह कामान्ध है ? अथवा जितेन्द्रिय है ? वह बहादुर है ? अथवा डरपोंक है ? इत्यादि ज्ञान प्राप्त करने के लिए—गुप्तचरों द्वारा छल से शत्रुचेष्टा की परीक्षा करना यह उपधा नाम का राजमंत्री का प्रधान गुण है।

भावार्थ—राजनीति वेत्ता मन्त्री का कर्तव्य है कि शत्रुभूत राजा की धर्मनिष्ठा या धर्मशून्यता के ज्ञान के लिए धर्म-विद्या में निपुण गुप्तचर को उसके यहाँ भेजकर उसकी राजपुरोहित से मित्रता करावे और गुप्तचर से कह रक्खे कि उसकी धार्मिकता या पापनिष्ठा की हमें शीघ्र खबर दो। तदनन्तर शत्रुभूत राजा की धार्मिकता का निश्चय होने पर मन्त्री को अपने राजा से मिलकर उस शत्रु राजा से सन्धि कर लेनी चाहिए। यदि वह पापी प्रतीत हो तो उससे युद्ध करके अपने राज्य को श्री वृद्धि कर लेनी चाहिए। यह मन्त्री का 'धर्मोपधा' नाम का प्रशस्त गुण है।

अर्थोपधा—इसी प्रकार मन्त्री अर्थ में निपुण गुप्तचर को अपने देश की वस्तुएँ लेकर बेंचने के बहाने से शत्रु के देश में भेजे। वह वहाँ जाकर शत्रु राजा के कोषाध्यक्ष से मित्रता करके कोश की शुद्धि का निश्चय करे। पश्चात् वापिस आकर मन्त्री को सूचित कर देवे। यदि शत्रु राजा के पास प्रचुर धन-राशि है तो मन्त्री को उससे सन्धि कर लेनी चाहिए। यदि शत्रु का खजाना खाली हो रहा हो तो उससे विग्रह करके राज्य की वृद्धि करनी चाहिए।

कामोपधा—इसी प्रकार काम शास्त्र में प्रवीण गुप्तचर को भेजकर उसकी कंचुकी के साथ मित्रता कराके कामशुद्धि का निश्चय करे। यदि शत्रु राजा कामी हो तो उससे युद्ध करना उचित है और यदि जितेन्द्रिय है तो संधि करने के योग्य है।

भयोपधा—इसी प्रकार मन्त्री को शत्रु राजा के यहाँ शूरवीर और युद्ध-कला में प्रवीण गुप्तचर भेजकर उसकी शत्रु के सेनापति से मित्रता करवा कर शत्रु राजा को वीरता या भीरूपन का निश्चय करे। यदि शत्रु

---

१. तथा च गुरुः—किं तस्य व्यवहारार्थैर्विज्ञातैः शुभकैरपि। यो न चिन्तयते राज्ञो धनोपायं रिपुक्षयं ॥१॥

राजा डरपोंक हो तो मन्त्री को उसके साथ युद्ध छेड़ना चाहिए और यदि बहादुर हो तो उससे सन्धि कर लेनी चाहिए ॥१४॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

उदाहरणपूर्वक अकुलीन मन्त्री के दोष—

अकुलीनेषु नास्त्यपवादाद्भयम् ॥१५॥

अर्थ—नीच कुल वाले मन्त्री अपनी अपकीर्ति से नहीं डरते, अतः वह कभी राजा का अनर्थ भी कर सकता है ॥१५॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[2] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

अलर्कविषवत् कालं प्राप्य विकुर्वते विजातयः ॥१६॥

अर्थ—नीच कुलवाले मन्त्री लोग कालान्तर में उस प्रकार अपना विकृत रूप प्रदर्शित करते हैं जिस प्रकार पागल कुत्ते का जहर वर्षाकाल में अपना विकृत रूप प्रदर्शित करता है ॥१६॥

विशेषार्थ—वादरायण[3] के उद्धरण में भी उक्त विषय का निर्देश है।

कुलीन के गुण—

तदमृतस्य विषत्वं यः कुलीनेषु दोषसम्भवः ॥१७॥

अर्थ—कुलीन पुरुषों या मंत्रियों में विश्वास-घात-आदि दोषों का होना अमृत के विष हो जाने के सरीखा है। अर्थात्—जिसप्रकार अमृत विष नहीं हो सकता उसीप्रकार उच्च कुलवालों मे भी विश्वासघात-आदि दोष नहीं हो सकते ॥१७॥

विशेषार्थ—रैभ्य[4] का उद्धरण भी समानार्थक है।

ज्ञानी होने पर भी मंत्री के ज्ञान की व्यर्थता—

घटप्रदीपवत्तज्ज्ञानं मंत्रिणो यत्र न परप्रतिबोधः ॥१८॥

अर्थ—जिस ज्ञान के द्वारा दूसरों को समझाकर स मार्ग पर न लगाया जा सके वह मन्त्री या विद्वान् का ज्ञान घट में जलाकर स्थापित किये हुए दीपक-सरीखा व्यर्थ है। अर्थात्—जिसप्रकार उजालकर घड़े के भीतर स्थापित किया हुआ दीपक केवल घड़े को ही प्रकाशित करता है परन्तु वाह्यदेश में रहनेवाले पदार्थों को प्रकाशित नहीं करता, इसलिए वह व्यर्थ समझा जाता है, उसीप्रकार मन्त्री अपने राजा को और विद्वान् दूसरों को समझाने की कला में यदि प्रवीण नहीं है तो उसका ज्ञान भी निरर्थक है ॥१८॥

विशेषार्थ—वर्ग[5] का उद्धरण भी समानार्थक है।

भयभीत मन्त्री या विद्वान् की निरर्थकता—

तेषां शस्त्रमिव शास्त्रमपि निष्फलं येषां प्रतिपक्षदर्शनाद्भयमन्वयन्ति चेतांसि ॥१९॥

---

१. तथा च शुक्रः—ज्ञात्वा चरैयः कथितोऽरिर्गम्यो। धर्मार्थहीनो विपयी सुभीरुः॥ पुरोहितार्थाधिपतेः सकाशात्। स्त्रीरक्षकात्सैन्यपतेः सः कार्यः॥१॥

२. तथा च वल्लभदेवः—कथंचिदपवादं स न वेत्ति कुलवर्जितः। तस्मात्तु भूभुजा कार्यो मन्त्री न कुलवर्जितः॥१॥

३. तथा च वादरायणः—अमात्याः कुलहीना ये पार्थिवस्य भवन्ति ते। आपत्काले विरुद्धयन्ते स्मरन्तः पूर्वदुष्कृतम्॥१॥

४. तथा च रैभ्यः—यदि स्याच्छीतलो वह्निः सोष्णस्तु रजनीपतिः। अमृतं च विषं भावि तत्कुलीनेषु विक्रिया॥१॥

५. तथा च वर्गः—सुगुणाढ्योऽपि यो मंत्री नृपं शक्तो न बोधितुं। [निरर्थका भवन्त्यन्ते] गुणा घटप्रदीपवत्॥१॥

अर्थ—जिन वीर पुरुषों के चित्त शत्रुओं को देखकर भयभीत होते हैं उनका शस्त्रधारण जिसप्रकार व्यर्थ है उसीप्रकार जिन विद्वानों के चित्त वादियों को देखकर भयभीत हो जाते हैं उनका शास्त्रज्ञान भी व्यर्थ है ॥१९॥

विशेषार्थ—वादरायण[1] के उद्धरण में भी उक्त बात का स्पष्टीकरण है।

जिस स्थिति में शस्त्र और शास्त्र निरर्थक होते हैं—

तच्छस्त्रं शास्त्रं वात्मपरिभवाय यन्न हन्ति परेषां प्रसरं* ॥२०॥

अर्थ—जिसका शस्त्र और शास्त्र दूसरों के आक्रमण को न रोक सके वह अपने ही पराजय का कारण होता है ॥२०॥

विशेषार्थ—नारद[2] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

उक्त विषय का उदाहरण—

न हि गली वलीवर्दो भारकर्मणि केनापि युज्यते ॥२१॥

अर्थ—निस्सन्देह कोई भी पुरुष गाय के बछड़े को या सुस्त बैल को बोझा ढोने में उपयोग नहीं करता। अर्थात्—उसीप्रकार उत्साह-हीन व्यक्ति भी मन्त्री पद के लिए योग्य नहीं होता ॥२१॥

राजा के लिए मन्त्रणा की आवश्यकता—

मंत्रपूर्वः सर्वोऽप्यारंभः क्षितिपतीनाम् ॥२२॥

अर्थ—राजाओं को अपने समस्त राजकीय कार्यों (सन्धि-आदि) का प्रारम्भ मंत्रियों की मन्त्रणा पूर्वक करना चाहिए ॥२२॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

मन्त्रणा शक्ति का महत्व—

अनुपलब्धस्य ज्ञानमुपलब्धस्य निश्चयो निश्चितस्य बलाधानमर्थद्वैधस्य संशयच्छेदन-मेकदेशदृष्टस्याशेषोपलब्धिरिति मंत्रसाध्यमेतत् ॥२३॥

अर्थ—निम्नप्रकार पाँच पदार्थ, राजाओं को मन्त्रणा से साध्य होते हैं।

१. अप्राप्त वस्तु भूमि, देश व कोश-आदि का अनुसन्धान करना, अथवा अज्ञात शत्रु-सैन्य-आदि का गुप्तचरों द्वारा ज्ञान करना, २. उपलब्ध के विषय में पूर्ण निश्चय करना अथवा प्राप्त हुई भूमि-आदि को स्थिर करने का निश्चय करना। ३. निश्चित पदार्थ को दूसरे प्रमाणों से दृढ़ करना। ४. संशयात्मक विषय में संशय दूर करना, उदाहरण के रूप में—शत्रुभूत राजा के देश से आये हुए पहले गुप्तचर ने शत्रु-सैन्य-आदि के विषय में कुछ और कहा तथा दूसरे ने उसके विपरीत कह दिया ऐसे संदिग्ध विषय में तीसरे विश्वास पात्र गुप्तचर को भेजकर संशय का निवारण करना। और ५ वाँ एक देश प्राप्त किये हुए भूमि-आदि पदार्थों को पूर्ण प्राप्त करना अथवा किसी कार्य का एक देश जान लेने पर शेष भाग को भी जान लेना ॥२३॥

१. तथा च वादरायणः—यथा शस्त्रज्ञस्य शस्त्रं व्यर्थं रिपुकुलाद्भयात्। शास्त्रज्ञस्य तथा शास्त्रं प्रतिवादिभयाद्भवेत् ॥१॥

* 'न तच्छस्त्रं शास्त्रं वा, आत्मपरिभवाभावाय यन्न हन्ति परेषां प्रसरं' ग घ च प्रतिषु पाठः।

२. तथा च नारदः—शत्रोर्वा वादिनो वाऽपि शास्त्रं शैवामुखेन वा। विद्यमानं न हन्याद्यो वेगं स लघुतां व्रजेत् ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—अमन्त्रसचिवैः सार्द्धं यः कार्यं कुरुते नृपः। तस्य तन्निष्फलं भावि षण्ढस्य सुरतं यथा ॥१॥

विशेषार्थ—गुरु[1] ने भी इसी तरह कहा है।

सुयोग्य मन्त्रियों के लक्षण—

अकृतारम्भमारब्धस्याप्यनुष्ठानमनुष्ठितविशेषं विनियोगसम्पदं च ये कुर्युस्ते मंत्रिणः ॥२४॥

अर्थ—जो विना प्रारम्भ किए हुए अर्थात्—नये-नये कार्यों का प्रारम्भ कर सकें, प्रारम्भ किये हुए कार्यों को चालू रख सकें और जो कार्य पूर्ण हो चुके हों, उनमें कुछ विशेषता लावें तथा अपने अधिकार का उचित स्थान में प्रभाव प्रदर्शित कर सकें उन्हें 'मन्त्री' कहते हैं ॥२४॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] का उद्धरण भी उक्त सिद्धान्त की पुष्टि करता है।

मन्त्रणा के पाँच अङ्ग—

कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसंपद्देशकालविभागो विनिपातप्रतीकारः कार्यसिद्धिश्चेति पञ्चाङ्गो मन्त्रः ॥२५॥

अर्थ—मन्त्रणा के पाँच अङ्ग हैं—१ कार्य के प्रारम्भ करने के साधन, २ पुरुष और द्रव्यसम्पत्ति, ३ देश और काल का विभाग, ४ विनिपात प्रतीकार और ५ कार्यसिद्धि।

१ काय-प्रारम्भ करने का उपाय—जैसे अपने राष्ट्र को शत्रुओं से सुरक्षित रखने के लिए उसमें खाई, परकोटा और दुग-आदि निर्माण करने के साधनों का विचार करना और दूसरे देश में शत्रुभूत राजा के यहाँ सन्धि व विग्रह आदि के उद्देश्य से गुप्तचर व दूत भेजना आदि कार्यों के साधनों पर विचार करना।

किसी नीतिवक्ता[3] के उद्धरण में भी उक्त बात का निरूपण है।

२. पुरुष और द्रव्यसम्पत्ति—सैन्यशक्ति और कोश बल के विषय में विचार करना अथवा अमुक पुरुष अमुक कार्य करने में निपुण है, यह जानकर उसे उस कार्य में नियुक्त करना तथा द्रव्यसम्पत्ति कि इतने धन से अमुक योजना सिद्ध होगी।

विशेषार्थ—किसी नीतिवेत्ता[4] के उद्धरण द्वारा उक्त विषय की पुष्टि होती है।

३. देशकाल विभाग—अर्थात्—कार्य-सिद्धि में अनुकूल प्रतिकूल स्थान का और अनुकूल प्रतिकूल समय का निर्णय करना।

विशेषार्थ—किसी नीतिवेत्ता[5] ने भी कार्यसिद्धि में प्रतिकूल देश व प्रतिकूल काल से होनेवाली हानि का निरूपण किया है।

४. विनिपात प्रतीकार—आनेवाली आपत्ति के दूर करने के साधन जुटा लेना।

विशेषार्थ—किसी नीतिवेत्ता[6] ने भी आपत्ति से बचने का उपाय निर्देश किया है।

५. कार्यसिद्धि—उन्नति, अवनति और सम-अवस्था यह तीन प्रकार की कार्यसिद्धि है। जिन सामादि

---

१. तथा च गुरुः—अज्ञातं शत्रुसैन्यं च चरैर्ज्ञेयं विपश्चिता। तस्य विज्ञातमध्यस्य कार्यं सिद्धं नवेति च ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—दर्शयन्ति विशेषं ये सर्वकर्मसु भूपतेः। स्वाधिकारप्रभावं च मन्त्रिणस्तेऽन्यथा परे ॥१॥

३. उक्तं च यतः—कार्यारम्भेषु नोपायं तत्सिद्ध्यर्थं च चिन्तयेत्। यः पूर्वं तस्य नो सिद्धिं तत्कार्यं याति कर्हिचित् ॥१॥

४. उक्तं च यतः—समर्थं पुरुषं कृत्ये तदर्हं च तथा धनम्। योजयेद्यो न कृत्येषु तत्सिद्धिं तस्य नो व्रजेत् ॥१॥

५. उक्तं च यतः—यथाऽत्र सैन्धवस्तोये स्थले मत्स्यो विनश्यति। शीघ्रं तथा महीपालः कुदेशं प्राप्य सीदति ॥१॥
यथा काको निशाकाले कौशिकश्च दिवा चरन्। स विनश्यति कालेन तथा भूपो न संशयः ॥२॥

६. उक्तं च यतः—आपत्काले तु सम्प्राप्ते यो न मोहं प्रगच्छति। उद्यमं कुरुते शक्त्या स तां नाशयति ध्रुवं ॥१॥

उपायों से विजिगीषु राजा अपनी उन्नति शत्रु की अवनति या दोनों की सम-अवस्था को प्राप्त हो, यह कार्य-सिद्धि नाम का पंचम मन्त्राङ्ग है ॥२५॥

विशेषार्थ—किसी नीतिवेत्ता[1] ने भी कार्यसिद्धि के उपाय निर्देश किये हैं।

मन्त्रणा-योग्य स्थान—

आकाशे प्रतिशब्दवति चाश्रये मंत्रं न कुर्यात् ॥२६॥

अर्थ—चारों तरफ से खुले हुए स्थान में तथा पर्वत व गुफा-आदि स्थानों में जहाँ पर प्रतिध्वनि होती हो, मन्त्रणा नहीं करनी चाहिए ॥२६॥

विशेषार्थ—गुरु[2] का उद्धरण भी उक्त विषय का समर्थक है।

मन्त्र-भेद के साधन—

मुखविकारकराभिनयाभ्यां प्रतिध्वानेन वा मनःस्थमप्यर्थमभ्यूहन्ति विचक्षणाः ॥२७॥

अर्थ—चतुर पुरुष मन्त्रणा करनेवालों के मुख की चेष्टाओं से, हस्तादि के संचालन से तथा प्रतिध्वनि रूप शब्द से मन में रहने वाले गुप्त अभिप्राय को जान लेते हैं ॥२७॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[3] का उद्धरण भी समानार्थक है।

मन्त्रणा को सुरक्षित रखने की अवधि—

आकार्यसिद्धे रक्षितव्यो मन्त्रः ॥२८॥

अर्थ—जब तक कार्य सिद्ध न हो जाय तब तक मन्त्रणा गुप्त रखनी चाहिए ॥२८॥

विशेषार्थ—विदुर[4] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

मन्त्रणा के लिए आवश्यक विचार—

दिवा नक्तं वाऽपरीक्ष्य मन्त्रयमाणस्याभिमतः प्रच्छन्नो वा भिनत्ति मन्त्रम् ॥२९॥

अर्थ—दिन या रात्रि का विचार किये बिना ही मन्त्रणा करनेवाले को गुप्त मन्त्रणा का रहस्य अपना अनुकूल व्यक्ति या छिपा हुआ व्यक्ति प्रकट कर देता है ॥२९॥

श्रूयते किल रजन्यां वटवृक्षे प्रच्छन्नो वररुचिर-प्र-शि-खेति पिशाचेभ्यो वृत्तान्तमुपश्रुत्य चतुरक्षराद्यैः पादैः श्लोकमेकं चकारेति ॥३०॥

अर्थ—ऐसा सुना जाता है कि निस्सन्देह रात्रि में वटवृक्ष के ऊपर छिपकर बैठे हुए वररुचि ने, पिशाचों द्वारा 'अ-प्र-शि-ख' इन चार अक्षरों से संबंध रखनेवाला वृत्तान्त सुनकर इन चार अक्षरों से प्रारम्भ होनेवाले चार पादों वाले एक श्लोक की रचना की* ॥३०॥

१. उक्तं च यतः—सामादिभिरुपायैर्यो कार्यसिद्धिं प्रचिन्तयेत् । न निर्वेगं क्वचिद्याति तस्य तत् सिद्धयति ध्रुवं ॥१॥
२. तथा च गुरुः—निराश्रयप्रदेशे तु मन्त्रः कार्यो न भूभुजा । प्रतिशब्दो न यत्र स्यान्मन्त्रसिद्धिं प्रवाञ्छता ॥१॥
३. था च वल्लभदेवः—आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च । नेत्रवक्त्रविकारेण गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥१॥
४. तथा च विदुरः—[एकं विषरसो हन्ति] शस्त्रेणैकश्च वध्यते । सराष्ट्रं सप्रजं हन्ति राजानं मन्त्रविप्लवः ॥१॥
*. तथा च वररुचिः—अनेन तव पुत्रेण प्रसुप्तस्य वनान्तरे । शिखामाक्रम्य पादेन खड्गेनोपहृतं शिरः ॥१॥

अर्थात्—इसी तुम्हारे पुत्र ने अर्थात्—नन्दराजा के पुत्र हिरण्यगुप्त ने बन में सोते हुए मनुष्य की चोटी पैर से दबाकर खड्ग से उसका शिर काट डाला।

उक्त कथा—

एक समय नन्दराजा का पुत्र हिरण्यगुप्त नामक राजकुमार बन में क्रीड़ा करने के लिए दूर निकल गया, इससे रात्रि मे घर वापिस न आ सका। उसने वहाँ रात्रि मे सोए हुए पुरुष को, जो कि इसका मित्र था, खड्ग से मार डाला। मरते समय राजकुमार के मित्र ने 'अ-प्र-शि-ख' इन चार अक्षरों वाला पद उच्चारण किया और उसकी मृत्यु हो जाने पर राजकुमार को पश्चाताप हुआ, अर्थात् मित्र के साथ द्रोह करने के पाप से राजकुमार प्रचुर शोक के कारण पागल की तरह व्याकुलित होकर कुछ काल तक स्वय उसी जगल मे भटकता रहा। पश्चात् राजकर्मचारियों द्वारा यहाँ वहाँ ढूंढे जाने पर मिला और इसलिए वे उसे नदराजा के पास लेगए।

वह राजसभा मे लाया गया। वहाँ पर शोक से पीड़ित होकर अ-प्र-शि-ख चार अक्षरों का बार बार उच्चारण कर क्षुब्ध हो रहा था।

नदराजा ने उसके अर्थ को न समझ कर मन्त्री-पुरोहित-आदि से पूँछा कि इसके द्वारा उच्चारण किये हुए अ-प्र-शि-ख पद का क्या अर्थ है? परन्तु उसका अर्थ न समझने के कारण लोग चुपकी साध गए। परन्तु उनमे से 'वररुचि' मन्त्री बोला-राजन्। एक दो दिन के पश्चात् मै इसका अर्थ बतलाऊँगा। ऐसी प्रतिज्ञा करके वह रात्रि में उसी बन में बट-वृक्ष के नीचे जाकर छिप गया। वहाँ पर उसने पिशाचो द्वारा उक्त वृत्तान्त सुना, अर्थात्-हिरण्यगुप्त राजकुमार द्वारा रात्रि मे सोते हुए पुरुष का खड्ग से सिर काटे जाने का वृत्तान्त सुना। पश्चात् प्रसङ्ग का ज्ञान हो जाने से उसने उक्त श्लोक के प्रत्येक चरण के एक एक अक्षर से अर्थात् चारो चरणों के चार अक्षरों से राजसभा में जाकर उक्त श्लोक बना दिया, जिसका अर्थ उपरोक्त है।

मन्त्रणा के अयोग्य व्यक्ति

न तैः सह मंत्रं कुर्यात् येषां पक्षीयेष्वपकुर्यात् ॥३१॥

अर्थ—जिनके बन्धु-आदि कुटुम्बियो का अपकार (अहित) किया गया है उनके साथ मन्त्रणा नही करे ॥३१॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

अनायुक्तो मन्त्रकाले न तिष्ठेत् ॥३२॥

अर्थ—मन्त्रणा के समय विना बुलाया गया कोई भी व्यक्ति वहाँ न ठहरे ॥३२॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] का उद्धरण भी उक्त विषय को प्रदर्शित करता है।

तथा च श्रूयते शुकसारिकाभ्यामन्यैश्च तिर्यग्भिर्मन्त्रभेदः कृतः ॥३३॥

अर्थ—सुना जाता है कि तोता, मैना तथा दूसरे पशुपक्षियो ने मन्त्रणा का रहस्य प्रकट कर दिया ॥३३॥

मन्त्र-भेद का दुष्परिणाम—

मन्त्रभेदादुत्पन्नं व्यसनं दुष्प्रतिविधेयं स्यात् ॥३४॥

---

१ तथा च शुक्र—येषा वधादिक कुर्यात् पार्थिवश्च विरोधिना। तेषा सम्बन्धिभि' सार्धं मन्त्र कार्यो न कर्हिचित् ॥१॥

२. तथा च शुक्र—यो राज्ञो मन्त्रवेलायामनाहूत प्रगच्छति। अतिप्रसादयुक्तोऽपि विप्रियत्वं व्रजेद्धि सः ॥१॥

अर्थ—मन्त्रणा का रहस्य प्रकट हो जाने से जो संकट उत्पन्न होता है, वह कठिनाई से भी नष्ट नहीं हो सकता ॥३४॥

विशेषार्थ—गर्ग[1] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

मन्त्र-भेद के कारण—

इङ्गितमाकारो मदः प्रमादो निद्रा मन्त्रभेदकारणानि ॥३५॥

अर्थ—निम्नप्रकार पाँच मन्त्र-भेद के कारण हैं, अतः उनसे सदा सावधान रहे।

१. इङ्गित अर्थात्-हस्त व नेत्र-आदि का इशारा, २. मुख और शरीर की आकृति, ३. शराब पीना, ४. असावधानी करना और ५ निद्रा ॥३५॥

इङ्गितमन्यथावृत्तिः ॥३६॥

अर्थ—हृदय के गुप्त अभिप्राय को प्रकट करनेवाली शारीरिक चेष्टा 'इङ्गित' है। अथवा स्वाभाविक क्रियाओं से भिन्न क्रियाओं के करने को 'इङ्गित' कहते हैं ॥३६॥

कोपप्रसादजनिता शारीरी विकृतिराकारः ॥३७॥

अर्थ—क्रोध से उत्पन्न होनेवाली भयङ्कर आकृति और प्रसन्नता से होने वाली सौम्य आकृति को 'आकार' कहते हैं ॥३७॥

पानस्त्रीसंगादिजनितो हर्षो मदः ॥३८॥

अर्थ—मद्यपान और स्त्रीसंभोग से होनेवाला हर्ष मद है ॥३८॥

प्रमादो गोत्रस्खलनादिहेतुः ॥३९॥

अर्थ—अपना या दूसरे का नाम भूल जाना या उसका अन्यथा कहना-आदि के कारण असावधानी करने को 'प्रमाद' कहते हैं ॥३९॥

अन्यथा चिकीर्षतोऽन्यथावृत्तिर्वा प्रमादः ॥४०॥

अर्थ—करने योग्य इच्छित कार्य को छोड़कर दूसरा कार्य करने लगना ऐसी असावधानता रूप प्रवृत्ति 'प्रमाद' है ॥४०॥

निद्रान्तरितो निद्रितः ॥४१॥

अर्थ—गाढ़ नींद में व्याप्त होना 'निद्रा' है।

भावार्थ—उक्त पाँच बातें मन्त्रणा का रहस्य प्रकाशित करती हैं ॥४१॥

विशेषार्थ—वशिष्ठ[2] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

मन्त्रणा के पश्चात् अविलम्ब कर्तव्य—

उद्धृतमन्त्रो न दीर्घसूत्रः स्यात् ॥४२॥

अर्थ—मन्त्रणा कर लेने के उपरान्त उसके कर्तव्य में विलम्ब नहीं करना चाहिए ॥४२॥

विशेषार्थ—कौटिल्य ने कहा है 'अवाप्तार्थः कालं नातिक्रमेत्' अर्थात्—'अर्थ का निश्चय करके उसको शीघ्र ही कार्यरूप में परिणत करना चाहिए। समय का उल्लङ्घन श्रेयस्कर नहीं।'

१. तथा च गर्गः—मंत्रभेदाच्च भूपस्य व्यसनं संप्रजायते। तत्कृच्छ्रान्नाशमभ्येति कृच्छ्रेणाप्यथवा न वा ॥१॥

२. तथा च वशिष्ठः—मंत्रयित्वा महीपेन कर्तव्यं शुभचेष्टितम्। आकारश्च शुभः कार्यस्त्याज्या निद्रामदालसाः ॥१॥

शुक्र[1] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

कार्यरूप में परिणत किये बिना मन्त्र व्यर्थ है—

‡अनुष्ठानेच्छां विना केवलेन किं मन्त्रेण ॥४३॥

अर्थ—कार्यरूप में परिणत करने की इच्छा के बिना केवल निश्चित की हुई मन्त्रणा से कोई लाभ नहीं ॥४३॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

न ह्यौषधिपरिज्ञानादेव व्याधिप्रशमः ॥४४॥

अर्थ—निस्सन्देह केवल औषधि के ज्ञानमात्र से रोग की शान्ति नहीं हो सकती। अर्थात्—जिसप्रकार औषधि के जानलेने पर भी उसके भक्षण किये बिना व्याधि नष्ट नहीं होती उसीप्रकार मन्त्र को कार्यरूप में परिणत किये बिना केवल मन्त्रणा से कार्य सिद्ध नहीं होते ॥४४॥

विशेषार्थ—नारद[3] के उद्धरण का भी उक्त-आशय है।

अविवेक ही शत्रु है—

नास्त्यविवेकात्परः प्राणिनां शत्रुः ॥४५॥

अर्थ—अज्ञान को छोड़कर प्राणियों का कोई दूसरा शत्रु नहीं है ॥४५॥

विशेषार्थ—गुरु[4] का उद्धरण भी समानार्थक है।

स्वयं करने योग्य कार्य को दूसरों से कराने से हानि—

आत्मसाध्यमन्येन कारयन्नौषधमूल्यादिव व्याधिं चिकित्सति ॥४६॥

अर्थ—जो व्यक्ति स्वयं करने योग्य कार्य दूसरों से कराता है, वह औषधि को स्वयं न पीकर केवल उसके मूल्यमात्र से ही रोग को दूर करने की इच्छा करने के समान व्यर्थ है। अर्थात्—जिसप्रकार औषधि के मूल्यमात्र से रोग नष्ट नहीं होता उसीप्रकार स्वयं करने योग्य कार्य दूसरों से कराने से वह कार्य सिद्ध नहीं होता ॥४६॥

विशेषार्थ—भृगु[5] ने भी उक्त प्रकार कहा है।

स्वामी के हानि-लाभ का सेवक के ऊपर असर—

यो यत्प्रतिबद्धः स तेन सहोदयव्ययी ॥४७॥

अर्थ—जो सेवक जिस स्वामी के आश्रित है, वह अपने स्वामी की उन्नति से उन्नतिशील और अवनति से अवनतिशील होता है ॥४७॥

विशेषार्थ—भागुरि[6] के उद्धरण में भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण है।

---

१. तथा च शुक्रः—यो मंत्रं मंत्रयित्वा तु नानुष्ठानं करोति च। तत्क्षणात्तस्य मन्त्रस्य जायते नात्र संशयः ॥१॥

‡ 'ग घ च' प्रतितः-संकलितः।

२. तथा च शुक्रः—यो मंत्रं मंत्रयित्वा तु नानुष्ठानं करोति च। स तस्य व्यर्थतां याति छागस्येव प्रमादिनः। ॥१॥

३. तथा च नारदः—विज्ञाते भेषजे यद्वत् विना भक्षं न नश्यति। व्याधिस्तथा च मंत्रेऽपि न सिद्धिः कृत्यवर्जिते ॥१॥

४. तथा च गुरुः—अविवेकः शरीरस्थो मनुष्याणां महारिपुः। यश्चानुष्ठानमात्रोऽपि करोति वधबन्धनम् ॥१॥

५. तथा च भृगुः—आत्मसाध्यं तु यत्कार्यं योऽन्यपार्श्वात् सुमन्दधीः। कारापयति स व्याधिं नयेद् भेषजमूल्यतः ॥१॥

६. तथा च भागुरिः—सरस्तोयसमो राजा भृत्यः पद्माकरोपमः। तद् वृद्धया वृद्धिमभ्येति तद्विनाशे विनश्यति ॥१॥

स्वामी के प्रसाद से सेवक की उन्नति—

स्वामिनाधिष्ठितो मेषोऽपि सिंहायते ॥४८॥

अर्थ—स्वामी से प्रतिष्ठित मेढ़ा भी सिंह-सरीखा बलिष्ठ हो जाता है ॥४८॥

विशेषार्थ—रैम्य[1] का उद्धरण भी उक्त अभिप्राय प्रकट करता है।

मन्त्रणा के अवसर पर निषिद्ध कार्य—

मंत्रकाले विगृह्य विवादः स्वैरालापश्च न कर्त्तव्यः ॥४९॥

अर्थ—मन्त्रियों को मन्त्रणा के अवसर पर आपस में झगड़ा करके वादविवाद और स्वच्छन्द वार्तालाप (हँसी-मजाक-आदि) नहीं करना चाहिए ॥४९॥

विशेषार्थ—गुरु[2] के उद्धरण में भी प्रस्तुत विषय का उल्लेख है।

मन्त्र का स्वरूप—

अविरुद्धैरस्वैरैर्विहितो मंत्रो लघुनोपायेन महतः कार्यस्य सिद्धिं मन्त्रफलम् ॥५०॥

अर्थ—परस्पर वैर-विरोध न करनेवाले और हँसी-मजाक-आदि स्वच्छन्द वार्तालाप न करनेवाले (सावधान) मन्त्रियों के साथ परामर्श करना 'मन्त्रणा' है, उससे थोड़े से उपाय से महान् कार्य की सिद्धि होती है यही मन्त्रणा का फल है ॥५०॥

विशेषार्थ—नारद[3] ने भी इसी प्रकार कहा है।

उक्त विषय में उदाहरण—

न खलु तथा हस्तेनोत्थाप्यते ग्रावा यथा दारुणा ॥५१॥

अर्थ—जिसप्रकार विशाल पत्थर हस्त से उसप्रकार सरलतापूर्वक नहीं उठाया जा सकता जैसा कि लकड़ी के सहारे से, उसीप्रकार मन्त्र-शक्ति से महान् कार्य भी थोड़े परिश्रम से सिद्ध हो जाते हैं ॥५१॥

विशेषार्थ—हारीत[4] का उद्धरण भी समानार्थक है।

मन्त्री की कटु आलोचना—

स मन्त्री शत्रुर्यो नृपेच्छयाऽकार्यमपि कार्यरूपतयाऽनुशास्ति ॥५२॥

अर्थ—जो मन्त्री राजा की इच्छानुसार अकर्तव्य को भी कर्तव्य बतलाता है वह मन्त्री नहीं किन्तु शत्रु है ॥५२॥

विशेषार्थ—भागुरि[5] ने भी इसीप्रकार कहा है।

वरं स्वामिनो दुःखं न पुनरकार्योपदेशेन तद्विनाशः ॥५३॥

अर्थ—इच्छा के विघात होने से स्वामी को कष्ट पहुँचाना उत्तम है, परन्तु अकर्तव्य का उपदेश देकर उसका नाश करना अच्छा नहीं ॥५३॥

---

१. तथा च रैम्यः—स्वामिनाधिष्ठितो भृत्यः परस्मादपि कातरः। श्वापि सिंहायते यद्वन्निजं स्वामिनमाश्रितः ॥१॥

२. तथा च गुरुः—विरोधवाक्यहास्यानि मंत्रकाल उपस्थिते। ये कुर्युर्मन्त्रिणस्तेषां मंत्रकार्यं न सिद्धयति ॥१॥

३. तथा च नारदः—सावधानाश्च ये मन्त्रं चक्रुरेकान्तमाश्रिताः। साधयन्ति नरेन्द्रस्य कृत्यं क्लेशविवर्जितम् ॥१॥

४. तथा च हारीतः—यत्कार्यं साधयेद्राजा क्लेशैः संग्रामपूर्वकैः। मन्त्रेण सुखसाध्यं तत्तस्मान्मन्त्रं प्रकारयेत् ॥१॥

५. तथा च भागुरिः—अकृत्यं कृत्यरूपं च मत्यं चाकृत्यसंज्ञितां। निवेदयति भूपस्य स वैरी मन्त्रिरूपधृक् ॥१॥

विशेषार्थ—नारद[1] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

मन्त्री का कर्तव्य—

पीयूषमपिवतो वालस्य किं न क्रियते कपोलहननम्* ॥५४॥

अर्थ—जब बच्चा माता के स्तनो का दूध नही पीता तब क्या वह उसके गालों पर थप्पड लगाकर उसे दूध नही पिलाती ?

भावार्थ—जिसप्रकार माता बच्चे के हित के लिए उसके प्रति तात्कालिक कठोर और भविष्य में हितकारक व्यवहार करती है उसीप्रकार मन्त्री को भी राजा के हित के लिए भविष्य मे हितकारक और तत्काल में कठोर व्यवहार करना चाहिए ॥५४॥

विशेषार्थ—गर्ग[2] के उद्धरण मे भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण है।

मन्त्रिणो राजद्वितीयहृदयत्वान्न केनचित् सह संसर्गं कुर्युः ॥५५॥

अर्थ—मन्त्री लोग राजा के दूसरे हृदयरूप होते है—राजारूप ही होते है, इसलिए उन्हे उसकी उन्नति के लिए किसी के साथ स्नेह-आदि सम्बन्ध नही रखना चाहिए ॥५५॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] ने भी इसी प्रकार कहा है।

राज्ञोऽनुग्रहविग्रहावेव मन्त्रिणामनुग्रहविग्रहौ ॥५६॥

अर्थ—राजा की अनुकूलता और प्रतिकूलता मन्त्रियो की अनुकूलता और प्रतिकूलता है, अर्थात्—राजा जिस व्यक्ति पर प्रसन्न हो, मन्त्री को भी उसपर प्रसन्नता प्रदर्शित करनी चाहिए और राजा जिससे द्वेष रखता हो मंत्रियो को भी उससे द्वेष रखना चाहिए ॥५६॥

विशेषार्थ—हारीत[4] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

राजा की भाग्यहीनता

ग दैवस्यापराधो न मन्त्रिणां, यत् सुघटितमपि कार्यं न घटते ॥५७॥

अर्थ—सावधान मन्त्रियो द्वारा अच्छी तरह मन्त्रणापूर्वक निश्चित किया हुआ भी कार्य जब सिद्ध नही होता उसमे उनका कोई दोष नही किन्तु राजा के पूर्वजन्म संबधी भाग्य का ही दोष समझना चाहिए ॥५७॥

विशेषार्थ—भार्गव[5] ने भी इसीप्रकार कहा है।

मन्त्री की अवहेलना का दुष्परिणाम—

स खलु नो राजा यो मन्त्रिणोऽतिक्रम्य वर्तते ॥५८॥

अर्थ—निस्सन्देह वह राजा, राजा नहीं हो सकता, जो कि हितैषी मन्त्रियो के परामर्श की सीमा का उल्लङ्घन करके व्यवहार करता है ॥५८॥

---

१ तथा च नारद —वर पाडाकर वाक्य परिणामसुखावह । मंत्रिणा भूमिपालस्य न मृष्ट यद्भयानकम् ॥१॥

* 'पीयूषमपि पिबत बालस्य किं न क्रियते कपोलहननम्' ग, घ, च प्रतिषु पाठ ।

२ तथा च गर्ग —जननी बालक यद्वद्धत्वा स्तन्यं प्रपाययेत । एवमुन्मार्गगो राजा धार्यते मन्त्रिणा पथि ॥१॥

३ तथा च शुक्र —मन्त्रिण पार्थिवेन्द्राणा द्वितीयं हृदय तत । ततोऽन्येन न संसर्गस्तै कार्यो नृपवृद्धये ॥१॥

४ तथा च हारीत —राज्ञ पुष्ट्या भवेत् पुष्टि मन्त्रिणाना महत्तरा । व्यसन व्यसनेनापि तेन तस्य हिताश्च ये ॥१॥

५ तथा च भार्गव —मंत्रिणा सावधानाना यत् कार्य न प्रसिद्ध्यति । तत् स दैवस्य दोष: स्यान्न तेषा सुहितैषिणाम् ॥१॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[1] के उद्धरण में भी उक्त बात का उल्लेख है।

सुविचारित मन्त्रणा से कार्य-सिद्धि—

सुविवेचितान्मन्त्राद्भवत्येव कार्यसिद्धिर्यदि स्वामिनो न दुराग्रहः स्यात् ॥५९॥

अर्थ—यदि राजा दुराग्रही (हठी) न हो तो अच्छी तरह विचारपूर्वक की हुई मन्त्रणा से अवश्य कार्य सिद्धि होती है ॥५९॥

विशेषार्थ—ऋषिपुत्रक[2] ने भी इसी प्रकार कहा है।

विक्रम-हीन राजा का भविष्य—

अविक्रमतो राज्यं वणिक्खड्गयष्टिरिव ॥६०॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रहार-क्रिया में कुशलता न रखनेवाले व्यापारी की तलवार व्यर्थ है उसी प्रकार पराक्रम प्रदर्शित न करनेवाले राजा का राज्य भी व्यर्थ है ॥६०॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[3] के उद्धरण में भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण है।

नीतिशास्त्र का माहात्म्य—

नीतिर्यथावस्थितमर्थमुपलम्भयति ॥६१॥

अर्थ—नीतिशास्त्र का ज्ञान मानव को कर्तव्य-अकर्तव्य के स्वरूप का बोध करा देता है ॥६१॥

विशेषार्थ—गर्ग[4] ने कहा है—'माता भी पुत्र का अहित कर सकती है परन्तु अच्छी तरह विचारपूर्वक आचरण की हुई नीति—सदाचार-प्रवृत्ति कदापि मानव का अहित नहीं कर सकती। अनीति—दुराचार-प्रवृत्ति-मनुष्य को खाये हुए विषफल के समान मार डालती हैं'।

पुरुषार्थ का परिणाम—

हिताहितप्राप्तिपरिहारौ पुरुषकारायत्तौ ॥६२॥

अर्थ—हितकारक वस्तु की प्राप्ति करना और अहितकारक वस्तुओं का परित्याग करना अपने पुरुषार्थ के अधीन है ॥६२॥

विशेषार्थ—बादरायण[5] का उद्धरण भी प्रस्तुत विषय को प्रदर्शित करता है।

समय पर कार्य करने की प्रेरणा—

अकालसहं कार्यमद्यस्वीनं न कुर्यात्* ॥६३॥

अर्थ—जो कार्य कालक्षेप को सहन नहीं करता उसमें विलम्ब नहीं करना चाहिए। पाठान्तर का अभिप्राय यह है कि कीर्ति की कामना करनेवाले मानव को शीघ्र करने योग्य कार्य में विलम्ब नहीं करना चाहिए ॥६३॥

१. तथा च भारद्वाजः—यो राजा मन्त्रिणां वाक्यं न करोति हितैषिणाम्। न स तिष्ठेच्चिरं राज्ये पितृपैतामहेऽपि च ॥१॥
२. तथा च ऋषिपुत्रकः—सुमंत्रितस्य मंत्रस्य सिद्धिर्भवति शाश्वती। यदि स्याग्रान्यथाभावो मन्त्रिणा सह पार्थिवः ॥१॥
३. तथा च भारद्वाजः—परेषां जायते साध्यो यो राजा विक्रमच्युतः। न तेन सिद्धयते किञ्चिदसिना श्रेष्ठिनो यथा ॥१॥
४. तथा च गर्गः—मातापि विकृतिं याति नैव नीतिः स्वनुष्ठिता। अनीतिर्भक्षयेन्मर्त्यं किंपाकमिव भक्षितम् ॥१॥
५. तथा च बादरायणः—हितं वाप्यथवानिष्टं दुर्लभं सुलभं च वा। आत्मशक्त्याप्नुयान्मर्त्यो हितं चैव सुखावहं ॥१॥
*. 'अकालसहं कार्यं यशस्वी विलम्बेन न कुर्यात्' इति ग, घ, च प्रतिषु पाठः।

विशेषार्थ—चारायण[1] का उद्धरण भी समानार्थक है।

समय चूक जाने का दुष्परिणाम—

कालातिक्रमान्नखच्छेद्यमपि कार्यं भवति कुठारच्छेद्यं ॥६४॥

अर्थ—समय का उल्लङ्घन करने से नाखूनों से काटने योग्य अर्थात् सरलता से किया जानेवाला कार्य भी कुल्हाडे से काटने योग्य, अर्थात्-अत्यन्त कठिन होजाता है ॥६४॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] का उद्धरण भी समानार्थ का वाचक है।

बुद्धिमत्ता के चिह्न—

नाम सचेतनः सुखसाध्यं कार्यं कृच्छ्रसाध्यमसाध्यं वा कुर्यात् ॥६५॥

अर्थ—कौन बुद्धिमान् व्यक्ति सरलता से सिद्ध होनेवाले कार्य को कठिनाई से सिद्ध होनेवाला अथवा असाध्य बनाएगा ॥६५॥

विशेषार्थ—गुरु[3] का उद्धरण भी समानार्थक है।

मन्त्रियों की संख्या के निर्णय में छह सूत्र—

एको मन्त्री न कर्तव्यः ॥६६॥

एको हि मन्त्री निरवग्रहश्चरति मुह्यति च कार्येषु कृच्छ्रेषु ॥६७॥

अर्थ—राजा को एक मंत्री नहीं रखना चाहिए। क्योंकि अकेला मन्त्री स्वेच्छा पूर्वक प्रवृत्ति करता हुआ निरङ्कुश हो जाता है, और कठिन कार्यों के उपस्थित होने पर अज्ञान प्राप्त करता है, अर्थात्—वह निर्णय नहीं कर सकता कि क्या करे ॥६६-६७॥

विशेषार्थ—नारद[4] का उद्धरण भी प्रस्तुत विषय का समर्थक है।

द्वावपि मंत्रिणौ न कार्यौ ॥६८॥

द्वौ मंत्रिणौ संहतौ राज्यं विनाशयतः ॥६९॥

अर्थ—दो मंत्रियों को भी न रक्खे, क्योंकि दोनों मंत्री आपस में मिलकर राज्य को नष्ट कर डालते हैं ॥६८-६९॥

विशेषार्थ—नारद[5] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

निगृहीतौ तौ त विनाशयतः ॥७०॥

अर्थ—यदि दोनों मन्त्रियों के लिए दण्ड दिया जाता है तो वे राजा को ही नष्ट कर देते हैं ॥७०॥

विशेषार्थ—गुरु[6] का उद्धरण भी उक्त आशय प्रकट करता है।

---

१ तथा च चारायण —यस्य तस्य हि कार्यस्य सफलस्य विशेषत । क्षिप्रमक्रियमाणस्य काल [illegible]ति तत्फलम् ॥१॥

२ तथा च शुक्र —तत्क्षणात्मात्र यत्कुर्यात् किञ्चित्कार्यमुपस्थितम् । स्वल्पायासेन साध्य चेत्तत्कृच्छ्रेण प्रसिद्धयति ॥१॥

३ तथा च गुरु —सुखसाध्य च यत्कार्य कृच्छ्रसाध्य न कारयेत् । असाध्य वा मतिरस्य [भवेच्चित्ते निरर्गला] ॥१॥

४ तथा च नारद —एको मंत्री कृतो राज्ञा स्वेच्छया परिवर्तन । न करोति भय राज्ञ कृत्येषु परिमुह्यति ॥१॥

५ तथा च नारद —मंत्रिणा द्वितय चेन स्थान कथञ्चित पृथिवीपत । अन्योन्य संगत्वा तु कुरुते विभवक्षय ॥१॥

६ तथा च गुरु —भुक्ते सवका येस्युस्ते स्यु सचिवसम्मता । तैस्तैं सहायता नीत हन्युस्त प्राणयात्रुयात् ? ॥१॥

त्रयः पंच सप्त वा मन्त्रिणस्तैः कार्याः ॥७१॥

अर्थ—राजाओं को तीन, पाँच या सात मन्त्री नियुक्त करने चाहिए ॥७१॥

मन्त्रियों में एकता अनिवार्य—

विषमपुरुषसमूहे दुर्लभमैकमत्यम् ॥७२॥

अर्थ—यदि राजा परस्पर में ईर्ष्या रखनेवाले मन्त्रियों को नियुक्त करे तो उनका एक मत होना दुर्लभ है ॥७२॥

विशेषार्थ—राजपुत्र[1] के उद्धरण में भी प्रस्तुत विषय का उल्लेख है।

परस्पर स्पर्द्धा रखनेवाले मन्त्रियों से हानि—

बहवो मन्त्रिणः परस्परं स्वमतीरुत्कर्षयन्ति* ॥७३॥

अर्थ—परस्पर में स्पर्धा करनेवाले बहुत से मन्त्री राजा के समक्ष अपनी अपनी मन्त्रणा को बुद्धिमत्ता से प्रमाण सिद्ध करना चाहते हैं, जिससे राजकीय कार्यों में क्षति होती है ॥७३॥

विशेषार्थ—रैभ्य[2] का उद्धरण भी समानार्थक है।

स्वेच्छाचारी मन्त्रियों के दोष—

स्वच्छन्दाश्च न [illegible] जृम्भन्ते ॥७४॥

अर्थ—स्वेच्छाचारी मन्त्री लोग परस्पर की उचित मन्त्रणा नहीं मानते अर्थात्-अपने अहंकार से मन्त्रणा को दूषित कर डालते हैं ॥७४॥

विशेषार्थ—अत्रि[3] का उद्धरण भी समानार्थक है।

कैसा कार्य करने योग्य है—

यद् बहुगुणमनपायबहुलं भवति तत्कार्यमनुष्ठेयम् ॥७५॥

अर्थ—विवेकी पुरुष को ऐसा कार्य करना चाहिए, जिसमें गुणों की प्रचुरता हो और जिसमें अपने विनाश की सम्भावना न हो ॥७५॥

विशेषार्थ—जैमिनि[4] ने भी इसी प्रकार कहा है।

उक्त विषय में उदाहरण—

तदेव भुज्यते यदेव परिणमति ॥७६॥

अर्थ—जिस वस्तु का परिपाक अच्छी तरह से हो सके वही वस्तु भक्षण की जाती है।

विशेषार्थ—भोजन के उदाहरण द्वारा यहाँ पर राजा और मनुष्य के लिये कर्तव्य का उपदेश दिया गया है—कि जिस कार्य का परिणाम श्रेयस्कर हो और जिसमें अपकीर्ति का प्रसार न हो, वही श्रेष्ठ कार्य करना चाहिए ॥७६॥

---

१. तथा च राजपुत्रः—मिथः संस्पर्द्धमानानां नैकं संजायते मतम्। स्पर्धाहीना ततः कार्या मंत्रिणः पृथिवीभुजा ॥१॥

*. 'बहवो मंत्रिणः परस्परमतिभिरुत्कर्षयन्ति' 'ग' प्रतौ पाठः।

२. तथा च रैभ्यः—बहूंश्च मंत्रिणो राजा सस्पर्द्धान् करोति यः। घ्नन्ति ते नृपकार्यं यत् स्वमंत्रस्य कृतादराः ॥१॥

३. तथा च अत्रिः—स्वच्छन्दा मंत्रिणो नूनं न कुर्वन्ति यथोचितं। मंत्रं मन्त्रयमाणाश्च भूपस्याहिताः स्मृताः ॥१॥

४. तथा च जैमिनिः—यद्यच्छ्रेष्ठतरं कृत्यं तत्तत्कार्यं महीभुजा। नोपघातो भवेद्यत्र राज्यं विपुलमिच्छता ॥१॥

यथोक्त गुणों से विभूषित मन्त्रियों से लाभ—

यथोक्तगुणसमवायिन्येकस्मिन् युगले वा मंत्रिणि न कोऽपि दोषः ॥७७॥

अर्थ—इस समुद्देश के पाँचवें सूत्र में वर्णित गुण-समूह जिसमें विद्यमान हों, ऐसे गुण-सम्पन्न एक या दो मन्त्रियों की नियुक्ति करने में कोई दोष नही है ॥७७॥

बहुत से मूर्ख मन्त्रियों के निषेध मे दृष्टान्त—

न हि महानप्यन्धसमुदायो रूपमुपलभेत ॥७८॥

अर्थ—जिस प्रकार बहुत सा अन्ध-समुदाय हरित पीत-आदि रूप को नहीं जान सकता उसी प्रकार मूर्ख मन्त्रिमण्डल भी राज्य-वृद्धि के उपायों का यथार्थ निश्चय नही कर सकता। अतः राजा को मूर्ख मन्त्रिमण्डल नहीं रखना चाहिए ॥७८॥

दो मन्त्रियों के विषय मे दृष्टान्त—

***अवार्यवीर्यौ धुर्यौ किं न महति भारे नियुज्येते ॥७९॥**

अर्थ—क्या विशेष बलिष्ठ दो बैल महान् भार-वहन के लिए नही नियुक्त किये जाते ? उसी प्रकार पूर्वोक्त गुणों से अलंकृत दो मंत्री भी क्या राज्य-भार के वहन करने मे समर्थ नही होते ? अतः उक्त गुणों से विभूषित दो मन्त्रियो के रखने में कोई हानि नही ॥७९॥

राजा को अनेक सहायकों की अपेक्षा—

बहुसहाये राज्ञि प्रसीदन्ति सर्व एव मनोरथाः ॥८०॥

अर्थ—जिस राजा के बहुत से सहायक होते है उसके सभी मनोरथ सिद्ध होते है ॥८०॥

उक्त विषय का समर्थन—

एको हि पुरुषः केषु कार्येष्वात्मानं विभजते ॥८१॥

अर्थ—अकेला आदमी अपने को किन किन कार्यो मे विभाजित कर सकता है ? अभिप्राय यह है कि एक व्यक्ति राज्य के विविध प्रकार के कार्यो की स्वयं देखभाल नही कर सकता, अतः सहायकों का होना अनिवार्य है ॥८१॥

विशेषार्थ—जैमिनि[1] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

उक्त विषय का समर्थक दृष्टान्त—

किमेकशाखस्य शाखिनो महती भवतिच्छाया* ॥८२॥

अर्थ—क्या एक शाखावाले वृक्ष की विशाल छाया होती है ? उसीप्रकार अकेले मन्त्री से राज्य के महान् कार्य सिद्ध नही हो सकते ॥८२॥

विशेषार्थ—अत्रि[2] का उद्धरण भी सदृश अभिप्राय का निरूपक है।

---

*. अवार्यवीर्यौ द्वौ धुर्यौ किं महति भारे न नियुज्येते' इति 'ग' प्रतौ पाठः।

१ तथा च जैमिनिः—एकं यः कुरुते राजा मन्त्रिणं मन्दबुद्धितः। तस्य भूरीणि कार्याणि सीदन्ति च तदाश्रयात् ॥१॥

*. 'किमेकशाखाशाखिनो महतोऽपि भवतिच्छाया ?' ग, घ, च प्रतिषु पाठः।

२ तथा च अत्रिः—यथैकशाखवृक्षस्य नैव च्छाया प्रजायते। तथैकमन्त्रिणा राज्ञः सिद्धिः कृत्येषु नो भवेत् ॥१॥

आपत्ति काल में सहायकों का संग्रह अनुचित—

कार्यकाले दुर्लभः पुरुषसमुदायः ।।८३।।

अर्थ—आपत्ति के अवसर पर सहायक पुरुषों का मिलना दुर्लभ होता है। अतः सहायक पुरुषों का संग्रह पहले से करना श्रेयस्कर होता है ।।८३।।

विशेषार्थ—किसी नीतिवेत्ता[1] का उद्धरण भी उक्त विषय में समानार्थक है।

दृष्टान्त—

दीप्ते गृहे कीदृशं कूपखननम् ।।८४।।

अर्थ—मकान में आग लग जाने पर कुआँ खोदना कहाँ तक उचित है ? उसी प्रकार आपत्ति आ जाने पर सहायक पुरुषों का संग्रह भी व्यर्थ है ।।८४।।

विशेषार्थ—चाणिक्य[2] का उद्धरण भी सदृश अभिप्राय का प्रदर्शक है।

धन की अपेक्षा सहायक-संग्रह विशेष महत्त्वपूर्ण—

न धनं पुरुषसंग्रहाद्बहु मन्तव्यम् ।।८५।।

अर्थ—सहायक पुरुषों के संग्रह की अपेक्षा धन को उत्कृष्ट नहीं समझना चाहिए ।।८५।।

विशेषार्थ—शुक्र[3] का उद्धरण भी वीर पुरुषों के संग्रह का निरूपक है।

उक्त विषय की दृष्टान्त द्वारा पुष्टि—

सत्क्षेत्रे बीजमिव पुरुषेपूप्तं कार्यं शतशः फलति* ।।८६।।

अर्थ—जिस प्रकार उपजाऊ अच्छे खेत में बोये गये धान्यादि के बीज प्रचुर धान्य-राशि को उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार सहायक पुरुषों के लिए दिये हुए धन पूर्वक सोंपा गया कार्य भी प्रशस्त फल देता है ।।८६।।

विशेषार्थ—जैमिनि[4] के उद्धरण में भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण है।

कार्यपुरुषों का स्वरूप—

बुद्धावर्थे युद्धे च ये सहायास्ते कार्यपुरुषाः ।।८७।।

अर्थ—बुद्धि अर्थात्-प्रशस्त बुद्धि और उत्तम मन्त्रणा, धन और युद्ध में जो सहायता देनेवाले हैं उन्हें 'कार्यपुरुष' कहते हैं ।।८७।।

विशेषार्थ—शौनक[5] ने भी कार्यपूरुषों का इसी प्रकार लक्षण वताया है।

१. उक्तं च—अग्रे अग्रे प्रकर्त्तव्याः सहायाः सुविवेकिभिः । आपन्नाशाय ते यस्माद् दुर्लभा व्यसने स्थिते ।

२. तथा च चाणिक्यः—विपदानां प्रतीकारं पूर्वमेव प्रचिन्तयेत् । न कूपखननं युक्तं प्रदीप्ते सहसा गृहे ।।१।।

३. तथा च शुक्रः—न बाह्यं पुरुषेन्द्राणां धनं भूपस्य जायते । तस्माद्धनार्थिना कार्यः सर्वदा वीरसंग्रहः ।।१।।

*. 'सुक्षेत्रेषु बीजमिव कार्यपुरुषेपूप्तं धनं शतशः फलति' इति ग घ च प्रतिषु पाठः ।

४. तथा च जैमिनिः—सन्नरे योजितं कार्यं धनं च शतधा भवेत् । सुक्षेत्रे वापितं यद्वत् सस्यं तद्वदसंशयम् ।।१।।

५. तथा च शौनकः—मोहे यच्छन्ति ये बुद्धिमर्थे कृच्छ्रं तथा धनं । वैरिसंघे सहायत्वं ते कार्यपुरुषा मताः ।।१।।

कैसे अवसर पर सहायक सुलभ होते हैं—

खादनवारायां को नाम न सहायः* ॥८८॥

अर्थ—भोजन के समय कौन सहायक नही होता ? अर्थात्-सम्पत्ति के समय सभी पुरुष सहायक हो जाते हैं, परन्तु आपत्ति के अवसर पर कोई सहायता नही करता ॥८८॥

विशेषार्थ—वर्ग[1] ने भी इमी प्रकार कहा है।

मन्त्रणा करने के अयोग्य व्यक्ति—

श्राद्ध इवाश्रोत्रियस्य न मंत्रे मूर्खस्याधिकारोऽस्ति ॥८९॥

अर्थ—मूर्ख मन्त्री को मन्त्रणा करने का उसप्रकार अधिकार नही होता जिस प्रकार अश्रोत्रिय अर्थात् वैदिक क्रियाकाण्ड के ज्ञान से रहित ब्राह्मण को श्राद्ध कराने का अधिकार नही होता ॥८९॥

मूर्ख मन्त्री का दोष—

किं नामान्धः पश्येत् ॥९०॥

अर्थ—क्या अन्धा पुरुष कुछ देख सकता है ? उमी प्रकार मूर्ख मन्त्री भी मन्त्रणा का निश्चय नही कर सकता ॥९०॥

विशेषार्थ—शौनक[2] का उद्धरण भी समान अर्थ का वाचक है।

राजा और मन्त्री दोनो की मूर्खता के विषय मे दृष्टान्त—

***किमन्धेनाकृष्यमाणोऽन्धः समं पन्थानं प्रतिपद्यते ॥९१॥**

अर्थ—दूसरे अन्धे द्वारा ले जाया जानेवाला अन्धा क्या सम-मार्ग को पा सकता है ? उसी प्रकार मूर्ख मन्त्री के सहारे चलनेवाला मूर्ख राजा भी क्या मन्त्रणा का फल (विजय श्री-आदि) प्राप्त कर सकता है ? ॥९१॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] के उद्धरण में भी समान आशय का उल्लेख है।

मूर्ख मन्त्री की मन्त्रणा से कार्य सिद्धि अनिश्चित और यदा कदा होती है—

तदन्धवर्तकीयं काकतालीयं वा यन्मूर्खमन्त्रात् कार्यसिद्धिः ॥९२॥

अर्थ—मूर्ख पुरुष की मन्त्रणा से कभी कभी कार्य सिद्धि हो जाना सयोगवश अन्धे के हाथ मे आई हुई बटेर (चिड़िया-विशेष) की न्याय-सरीखी अथवा स्वय गिरते हुए ताड वृक्ष के फल पर अकस्मात् कौए के बैठ जाने रूप न्याय-सरीखी कदाचित् और अनिश्चित है ॥९२॥

विशेषार्थ—गुरु[4] ने भी इमी प्रकार कहा है।

मूर्ख की मन्त्रणा का ज्ञान सार्वकालिक व स्वाभाविक नही होता—

स घुणाक्षरन्यायो यन्मूर्खेषु मंत्रपरिज्ञानम् ॥९३॥❀

---

* 'खादनवेलायां तु को नाम कस्य न सहाय ' इति 'ग' प्रती पाठ ।

१. तथा च वर्ग —यदा स्यात्मंदिरे लक्ष्मीस्तदान्योऽपि सुहृद्भवेत् । वित्तक्षये तथा बन्धु स्तत्क्षणाद् दुर्जनायते ॥१॥

२ तथा च शौनक —यद्वन्धो वीक्षते किंचिद् घट वा पटमेव च । तदा मूर्खोऽपि यो मन्त्री मंत्र पश्येत् स भूभृताम् ॥१॥

* 'न चान्धेन' ग घ च प्रतिषु पाठ ।

३ तथा च शुक्रः—अन्धेनाकृष्यमाणोऽत्र चेदन्धो मार्गवीक्षक । भवेत्तन्मूर्खभूपोऽपि मंत्रं चेत्यज्ञमन्त्रिण ॥१॥

४. तथा च गुरु —अन्धवर्तकमेवैतत् काकतालीयमेव च । यन्मूर्खमन्त्रत सिद्धि कथंचिदपि जायते ॥१॥

❀ 'कार्यपरिज्ञानम्' इति ग घ, च प्रतिषु पाठ ।

अर्थ—मूर्ख को मन्त्रणा का ज्ञान घुणाक्षरन्यायसरीखा कदाचित् होता है। अर्थात्-घुण (लकड़ी का कोड़ा) लकड़ी को धीरे धीरे खाता है, उसमें कभी संयोग-वश किसी अक्षर की आकृति बनजाना जिस प्रकार सदा व स्वाभाविक नहीं होती उसी प्रकार भाग्योदय से मूर्ख को भी मन्त्रणा का ज्ञान स्वाभाविक व सदा नहीं होता ॥९३॥

विशेषार्थ—गुरु[1] ने भी इसी प्रकार कहा है।

मन्त्रणा के लिए शास्त्रज्ञान अनिवार्य—

अनालोकं लोचनमिवाशास्त्रं मनः कियत् पश्येत् ॥९४॥

अर्थ—जिसप्रकार ज्योति-हीन नेत्र घट-पटादि पदार्थों को नहीं देख सकते उसीप्रकार शास्त्र ज्ञान से शून्य हुआ मानव का मन भी समुचित कर्तव्य का निश्चय नहीं कर सकता अथवा मन्त्रणा का निश्चय नहीं कर सकता ॥९४॥

विशेषार्थ—गर्ग[2] का उद्धरण भी उक्त सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करता है।

सेवक को धनाढ्य होने का उपाय—

स्वामिप्रसादः सम्पदं जनयति न पुनराभिजात्यं पाण्डित्यं वा ॥९५॥

अर्थ—स्वामी की प्रसन्नता से सम्पत्ति प्राप्त होती है, कुलीनता व बुद्धिमत्ता से नहीं ॥९५॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] ने भी इसी प्रकार कहा है।

वज्रमूर्ख के स्वभाव का दृष्टान्त द्वारा समर्थन—

हरकण्ठलग्नोऽपि कालकूटः काल एव ॥९६॥

अर्थ—शङ्करजी के गले में लगा हुआ भी कालकूट विष मारक विष ही है। अर्थात्-जिस प्रकार विष शिवजी के कण्ठ के आश्रय से अपना प्राणघातक स्वभाव नहीं छोड़ सकता उसीप्रकार वज्रमूर्ख मनुष्य भी राजमन्त्री-आदि उच्च पदों पर अधिष्ठित होने पर भी अपना मूर्खता-पूर्ण स्वभाव नहीं छोड़ सकता ॥९६॥

विशेषार्थ—सुन्दरसेन[4] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

मूर्ख मन्त्रियों पर राज्यभार आरोपण करने का दुष्परिणाम—

स्ववधाय कृत्योत्थापनमिव मूर्खेषु राज्यभारारोपणम् ॥९७॥

अर्थ—मूर्ख व्यक्ति पर राज्य-भार आरोपण करनेवाला राजा अपने वध के लिए 'कृत्या' का उत्थापन करनेवाले सरीखा है। अर्थात्-जिसप्रकार कोई व्यक्ति अपने शत्रु-वध करने के उद्देश्य से कृत्या (मन्त्र विशेष) सिद्ध करता है उसके सिद्ध होजाने पर शत्रु-वध करने के लिए एक पिशाच प्रकट होता है, परन्तु यदि शत्रु जप, होम और दान-आदि करने से विशेष बलिष्ठ होता है तब वह पिशाच शत्रु को न मारकर उल्टा मन्त्र सिद्धि करनेवाले को मार डालता है, उसीप्रकार राजा भी मूर्ख मन्त्री पर राज्यभार आरोपण करने से कृत्या-सरीखा अपना नाश कर डालता है ॥९७॥

१. तथा च गुरुः—यन्मूर्खेषु परिज्ञानं जायते मंत्रसंभवम्। स हि घुणाक्षरन्यायो न तज्ज्ञानं प्रकीर्तितम् ॥१॥
२. तथा च गर्गः—आलोकरहितं नेत्रं यथा किंचिन्न पश्यति। तथा शास्त्रविहीनं यन्मनो मंत्रं न पश्यति ॥१॥
३. तथा च शुक्रः—कुलीना पण्डिता दुःस्था दृश्यन्ते बहवो जनाः। मूर्खाः कुलविहीनाश्च धनाढ्या राजवल्लभाः ॥१॥
४. तथा च सुन्दरसेनः—स्वभावो नोपदेशेन शक्यते कर्तुमन्यथा। सुतप्तान्यपि तोयानि पुनर्गच्छन्ति शीतताम् ॥१॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

कर्तव्य न जाननेवाले का शास्त्रज्ञान व्यर्थ है—

अकार्यवेदिनः किं बहुना शास्त्रेण ॥९८॥

अर्थ—हित-प्राप्ति व अहित-परिहार रूप कर्तव्य को न जाननेवाले व्यक्ति का अनेक शास्त्रों का ज्ञान व्यर्थ है ॥९८॥

विशेषार्थ—रैभ्य[2] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

गुण-हीन व्यक्ति की कटु-आलोचना—

गुणहीनं धनुः पिंजनादपि कष्टम् ॥९९॥

अर्थ—जिसप्रकार प्रत्यञ्चा (डोरी) से हीन धनुप रुई धुनने को धुनकी से भी विशेष कष्ट दायक होता है उसी प्रकार नैतिक ज्ञान और सदाचार-आदि गुणों से हीन मानव भी कष्टप्रद होता है ॥९९॥

विशेषार्थ—जैमिनि[3] के उद्धरण में भी उल्लेख है—'गुण-शून्य राजा प्रत्यञ्चा-हीन धनुष-सरीखा निरर्थक है।'

मन्त्री के गौरव का कारण—

चक्षुष इव मंत्रिणोऽपि यथार्थदर्शनमेवात्मगौरवहेतुः ॥१००॥

अर्थ—जिसप्रकार नेत्र की प्रशंसा उसकी सूक्ष्मदर्शी ज्योति के कारण होती है उसीप्रकार मन्त्री की यथार्थ दृष्टि (मन्त्रणा का यथार्थ ज्ञान) उसको राजा द्वारा गौरव प्राप्त करने में कारण होती है ॥१००॥

विशेषार्थ—गुरु[4] का उद्धरण भी समान अर्थ का निरूपण करता है।

मन्त्रणा के अनधिकारी—

शस्त्राधिकारिणो न मंत्राधिकारिणः स्युः ॥१०१॥

अर्थ—शस्त्र-सञ्चालन के अधिकारियों को अर्थात्-शस्त्रोपजीवी क्षत्रियों को मन्त्रणा के अधिकारी नहीं बनाना चाहिए ॥१०१॥

विशेषार्थ—जैमिनि[5] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

समर्थन—

क्षत्रियस्य परिहरतोऽप्यायात्युपरि भंडनं ॥१०२॥

अर्थ—क्षत्रिय रोकते हुए भी कलह कर बैठता है, अतः उसे मन्त्रणा का अधिकारी नहीं बनाना चाहिए ॥१०२॥

विशेषार्थ—वर्ग[6] का उद्धरण भी प्रस्तुत विषय का निरूपक है।

---

१. तथा च शुक्रः—मूर्खमंत्रिषु यो भारं राजोत्थं संप्रयच्छति। आत्मनाशाय कृत्यां स उत्थापयति भूमिपः ॥१॥

२. तथा च रैभ्यः—न कार्यं यो निजं वेत्ति शास्त्राभ्यासेन तस्य किं। बहुनाऽपि वृथाथन ? यथा भस्महुतेन च ॥१॥

३. तथा च जैमिनिः—गुणहीनश्च यो राजा स व्यर्थश्चापपर्याष्टवत् ॥१॥

४. तथा च गुरुः—सूक्ष्मालोकस्य नेत्रस्य यथा शंसा प्रजायते। मंत्रिणोऽपि सुमंत्रस्य तथा सा नृपसंभवा ॥१॥

५. तथा च जैमिनिः—मंत्रस्थाने न कर्तव्याः क्षत्रियाः पृथिवीभुजा। यतस्ते केवलं मंत्रं प्रपद्यन्ति रणोद्भवम् ॥१॥

६. तथा च वर्गः—ध्रियमाणमपि प्रायः क्षात्रं तेजो विवर्धते। युद्धार्थं तेन संत्याज्यः क्षत्रियो मन्त्रकर्मणि ॥१॥

शस्त्रोपजीविनां कलहमन्तरेण भक्तमपि भुक्तं न जीर्यति ॥१०३॥

अर्थ—शस्त्रोपजीवियों—क्षत्रियों को लड़ाई किये बिना खाया हुआ भोजन भी नहीं पचता ॥१०३॥

विशेषार्थ—भागुरि[1] का उद्धरण भी समान अभिप्राय का निरूपक है।

मनुष्य के लिए गर्वजनक पदार्थ—

मंत्राधिकारः स्वामिप्रसादः शस्त्रोपजीवनं चेत्येकैकमपि पुरुषमुत्सेकयति किं पुनर्न समुदायः ॥१०४॥

अर्थ—जब कि मन्त्री-पद की प्राप्ति, राजा की प्रसन्नता और शस्त्रों से जीविका करना इनमें से एक एक वस्तु भी मनुष्य को उन्मत्त बना देती है, तो क्या इन तीनों का समुदाय उन्मत्त नहीं बनाता ?॥१०४॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] ने भी इसी प्रकार कहा है।

अधिकारी का स्वरूप—

***नालम्पटोऽधिकारी ॥१०५॥**

अर्थ—निःस्पृहो अर्थात्-धनादि की चाह न रखनेवाला व्यक्ति अधिकारी नहीं होता। पाठान्तर का अर्थ-स्त्री और धनादि का लाभी पुरुष अधिकारी पद के योग्य नहीं है ॥१०५॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[3] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

अर्थ-लम्पट मन्त्री से हानि—

मन्त्रिणोऽर्थग्रहणलालसायां मतौ न राज्ञः कार्यमर्थो वा ॥१०६॥

अर्थ—जब मन्त्री की बुद्धि धन-ग्रहण करने में लम्पट—आसक्त होती है तब न तो राजा को कार्य-सिद्धि होता है और न उसके पास धन ही रह सकता है ॥१०६॥

विशेषार्थ—गुरु[4] के उद्धरण में भी उक्त उल्लेख है।

उदाहरण द्वारा उक्त विषय की पुष्टि—

वरणार्थं प्रेषित इव यदि कन्यां परिणयति तदा वरयितुस्तप एव शरणम् ॥१०७॥

अर्थ—किसी के विवाह-निमित्त कन्या को देखने के लिए भेजा गया व्यक्ति ही यदि उस कन्या के साथ विवाह कर लेता है तो वर के लिए तपश्चर्या करनी ही शरण है। प्रसङ्गानुसार उसी प्रकार जिस राजा का मन्त्री स्वयं अधिकारी बनकर धन-लम्पट होजाय तो राजा को भी अपना राज्य परित्याग करके तप करना श्रेष्ठ है, क्योंकि बिना धन के राज्य-संचालन नहीं हो सकता और धन-प्राप्ति मन्त्री की सहकारिता पर निर्भर होता है ॥१०७॥

विशेषार्थ—शुक्र[5] के उद्धरण में भी उक्त उल्लेख है।

१. तथा च भागुरिः—शस्त्रोपजीविनामन्नमुदरस्थं न जीर्यति। यावन् केनापि नो युद्धं साधुनापि समं भवेत् ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—नृपप्रसादो मंत्रित्वं शस्त्रजीव्यं स्मयं क्रियात्। एकैकोऽपि नरस्यात्र किं पुनर्यत्र ते त्रयः ॥१॥

*. 'न लम्पटो अधिकारी भवति' इति ग प्रतौ पाठः।

३. तथा च वल्लभदेवः—निःस्पृहो नाधिकारी स्यान्नाकामी मण्डनप्रियः। नाविदग्धः प्रियं ब्रूयात् स्फुटवक्ता न वंचकः ॥१॥

४. तथा च गुरुः—यस्य संजायते मंत्री वित्तग्रहणलालसः। तस्य कार्यं न सिद्धयेत् भूमिपस्य कुतो धनम् ॥१॥

५. तथा च शुक्रः—निरुणद्धि सतां मार्गं स्वयमाश्रित्य शङ्कितः। द्वाकारः सचिवो यस्य तस्य राज्यस्थितिः कुतः ॥१॥

अन्य दृष्टान्त—

स्थाल्येव भक्तं चेत्स्वयमश्नाति कुतो भोक्तुर्भुक्तिः ॥१०८॥

अर्थ—यदि थाली अन्न-आदि भोजन को स्वयं खाजावे तो खानेवाले को भोजन किस प्रकार मिल सकता है ? प्रसङ्ग में उसी प्रकार जब मन्त्री राजकीय धन को स्वयं हड़प करने लगे तो राज्य किस प्रकार चल सकता है ॥१०८॥

विशेषार्थ—बिदुर[1] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

मानवीय प्रकृति—

तावत्सर्वोऽपि शुचिर्निःस्पृहो यावन्न परवरस्त्रीदर्शनमर्थागमो वा ॥१०९॥

अर्थ—तब तक सभी मनुष्य पवित्र और निःस्पृह रहते है जब तक उनको दूसरे की कमनीय कामिनी का दर्शन और धनागम नही होता ॥१०९॥

विशेषार्थ—वर्ग[2] के उद्धरण में भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण है।

निर्दोषी पर दूषण-आरोप का दुष्परिणाम—

अदुष्टस्य दूषणं सुप्तव्यालप्रबोधनमिव ॥११०॥

अर्थ—निर्दोषी को दूषण लगाना सोए हुए सर्प या व्याघ्र को जगाने के समान हानिकारक है ॥११०॥

विशेषार्थ—गुरु[3] का उद्धरण भी समान अभिप्राय प्रदर्शित करता है।

मैत्री का अपात्र व्यक्ति—

येन सह चित्तविनाशोऽभूत् स सन्निहितो न कर्तव्यः* ॥१११॥

अर्थ—जिसके दुर्व्यवहार से मन फट चुका हो उसके साथ मैत्री नही करनी चाहिए ॥१११॥

उक्त विषय पर उदाहरण—

सकृद्विघटितं चेतः स्फटिकवलयमिव कः सन्धातुमीश्वरः ॥११२॥

अर्थ—जिसप्रकार टूटा हुआ स्फटिक मणि का कङ्कण जोडने में कोई समर्थ नही होता उसीप्रकार एक बार फटे हुए मन का जोडने मे कोई समर्थ नही होता ॥११२॥

विशेषार्थ—जैमिनि[4] का उद्धरण भी समानार्थक है।

स्नेह की अपेक्षा वैर सहज होता है—

न महताप्युपकारेण चित्तस्य तथानुरागो यथा विरागो भवत्यल्पेनाप्यपकारेण ॥११३॥

अर्थ—जिसप्रकार थोड़ा सा अपकार करने से जैसा अधिक वैर-विरोध उत्पन्न होता है उसप्रकार बहुत उपकार करने से भी वैसा स्नेह नही होता ॥११३॥

---

१ तथा च विदुर :—दुग्धमाक्रम्य चान्येन पीत वत्सेन गा यदा। तदा तक्र कुतस्तस्या स्वामिनस्तृप्तये भवेत् ॥१॥

२ तथा च वर्ग :—तावच्छुचिरलोभ स्यात् यावन्नेक्षेत् परस्त्रियं। वित्त च दर्शनात्ताभ्या द्वितीय तत् प्रणश्यति ॥१॥

३ तथा च गुरु:—सुप्तसुप्तमहिं मूर्खो व्याघ्र वा य प्रबोधयेत्। स साधोर्दूषण दद्यान्निर्दोषस्यात्ममृत्यवे ॥१॥

*. ग, घ, च प्रतिस संकलित।

४ तथा च जैमिनि :—पाषाणघटितस्यात्र सन्धिर्भग्नस्य नो यथा। कंकणस्येव चित्तस्य तथा वै दूषितस्य च ॥१॥

विशेषार्थ—बादरायण[1] का उद्धरण भी समान अभिप्राय प्रदर्शक है।

शत्रुओं की प्रतिक्रिया—

सूचीमुखसर्पवन्नानपकृत्य विरमन्त्यपराद्धाः ॥११४॥

अर्थ—शत्रु लोग दृष्टिविषवाले सर्प की तरह अपकार किये बिना विश्राम नहीं लेते ॥११४॥

विशेषार्थ—भृगु[2] के उद्धरण में भी सदृश अभिप्राय व्यक्त किया गया है।

अतिवृद्ध काम का दुष्परिणाम—

अतिवृद्धः कामस्तन्नास्ति यन्न करोति ॥११५॥

अर्थ—अत्यधिक कामी व्यक्ति संसार में ऐसा कोई अकार्य नहीं, जिसे नहीं करता, अर्थात्-वह सभी प्रकार के निन्द्य कार्य कर बैठता है ॥११५॥

अतिवृद्ध काम के विषय में उदाहरणमाला—

श्रूयते हि किल कामपरवशः प्रजापतिरात्मदुहितरि, हरिर्गोपवधूषु, हरः शान्तनुकलत्रेषु, सुरपतिर्गौतमभार्यायां, चन्द्रश्च बृहस्पतिपत्न्यां मनश्चकारेति ॥११६॥

अर्थ—पौराणिक कथा में सुना जाता है ब्रह्मा काम के वशीभूत होकर अपनी सरस्वती नाम की पुत्री में कामासक्त हुए, कृष्ण गोपों की स्त्रियों में कामासक्त हुए, शिवजी गङ्गा नाम की शान्तनु की प्रिया में आसक्त हुए, इन्द्र गौतम की स्त्री अहल्या में और चन्द्र तारा नाम की बृहस्पति की प्रिया में आसक्त हुए ॥११६॥

मानवों की धन-वाञ्छा नैसर्गिक है—

अर्थेषूपभोगरहितास्तरवोऽपि साभिलाषाः किं पुनर्मनुष्याः ॥११७॥

अर्थ—पुष्प फलादि रूप धन का स्वयं उपभोग न करनेवाले वृक्ष भी जब पुष्प-फलरूप धन के इच्छुक होते हैं तो फिर अर्थ का उपभोग करनेवाले मनुष्यों के विषय में कहना ही क्या है। अर्थात्-उनमें तो धनाभिलाषा का होना अनिवार्य है ॥११७॥

विशेषार्थ—जैमिनि[3] का उद्धरण भी सदृश अभिप्राय का प्रदर्शक है।

धन-प्राप्ति का परिणाम—

कस्य न धनलाभाल्लोभः प्रवर्तते ॥११८॥

अर्थ—संसार में धन-लाभ होने से किसे लोभ नहीं होता ॥११८॥

विशेषार्थ—वर्ग[4] के उद्धरण का भी उक्त अभिप्राय है।

जितेन्द्रिय की प्रशंसा—

स खलु प्रत्यक्षं दैवं यस्य परस्वेष्विव परस्त्रीषु निःस्पृहं चेतः ॥११९॥

अर्थ—निश्चय से जिस मानव की चित्तवृत्ति परधन के समान परस्त्रियों में लालसा-रहित है, वह प्रत्यक्ष देवता है, मनुष्य नहीं ॥११९॥

---

१. तथा च बादरायणः—न तथा जायते स्नेहः प्रभूतैः सुकृतैर्बहुः। स्वल्पेनाप्यपकारेण यथा वैरं प्रजायते ॥१॥

२. तथा च भृगुः—यो दृष्टिविषः सर्पो दृष्टस्तु विकृतिं भजेत्। तथापराधिनः सर्वे न स्युर्विकृतिवर्जिताः ॥१॥

३. तथा च जैमिनिः—अर्थं तेऽपि च वाञ्छन्ति ये वृक्षा आत्मचेतसा। उपभोगैः परित्यक्ताः किं पुनर्मनुष्याश्च ये ॥१॥

४. तथा च वर्गः—तावन्न जायते लोभो यावल्लाभो न विद्यते। मुनिर्यदि वनस्थोऽपि दानं गृह्णाति नान्यथा ॥१॥

विशेषार्थ—वर्ग[1] का उद्धरण भी समानार्थक है।

आय-व्यय में बुद्धि की आवश्यकता—

समायव्ययः कार्यारम्भो रामसिकानाम् ॥१२०॥

अर्थ—विना विवेक के उतावली में व्यापार-आदि कार्य करनेवालों के कार्य बराबर आमदनी और खर्च वाले होते हैं ॥१२०॥

विशेषार्थ—हारीत[2] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

महामूर्खों के कार्य—

बहुक्लेशेनाल्पफलः कार्यारम्भो महामूर्खाणाम् ॥१२१॥

अर्थ—महामूर्ख व्यक्ति जो कार्य प्रारम्भ करते है, उसमें उन्हें विशेष कष्ट उठाने पड़ते है और फल बहुत थोड़ा मिलता है ॥१२१॥

विशेषार्थ—वर्ग[3] के उद्धरण में भी उक्त उल्लेख है।

निन्द्य पुरुष—

†दोषभयान्न कार्यारम्भः कापुरुषाणाम् ॥१२२॥

अर्थ—कुत्सित पुरुष दोषो के भय से व्यापार-आदि कार्य प्रारम्भ ही नहीं करते ॥१२२॥

विशेषार्थ—वर्ग[4] के उद्धरण मे भी उक्त विषय का उल्लेख है।

उक्त विषय पर दृष्टान्त माला—

मृगाः सन्तीति किं कृषिर्न क्रियते ॥१२३॥

अजीर्णभयात् किं भोजनं परित्यज्यते ॥१२४॥

अर्थ—हिरणों के भय से क्या खेती नहीं की जाती? अजीर्ण के भय से क्या भोजन छोड़ दिया जाता है? अर्थात्-उसी प्रकार विघ्नों के भय से सज्जन पुरुष कर्त्तव्य-पथ को नहीं छोड़ते ॥१२३-१२४॥

विघ्नों की अनिवार्यता—

स खलु कोऽपीहाभूदस्ति भविष्यति वा यस्य कार्यारम्भेषु प्रत्यवाया न भवन्ति ॥१२५॥

अर्थ—जिसे कार्यारम्भ में विघ्न-बाधाएँ नहीं होती ऐसा कोई पुरुष क्या संसार मे हुआ है? या है? या होगा? ॥१२५॥

विशेषार्थ—भागुरि[5] के उद्धरण मे उक्त विषय का निरूपण है।

---

१. तथा च वर्गः—परद्रव्यं कलत्रं च यस्य दृष्ट्वे महात्मनः। न मनो विकृतिं याति स देवो न च मानवः ॥१॥

२. तथा च हारीतः—आयव्ययौ समौ स्यातां यदि कार्यं विनश्यति। ततस्तोषेण कुर्वन्ति भयोऽपि न त्यजन्ति तत् ॥१॥

३. तथा च वर्गः—बहुक्लेशानि कृत्यानि स्वल्पभावानि च क्रतु ?। महामूर्खतमा येऽत्र न निर्वेदं व्रजन्ति च ॥१॥

†. 'दोषभयात्कार्यानारम्भः कापुरुषाणाम्' इति ग, घ, च प्रतिषु पाठः।

४. तथा च वर्गः—कार्यदोषान् विचिन्वन्तो नराः कापुरुषाः स्वयं। शुभं भाव्यान्यपि त्रस्ता न कृत्यानि प्रचक्रुः ? ॥१॥

५. तथा च भागुरिः—यस्योद्यमो भवति तं समुपैति लक्ष्मीर्दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या, यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्र दोषः ॥१॥

दुष्टों की कार्य-प्रणाली—

आत्मसंशयेन कार्यारम्भो *व्यालहृदयानाम् ॥१२६॥

अर्थ—सर्प और श्वापद-सरीखे दुष्टहृदयवाले व्यक्ति ऐसे निन्द्य कार्य प्रारम्भ करते हैं, जिनसे उन्हें अपने प्राण-घात की संभावना रहती है ॥१२६॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] का उद्धरण भी समान-आशय का वाचक है।

महापुरुषों का कर्तव्य—

दूरभीरुत्वमासन्नशूरत्वं रिपुं प्रति महापुरुषाणाम् ॥१२७॥

अर्थ—महापुरुष दूरवर्ती शत्रु से भयभीत होते हैं, अर्थात्-उससे युद्ध नहीं करते परन्तु जब शत्रु आक्रमण करने निकट आ जाता है तब अपनी वीरता का प्रदर्शन करते हैं ॥१२७॥

विशेषार्थ—किसी नीतिकार[2] के दो उद्धरण भी उक्त विषयक के निरूपक है।

मृदुता का परिणाम—

***जलवन्मार्दवोपेतः पृथूनपि भूभृतो भिनत्ति ॥१२८॥**

अर्थ—जिसप्रकार कोमल जल-प्रवाह विशाल पर्वतों को उखाड़ देता है उसीप्रकार मृदुता-युक्त राजा भी महाशक्तिशाली राजाओं का विनाश कर देता है ॥१२८॥

विशेषार्थ—गुरु[3] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

प्रियवाणी का सुफल—

प्रियंवदः शिखीव सदर्पानपि द्विषत्सर्पानुच्छादयति ॥१२९॥

अर्थ—प्रियवादी राजा अभिमानी शत्रुरूपी सर्पों को उसप्रकार नष्ट कर देता है जिस प्रकार प्रियवाणी बोलनेवाला मयूर दर्प-युक्त सर्पों को नष्ट कर देता है ॥१२९॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] के उद्धरण में भी उक्त विषय का निरूपण है।

महापुरुषों की प्रकृति—

नाविज्ञाय परेषामर्थमनर्थं वा स्वहृदयं प्रकाशयन्ति महानुभावाः ॥१३०॥

अर्थ—दूसरों की अच्छी या बुरी बात जाने बिना उत्तम पुरुष अपने मन की बात प्रकट नहीं करते ॥१३०॥

विशेषार्थ—भृगु[5] के उद्धरण में भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण है।

*. 'वालहृदयानाम्' इति ग, घ, च प्रतिषु पाठः।

१. तथा च शुक्रः—ये व्यालहृदया भूपास्तेषां कर्माणि यानि च। आत्मसन्देहकारीणि तानि स्युर्निखिलानि च ॥१॥

२. उक्तं च यतो नीतौ—युद्धं परित्यजेद्धीमानुपायैः सामपूर्वकैः। कदाचिज्जायते दैवाद्धीनेनापि बलाधिकः ॥१॥
तावत्परस्य भेतव्यं यावन्नो दर्शनं भवेत्। दर्शने तु रिपुर्जाते प्रहर्तव्यमशंकितैः ॥२॥

*. 'जलकेलिवत्' 'ग' प्रतौ पाठः।

३. तथा च गुरुः—मार्दवेनापि सिद्ध्यन्ति कार्याणि सुगुरूण्यपि। यतो जलेन भिद्यन्ते पर्वता अपि निष्ठुराः ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—यो राजा मृदुवाक्यः स्यात् सदर्पानपि विद्विषः। स निहन्ति न सन्देहो मयूरो भुजगानिव ॥१॥

५. तथा च भृगुः—अज्ञात्वा परकार्यं च शुभं वा यदि वाशुभं। अन्येषां न प्रकाशेयुः सन्तो नैव निजाशयं ॥१॥

उत्तम पुरुष से सम्भाषण का सुफल—

क्षीरवृक्षवत् *फलसम्पादनमेव महतामालापः ।।१३१।।

अर्थ—उत्तम पुरुषों का सम्भाषण उसप्रकार फलदायक होता है जिसप्रकार दूधवाले वृक्ष मीठे फल देते हैं ।।१३१।।

विशेषार्थ—वर्ग[1] का उद्धरण भी समान अभिप्राय का प्रदर्शक है।

नीच को वश में लाने का उपाय—

दुरारोहपादप इव दण्डाभियोगेन फलप्रदो भवति नीचप्रकृतिः ।।१३२।।

अर्थ—जिसप्रकार अधिक ऊँचाई या काँटों के कारण आरोहण करने के लिए अशक्य वृक्ष दण्ड-प्रहार से फल देनेवाले होते हैं उसीप्रकार नीच प्रकृति का मनुष्य भी दण्डनीति से ही फल-प्रद या वशीभूत होता है ।।१३२।।

विशेषार्थ—भागुरि[2] का उद्धरण भी उक्त अभिप्राय का प्रदर्शक है।

महापुरुष का लक्षण—

स महान् यो विपत्सु धैर्यमवलम्बते ।।१३३।।

अर्थ—जो आपत्तिकाल में धैर्य का आश्रय लेता है, वही महापुरुष है ।।१३३।।

विशेषार्थ—गुरु[3] का उद्धरण भी समान आशय का वाचक है।

कार्यसिद्धि में बाधक—

उत्तापकत्वं हि सर्वकार्येषु सिद्धीनां प्रथमोऽन्तरायः ।।१३४।।

अर्थ—निश्चय से मानव की आकुलता समस्त कार्यों की सिद्धि में प्राथमिक विघ्न है, अर्थात्-अत्यन्त बाधक है ।।१३४।।

विशेषार्थ—गुरु[4] ने भी इसी प्रकार कहा है।

कुलीन का लक्षण—

शरद्घना इव न खलु वृथालापा गलगर्जितं कुर्वन्ति सत्कुलजाताः ।।१३५।।

अर्थ—कुलीन पुरुष शरत्कालीन बादलों की तरह गरजनेवाले नहीं होते। अर्थात्-जिसप्रकार शरत्कालीन बादल केवल गरजते हैं बरसते नहीं उसी प्रकार कुलीन उत्तम पुरुष व्यर्थ नहीं बोलते किन्तु अच्छे-अच्छे पुण्य व यशस्य कार्य करके दिखाते है ।।१३५।।

विशेषार्थ—गौतम[5] के उद्धरण में भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण है।

---

*. 'फलप्रदो' ग. घ. च प्रतिषु ललित. पाठः।

१. तथा च वर्गः—आलापः साधुलोकाना फलद. स्यादसंशयम्। अचिरेणैव कालेन क्षीरवृक्षो यथा तथा ।।१।।

२. तथा च भागुरिः—दण्डाहतो यथात्यतिदुरारोहो महीरुहः। तथा फलप्रदो नूनं नीचप्रकृतिरत्र यः ।।१।।

३. तथा च गुरु.—आपत्कालेऽत्र संप्राप्ते धैर्यमालम्बते हि यः। स महत्त्वमवाप्नोति पार्थिवः पृथिवीतले ।।१।।

४. तथा च गुरुः—व्याकुलत्वं हि लोकानां सर्वकृत्येषु विघ्नकृत्। पार्थिवाना विशेषेण [येषां कार्याणि भूरिशः] ।।१।।

संशोधित—

५. तथा च गौतमः—वृथालापैर्न भाव्यं च भूमिपालैः कदाचन। यथा शरद्घना कुर्युस्तोयवृष्टिविवर्जिताः ।।१।।

सुन्दर-असुन्दर का विश्लेषण—

न स्वभावेन किमपि वस्तु सुन्दरमसुन्दरं वा, किन्तु यदेव यस्य प्रकृतितो भाति तदेव तस्य सुन्दरम् ॥१३६॥

अर्थ—स्वभावतः कोई वस्तु मनोज्ञ या अमनोज्ञ नहीं होती किन्तु जिसकी प्रकृति से जिसकी अनुकूलता होती है अथवा जिस किसी को स्वभाव से जो वस्तु रुचती है वही वस्तु उसके लिये मनोज्ञ होती है ॥१३६॥

विशेषार्थ—जैमिनि[1] के उद्धरण में भी यही कहा है।

दृष्टान्त—

न तथा कर्पूररेणुना प्रीतिः केतकीनां यथाऽमेध्येन ॥१३७॥

अर्थ—केतकी के वृक्षों को कर्पूर की रज से वैसी प्रसन्नता नहीं होती, जितनी अमेध्य वस्तु गोबर-आदि की खाद से, क्योंकि केतकी का वृक्ष कर्पूर-रज के डालने से वृद्धिगत नहीं होता, किन्तु खाद डालने से वृद्धिगत होता है ॥१३७॥

अधिक क्रोध का दुष्परिणाम—

अतिक्रोधनस्य प्रभुत्वमग्नौ पतितं लवणमिव शतधा विशीर्यते ॥१३८॥

अर्थ—अत्यन्त क्रोध करनेवाले मानव का ऐश्वर्य अग्नि में पड़े हुए नमक के खण्डों की भाँति सौ-सौ टुकड़े हो जाता है। अर्थात्-खण्डित होकर नष्ट होजाता है ॥१३८॥

विशेषार्थ—ऋषिपुत्रक[2] का उद्धरण भी समान अभिप्राय का प्रदर्शक है।

गुणों के नष्ट होने का कारण—

सर्वान् गुणान् निहन्त्यनुचितज्ञः ॥१३९॥

अर्थ—समयानुकूल कर्तव्य को न जाननेवाला व्यक्ति अपने समस्त गुणों को नष्ट कर देता है ॥१३९॥

विशेषार्थ—नारद[3] के उद्धरण में भी प्रस्तुत विषय का उल्लेख है।

गुप्त रहस्य दूसरे को कहने से हानि—

परस्य मर्मकथनमात्मविक्रय एव ॥१४०॥

अर्थ—अपनी गुप्त बात दूसरे को बता देना, उसके हाथ अपने को बेंच देना ही है। क्योंकि गुप्त बात कहनेवाले को दूसरे से हमेशा यह डर बना रहता है कि यदि यह मुझ से विरुद्ध हो जायगा तो मेरा गुप्त रहस्य फोड़कर मुझे अधिक हानि पहुँचायगा। अतः उसे सदा उसकी आज्ञानुकूल चलना पड़ता है ॥१४०॥

शत्रु पर विश्वास करने से हानि—

तदजाकृपाणीयं यः परेषु विश्वासः ॥१४१॥

अर्थ—शत्रुओं पर विश्वास करना 'अजाकृपाणीय' न्याय-सरीखा घातक है। अर्थात्-बकरी बकरे का मांस भक्षण करनेवाले की तलवार कब बकरी बकरे पर पड़ेगी ? जैसे यह निश्चय नहीं उसी प्रकार शत्रु कब

---

१. तथा च जैमिनिः—सुन्दरासुन्दरं लोके न किंचिदपि विद्यते। निकृष्टमपि तच्छ्रेष्ठं मनसः प्रतिभाति यत् ॥१॥

२. तथा च ऋषिपुत्रकः—अतिक्रोधो महीपालः प्रभुत्वस्य विनाशकः। लवणस्य यथा वह्निर्मध्ये निपतितस्य च ॥१॥

३. तथा च नारदः—गुणैः सर्वैः समेतोऽपि वेत्ति कालोचितं न च। वृथा तस्य गुणाः सर्वे यथा षण्ढस्य योषितः ॥१॥

घात कर देगा, यह निश्चित नही कहा जा सकता। अत शत्रु पर विश्वास करना उचित नही ॥१४१॥

विशेषार्थ—चाणिक्य[१] के उद्धरण मे भी उक्त विषय का उल्लेख है।

चञ्चलता से हानि—

क्षणिकचित्तः किंचिदपि न साधयति ॥१४२॥

अर्थ—चचल चित्त वाला व्यक्ति किसी भी कार्य को सिद्ध नही कर सकता ॥१४२॥

विशेषार्थ—हारीत[२] के उद्धरण मे भी उक्त बात का स्पष्टीकरण है।

स्वेच्छाचारिता का दुष्परिणाम—

स्वतन्त्रः सहसाकारित्वात् सर्वं विनाशयति ॥१४३॥

अर्थ—जो राजा स्वतन्त्र होता है, अर्थात्—राजकीय कार्यों मे मंत्री का योग्य परामर्श नही मानता, वह विना सोचे समझे अनेक कार्यों को एक काल मे आरम्भ करने के कारण अपना समस्त राज्य नष्ट कर डालता है ॥१४३॥

विशेषार्थ—नारद[३] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

आलसी की निन्दा—

अलस सर्वकर्मणामनधिकारी ॥१४४॥

अर्थ—आलसी व्यक्ति समस्त कार्यों के अयोग्य होता है ॥१४४॥

विशेषार्थ—राजपुत्र[४] के उद्धरण मे भी उक्त विषय का निरूपण है।

प्रमाद का दुष्परिणाम—

प्रमादवान् भवत्यवश्यं विद्विषां वशः ॥१४५॥

अर्थ—कर्तव्य-पालन मे असावधान रहनेवाला व्यक्ति निश्चय से शत्रुओ के वश हो जाता है ॥१४५॥

विशेषार्थ—जैमिनि[५] के उद्धरण मे भी उक्त उल्लेख है।

मित्र को शत्रु न बनाने की नैतिक शिक्षा—

कमप्यात्मनोऽनुकूलं प्रतिकूलं न कुर्यात् ॥१४६॥

अर्थ—अपने अनुकूल रहनेवाले अर्थात्—मित्रता का वर्ताव करनेवाले किसी व्यक्ति को अपना प्रतिकूल-शत्रु-न वनावे ॥१४६॥

विशेषार्थ—राजपुत्र[६] के उद्धरण मे भी उक्त उल्लेख है।

गुप्त रहस्य को सुरक्षित रखना अनिवार्य—

प्राणादपि प्रत्यवायो रक्षितव्यः ॥१४७॥

१ तथा च चाणिक्य —न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्तेऽपि न विश्वसेत्। विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलादपि निकृन्तति ॥१॥

२ तथा च हारीत —चलचित्तस्य नो किंचित् कार्यं किंचित्प्रसिद्धयति। सुसूक्ष्ममपि तत्तस्मात् स्थिर कार्यं यशोऽर्थिभिः ॥१॥

३ तथा च नारद —य. स्वतन्त्रो भवेद्राजा सचिवान्न च पृच्छति। स्वय कृत्यानि कुर्वाणः स राज्य नाशयेद् ध्रुवम् ॥१॥

४ तथा च राजपुत्र —आलस्योपहतान् योऽत्र विदधात्यधिकारिण। सूक्ष्मेष्वपि च कृत्येषु न सिद्धयेत्तानि तस्य हि ॥१॥

५ तथा च जैमिनि —सुसूक्ष्मेष्वपि कृत्येषु शैथिल्य कुरुतेऽत्र य। स राजा रिपुवश्य. स्यात् [प्रभूतविभवोऽपि सन्] ॥१॥

६ तथा च राजपुत्र —मित्रत्वे वर्तमान य शत्रुरूप क्रियान्नृप। स मूर्खो भ्रश्यते राजा अपवादं च गच्छति ॥१॥

अर्थ—मानव को प्राणों से भी अधिक अपने गुप्त रहस्य की रक्षा करनी चाहिए ॥१४७॥

विशेषार्थ—भागुरि[1] के उद्धरण में भी उक्त विषय का निरूपण है।

अपनी शक्ति न समझकर बलिष्ठ शत्रु से युद्ध छेड़ने का दुष्परिणाम—

आत्मशक्तिमजानतो विग्रहः क्षयकाले कीटिकानां पक्षोत्थानमिव ॥१४८॥

अर्थ—जो राजा अपनी सैनिक शक्ति व कोशशक्ति को न जानकर बलिष्ठ शत्रु के साथ युद्ध ठान लेता है, वह विनाशकाल में पतङ्गों के पर उठाने की तरह अपना नाश कर डालता है ॥१४८॥

विशेषार्थ—गुरु[2] के उद्धरण में भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण है।

शत्रु के साथ शिष्टता के व्यवहार की अवधि—

कालमलभमानोऽपकर्तरि साधु वर्तेत ॥१४९॥

अर्थ—विजयश्री के इच्छुक राजा को जब तक अनुकूल समय प्राप्त न हो तब तक उसे शत्रु के साथ शिष्टता का वर्ताव करना चाहिए, अर्थात्-उससे मैत्री कर लेनी चाहिए ॥१४९॥

विशेषार्थ—भागुरि[3] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

उदाहरणमाला द्वारा समर्थन—

किन्तु खलु लोको न वहति मूर्ध्ना दग्धुमिन्धनं ॥१५०॥

अर्थ—अग्नि में जलाने योग्य ईंधन (लकड़ी-आदि) को क्या लोग शिर पर नहीं ढोते ?॥१५०॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

नदीरयस्तरूणामङ्घ्रीन् क्षालयन्नप्युन्मूलयति ॥१५१॥

अर्थ—जिसप्रकार नदी का वेग (प्रवाह) तटवर्ती वृक्षों के चरणसरीखीं जड़ों को धोते धोते उखाड़ देता है उसी प्रकार शत्रु के साथ मृदु व्यवहार करके भी उसका उन्मूलन किया जाता है ॥१५१॥

विशेषार्थ—शुक्र[5] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

गर्व का दुष्परिणाम—

उत्सेको हस्तगतमपि कार्यं विनाशयति ॥१५२॥

अर्थ—अभिमान सिद्ध होते हुए भी कार्य को नष्ट कर देता है ॥१५२॥

विशेषार्थ—शुक्र[6] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

शत्रु-नाश के उपाय के वेत्ता की प्रशंसा—

नाल्पं महद्वापक्षेपोपायज्ञस्य ॥१५३॥

१. तथा च भागुरिः—आत्मच्छिद्रं प्ररक्षेत जीवादपि महीपतिः। यतस्तेन प्रलब्धेन प्रविश्य घ्नन्ति शत्रवः ॥१॥

२. तथा च गुरुः—अचलं प्रोन्नतं योऽत्र रिपुं याति यथाचलं। शीर्णदन्तो निवर्तेत स यथा मत्तवारणः ॥१॥

३. तथा च भागुरिः—बलवन्तं रिपुं दृष्ट्वा तस्य छन्दोऽनुवर्तयेत्। बलाप्त्या स पुनस्तं च भिन्द्यात् कुम्भमिवाश्मना ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—दग्धुं वहति काष्ठानि तथापि शिरसा नरः। एवं मान्योऽपि वैरी यः पश्चाद्वध्यः स्वशक्तितः ॥१॥

५. तथा च शुक्रः—क्षालयन्नपि वृक्षाङ्घ्रीन्नदीवेगः प्रणाशयेत्। पूजयित्वापि यद्वच्च शत्रुर्वध्यो विचक्षणैः ॥१॥

६. तथा च शुक्रः—वचनं कृपणं ब्रूयात् कुर्यान्मार्जारचेष्टितम्। विश्वस्तमाखुवच्छत्रुं ततस्तं तु निपातयेत् ॥१॥

अर्थ—शत्रु-विनाश के विविध उपायों को जाननेवाले के लिए छोटा या महान् विघ्न नहीं होता, अर्थात्-उसके समक्ष हीन शक्ति या प्रचुर शक्तिशाली भी शत्रु नहीं ठहर सकता ॥१५३॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

दृष्टान्त—

नदीपूरः सममेवोन्मूलयति तीरजतृणाङ्घ्रिपान् ॥१५४॥

अर्थ—जिसप्रकार नदी का प्रवाह तटवर्ती घासों और वृक्षों को एक काल में उखाड़ देता है उसी प्रकार शत्रु-विनाश के उपायों को जाननेवाला विजिगीषु भी अनेक सफल साधनों से हीन शक्ति व प्रचुर शक्तिवाले शत्रुओं को परास्त कर देता है ॥१५४॥

विशेषार्थ—गुरु[2] के उद्धरण में भी उक्त विषय का निरूपण है।

नैतिक कर्तव्य—

युक्तमुक्तं वचो बालादपि गृह्णीयात् ॥१५५॥

अर्थ—न्याय-युक्त वचन शिशु से भी ग्रहण कर लेना चाहिए ॥१५५॥

विशेषार्थ—विदुर[3] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

दृष्टान्त—

रवेरविषये किं न दीपः प्रकाशयति ॥१५६॥

अर्थ—जहाँपर सूर्य का प्रकाश नहो है वहाँ क्या दीपक पदार्थों को प्रकाशित नहीं करता? उसीप्रकार बालक के भी न्यायपूर्ण वचन ग्रहण करना लाभप्रद है ॥१५६॥

दृष्टान्त—

अल्पमपि वातायनविवरं बहूनुपलम्भयति ॥१५७॥

अर्थ—जिसप्रकार छोटा सा भी झरोखा या रोशनदान गृहवर्ती बहुत से पदार्थ प्रकाशित करता है उसीप्रकार बालक द्वारा कहे हुए युक्ति-पूर्ण वचन भी लाभदायक होते है ॥१५७॥

विशेषार्थ—हारीत[4] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

निरर्थक वाणी से वक्ता का अनादर—

पतिंवरा इव परार्थाः खलु वाचस्ताश्च निरर्थकं प्रकाश्यमानाः शपयन्त्यवश्यं जनयितारं ॥१५८॥

अर्थ—निस्सन्देह कन्याओं सरीखी वाणियाँ भी परार्थ होती है अर्थात्—पराई सम्पत्तियाँ है, वे यदि निरर्थक प्रकाशित की जाती हैं तो जिसतरह निरर्थक अर्थात्-निर्धन या नपुंसक के लिए दीं गईं कन्याएँ अपने पिता का अनादर करती है उसी तरह विना प्रयोजन बोली हुई वाणी भो वक्ता का अनादर कराती है ॥१५८॥

विशेषार्थ—वर्ग[5] का उद्धरण भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण करता है।

---

१. तथा च शुक्रः—वधोपायान् विजानाति शत्रूणां पृथिवीपतिः। तस्याग्रे च महान् शत्रुस्तिष्ठते न कुतो लघुः ॥१॥

२. तथा च गुरुः—पार्थिवो मृदुवाक्यैर्यः शत्रू नालापयेत् सुधीः। नाशं नयेच्छनैस्तांश्च तीरजान् सिन्धुपूरवत् ॥१॥—संशोधित

३. तथा च विदुरः—लघुं मत्वा प्रलापेत बालाच्चापि विशेषतः। यत्सारं भवति तद् ग्राह्यं शिलाहारी शिलं यथा ॥१॥

४. तथा च हारीतः—गवाक्षविवरं सूक्ष्मं यद्यपि स्याद्विलोकितं। प्रकाशयति यद्भूरि तद्वद् बालप्रजल्पितम् ॥१॥

५. तथा च वर्गः—वृथालापं च यः कुर्यात् स पुमान् हास्यतां व्रजेत्। पतिंवरा पिता यद्वदन्यस्यार्थे वृथा ददत् ॥१॥

मूर्ख के लिए उपदेश देना व्यर्थ है—

तत्र युक्तमप्युक्तमयुक्तसमं यो न विशेषज्ञः ॥१५९॥

अर्थ—जो वक्ता के वचनों पर विशेष विचार नहीं करता, अर्थात्-जो मूर्ख है उसके सामने उचित बात कहना भी अनुचित-सरीखी है, क्योंकि उसका कोई फल नहीं होता। अर्थात्-मूर्ख को उपदेश देना व्यर्थ है ॥१५९॥

विशेषार्थ—वर्ग[1] के उद्धरण में भी उक्त विषय का निरूपण है।

हठी के लिए हितोपदेश सुनाने का दुष्परिणाम—

स खलु पिशाचकी वातकी वा यः परेऽनर्थिनि वाचमुदीरयति ॥१६०॥

अर्थ—जो वक्ता, न सुननेवाले के लिए अपनी बात सुनाता है, उसकी लोग इसप्रकार की निन्दा करते हैं कि निश्चय से इसे पिशाच या भूत लगा हुआ है अथवा इसे वातोल्वण सन्निपात रोग हो गया है ॥१६०॥

विशेषार्थ—भागुरि[2] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

अनैतिक पुरुष की वृद्धि स्थाई नहीं है—

विध्यायतः प्रदीपस्येव नयहीनस्य वृद्धिः ॥१६१॥

अर्थ—नीति-विरुद्ध प्रवृत्ति करनेवाले मानव की श्रीवृद्धि बुझते हुए दीपक की लौंसरीखी विनाशशील होती है। अर्थात्—जिसप्रकार बुझता हुआ दीपक अधिक प्रकाश करके समूल नष्ट हो जाता है—बुझ जाता है—उसी प्रकार अन्यायी मानव भी श्रीवृद्धि करके थोड़े ही दिनों में समाप्त हो जाता है ॥१६१॥

विशेषार्थ—नारद[3] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

कृतघ्न सेवक की क्षति—

जीवोत्सर्गः स्वामिपदमभिलषतामेव ॥१६२॥

अर्थ—अपने स्वामी के पद की अभिलाषा करनेवाले सेवकों को प्राणत्याग करना पड़ता है ॥१६२॥

विशेषार्थ—नारद[4] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

दुष्टों के प्रति नीति—

बहुदोषेषु क्षणदुःखप्रदोऽपायोऽनुग्रह एव ॥१६३॥

अर्थ—तीव्रतम अपराधियों के लिए मृत्युदण्ड देना राजा को क्षणभर के लिए दुःखद होता है, परन्तु इससे राजा का उपकार ही होता है; क्योंकि राष्ट्र-कण्टकों के उन्मूलन से राज्य की श्रीवृद्धि होती है ॥१६३॥

विशेषार्थ—हारीत[5] ने भी इसीप्रकार कहा है।

क्षुब्ध राज-कर्मचारी कृत्या सरीखे घातक होते हैं—

स्वामिदोषस्वदोषाभ्यामुपहतवृत्तयः क्रुद्ध-लुब्ध-भीतावमानिताः कृत्याः ॥१६४॥

---

१. तथा च वर्गः—अरण्यरुदितं तत्स्यात् यन्मूर्खस्योपदिश्यते। हिताहितं न जानाति जल्पितं न कदाचन ॥१॥

२. तथा च भागुरिः—अश्रोतुः पुरतो वाक्यं यो वदेदविचक्षणः। अरण्यरुदितं सोऽत्र कुरुते नात्र संशयः ॥१॥

३. तथा च नारदः—चौर्यादिभिः समृद्धिर्या पुरुषाणां प्रजायते। ज्योतिष्कस्येव सा भूतिर्नाशकाल उपस्थिते ॥१॥

४. तथा च नारदः—स्वामिस्थानं च यो मूर्खो वाञ्छति स्वसमृद्धये। स मृत्युमुप गृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥१॥

५. तथा च हारीतः—अवध्या अपि वध्यास्ते ये तु पापा निजा अपि। क्षणदुःखे च तेषां च पश्चात्सच्छ्रेयसे भवेत् ॥१॥

अर्थ—राज-दोष के कारण और स्वयं किये हुए अपराधों के कारण जिनकी जीविका के साधन नष्ट कर दिये गए है, ऐसे क्रोधी, लोभी, भयभीत और अपमानित व्यक्ति कृत्या-सरीखे महाभयङ्कर घातक होते हैं। अर्थात्—जिसप्रकार अयथाविधि से किया हुआ क्षुब्ध यज्ञ, यज्ञकर्ता का घातक होता है उसीप्रकार उपहृत वृत्तिवाले क्षुब्ध राज-कर्मचारी भी राजघातक होते हैं ॥१६४॥

विशेषार्थ—नारद[1] के उद्धरण में भी उक्त विषय का निरूपण है।

राज-कर्मचारियों को वश में करने के उपाय—

***अनुवृत्तिरभयं त्यागः सत्कृतिश्च कृत्यानां वशोपायाः ॥१६५॥**

अर्थ—उक्त राज-कर्मचारियों को वश करने के उपाय हैं—उनकी इच्छानुसार कार्य कर देना, उनके लिए अभयदान देना, धनादि देना, और उनका सन्मान करना अर्थात्—नौकरी-आदि दे देना ॥१६५॥

राजा की सामान्य नीति—

क्षयलोभविरागकारणानि प्रकृतीनां न कुर्यात् ॥१६६॥

अर्थ—राजा का कर्त्तव्य है कि वह अपनी प्रकृति (मन्त्री व सेनापति-आदि और साधारण प्रजा) के विनाश, लोभ और वैराग्य का कारण न बने ॥१६६॥

विशेषार्थ—वशिष्ठ[2] के उद्धरण मे भी प्रस्तुत विषय का स्पष्टीकरण है।

प्रकृति-कोप विशेष कष्टप्रद—

सर्वकोपेभ्यः प्रकृतिकोपो गरीयान् ॥१६७॥

अर्थ—प्रकृति अर्थात्—प्रजा और अमात्य-आदि का कोप समस्त कोपों की अपेक्षा विशेष कष्टदायक होता है ॥१६७॥

विशेषार्थ—राजपुत्र[3] ने भी प्रकृति-कोप का दुष्परिणाम निरूपण किया है।

दुष्टों के प्रति राज-कर्तव्य—

अचिकित्स्यदोषदुष्टान् खनिदुर्गसेतुबन्धाकरकर्मान्तरेषु क्लेशयेत् ॥१६८॥

अर्थ—जिनके अपराध किसीप्रकार दूर न किये जा सकते हों अर्थात्—जिन्हें वध और बन्धन-आदि द्वारा दण्डित नहीं किया जा सके, ऐसे राज-द्रोही महान् अपराधियों को तालाब-खाई खुदवाना, किले में रखकर काम कराना, नदियों के पुल बँधवाना और खानियों से लोहा-आदि धातुएँ निकलवाना, इत्यादि कार्यों में लगाकर क्लेशित करे ॥१६८॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

कथा गोष्ठी के अपात्र व्यक्ति—

[†]अपराध्यैरपराधकैश्च सह गोष्ठीं न कुर्यात् ॥१६९॥

---

१. तथा च नारदः—नोपेक्षणीयाः सचिवाः साधिकारा. कृताश्च ये। योजनीयाः स्वकृत्ये ते न चेत्स्युर्वधकारिणः ॥१॥

*. सूत्रमिदं ग, घ च प्रतितः संकलितं—सम्पादक

२. तथा च वशिष्ठ.—क्षयो लोभो विरागश्च प्रकृतीनां न शस्यते। [कुतस्तासां प्रदोषेण] राज्यवृद्धिः प्रजायते ॥१॥
तृतीय चरणं संशोधितं परिवर्तितं च—सम्पादक

३. तथा च राजपुत्रः—राज्ञां छिद्राणि सर्वाणि विदु. प्रकृतयः सदा। निवेद्य तानि शत्रुभ्यस्ततो नाशं नयन्ति तम् ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—अवध्या ज्ञातयो ये च बहुदोषा भवन्ति च। कर्मान्तरेषु नियोज्यास्ते येन स्युर्व्यसनान्विताः ॥१॥

†. 'अपराद्धैरपराधकैश्च सहवासं न कुर्वीत' ग, घ, च प्रतिषु पाठः।

अर्थ—अपराधी और अपराध करानेवालों के साथ वार्तालाप और उठना-बैठना, आदि छोड़ दें ॥१६९॥

विशेषार्थ—नारद[1] के उद्धरण में भी प्रस्तुत विषय का उल्लेख है।

दृष्टान्त—

ते हि गृहप्रविष्टसर्पवत् सर्वव्यसनानामागमनद्वारम् ॥१७०॥

अर्थ—निस्सन्देह ऐसे व्यक्ति गृह में प्रविष्ट हुए सर्प की भाँति समस्त आपत्तियों के आगमन में कारण होते हैं ॥१७०॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] का उद्धरण भी समानार्थक है।

किसके आगे न आवे—

न कस्यापि क्रुद्धस्य पुरतस्तिष्ठेत् ॥१७१॥

अर्थ—किसी भी क्रोधी पुरुष के सामने नहीं आवे ॥१७१॥

विशेषार्थ—गुरु[3] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

दृष्टान्त—

क्रुद्धो हि सर्प इव यमेवाग्रे पश्यति तत्रैव रोषविषमुत्सृजति ॥१७२॥

अर्थ—निस्सन्देह क्रोधी पुरुष सर्प-सरीखा होता है, अतः वह जिस किसी को सामने देखता है उसी के ऊपर अपना क्रोध रूपी जहर उगल देता है ॥१७२॥

जिसका गृह में आना निष्फल है—

अप्रतिविधातुरागमनाद्वरमनागमनम् ॥१७३॥

अर्थ—जो मनुष्य प्रयोजन सिद्ध करने में समर्थ नहीं है उसका प्रयोजनार्थी के गृह पर आने की अपेक्षा न आना ही उत्तम है, क्योंकि उसके निरर्थक आने से कार्यसिद्धि चाहनेवाले का व्यर्थ समय नष्ट होने के सिवाय कोई लाभ नहीं ॥१७३॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[4] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

इति मन्त्रिसमुद्देशः

११. पुरोहितसमुद्देशः

राजपुरोहित के गुण—

पुरोहितमुदितोदितकुलशीलं षडंगवेदे दैवे निमित्ते दंडनीत्यामभिविनीतमापदां दैवीनां मानुषीणां च प्रतिकर्तारं कुर्वीत ॥१॥

१. तथा च नारदः—परिभूता नरा ये च कृतो यैश्च पराभवः। न तैः सह क्रियाद्गोष्ठीं य इच्छेद्भूतिमात्मनः ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—यथाहिर्मन्दराविष्टः करोति सततं भयम्। अपराध्याः सदोषाश्च तथा तेऽपि गृहागताः ॥१॥

३. तथा च गुरुः—यथान्धः कुपितो हन्यात् यच्चैवाग्रे व्यवस्थितं। क्रोधान्धोऽपि तथैवात्र तस्मात्तं दूरतस्त्यजेत् ॥१॥

४. तथा च भारद्वाजः—प्रयोजनार्थमानीतो यः कार्यं तन्न साधयेत्। आनीतेनापि किं तेन व्यर्थोपक्षयकारिणा ॥१॥

अर्थ—राजा को अपना पुरोहित ऐसा बनाना चाहिए, जिसमें निम्नप्रकार के गुण हों—जो प्रख्यात-कुलवाला और सदाचारी हो, जो छह वेदाङ्ग अर्थात्—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष-युक्त वेद में प्रवीण हो, जो ज्योतिष, निमित्तज्ञान और दण्डनीति विद्या में प्रवीण हो, एवं जो दैवी (उल्कापात, अतिवृष्टि और अनावृष्टि आदि) तथा मानुषी आपत्तियों को दूर करने में समर्थ हो ।।१।।

विशेषार्थ—शुक्र[1] के उद्धरण में भी राजपुरोहित के गुणों का निर्देश है ।

मन्त्री और पुरोहित की महत्ता—

राज्ञो हि मंत्रिपुरोहितौ मातापितरौ, अतस्तौ न केषुचिद्वाञ्छितेषु विसूरयेत्, दुःखयेद् दुर्विनयेद्वा ।।२।।

अर्थ—निश्चय से राजा के लिये मन्त्री और पुरोहित माता-पिता सरीखे हैं, अतः वह उनको किसी भी अभिलषित वस्तु के लिए दुःखित अथवा तिरस्कृत न करे ।।२।।

विशेषार्थ—गुरु[2] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है ।

आपत्तियों का स्वरूप और भेद—

अमानुष्योऽग्निरवर्षमतिवर्षम्, मारको, दुर्भिक्षं सस्योपघातो जन्तूत्सर्गो, व्याधि-भूत-पिशाच-शाकिनी-सर्प-व्याल-मूषकक्षोभश्चेत्यापदः ।।३।।

अर्थ—आपत्तियाँ निम्न प्रकार की हैं—बिजली गिरने से अथवा उल्कापात से आग लगजाना, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, महामारी, हैजा, प्लेग-आदि का प्रसार होना, दुर्भिक्ष (अकाल) पड़ना, टिड्डी वगैरह कीड़ों से धान्य का नष्ट होना, हिंसक जीवों के छूटने से होनेवाली पीड़ा, बुखार-गलगडादि शारीरिक रोग, भूत, पिशाच, शाकिनी, सर्प और हिंसक जन्तुओं से होनेवाली पीड़ा और मूषकों की प्रचुरता से होनेवाला उपद्रव ।।३।।

राजकुमारों के लिए शिक्षा के विषय—

शिक्षालापक्रियाक्षमो राजपुत्रः सर्वासु लिपिषु प्रसंख्याने पदप्रमाणप्रयोगकर्मणि नीत्यागमेषु रत्नपरीक्षायां सम्भोगप्रहरणोपवाह्यविद्यासु च साधु विनेतव्यः ।।४।।

अर्थ—राजा का कर्तव्य है कि जब राजकुमार शिक्षाग्रहण करने योग्य, वार्तालाप करने योग्य और कर्तव्य करने के योग्य हो जाय तब उसे समस्त भाषाओं की शिक्षा, गणितविद्या, साहित्य, न्याय, व्याकरण, नीतिशास्त्र, रत्नपरीक्षा, कामशास्त्र ,शस्त्रविद्या और हस्ती-अश्वादि वाहनविद्या में अच्छी तरह प्रवीण बनावे ।।४।।

विशेषार्थ—राजपुत्र[3] के उद्धरण में भी मूर्ख राजकुमार से राज्य-क्षति होने का निर्देश है ।

गुरु की उपासना के कारण—

अस्वातन्त्र्यमुक्तकारित्वं नियमो विनीतता च गुरूपासनकारणानि ।।५।।

अर्थ—स्वच्छन्द न रहना, गुरु की आज्ञा का पालन करना, इन्द्रियों को वश में करना और अहिंसा-आदि सदाचार में प्रवृत्त करना एवं विनयशील होना ये सब गुण गुरु की उपासना के साधन हैं ।।५।।

---

१. तथा च शुक्रः—दिव्यान्तरिक्षभौमानामुत्पातानां प्रशान्तये । तथा सर्वापदां चैव कार्यो भूपैः पुरोहितः ।।१।।

२. तथा च गुरुः—समौ मातृपितृभ्यां च राज्ञो मंत्रीपुरोहितौ । अतस्तौ वाञ्छितैर्यैर्न कथंचिद्विस्तरयेत् ।।१।।

३. तथा च राजपुत्रः—कुमारो यस्य मूर्खः स्यान्न विद्यासु विचक्षणः । तस्य राज्यं विनश्येत्तदप्राप्त्या नात्र संशयः ।।१।।

विशेषार्थ—गौतम[1] के उद्धरण में भी प्रस्तुत विषय का स्पष्टीकरण है।

विनय का स्वरूप और फल—

व्रतविद्यावयोधिकेषु नीचैराचरणं विनयः ॥६॥

अर्थ—व्रतपालन में, अर्थात्—अहिंसा, सत्य, अचौर्य-आदि सदाचार-प्रवृत्ति में—जो अपने से उत्कृष्ट हो, ज्ञानसंचय में जो उत्कृष्ट हों और आयु में जो अपने से उत्कृष्ट हों उनके प्रति अत्यन्त नमस्कार-आदि नम्रता का व्यवहार करना विनय गुण है ॥६॥

विशेषार्थ—गर्ग[2] का उद्धरण भी उक्त विषय में समानार्थक है।

विनय का फल—

पुण्यावाप्तिः शास्त्ररहस्यपरिज्ञानं सत्पुरुषाधिगम्यत्वं च विनयफलम् ॥७॥

अर्थ—व्रती महापुरुषों को विनय से धर्म प्राप्त होता है, विद्वान् गुरुजनों की विनय करने से शास्त्र के गूढ़ रहस्य का परिज्ञान होता है और माता-पिता-आदि वयोवृद्धों की विनय करने से शिष्ट पुरुषों द्वारा सन्मान प्राप्त होता है। यह सब विनय का फल है। अर्थात्—विनय करने से उक्त प्रशस्त गुण अनायास प्राप्त होते हैं ॥७॥

परम्परागत ज्ञान की विशेषता—

अभ्यासः कर्मसु कौशलमुत्पादयत्येव यद्यस्ति तज्ज्ञेभ्यः सम्प्रदायः ॥८॥

अर्थ—कोई भी कार्य यदि उसके ज्ञाताओं से परम्परागत प्राप्त होता है और उसका अभ्यास किया जाता है तो उस कार्य में निपुणता अवश्य प्राप्त होती है। अभिप्राय यह है कि परम्परागत विद्वत्ता रखने वाले गुरुजनों की सन्निधि में किया हुआ विद्याभ्यास, शास्त्र के गूढ़ रहस्य का ज्ञान कराकर कर्तव्य-पालन में निपुण बना देता है ॥८॥

गुरु की आज्ञा का पालन—

***गुरुवचनमनुल्लंघनीयमन्यत्राधर्मानुचिताचारात्मप्रत्यवायेभ्यः ॥९॥**

अर्थ—जो धर्म के प्रतिकूल हों, जो अनुचित आचार वाले हों, अर्थात्-जो नीतिविरुद्ध प्रवृत्ति करानेवाले हों और जो अपने कर्तव्य में विघ्नबाधाएँ पैदा करते हों, ऐसे वचनों को छोड़कर बाकी सभी गुरु के वचनों का उल्लघन नहीं करना चाहिए। अर्थात्-धर्मानुकूल, उचित आचरणवाले और श्रेयस्कर गुरुवचनों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए ॥९॥

गुरु की विशेषता—

युक्तमयुक्तं वा गुरुरेव जानाति यदि न शिष्यः प्रत्यर्थवादी ॥१०॥

अर्थ—यदि शिष्य गुरु के प्रतिकूल बोलनेवाला नहीं है तो उसके योग्य-अयोग्य कर्तव्य को गुरु ही जानता है ॥१०॥

१. तथा च गौतमः—सदादेशकरो यः स्यात् स्वेच्छया न प्रवर्तते। विनयव्रतचर्याढ्यः स शिष्यः सिद्धिभाग्भवेत् ॥१॥

२. तथा च गर्गः—व्रतविद्याधिका ये च तथा च वयसाधिकाः। यत्तेषां क्रियते भक्तिर्विनयः स उदाहृतः ॥१॥

*. 'गुरुवचनमनुल्लंघनीयमन्यत्राधर्मानुचिताचारात्' इति ग, घ, च, प्रतिषु पाठः।

क्रोधित गुरुजनों के प्रति कर्तव्य—

गुरुजनरोषेऽनुत्तरदानमभ्युपपत्तिश्चौषधम् ॥११॥

अर्थ—गुरुजनों के कुपित होनेपर जवाब न देना और उनकी सेवा-शुश्रूषा करना उनके क्रोध-शान्ति की औषधि है ॥११॥

गुरु के प्रति कर्तव्यों का निरूपण—

शत्रूणामभिमुखः पुरुषः श्लाघ्यो न पुनर्गुरूणाम् ॥१२॥

अर्थ—शत्रुओं से लडाई छेडनेवाला पुरुष प्रशंसनीय है न कि गुरुजनों से ॥१२॥

आराध्यं न प्रकोपयेद्यद्यसावाश्रितेषु कल्याणशंसी ॥१३॥

अर्थ—यदि आराधना के योग्य गुरु अपने अधीन रहनेवाले शिष्य की कल्याण-कामना करनेवाले हैं तो उन्हे कुपित नहीं करना चाहिए ॥१३॥

गुरुभिरुक्तं नातिक्रमितव्यं, यदि नैहिकामुत्रिकफलविलोपः ॥१४॥

अर्थ—यदि ऐहिक पारलौकिक सुख-प्राप्ति में बाधा न पड़ती हो तो गुरुजनों द्वारा कहे हुए वचनों का उल्लङ्घन नहीं करना चाहिए ॥१४॥

सन्दिहानो गुरुमकोपयन्नापृच्छेत् ॥१५॥

अर्थ—पढते समय सन्देह-युक्त शिष्य, गुरु को कुपित न करता हुआ सदिग्ध विषय को पुनः पूँछ ले ॥१५॥

गुरूणां पुरतो न यथेष्टमासितव्यम् ॥१६॥

अर्थ—गुरुजनों के आगे स्वेच्छापूर्वक अर्थात्—उद्दण्डतापूर्वक नही बैठना चाहिए ॥१६॥

नानभिवाद्योपाध्यायाद्विद्यामाददीत* ॥१७॥

अर्थ—नमस्कार किये विना गुरु से विद्या ग्रहण नही करना चाहिए। अथवा पाठान्तर का अर्थ—यदि शिष्य अपने गुरु की अपेक्षा वक्तृत्वकला, जाति और विद्वत्ता से अधिक या समान है तो भी उसे नमस्कार किये विना विद्या ग्रहण नही करनी चाहिए ॥१७॥

विशेषार्थ—वसिष्ठ[1] का उद्धरण भी सोदाहरण उक्त विषय का निरूपक है।

अध्ययनकालीन कर्तव्य—

अध्ययनकाले व्यासङ्गं पारिप्लवमन्यमनस्कतां च न भजेत् ॥१८॥

अर्थ—विद्या पढते समय दूसरा कार्य, चञ्चलता तथा अन्यमनस्कता अर्थात्—चित्तवृत्ति को दूसरी ओर ले जाना, ये कार्य नही करना चाहिए ॥१८॥

विशेषार्थ—गौतम[2] के उद्धरण म भी उक्त विषय का उल्लेख है।

*. 'वयुक्ति-जाति-श्रुताभ्यामाधिक्यं समानत्वं वा'। इत्यधिक पाठ ग, घ, च, प्रतिषु वर्तावर्ति।

१. तथा च वसिष्ठः—नमस्कारं विना शिष्यो यो विद्याग्रहण क्रियात्। गुरो स ता न चाप्नोति शूद्रो वेदश्रुति यथा ॥१॥

२. तथा च गौतमः—अन्यकार्यं च चापल्यं तथा चैत्रान्यचित्तता। प्रस्तावे पठनस्यात्र य. करोति जडो भवेत् ॥१॥

सहपाठी के प्रति कर्तव्य—

सहाध्यायिषु बुद्धयतिशयेन नाभिभूयेत* ॥१९॥

अर्थ—तीक्ष्णबुद्धिवाले छात्र को अपनी बुद्धि से सहपाठी छात्रों का तिरस्कार नहीं करना चाहिए ॥१९॥

विशेषार्थ—गुरु[1] के उद्धरण में भी प्रस्तुत विषय का स्पष्टीकरण है।

गुरु के साथ शिष्ट व्यवहार—

प्रज्ञयातिशयानो न गुरुमवज्ञायेत ॥२०॥

अर्थ—शिष्य का कर्तव्य है कि वह गुरु की अपेक्षा विशेष विद्वान् होनेपर भी उसका तिरस्कार न करे ॥२०॥

विशेषार्थ—भृगु[2] के उद्धरण में भी उक्त विषय का निरूपण है।

माता-पिता के प्रति पुत्र-कर्तव्य—

स किमभिजातो मातरि यः पुरुषः शूरो वा पितरि ॥२१॥

अर्थ—जो माता अथवा पिता के प्रति शूरता (वीरता) प्रदर्शित करता है, क्या वह पुत्र कुलीन कहा जा सकता है ?॥२१॥

विशेषार्थ—मनु[3] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

पुत्र-कर्तव्य—

अननुज्ञातो न क्वचिद् व्रजेत् ॥२२॥

अर्थ—माता-पिता की आज्ञा के बिना पुत्र को कहीं नहीं जाना चाहिए ॥२२॥

विशेषार्थ—वशिष्ठ[4] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

मार्गमचलं जलाशयं च नैकोऽवगाहयेत्* ॥२३॥

अर्थ—लम्बे मार्ग पर, पहाड़ पर और वापी-आदि जलाशय पर अकेले नहीं जाना चाहिए ॥२३॥

विशेषार्थ—गुरु[5] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

छात्र-कतव्म-

पितरमिव गुरुमुपचरेत् ॥२४॥

अर्थ—शिष्य को पिता के समान गुरु को सेवा शुश्रूषा करनी चाहिए ॥२४॥

---

*. 'नाभ्यसूयेत्' इति ग, घ, च प्रतिषु पाठः।

१. तथा च गुरुः—न सहाध्यायिनः कुर्यात् पराभवसमन्वितान्। स्वबुद्धयतिशयेनात्र यो विद्यां वाञ्छति प्रभोः ॥१॥

२. तथा च भृगुः—बुद्धयाधिकस्तु यश्छात्रो गुरुं पश्येदवज्ञया। स प्रेत्य नरकं याति वाच्यतामिह भूतले ॥१॥

३. तथा च मनुः—न पुत्रः पितरं द्वेष्टि मातरं न कथंचन। यस्तयोर्द्वेषसंयुक्तस्तं विन्द्यादन्यरेतसं ॥१॥

४. तथा च वशिष्ठः—पितृमातृसमादेशमगृहीत्वा करोति यः। सुसूक्ष्माण्यपि कृत्यानि स कुलीनो भवेन्न हि ॥१॥

*. 'अवगाहेत' इति ग, घ, च प्रतिषु पाठः।

५. तथा च गुरुः—वापीकूपादिकं यच्च मार्गं वा यदि वाचलं। नैकोऽवगाहयेत् पुत्रः पितृमातृविवर्जितः ॥१॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[1] के उद्धरण में भी पिता-सरीखी गुरु-भक्ति करने का निर्देश है।

गुरुपत्नीं जननीमिव पश्येत् ॥२५॥

अर्थ—गुरुपत्नी को माता-सरीखी देखे ॥२५॥

विशेषार्थ—याज्ञवल्क्य[2] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

गुरुमिव गुरुपुत्रं पश्येत् ॥२६॥

अर्थ—गुरु-पुत्र को गुरु के समान ही समझे ॥२६॥

विशेषार्थ—बादरायण[3] के उद्धरण में भी उक्त विषय का निरूपण है।

सब्रह्मचारिणि बान्धव इव स्निह्येत् ॥२७॥

अर्थ—छात्र को अपने सहपाठी ब्रह्मचारी से बन्धु की तरह स्नेह करना चाहिए ॥२७॥

विशेषार्थ—मनु[4] के उद्धरण में भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण है।

ब्रह्मचर्यमाषोडशाद्वर्षात्ततो गोदानपूर्वकं दारकर्म चास्य ॥२८॥

अर्थ—छात्र सोलह वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य से रहे, पश्चात् इसका गोदानपूर्वक विवाह संस्कार होना चाहिए ॥२८॥

पढ़ने का क्रम—

समविद्यैः सहाधीतं सर्वदाभ्यस्येत् ॥२९॥

अर्थ—अपने सहपाठियों के साथ पढ़े हुए विषय का सदा अभ्यास करना चाहिए ॥२९॥

अपनी दुर्दशा का प्रकट न करना—

गृहदौःस्थित्यमागन्तुकानां पुरतो न प्रकाशयेत् ॥३०॥

अर्थ—नैतिक व्यक्ति को अपने गृह की दुरवस्था (दरिद्रता-आदि) आगन्तुकों के समक्ष प्रकाशित नहीं करनी चाहिए ॥३०॥

परगृह मे प्रविष्ट हुए मानव की प्रकृति—

परगृहे सर्वोऽपि विक्रमादित्यायते ॥३१॥

अर्थ—दूसरे के गृह में जाकर प्रायः सभी पुरुष विक्रमादित्य के समान पराक्रम प्रदर्शित करने या उदारता प्रकट करने में तत्पर होते है ॥३१॥

महापुरुष का लक्षण—

स खलु महान् स्वकार्येष्विव परकार्येषूत्सहते ॥३२॥

१. तथा च भारद्वाजः—योऽन्तेवासी पितुर्यद्वद् गुरोर्भक्तिं समाचरेत्। स विद्यां प्राप्य निःशेषां लोकद्वयमवाप्नुयात् ॥१॥

२. तथा च याज्ञवल्क्यः—गुरुभार्यां च यः पश्येद् दृष्ट्या चात्र सकामया। स शिष्यो नरकं याति न च विद्यामवाप्नुयात् ॥१॥

३. तथा च बादरायणः—यथा गुरुं तथा पुत्रं यः शिष्यः समुपाचरेत्।
[तस्याकृष्टो गुरुः कृत्स्ना] निजा विद्यां निवेदयेत् ॥१॥ संशोधित—

४. तथा च मनुः—यथा भ्रातुः प्रकर्त्तव्यः [स्नेहोऽत्र निर्निबन्धनः]। तथा स्नेहः प्रकर्त्तव्यः शिष्येण ब्रह्मचारिणः ॥१॥

अर्थ—निस्सन्देह वही महापुरुष है, जो कि अपने कार्यों की तरह दूसरों के कार्यों में भी उत्साह प्रकट करता है ॥३२॥

विशेषार्थ—वादीभसिंहसूरि[1] ने कहा है—कि 'सज्जन पुरुष निश्चय से परोपकार करने में तत्पर रहते हैं, उस समय अपने ऊपर आई हुई आपत्ति की ओर ध्यान नहीं देते'।

जहाँ पर व्यक्ति उत्साह-शून्य होता है—

परकार्येषु को नाम न शीतलः ॥३३॥

अर्थ—कौन व्यक्ति दूसरों के कार्य-साधन में उत्साह-हीन नहीं होता ? अर्थात्-स्वभावतः लोग दूसरे के कार्य में सहायता करने में उत्साह प्रदर्शित नहीं करते ॥३३॥

कृत्रिम सज्जनता—

राजासन्नः को नाम न साधुः ॥३४॥

अर्थ—कौन व्यक्ति राजा के समीपवर्ती हुआ साधु नहीं बन जाता ? अर्थात्-राजा के समीपवर्ती होने पर राज-दण्ड के भय से राजकर्मचारी-आदि सभी लोग सज्जनता का व्यवहार करते हैं ॥३४॥

लोभी से अनुनय-विनय करने का दुष्परिणाम—

अर्थपरेष्वनुनयः केवलं दैन्याय ॥३५॥

अर्थ—लोभी से अनुनय-विनय करना केवल अपनी दीनता प्रदर्शित करना है; क्योंकि उससे अर्थ-लाभ होना असंभव है ॥३५॥

धनार्थी को सन्तुष्ट करने का उपाय—

को नामार्थार्थी प्रणामेन तुष्यति ॥३६॥

अर्थ—कौन धनार्थी केवल प्रणाम मात्र से सन्तुष्ट होता है ? अर्थात्—धन की याचना करनेवाला धन पाने से ही प्रसन्न हो सकता है, न कि प्रणाम मात्र से ॥३६॥

समस्त आश्रितों के प्रति समदृष्टि वर्ताव का सुफल—

आश्रितेषु कार्यतो विशेषकारणेऽपि प्रियदर्शनालापाभ्यां सर्वत्र समवृत्तिस्तन्त्रं वर्धयत्यनुरंजयति च ॥३७॥

अर्थ—आश्रितों में प्रयोजन-वश किसी व्यक्ति विशेष से अधिक कार्यसिद्धि होनेपर भी राजा का कर्तव्य है कि वह समस्त आश्रितों के प्रति अर्थात्—अमात्य-आदि प्रकृति के प्रति अनुरक्त दृष्टि और मधुर-भाषण-आदि शिष्ट व्यवहार एक सरीखा रक्खे। क्योंकि पक्षपात-शून्य समदृष्टि से राजतन्त्र की श्रीवृद्धि होती है और समस्त प्रकृति (अमात्य-आदि) उससे अनुरक्त रहती है। यदि आश्रितों में से किसी विशेष कर्मचारी द्वारा उसकी विशेष प्रयोजन-सिद्धि हुई हो तो उसे एकान्त में पारितोषिक प्रदान द्वारा प्रसन्न करे, परन्तु उसका पक्षपात प्रकाशित नहीं होना चाहिए। अन्यथा प्रकृति के लोग राजा से द्वेष करने लगते हैं ॥३७॥

दरिद्र से धन-ग्रहण का निषेध—

तनुधनादर्थग्रहणं मृतमारणमिव ॥३८॥

१. तथा च वादीभसिंहसूरिः—स्वापदं न हि पश्यन्ति सन्तः पारार्थ्यतत्पराः ॥१॥ क्षत्रचूडामणि

अर्थ—दरिद्र मनुष्य से धन लेना मरे हुए को मारने के समान है ॥३८॥

असमर्थ से कार्य के लिए निवेदन करना निरर्थक है—

अप्रतिविधातरि कार्यनिवेदनमरण्यरुदितमिव ॥३९॥

अर्थ—जिसप्रकार जंगल में रोना व्यर्थ है उसीप्रकार कार्य-सिद्धि में असमर्थ व्यक्ति से अपने कार्य के लिए निवेदन करना भी व्यर्थ है ॥३९॥

हठी के लिए हितोपदेश—

दुराग्रहस्य हितोपदेशो बधिरस्याग्रतो गानमिव ॥४०॥

अर्थ—हठी के लिए हित का उपदेश देना बहिरे के आगे गाने के समान निष्फल है ॥४०॥

मूर्ख-शिक्षा—

अकार्यज्ञस्य शिक्षणमन्धस्य पुरतो नर्तनमिव ॥४१॥

अर्थ—कर्तव्य-ज्ञान से शून्य पुरुष के लिए शिक्षा देना अन्धे के सामने नाँचने के समान व्यर्थ है ॥४१॥

विचार-शून्य को शिक्षा—

अविचारकस्य युक्तिकथनं तुषकण्डनमिव ॥४२॥

अर्थ—जिस तरह भूसे का कूटना निरर्थक है उसी तरह विचार-हीन व्यक्ति से युक्ति-युक्त बात कहना निरर्थक है ॥४२॥

विशेषार्थ—किसी नीतिकार[1] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

नीच व्यक्ति के प्रति उपकार का परिणाय—

नीचेषूपकृतमुदके विशीर्णं लवणमिव ॥४३॥

अर्थ—नीच व्यक्ति के साथ किया हुआ उपकार पानी में फेके हुए नमक की तरह नष्ट हो जाता है ॥४३॥

विशेषार्थ—वादीभसिंहसूरि[2] ने भी कहा है—कि 'जिसप्रकार साँप को पिलाया हुआ दूध विषवर्द्धक होता है उसीप्रकार नीच मनुष्य के साथ किया हुआ उपकार अपकार (हानि) के लिए होता है'।

मूर्ख को समझाना—

अविशेषज्ञे प्रयासः शुष्कनदीतरणमिव ॥४४॥

अर्थ—विशेष बुद्धि न रखनेवाले (मूर्ख) को समझाने का परिश्रम करना सूखी नदी में तैरने के समान निष्फल है ॥४४॥

परोक्ष में उपकार—

परोक्षे किलोपकृतं सुप्तसंवाहनमिव ॥४५॥

अर्थ—निस्सन्देह परोक्ष में किया गया उपकार सोये हुए व्यक्ति के पैर दावने के समान है ॥४५॥

अकाले विज्ञप्तमूषरे कृष्टमिव ॥४६॥

---

१. उक्तं च—उपदेशो हि मूर्खाणां केवलं दु खवर्धनम्। पयः पानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्द्धनम् ॥१॥

२. तथा च वादीभसिंहसूरिः—उपकारोऽपि नीचानामपकाराय कल्पते। पन्नगेन पयः पीतं विषस्येव हि वर्धनम् ॥१॥

अर्थ—बिना अवसर के कही गई बात ऊसर जमीन जोतने के समान है ॥४६॥

उपकृत्योद्घाटनं वैरकरणमिव ॥४७॥

अर्थ—उपकार करके उसे प्रकाशित करना शत्रुता करने सरीखा है ॥४७॥

भविष्य में कुछ न करनेवाले की प्रसन्नता—

अफलवतः प्रसादः काशकुसुमस्येव ॥४८॥

अर्थ—उपकार करने में असमर्थ पुरुष का प्रसन्न होना कास (घास विशेष) के पुष्प-सरीखा निरर्थक है। अर्थात्-कास में केवल फूल होते हैं फल नहीं लगते उसी तरह जो व्यक्ति या राजा न तो कुछ उपकार कर सके न कुछ द्रव्य-आदि दे सके उसे प्रसन्न करना व्यर्थ है ॥४८॥

विशेषार्थ—किसी नीतिवेत्ता[1] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

गुण-दोष का विना निश्चय किये अनुग्रह-निग्रह करने का दुष्परिणाम—

गुणदोषावनिश्चित्यानुग्रहनिग्रहविधानं ग्रहाभिनिवेश इव ॥४९॥

अर्थ—गुण और दोष का निश्चय किये बिना अनुग्रह-निग्रह करना (दण्ड देना) राहु-केतु-आदि ग्रहों के अभिनिवेश-सरीखा है अर्थात्—अपने को कष्टप्रद होता है ॥४९॥

किसे सन्तुष्ट और रुष्ट करना चाहिए ?

उपकारापकारासमर्थस्य तोषरोषकरणमात्मविडम्बनमिव ॥५०॥

अर्थ—जो व्यक्ति उपकार करने में समर्थ नहीं है, उसे सन्तुष्ट करना और जो अपकार करने में समर्थ नहीं है उसको रुष्ट करना अपनी हँसी कराने-सरीखा है ॥५०॥

ग्रामशूर—

शूद्रस्त्रीविद्रावणकारि गलगर्जितं ग्रामशूराणाम् ॥५१॥

अर्थ—केवल गाँव भर के लिए शूर व्यक्ति का गरजना या चिल्लाना शूद्रों और स्त्रियों को ही भयभीत करनेवाला होता है। अभिप्राय यह है, जो स्वाभाविक शूर नहीं है, उससे बुद्धिमान् पुरुष भयभीत नहीं होते ॥५१॥

प्रशस्त व निन्द्य धन—

स विभवो मनुष्याणां यः परोपभोग्यो न तु यः स्वस्यैवोपभोग्यो व्याधिरिव ॥५२॥

अर्थ—मनुष्यों का वही धन प्रशंसनीय है, जो कि दूसरों द्वारा उपभोग किया जासके, किन्तु जिसे धनी पुरुष स्वयं भोगता है वह निश्चय से व्याधि-सरीखा है ॥५२॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[2] के उद्धरण में भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण है।

गुरु, पिता और मित्र किस दशा में निन्द्य होते हैं ?

स किं गुरुः पिता सुहृद्वा योऽभ्यसूयागर्भं बहुषु दोषं प्रकाशयन् न शिक्षयति ॥५३॥

अर्थ—वह गुरु, पिता और मित्र निन्दनीय है, जो अपने शिष्य, पुत्र और मित्र के दोषों की निन्दा करता हुआ बहुतों के समक्ष प्रकट करता है और उसे नैतिक शिक्षा नहीं देता ॥५३॥

१. उक्तं च—यस्मिन् रुष्टे भयं नास्ति तुष्टे नैव धनागमो। अनुग्रहो निग्रहो नास्ति स रुष्टः किं करिष्यति।

२. तथा च वल्लभदेवः—किं तया क्रियते लक्ष्म्या या वधूरिव केवला। या न वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते ॥१॥

विशेषार्थ—गौतम[1] का उद्धरण भी प्रस्तुत विषय का समर्थक है।

स्वामी की निन्दा—

स किं प्रभुर्यश्चिरसेवकेष्वेकमप्यपराधं न सहते ॥५४॥

अर्थ—वह स्वामी निन्द्य है, जो कि अपने चिरकालीन सेवक का एक भी अपराध क्षमा नहीं करता ॥५४॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] के उद्धरण में भी उक्त विषय का निरूपण है।

[इति पुरोहितसमुद्देशः]

१२. सेनापति-समुद्देशः

सेनापति के गुण—

अभिजनाचारप्राज्ञानुरागसत्यशौचशौर्यसम्पन्नः, प्रभाववान्, बहुबान्धवपरिवारो, निखिलनयोपायप्रयोगनिपुणः समभ्यस्तसमस्तवाहनायुधयुद्धलिपिभाषात्मपरिज्ञानस्थितिः सकलतन्त्रसामन्ताभिमतः, साङ्ग्रामिकाभिरामिकाकारशरीरो, भर्तुरादेशाभ्युदयदेशहितवृत्तिषु निर्विकल्पः स्वामिनात्मवन्मानार्थप्रतिपत्तिः, राजचिह्नैः सम्भावितः, सर्वक्लेशायाससहः, स्वैः परैश्चाप्रधृष्यप्रकृतिरिति सेनापतिगुणाः ॥१॥

अर्थ—सेनापति के निम्नलिखित गुण हैं—कुलीन, आचार-व्यवहार-सम्पन्न, बुद्धिमान्, स्वामी और और सेवकों से अनुरक्त, सत्यवादी, शुचिता और शूरता से सम्पन्न, प्रभावशाली, बहुत से वन्धु-वान्धवों से युक्त, समस्त नैतिक उपायों के प्रयोग करने में कुशल, जिसने समस्त हाथी, घोड़े-आदि वाहन, खड्ग-आदि शस्त्र-संचालन, युद्ध, लिपि और अनेक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया हो, आत्मज्ञानी, समस्तप्रजा और सामन्तों को प्रिय लगनेवाला, युद्ध के योग्य और मनोहर आकृति और मनोज्ञ शरीरवाला, स्वामी की आज्ञा का पालन, और स्वामी के अभ्युदय और राष्ट्र के हित-चिन्तवन के विषय में स्थिरबुद्धि-युक्त, जो स्वामी द्वारा अपने सरीखा समझा जाकर सन्मानित और प्रचुर धन देकर पुरस्कृत किया गया हो, राजचिह्नों से विभूषित और समस्त प्रकार के कष्ट और खेदों को सहन करने में समर्थ एवं जिसकी प्रकृति (अमात्य-आदि) अपने और दूसरे शत्रुओं द्वारा पराजित न की जा सके ॥१॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] ने भी कहा है—'जो राजा समस्त गुणों से विभूषित सेनाध्यक्ष की नियुक्ति करता है, वह शत्रुकृत पराभव को प्राप्त नहीं होता।'

सेनापति के दोष—

स्वैः परैश्च प्रधृष्यप्रकृतिरप्रभाववान् स्त्रीजितत्वमौद्धत्यं व्यसनिता, क्षयव्ययप्रवासोपहतत्वं तन्त्राप्रतीकारः, सर्वैः सह विरोधः परपरीवादः परुषभाषित्वमनुचितज्ञताऽसंविभागित्वं

१. तथा च गौतमः—शिक्षां दद्यात् स्वशिष्यस्य तद्दोषं न प्रकाशयेत्। ईर्ष्यागर्भं भवेद्यच्च प्रभूतस्य जनाग्रतः ॥१॥
२. तथा च शुक्रः—चिरकालधरो भृत्यो भक्तियुक्तः प्रसेवयेत्। न तस्य निग्रहः कार्यो दोषस्यैकस्य कारणात् ॥१॥
३. तथा च शुक्रः—सर्वैर्गुणैः समोपेतं सेनानाथं करोति यः। भूमिपालो न चाप्नोति स शत्रुभ्यः पराभवं ॥१॥

स्वावन्ध्यात्मसंभावनोपहतत्वं स्वामिकार्यव्यसनोपेक्षः सहकारिकृतकार्यविनाशो राजहितवृत्तिषु चेर्ष्यालुत्वमिति सेनापतिदोषाः ॥२॥

अर्थ—निम्नप्रकार सेनापति के दोष हैं—जिसकी प्रकृति (प्रधान पुरुष) अपने राष्ट्रीय और बाहिरी शत्रुओं द्वारा पराजित की जासके, तेज-शून्य, स्त्री के वशीभूत होना, उद्दण्डता, द्यूत-मद्यपान-आदि व्यसनों में आसक्ति, क्षयरोग, अधिक व्यय, चिरप्रवास से व्याप्त, शत्रु द्वारा प्रयुक्त प्रयोगों को दूर करने में असमर्थ, सब के साथ वैर विरोध (लड़ाई-झगड़ा) करना, दूसरों की निन्दा करना, कठोर वचन बोलना, अनुचित बातों को ही जाननेवाला, दूसरों के लिए विना बाँटे रुपयों को भोगनेवाला, स्वच्छन्दता अर्थात्—गुरुजन-आदि किसी का स्वल्प अंकुश न चाहनेवाला (निरर्गल प्रवृत्तिवाला) और अपने लिऐ विशेष सन्मान का इच्छुक, स्वामी के कार्यों और आपत्तियों की उपेक्षा करनेवाला और सहकारियों के कार्यों का विघात करनेवाला और राजा के हितकारी कार्यों में ईर्ष्या करनेवाला ॥२॥

विशेषार्थ—गुरु[1] के उद्धरण में भी सदोषी सेनापति से राज्य-क्षति होने का निरूपण है।

प्रजा का अनुरञ्जन अधिकारी का कर्त्तव्य—

सः चिरंजीवी राजपुरुषो यो नगरनापित इवानुवृत्तिपरः सर्वासु प्रकृतिषु ॥३॥

अर्थ—जो राजकर्मचारी समस्त प्रजा के अनुरञ्जन में तत्पर होता है, वह चिरकाल तक राजसेवा करता हुआ उसप्रकार सुखी रहता है जिसप्रकार नागरिकों का कार्य करनेवाला नाई जनता का प्रेमपात्र होकर सुखी जीवन का यापन करता है ॥३॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

इति सेनापतिसमुद्देशः।

१३. दूतसमुद्देशः

दूत और उसके गुण—

***अनासन्नेष्वर्थेषु दूतो मन्त्री ॥१॥**

अर्थ—दूरदेशवर्ती राजकीय कार्यों के लिए भेजा जानेवाला दूत है, जो कि मन्त्री सरीखा है। पाठान्तर का अर्थ—जो अधिकारी शीघ्र करने योग्य कार्य का साधक होता है और जो मंत्री तुल्य है वह 'दूत' है ॥१॥

विशेषार्थ—राजपुत्र[3] का उद्धरण भी दूत का उक्त लक्षण निरूपक है।

स्वामिभक्तिरव्यसनिता दाक्ष्यं शुचित्वममूर्खता† प्रागल्भ्यं प्रतिभानवत्वं क्षान्तिः परमर्मवेदित्वं जातिश्च प्रथमे दूतगुणाः ॥२॥

१. तथा च गुरुः—सेनापतिं स्वदोषाढ्यं यः करोति स मन्दधीः। न जयं लभते संख्ये बहुसेनोऽपि स क्वचित् ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—सेवकः प्रकृतीनां यो नम्रतां याति सर्वदा। स नन्दति चिरं कालं भूपस्यापि प्रियो भवेत् ॥१॥

*. 'आसन्नेष्वर्थेषु दूतो मन्त्री' इति ग, घ, च प्रतिषु पाठः।

३. तथा च राजपुत्रः—देशान्तरस्थितं कार्यं दूतद्वारेण सिद्ध्यति। तस्माद्दूतो यथा मंत्री तत्कार्यं हि प्रसाधयेत् ॥१॥

†. अमुमूर्खता' ग, घ, च प्रतिषु पाठः।

अर्थ—राजदूत के निम्नप्रकार गुण हैं—स्वामीभक्त, द्यूत-क्रीड़न-मद्यपान-आदि व्यसनों में अनासक्त, चतुर, पवित्र, मूर्खता-शून्य अर्थात्—विद्वान्, प्रगल्भता-युक्त प्रतिभाशाली, सहिष्णु, दूसरे के मर्म को जानने-वाला और उत्तमजातिवाला ॥२॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] के उद्धरण में भी राजदूत के गुणों का निर्देश है।

दूत के भेद—

स त्रिविधो निःसृष्टार्थः परिमितार्थः शासनहरश्चेति ॥३॥

अर्थ—दूत तीन प्रकार के है– निःसृष्टार्थ, परिमितार्थ और शासनहर ॥३॥

यत्कृतौ स्वामिनः सन्धिविग्रहौ प्रमाणं स निःसृष्टार्थो यथा कृष्णः पाण्डवानाम् ॥४॥

अर्थ—जिसके द्वारा निश्चित किये हुए सन्धि-विग्रह को उसका स्वामी प्रामाणिक स्वीकार कर लेता है, वह 'निःसृष्टार्थ' दूत है। उदाहरणार्थ—जैसे श्री कृष्ण पाण्डवो के 'निःसृष्टार्थ' दूत थे ॥४॥

इसीप्रकार जो राजा द्वारा कहे हुए सन्देश (वाक्य) को जैसे का तैसा निरूपण करे, उसे 'परिमितार्थ' कहते है और जो राजा द्वारा लिखा हुआ लेख यथावत् शत्रु को प्रदान करता है, वह 'शासनहर' है।

विशेषार्थ—भृगु[2] के तीन उद्धरणो मे भी राजदूत के तीनों भेदों के उक्त प्रकार लक्षण निर्देश किये हैं।

दूत के कर्तव्य—

अविज्ञातो दूतः परस्थानं न प्रविशेन्निर्गच्छेद्वा ॥५॥

अर्थ—दूत शत्रुराजा से अज्ञात होकर अर्थात्—शत्रुराजा को अपना परिचय दिये विना न तो उसके राज्य में प्रविष्ट हो और न वहाँ से बाहर आवे ॥५॥

विशेषार्थ—गुरु[3] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

मत्स्वामिनमतिसन्धातुकामः परो मां विलम्बयितुमिच्छतीत्यविज्ञातोऽपि दूतोऽपसरेद् गूढपुरुषान्वावसर्पयेत् ॥६॥

अर्थ—जब दूत को यह निश्चय होजाय कि 'यह शत्रु मेरे स्वामी से युद्ध करने का इच्छुक हैं' और इसो कारण मुझे यहाँ रोक रहा है तो उसे शत्रु की आज्ञा लिए विना ही वहाँ से प्रस्थान कर देना चाहिए या स्वामी के पास गुप्त दूत भेज देना चाहिए ॥६॥

विशेषार्थ—हारीत[4] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

परेणाशुप्रेषितो दूतः कारणं विमृशेत् ॥७॥

अर्थ—यदि शत्रु ने दूत को देखकर ही शीघ्र वापिस लौटा दिया हो तो दूत उसका कारण सोचे ॥७॥

---

१. तथा च शुक्रः—दक्षं जात्यं प्रगल्भं च दूतं यः प्रेषयेन्नृपः। अन्यैश्च स्वगुणैर्युक्तं तस्य कृत्यं प्रसिद्धयति ॥१॥

२. तथा च भृगुः—यद्वाक्यं नान्यथाभावि प्रभोर्यद्यप्यनीप्सितम्। निःसृष्टार्थः स विज्ञेयो दूतो नीतिविचक्षणैः ॥१॥
यत्प्रोक्तं प्रभुणा वाक्यं तत्प्रमाणं वदेच्च यः। परिमितार्थ इति ज्ञेयो दूतो नान्यं ब्रवीति यः ॥२॥
प्रभुणा लेखितं यच्च तत्परस्य निवेदयेत्। यः शासनहरः सोऽपि दूतो ज्ञेयो नयान्वितैः ॥३॥

३. तथा च गुरुः—शत्रुणा योऽपरिज्ञातो दूतस्तत्स्थानमाविशेत्। निर्गच्छेद्वा ततः स्थानात् स दूतो वधमाप्नुयात् ॥१॥

४. तथा च हारीतः—असन्धानं परं शत्रुं दूतो ज्ञात्वा विचक्षणः। अनुक्तोऽपि गृहं गच्छेद् गुप्तान्वा प्रेषयेच्चरान् ॥१॥

विशेषार्थ—गर्ग[1] के उद्धरण में भी उक्त विषय का निरूपण है।

कृत्योपग्रहः कृत्योत्थापनं सुतदायादावरुद्धोपजापः स्वमण्डलप्रविष्टगूढपुरुषपरिज्ञानमन्तभू मिपालाटविकसम्बन्धः कोशदेशतन्त्रमित्रावरोधः कन्यारत्नवाहनविनिश्रावणं स्वामीष्टपुरुषप्रयोगात् परप्रकृतिक्षोभकरणं च दूतकर्म ॥८॥

अर्थ—दूत, स्वामी के हितार्थ शत्रु-राजा के यहाँ ठहरकर निम्नप्रकार कर्तव्य पालन करे—शत्रु द्वारा प्रयोग की हुई कृत्या को शान्त करना, शत्रु के लिए कृत्या का उत्थापन करना, जेलखाने में अवरुद्ध हुए शत्रु के पुत्र व कुटुम्बियों-आदि में भेद उत्पन्न करना अर्थात्—धनादि देकर उन्हें अपने पक्ष में करना, अपने देश में प्रविष्ट हुए शत्रु के गुप्त पुरुषों का पता लगाना, सीमाधिप और आर्टविक (भिल्लराज) आदि से संबंध स्थापित करना, शत्रु के कोश का, देश का, सैन्य का और मित्रों का परिज्ञान करना, कन्या, रत्न और वाहन का निकलवाना, और अपने अभीष्ट पुरुषों के प्रयोग द्वारा शत्रु की प्रजा-आदि में क्षोभ उत्पन्न करना ये दूत के कार्य हैं ॥८॥

मन्त्रिपुरोहितसेनापतिप्रतिवद्धाप्तजनोपचारविस्रम्भाभ्यां शत्रोरितिकर्तव्यतामन्तः सारतां च विन्धात् ॥९॥

अर्थ—दूत शत्रु के मन्त्री, पुरोहित, सेनापति और दृढ़ विश्वास पात्र हितैषी व्यक्तियों की सेवा-शुश्रूषा और विश्वास द्वारा शत्रु के लक्ष्य व उद्देश्य तथा उसकी भीतरी शक्ति (सैन्य व कोश शक्ति) का निश्चय करे ॥९॥

स्वयमशक्तः परेणोक्तमनिष्टं सहेत ॥१०॥

अर्थ—दूत शत्रु से कठोर वचन न कहकर उसके द्वारा कहे हुए कठोर वचन सहन करे ॥१०॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] ने भी उक्त बात का स्पष्टीकरण किया है।

गुरुषु स्वामिषु वा परिवादे नास्ति क्षान्तिः ॥११॥

अर्थ—दूत जब शत्रु के मुख से अपने गुरु या स्वामी की निन्दा सुने तब उसे शान्त न रहकर उसका यथायोग्य प्रतीकार करना चाहिए ॥११॥

विशेषार्थ—जैमिनि[3] के उद्धरण में भी उक्त बात का उल्लेख है।

विजयश्री के इच्छुक राजा को गन्तव्य स्थान पर न जाने का दुष्परिणाम—

स्थित्वापि यियासतोऽवस्थानं केवलमपक्षयहेतुः ॥१२॥

अर्थ—विजिगीषु पूर्व में बैठा हो पुनः शत्रु पर आक्रमण करने का इच्छुक हो और पुनः स्थिर होजाय, अर्थात्-विलम्ब कर देवे, तो इससे केवल उसकी धन-क्षति होती है। क्योंकि शत्रु को यह प्रतीत होता है कि इसमें शक्ति नहीं है इसलिए रुक गया है ॥१२॥

---

१. तथा च गर्गः—शत्रुणा प्रेषितो दूतो यच्छीघ्रं प्रविचिन्तयेत्। कारणं चैव विज्ञाय कुर्यात् स्वामिहितं ततः ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—असमर्थेन दूतेन शत्रोर्यत् परुषं वचः। तत् क्षन्तव्यं न दातव्यमुत्तरं प्रियमिच्छता ॥१॥

३. तथा च जैमिनिः—गुरोर्वा स्वामिनो वापि कृतां निन्दां परेण तु। यः शृणोति न कुप्येच्च स पुमान् नरकं व्रजेत् ॥१॥

विशेषार्थ—रैभ्य[1] ने भी गन्तव्य स्थान में विलम्ब करने से धन-क्षति का उल्लेख किया है।

शत्रु-दूत से मिलने की नीति—

वीरपुरुषपरिवारितः शूरपुरुषान्तरितान् परदूतान् पश्येत् ॥१३॥

अर्थ—राजा स्वयं बहादुर सैनिकों से घिरा रहकर शूर पुरुषों के मध्य में स्थित हुए शत्रु के दूतों से भेंट करे ॥१३॥

विशेषार्थ—नारद[2] का उद्धरण भी प्रस्तुत विषय का निरूपक है।

दृष्टान्त—

श्रूयते हि किल चाणिक्यस्तीक्ष्णदूतप्रयोगेणैकं नन्दं जघानेति ॥१४॥

अर्थ—निश्चय से इतिहास में लिखा है कि आर्य चाणक्य ने तीक्ष्ण दूत के प्रयोग द्वारा अर्थात् विषकन्या के प्रयोग से अकेले नन्द राजा को मार डाला था ॥१४॥

शत्रु द्वारा प्रेषित वस्तु के ग्रहण के विषय में विचार—

शत्रुप्रहितं शासनमुपायनं च स्वैरपरीक्षितं नोपाददीत ॥१५॥

अर्थ—राजा शत्रु द्वारा भेजे हुए लेख व उपहार-आदि आत्मीयजनों अर्थात्—प्रामाणिक राजवैद्य-आदि-से विना परीक्षा किये हुए स्वीकार न करे ॥१५॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] ने भी उक्त विषय का उल्लेख किया है।

दो दृष्टान्त—

श्रूयते हि स्पर्शविषवासिताद्भुतवस्त्रोपायनेन करहाटपतिः कैटभो वसुनामानं राजानं जघान ॥१६॥

अर्थ—निश्चय से सुना जाता है कि स्पर्श-विष से वासित (वासना दिये हुए) बहुमूल्य अद्भुत वस्त्र की भेंट देकर करहाट देश के राजा कैटभ ने 'वसु' नामके राजा को मार डाला ॥१६॥

आशीविषविषधरोपेतरत्नकरण्डकप्राभृतेन च करवालः करालं जघानेति ॥१७॥

इसीप्रकार निश्चय से दृष्टि विषवाले सर्प-विष से संयुक्त रत्नों की पिटारी का उपकार देकर करवाल नाम के राजा ने कराल नामक राजा को मार डाला था ॥१७॥

दूत वध करने के अयोग्य—

***महत्यपराधेऽपि न दूतमुपहन्यात् ॥१८॥**

अर्थ—महान् अपराध करने पर भी दूत का वध न करे। पाठान्तर का अर्थ यह है कि दूत द्वारा गुरुतर अपराध या अपकार किये जाने पर राजा को उसका वध कर देना चाहिए ॥१८॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] ने भी दूत को अवध्य बताया है।

---

१. तथा च रैभ्यः—अवश्यं यदि गन्तव्यं तन्न कुर्याद्विलम्बनम्। गन्तव्यमेव नोचेद्धि तस्माद्धनपरिक्षयः ॥१॥

२. तथा च नारदः—परदूतान् नृपः पश्येद्वीरैर्बहुभिरावृतः। शूरैरन्तर्गतस्तेषां चिरं जीवितमिच्छया ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—यावत्परीक्षितं न स्वैर्लिखितं प्राभृतं तथा। शत्रोरभ्यागतं राज्ञा तावद्ग्राह्यं न तद्भवेत् ॥१॥

*. 'महत्यपकारे दूतमपि हन्येत' ग, घ, च प्रतिषु पाठः।

४. तथा च शुक्रः—दूतं न पार्थिवो हन्यादपराधे गरीयसि। कृतेऽपि तत्क्षणात्तस्य यदीच्छेद् भूतिमात्मनः ॥१॥

उद्धृतेष्वपि शस्त्रेषु दूतमुखा वै राजानः ॥१९॥

अर्थ—शस्त्र उठ जाने पर भी अर्थात्—महाभयङ्कर युद्ध आरम्भ होने पर भी राजा लोग दूतमुखवाले होते हैं अर्थात्—दूत-वचनों द्वारा ही अपनी कार्यसिद्धि करते हैं। सारांश यह है कि दूत अवध्य होते हैं ॥१९॥

विशेषार्थ—गुरु[1] ने भी दूतों के उपयोग का उल्लेख किया है।

तेषामन्त्यावसायिनोऽप्यवध्याः किमङ्ग पुनर्ब्राह्मणः ॥२०॥

अर्थ—दूतों में यदि नीच जाति के भी दूत हों तथापि अवध्य हैं पुनः ब्राह्मण दूत के विषय में तो कहना ही क्या है ?॥२०॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] के उद्धरण में भी उक्त विषय का निरूपण है।

वध्याभावाद् दूतः सर्वं जल्पन्ति ॥२१॥

अर्थ—दूत राजा द्वारा व ध करने के अयोग्य होते हैं; अतः वे उसके समक्ष सभी प्रकार के सत्य, असत्य, प्रिय, अप्रिय वचन बोलते हैं ॥२१॥

कः सुधीर्दूतवचनात् परोत्कर्षं स्वात्मापकर्षं च मन्येत ॥२२॥

अर्थ—कौन बुद्धिमान् दूत के कहने मात्र से शत्रु की उन्नति और अपनी अवनति मानता है ?॥२२॥

विशेषार्थ—वशिष्ठ[3] ने भी दूत वचन सुनने के विषय में कहा है कि 'बुद्धिमान् राजा को ईर्ष्या छोड़कर दूत द्वारा कहे हुए प्रिय और अप्रिय सभी प्रकार के वचन सुनने चाहिए'।

शत्रु-दूत की परीक्षा—

तदाशयरहस्यपरिज्ञानार्थं परदूतः स्त्रीभिरुभयवेतनैः तद्गुणाचारशीलानुवर्तिभिर्वा प्रणिधातव्यः ॥२३॥

अर्थ—शत्रु का अभिप्राय और गुप्त रहस्य के परिज्ञान के लिए शत्रु के दूत को, चतुर स्त्रियों द्वारा, दोनों तरफ से वेतन पानेवाले दूतों द्वारा अथवा दूत के गुण, आचार व स्वभाव से परिचित हुए दूत-मित्रों द्वारा वश में करे ॥२३॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] के उद्धरण में भी उक्त विषय का निरूपण है।

शत्रु को पत्र भेजने की पद्धति—

चत्वारि वेष्टनानि खड्गमुद्रा च प्रतिपक्षलेखानाम् ॥२४॥

अर्थ—शत्रु राजा के लिए लेखों (पत्रों) आदि को चार वेष्टनों में लपेटे (बाँधे) और ऊपर से अपने खड्ग की मुद्रा लगा दे ॥२४॥

इति दूतसमुद्देशः।

१. तथा च गुरुः—अपि सङ्ग्रामकालेऽपि वर्तमाने सुदारुणे। सर्पन्ति संमुखा दूताः [वधं तेषां न कारयेत्] ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—अन्त्यावसायिनो येऽपि दूतानां प्रभवन्ति च। अवध्यास्तेऽपि भूपानां स्वकार्यपरिसिद्धये ॥१॥

३. तथा च वसिष्ठः—श्रोतव्यानि महीपेन दूतवाक्यान्यशेषतः। विशेनेर्ष्यां परित्यज्य शुभान्यशुभान्यपि ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—दूतस्य यद्रहस्यं च तद्वेश्योभयवेतनैः। तच्छीलैर्वा परिज्ञेयं येन शत्रुः प्रसिद्ध्यति ॥१॥

१४. चारसमुद्देश

गुप्तचरों का लक्षण—

स्वपरमण्डलकार्याकार्यावलोकने चाराश्चक्षूंषि क्षितिपतीनाम् ॥१॥

अर्थ—स्वदेश-परदेश संबंधी कार्य-अकार्य का ज्ञान करने के लिए गुप्तचर राजाओं के नेत्र हैं ॥१॥

विशेषार्थ—गुरु[1] ने भी गुप्तचरों का यही लक्षण किया है।

गुप्तचर के गुण और वेतन—

अलौल्यममान्द्यममृषाभाषित्वमभ्यूहकत्वं चेति चारगुणाः ॥२॥

अर्थ—सन्तोष, आलस्य का न होना, सत्यभाषण और तर्कणा शक्ति या विचार शक्ति ये गुप्तचरों के गुण हैं ॥२॥

विशेषार्थ—भागुरि[2] ने भी गुप्तचरों के उक्त गुणों का उल्लेख किया है।

तुष्टिदानमेव चाराणां वेतनम् ॥३॥

अर्थ—कार्य-सिद्धि होजाने के उपरान्त राजा द्वारा सन्तुष्टि पर्यन्त पुरस्कार देना ही गुप्तचरों का वेतन है ॥३॥

ते हि तल्लोभात् स्वामिकार्येष्वतीव त्वरन्ते ॥४॥

अर्थ—निस्सन्देह वे सन्तोषजनक पुरस्कार के लोभ से स्वामी का कार्य विशेष शीघ्रता के साथ करते हैं ॥४॥

विशेषार्थ—गौतम[3] ने भी गुप्तचरों का यही वेतन बताया है।

गुप्तचर के वचनों में विश्वास—

***सन्दिग्धविषये त्रयाणामेकवाक्ये संप्रत्ययः ॥५॥**

अर्थ—यदि राजा को एक गुप्तचर द्वारा कही हुई बातों मे सन्देह उत्पन्न होजाय तो तीन गुप्तचरों की कही हुई एक सी बात मिलने पर उसे प्रमाण मान लेनी चाहिए। पाठान्तर का भी अर्थ है कि जब गुप्तचरों के वाक्य विश्वसनीय न हों तो राजा को तीन गुप्तचरों के ऐकमत्य से निश्चय करना चाहिए ॥५॥

विशेषार्थ—भागुरि[4] ने भी उक्त विषय को इसी प्रकार कहा है।

गुप्तचरों की उपयोगिता—

अनवसर्पो हि राजा स्वैः परैश्चातिसन्धीयते ॥६॥

अर्थ—निश्चय से गुप्तचर-हीन राजा स्वदेश और परदेश संबंधी शत्रुओं से वञ्चित किया जाता है ॥६॥

---

१. तथा च गुरु—स्वमण्डले परे चैव कार्याकार्यं च यद्भवेत्। चरैः पश्यन्ति यद्भूपा सुदूरमपि संस्थिता ॥१॥

२ तथा च भागुरि—अनालस्यमलौल्यं च सत्यवादित्वमेव च। ऊहकत्वं भवेद्येषां ते चरा कार्यसाधकाः ॥१॥

३. तथा च गौतमः—स्वामितुष्टिं प्रदानं ये प्राप्नुवन्ति समुत्सुका। ते तत्कार्याणि सर्वाणि चरा सिद्धिं नयन्ति च ॥१॥

* 'असति संकेते' ग, घ, च प्रतिषु पाठः।

४. तथा च भागुरि—असंकेतेन चाराणा यदा वाक्यं प्रतिष्ठितम्। त्रयाणामपि तत्सत्यं विज्ञेयं पृथिवीभुजा ॥१॥

किमस्त्ययामिकस्य निशि कुशलम् ॥७॥

अर्थ—जिसतरह पहरेदार के विना धनाढ्य पुरुष का रात्रि में कल्याण नहीं होता उसीतरह चतुर गुप्तचरों के विना राजा का भी कल्याण नहीं हो सकता ॥७॥

विशेषार्थ—वर्ग[1] ने भी उक्त विषय पर इसीप्रकार कहा है।

गुप्तचरों के भेद और उनके पृथक् पृथक् लक्षण—

छात्रकापटिकोदास्थित-गृहपति-वैदेहिक-तापस-किरात-यमपट्टिकाहितुण्डिक-शौण्डिक-शौभिक-पाटच्चर-विट-विदूषक-पीठमर्द-नर्त्तक-गायन-वादक-वाग्जीवन-गणक-शाकुनिक-भिषगैन्द्रजालिक-नैमित्तिक-सूदारालिक-संवाहक-तीक्ष्ण-क्रूर-रसद-जड़-मूक-बधिरान्धछद्मावस्थायियायिभेदेनावसर्पवर्गः ॥८॥

अर्थ—गुप्तचरों के निम्नप्रकार ३४ चौतीस भेद हैं, उनमें कुछ अवस्थायी अर्थात्—जिन्हें राजा अपने ही देश में मन्त्री-आदि की जाँच-पड़ताल के लिए नियुक्त करता है और कुछ यायी अर्थात्—जिन्हें शत्रु-राजा के देश में भेजा जाता है, होते हैं—छात्र, कापटिक, उदास्थित, गृहपति, वैदेहिक, तापस, किरात, यमपट्टिक अहितुण्डिक, शौण्डिक, शौभिक, पाटच्चर, विट, विदूषक, पीठमर्द, नर्तक, गायन, वादक, वाग्जीवन, गणक, शाकुनिक, भिषग्, ऐन्द्रजालिक, नैमित्तिक, सूद, आरालिक, संवाहक, तीक्ष्ण, क्रूर, रसद, जड़, मूक, बधिर और अन्ध ॥८॥

परमर्मज्ञः प्रगल्भश्छात्रः ॥९॥

अर्थ—शत्रु के गूढ़ रहस्य का ज्ञाता और प्रतिभाशाली गुप्तचर 'छात्र' है ॥९॥

यं कमपि समयमास्थाय प्रतिपन्नछात्रवेषकः कापटिकः ॥१०॥

अर्थ—जिस किसी भी सम्प्रदाय के शास्त्र को पढ़कर छात्र-वेष में रहनेवाले गुप्तचर को 'कापटिक' कहते हैं ॥१०॥

प्रभूतान्तेवासी प्रज्ञातिशययुक्तो राज्ञा परिकल्पितवृत्तिरुदास्थितः ॥११॥

अर्थ—बहुतसी शिष्य मण्डली-सहित, तीक्ष्णबुद्धियुक्त और जिसकी जीविका राजा द्वारा निश्चित की गई है ऐसा गुप्तचर 'उदास्थित' है ॥११॥

गृहपतिवैदेहिकौ ग्रामकूटश्रेष्ठिनौ ॥१२॥

अर्थ—कृषक के वेष में रहनेवाला गुप्तचर 'गृहपति' और सेठ के वेष में रहनेवाला गुप्तचर 'वैदेहिक' है ॥१२॥

बाह्यव्रतविद्याभ्यां लोकदम्भहेतुस्तापसः ॥१३॥

अर्थ—दिखावटी व्रत (अहिंसा-आदि) और दिखावटी विद्या द्वारा लोगों को ठगनेवाला सन्यासीवेष-युक्त गुप्तचर 'तापस' है ॥१३॥

१. तथा च वर्गः—यथा प्राहरिकैर्बाह्यं रात्रौ क्षेमं न जायते। चारैर्विना न भूपस्य तथा ज्ञेयं विचक्षणैः ॥१॥

अल्पाखिलशरीरावयवः किरातः ॥१४॥

अर्थ—जिसके समस्त शारीरिक अङ्गोपाङ्ग (हस्त-पाद-आदि) कद में छोटे हों वह 'किरात' है ॥१४॥

यमपट्टिको गलत्रोटिकः प्रतिगृहं चित्रपटदर्शी वा ॥१५॥

अर्थ—प्रत्येक गृह में जाकर चित्रपट दिखानेवाला अथवा गला फाड़कर चिल्लानेवाला कोट्टपाल-वेषी गुप्तचर 'यमपट्टिक' है ॥१५॥

अहितुण्डिकः सर्पक्रीडाप्रसरः ॥१६॥

अर्थ—सांप का खेल दिखानेवाला सपेरा के वेश मे रहनेवाला गुप्तचर 'अहितुण्डिक' है ॥१६॥

शौण्डिकः कल्यपालः ॥१७॥

अर्थ—शराव वेचनेवाला गुप्तचर 'शौण्डिक' है ॥१७॥

शोभिकः क्षपायां कांडपटावरणेन नानारूपदर्शी ॥१८॥

अर्थ—रात्रि के अवसर पर पर्दा डालकर विविध भाँति का रूप प्रदर्शित करनेवाला 'शौभिक' (बहुरूपिया) गुप्तचर है ॥१८॥

पाटच्चरश्चौरो वन्दीकारो वा ॥१९॥

अर्थ—चौर अथवा वन्दी के वेष में वर्तमान गुप्तचर 'पाटच्चर' है ॥१९॥

व्यसनिनां प्रेषणाजीवी विटः ॥२०॥

अर्थ—वेश्या-लम्पट-आदि व्यसनी पुरुषों को वेश्याओं-आदि के गृह पहुँचाकर जीविकोपार्जन करनेवाले को 'विट' कहते हैं ॥२०॥

सर्वेषां प्रहसनपात्रं विदूषकः ॥२१॥

अर्थ—सव की हँसी का पात्र 'विदूषक' है ॥२१॥

कामशास्त्राचार्यः पीठमर्दकः ॥२२॥

अर्थ—कामशास्त्र (वात्स्यायन कामसूत्र) का आचार्य गुप्तचर 'पीठमर्दक है ॥२२॥

गीताङ्गपटप्रावरणेन नृत्यवृत्त्याजीवी नर्तको नाटकाभिनयरङ्गनर्तको वा ॥२३॥

अर्थ—जो गुप्तचर सङ्गीत में सहायक वस्त्रों से सुसज्जित होकर नृत्यकला के प्रदर्शन द्वारा अपनी जीविका चलानेवाला हो अथवा नाटक-नाटिका के अभिनय मे रङ्ग भूमि पर नृत्यकला प्रदर्शित करनेवाला हो उसकी 'नर्त्तक' संज्ञा है ॥२३॥

रूपाजीवावृत्त्युपदेष्टा गायकः ॥२४॥

अर्थ—वेश्याओं की जीविका के कारण नृत्य, गान का उपदेश करनेवाला 'गायक' है ॥२४॥

गीतप्रबन्धगतिविशेषवादकचतुर्विधातोद्यप्रचारकुशलो वादकः ॥२५॥

अर्थ—गीत संबंधी प्रबन्धों का गतिविशेषों को वजानेवाला और चार प्रकार के—अर्थात् तत, अवनद्ध, घन व सुषिर (मृदङ्ग-आदि) वाद्य वजाने की कला में प्रवीण गुप्तचर 'वादक' है। अर्थात्—गीत की रचना के अनुकूल विशेष ताल-लय पूर्वक सितार और मृदङ्ग-आदि चार प्रकार के वाद्यों के बजाने मे निपुण व्यक्ति 'वादक' है ॥२५॥

वाग्जीवी वैतालिकः सूतो वा ॥२६॥

अर्थ—कविता व कथा-आदि अपनी वाणी द्वारा जीविका निर्वाह करनेवाला चारण-भाट-आदि 'वैतालिक' है अथवा कथावाचक 'वैतालिक' है ॥२६॥

गणकः संख्याविद् दैवज्ञो वा ॥२७॥

अर्थ—गणित-वेत्ता अथवा ज्योतिषी गुप्तचर 'गणक' है ॥२७॥

शाकुनिकः शकुनवक्ता ॥२८॥

अर्थ—प्रिय-अप्रिय सगुन बतानेवाला 'शाकुनिक' है ॥२८॥

भिषगायुर्वेदविद्वैद्यः शस्त्रकर्मविच्च ॥२९॥

अर्थ—अष्टाङ्ग आयुर्वेद का ज्ञाता और शस्त्रचिकित्सा में प्रवीण वैद्य 'भिषग' है ॥२९॥

ऐन्द्रजालिकस्तन्त्रयुक्त्या मनोविस्मयकरो मायावी वा ॥३०॥

अर्थ—जो गुप्तचर तन्त्रशास्त्र में कहीं हुई युक्तियों द्वारा मन को आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला हो अथवा मायाचारी हो वह 'ऐन्द्रजालिक' है ॥३०॥

नैमित्तिको लक्ष्यवेधी दैवज्ञो वा ॥३१॥

अर्थ—लक्ष्य-वेध करनेवाला अर्थात्—निशाना मारने में प्रवीण (धनुर्धारी) अथवा निमित्तशास्त्र का वेत्ता दैवज्ञ गुप्तचर 'नैमित्तिक' है ॥३१॥

महानसिकः सूदः ॥३२॥

अर्थ—पाक विद्या में प्रवीण गुप्तचर 'सूद' है ॥३२॥

विचित्रभक्ष्यप्रणेता आरालिकः ॥३३॥

अर्थ—विविध भाँति की भोज्य सामग्री बनानेवाला गुप्तचर 'आरालिक' है ॥३३॥

अङ्गमर्दनकलाकुशलो भारवाहको वा संवाहकः ॥३४॥

अर्थ—हाथ-पैर-आदि अङ्गों के मर्दन की कला में कुशल अथवा बोझा ढोनेवाले कुली की 'संवाहक' संज्ञा है ॥३४॥

द्रव्यहेतोः कृच्छ्रेण कर्मणा यः स्वजीवितविक्रयी स तीक्ष्णोऽसह्यो वा ॥३५॥

अर्थ—जो धन के लिए अत्यन्त कठोर कर्म (जैसे शेर, बाघ-आदि से लड़ना-आदि) के द्वारा अपने प्राणों को भी खतरे में डाल देता है वह 'तीक्ष्ण' अथवा असह्य है ॥३५॥

बन्धुषु निःस्नेहाः क्रूराः ॥३६॥

अर्थ—बन्धुजनों के प्रति स्नेह-हीन व्यक्ति 'क्रूर' है ॥३६॥

अलसाश्च रसदाः ॥३७॥

अर्थ—आलसी गुप्तचर 'रसद' है ॥३७॥

जडमूकबधिरान्धाः प्रसिद्धाः ॥३८॥

अर्थ—मूर्ख को 'जड़' गूंगे को 'मूक' बहिरे को बधिर, और अन्धे को अन्ध कहते हैं। परन्तु ये स्वभाव से मूर्ख-आदि नही होते, किन्तु कपट से अपने स्वामी की कार्य-सिद्धि के लिए वैसा प्रदर्शन मात्र करते हैं ॥३८॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] के उद्धरण में भी अवस्थायी और यायी गुप्तचरों से राज्य-वृद्धि का निर्देश है, जिसे हम पूर्व में (आठवें सूत्र की भाषा टी० के आरम्भ में) उल्लेख कर चुके है।

इति चारसमुद्देशः।

१५. विचार-समुद्देशः—

यहाँ १० सूत्रों तक विचार की महत्ता और उसका स्वरूप—

नाविचार्य किमपि कार्यं कुर्यात् ॥१॥

अर्थ—विना विचार के कोई भी कार्य न करे ॥१॥

विशेषार्थ—जैमिनि[2] ने भी उक्त विषय निरूपण किया है।

प्रत्यक्षानुमानागमैर्यथावस्थितवस्तुव्यवस्थापनहेतुर्विचारः ॥२॥

अर्थ—यथार्थ वस्तु का निर्णय प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणों से होता है, न कि केवल एक प्रमाण से, अतः उक्त तीनों प्रमाणों द्वारा जो सत्य वस्तु की प्रतिष्ठा का कारण है उसे 'विचार' कहते है ॥२॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] ने भी विचार का उक्त लक्षण किया है।

स्वयं दृष्टं प्रत्यक्षम् ॥३॥

अर्थ—चक्षु-आदि इन्द्रियों द्वारा स्वय देखने व जानने को प्रत्यक्ष कहते है ॥३॥

न ज्ञानमात्रात्प्रेक्षावतां प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा ॥४॥

अर्थ—वुद्धिमान् विचारकों को हितकारक पदार्थों में प्रवृत्ति और अहित कारक पदार्थों से निवृत्ति सिर्फ ज्ञानमात्र से नही करनी चाहिए।

भावार्थ—उदाहरणार्थ-जैसे किसी मनुष्य ने मृगतृष्णा (सूर्य-किरणों से व्याप्त बालुका-पुञ्ज) में जल मान लिया पश्चात् उस भ्रान्त विचार को दूर करने के लिए उसे अनुमान प्रमाण से यथार्थ निर्णय करना चाहिए कि क्या मरुस्थल मे ग्रीष्म ऋतु मे जल हो सकता है? इसके उपरान्त उसे किसी विश्वास पात्र व्यक्ति से पूंछना चाहिए कि क्या वहाँ जल है? जब वह मनाई कर दे तो वहाँ से निवृत्त होना चाहिए।

सारांश यह है कि विचारक व्यक्ति सिर्फ ज्ञानमात्र से किसी भी पदार्थ में प्रवृत्ति या निवृत्ति न करे ॥४॥

---

१. तथा च शुक्रः—स्थायिनो यायिनश्चाराः यस्य सर्पन्ति भूपतेः। स्वपक्षे परपक्षे वा तस्य राज्यं विवर्द्धते ॥१॥

२ तथा च जैमिनिः—अपि स्वल्पतरं कार्यं नाविचार्य समाचरेत्। यदीच्छेत्सर्वलोकस्य शंसां राजा विशेषतः ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—दृष्टानुमानागमज्ञैर्यो विचारः प्रतिष्ठितः। स विचारोऽपि विज्ञेयस्त्रिभिरेतैश्च यः कृतः ॥१॥

विशेषार्थ—गुरु[1] ने भी उक्त विषय को इसी तरह कहा है।

स्वयं दृष्टेऽपि मतिर्विमुह्यति, संशेते विपर्यस्यति वा किं पुन र्न परोपदिष्टे वस्तुनि ॥५॥

अर्थ—जब स्वयं प्रत्यक्ष किये हुए पदार्थ में मानव की बुद्धि मोह, संशय और भ्रम में पड़ जाती है तब क्या दूसरों के द्वारा कहे हुए पदार्थ में उसे मोह व संशय-आदि नहीं होंगे ? ॥५॥

विशेषार्थ—गुरु[2] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

स खलु विचारज्ञो यः प्रत्यक्षेणोपलब्धमपि साधु परीक्ष्यानुतिष्ठति ॥६॥

अर्थ—निस्सन्देह विचार तत्व का वेत्ता वही है, जो प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा जानी हुई वस्तु को भी सम्यक् परीक्षा करके उसमें प्रवृत्ति करता है ॥६॥

विशेषार्थ—ऋषिपुत्रक[3] ने भी विचारज्ञ का उक्त लक्षण किया है।

अतिरभसात् कृतानि कार्याणि किं नामानर्थं न जनयन्ति ॥७॥

अर्थ—अत्यन्त शीघ्रता से किये गये कार्य कौन सा अनर्थ उत्पन्न नहीं करते ? ॥७॥

विशेषार्थ—भागुरि[4] ने भी अविचार पूर्वक कार्य करने का दुष्परिणाम बताया है।

अविचार्याचरिते कर्मणि पश्चात् प्रतिविधानं गतोदके सेतुबन्धनमिव ॥८॥

अर्थ—विना विचारे उतावली में आकर किये गये कार्य में आई हुई आपत्तियों का बाद में प्रतीकार करना उसप्रकार व्यर्थ है जिसप्रकार जल-प्रवाह के वह जाने पर पश्चात् उसको रोकने के लिए बाँध बाँधना व्यर्थ होता है ॥८॥

विशेषार्थ—शुक्र[5] ने भी उक्त विषय का इसीप्रकार स्पष्टीकरण किया है।

अनुमान का लक्षण—

कर्मसु कृतेनाकृतावेक्षणमनुमानम् ॥९॥

अर्थ—किये गए कार्य से विना किये हुए कार्य का बुद्धि से निश्चय करना 'अनुमान' है। सारांश यह है कि किसी से की हुई एक देश कार्यसिद्धि द्वारा उसमें पूर्ण कार्य-सिद्धि की सामर्थ्य का निश्चय कर लेना अनुमान है ॥९॥

संभावितैकदेशो नियुक्तं विद्यात् ॥१०॥

अर्थ—क्योंकि जो मानव एक देश कार्य-सिद्धि करने में कुशल होता है उसे अनुमान प्रमाण द्वारा पूर्ण कार्यसिद्धि में समर्थ जान लेना चाहिए।

---

१. तथा च गुरुः—दृष्टमात्रान्न कर्तव्यं गमनं वा निवर्तनम्। अनुमानेन नो यावदिष्टवाक्येन भाषितम् ॥१॥

२. तथा च गुरुः—मोहो वा संशयो वाथ दृष्टश्रुतविपर्ययः। यतः संजायते तस्मात् तामेकां न विभावयेत् ॥१॥

३. तथा च ऋषिपुत्रकः—विचारज्ञः स विज्ञेयः स्वयं दृष्टेऽपि वस्तुनि। तावन्नो निश्चयं कुर्याद् यावन्नो साधु वीक्षितम् ॥१॥

४. तथा च भागुरिः—सगुणमविगुणं वा कुर्वता कार्यमादौ, परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥१॥

५. तथा च शुक्रः—सर्वेषामपि कार्याणां यो विधानं न चिन्तयेत्। पूर्वं पश्चाद् भवेद् व्यर्थं सेतुर्नष्टे यथोदके ॥१॥

अर्थात्—किसी व्यक्ति ने यदि किसी कार्य का प्रारम्भिक अश सफलता पूर्वक कर लिया तो समझना चाहिए कि वह पूर्ण कार्य सफलतापूर्वक कर लेगा ॥१०॥

भविष्य में होनेवाली राज्य-प्राप्ति के चिह्न—

आकारः शौर्यं प्रज्ञासम्पत्तिरायतिर्विनयश्च राजपुत्राणां भाविनो राज्यस्य लिङ्गानि ॥११॥

अर्थ—शारीरिक मनोज्ञ आकृति, पराक्रम, राजनैतिक ज्ञानसम्पत्ति, प्रभाव और विनय ये सद्‌गुण राजकुमारो के भावी राज्यश्री के अनुमापक चिह्न है। अर्थात्—उक्त गुणो को देखकर राजकुमार में भावी राज्यश्री का अनुमान कर लिया जाता है ॥११॥

विशेषार्थ—राजपुत्र[1] ने भी राजकुमारो के उक्त गुणो का निर्देश किया है।

प्राणियो के भविष्य के चिह्न—

प्रकृतेर्विकृतिदर्शनं हि प्राणिनां भविष्यतोः शुभाशुभयोर्लिङ्गम् ॥१२॥

अर्थ—निस्सन्देह स्वभाव की विकृति ही प्राणियो के भावी शुभाशुभ का चिह्न है। अर्थात्—जब कोई मनुष्य नैतिकमार्ग (सदाचार) से हटकर अनीति (दुष्टाचार) मे प्रवृत्त हुआ दिखाई देवे तो समझ लेना चाहिए कि इसका भविष्य बुरा है। इसीप्रकार जब कोई मनुष्य सत्सङ्ग आदि के कारण अनीति से हटकर नीति मार्ग म प्रवृत्त हुआ प्रतीत हो तो उसका भविष्य अच्छा समझना चाहिए ॥१२॥

विशेषार्थ—नारद[2] के उद्धरण मे भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण है।

एक कार्य मे सफल व्यक्ति की दूसरे कार्य मे सफलता की सभावना—

यः एकस्मिन् कर्मणि दृष्टबुद्धिपुरुषकारः सः कथं नाम न कर्मान्तरे समर्थः ॥१३॥

अर्थ—किसी एक कार्य मे जो मनुष्य अपनी बुद्धि और पौरुष प्रदर्शित कर चुका है, वह दूसरे कार्य मे क्यो नही समर्थ होगा ? ॥१३॥

विशेषार्थ—जैमिनि[3] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

आगम का लक्षण—

आप्तपुरुषोपदेशः आगमः ॥१४॥

अर्थ—आप्त पुरुषो के उपदेश को 'आगम' कहते है ॥१४॥

आप्त का लक्षण—

यथानुभूतानुमितश्रुतार्थाविसंवादिवचनः पुमानाप्तः ॥१५॥

अर्थ—जो अनुभव, अनुमान और आगम प्रमाण द्वारा निश्चित किये हुए पदार्थो को तदनुकूल (विरोध रहित) वचनो द्वारा निरूपण करता है, उस यथार्थवक्ता तीर्थङ्कर महापुरुष को अथवा उक्त गुण-सहित प्रामाणिक शिष्ट पुरुष को 'आप्त' कहते है ॥१५॥

---

१ तथा च राजपुत्र —आकारो विक्रमो बुद्धिविस्तारो नम्रता तथा। बालानामपि येषा स्युस्ते स्युर्भूपा नृपात्मजा. ॥१॥

२ तथा च नारद —शुभभावो मनुष्याणा यदा पापे प्रवर्तते। पापो वाथ शुभे तस्य तदाऽनिष्ट शुभ भवेत् ॥१॥

३ तथा च जैमिनि —पूर्वं यस्य मतिर्दृष्टा पुरुषार्थोऽपरस्तथा। पश्चात्तेनानुमानेन तस्य ज्ञेया समर्थता ॥१॥

विशेषार्थ—हारीत[1] ने भी आप्त का इसीप्रकार लक्षण निर्देश किया है।

युक्ति-शून्य वाक्य की निरर्थकता—

सा वागुक्ताऽप्यनुक्तसमा, यत्र नास्ति सद्युक्तिः ॥१६॥

अर्थ—जिसमें कोई प्रशस्त युक्ति न दी गई हो, वह वाणी कही हुई भी बिना कही हुई सरीखी है ॥१६॥

विशेषार्थ—हारीत[2] ने भी युक्ति-शून्य वाणी को जंगल में रुदन-सरीखी कही है।

व्यक्तित्व और वाणी का संबंध—

वक्तुर्गुणगौरवाद्वचनगौरवम् ॥१७॥

अर्थ—वक्ता के गुणों की गुरुता (महत्ता) के कारण उसकी वाणी का गौरव होता है ॥१७॥

विशेषार्थ—रैभ्य[3] का उद्धरण भी उक्त सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करता है।

कृपण-धन की निन्दा—

किं मितम्पचेषु धनेन चाण्डालसरसि वा जलेन यत्र सतां नोपभोगः ॥१८॥

अर्थ—कृपण पुरुष के पास धन होने से और चाण्डाल के तालाब में जल होने से क्या लाभ ? जब कि सज्जन पुरुष उसका उपभोग नहीं कर सकते। अर्थात्—कृपण-धन सज्जनों के उपभोग में न आने के कारण उसप्रकार व्यर्थ है जिसप्रकार चाण्डाल के तालाब का पानी सज्जनों द्वारा उपभोग में न आने के कारण व्यर्थ होता है ॥१८॥

विशेषार्थ—नारद[4] ने भी कृपण-धन को व्यर्थ बताया है।

जन साधारण की गतानुगतिकता—

लोकस्तु गतानुगतिको यतोऽसौ सदुपदेशिनीमपि कुट्टिनीं धर्मेषु न तथा प्रमाणयति यथा गोघ्नमपि ब्राह्मणम् ॥१९॥

अर्थ—जन साधारण गतानुगतिक होता है, अर्थात्—देखादेखी कार्य करनेवाला होता है। क्योंकि यदि वृद्ध वेश्या धर्म का उपदेश देती है तो उसे कोई प्रमाण नहीं मानता और यदि गो-घातक ब्राह्मण धर्म का उपदेश देता है तो लोग उसकी बात प्रमाण मानते हैं ॥१९॥

विशेषार्थ—गौतम[5] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

इति विचारसमुद्देशः।

१. तथा च हारीतः—यः पुमान् सत्यवादी स्यात्तथा लोकस्य सम्मतः। श्रुतार्थो यस्य नो वाक्यमन्यथाप्तः स उच्यते ॥१॥

२ तथा च हारीतः—सा वाग्युक्तिपरित्यक्ता कार्यस्याल्पाधिकस्य वा। सा प्रोक्तापि वृथा ज्ञेया त्वरण्यरुदितं यथा ॥१॥

३. तथा च रैभ्यः—यदि स्याद्गुणसंयुक्तो वक्ता वाक्यं च सद्गुणम्। मूर्खो वा हास्यतां याति सभामध्ये प्रजल्पितम् ॥१॥

४. तथा च नारदः— किं कीनाशधनेनात्र किमन्त्यजतडागजम्। सलिलं यद्वि नो भोग्यं साधूनां सम्प्रजायते ॥१॥

५. तथा च गौतमः—कुट्टिनी धर्मयुक्ताऽपि यदि स्यादुपदेशिनी। न च तां कोऽपि पृच्छेद् जनो गोघ्नं द्विजं यथा ॥१॥

१६. व्यसनसमुद्देशः—

व्यसन-लक्षण और भेद—

व्यस्यति पुरुषं श्रेयसः इति व्यसनम् ॥१॥

अर्थ—जो दुष्कर्म मनुष्य को कल्याण-मार्ग से गिराते हैं, उन्हें 'व्यसन' कहते हैं ॥१॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी 'व्यसन' शब्द की उक्त प्रकार निरुक्ति की है।

व्यसनं द्विविधं सहजमाहार्यं च ॥२॥

अर्थ—व्यसन दो प्रकार के हैं—सहज और आहार्य। अर्थात्—एक स्वाभाविक और कृत्रिम अर्थात्—दूसरों को द्यूत, मद्यपान-आदि में प्रवृत्त देखकर स्वयं भी उसमें प्रवृत्त होना ॥२॥

सहज व्यसन को दूर करने का उपाय—

धर्मसंभूताद्भुताभ्युदयहेतुभिरधर्मजनितमहाप्रत्यवायप्रतिपादनैरुपाख्यानैर्योग-पुरुषैश्च प्रशमं नयेत् ॥३॥

अर्थ—मनुष्य को चाहिए कि वह अपने सहज व्यसनों को धर्म-मूलक श्रेयस्कर उपायों से और शास्त्रों में निरूपण किये हुए ऐसे उपाख्यानों के श्रवण से, जो कि पाप से होनेवाले महान् सङ्कटों के निरूपक हैं, एवं योगी साधु पुरुषों के सत्सङ्ग से दूर करे ॥३॥

विशेषार्थ—गुरु[2] ने भी सहज व्यसनों से दूर होने के उक्त उपाय वताये हैं।

योग पुरुष का लक्षण—

परचित्तानुकूल्येन तदभिलषितेषु उपायेन विरक्तिजननहेतवो योगपुरुषाः ॥४॥

अर्थ—जो व्यसनी पुरुष की चित्तवृत्ति को अपने अनुकूल वनाते हुए युक्ति-पूर्ण उपायों द्वारा उसे उन अभीष्ट वस्तुओं (मद्य-पान-आदि) से, जिनमें उसे व्यसन (निरन्तर आसक्ति) उत्पन्न हुआ है, विरक्ति उत्पन्न कर सकें अर्थात्—उन उन व्यसनों से उसका मोह दूर कर सकें, वे योग पुरुष हैं ॥४॥

विशेषार्थ—हारीत[3] के उद्धरण में भी योगी पुरुष का इसीप्रकार लक्षण-निर्देश है।

आहार्य व्यसन के नष्ट करने का उपाय—

शिष्टसंसर्गदुर्जनासंसर्गाभ्यां पुरातनमहापुरुषचरितोत्थिताभिश्च कथाभिराहार्यं व्यसनं प्रतिबध्नीयात् ॥५॥

अर्थ—बुद्धिमान् मनुष्य को सज्जन पुरुषों की सङ्गति करके और दुष्ट पुरुषों का कुसङ्ग त्यागकर और जिन उत्तम कथानकों में प्राचीन महापुरुषों का चरित्र-चित्रण किया गया है, उनके पठन और श्रवण द्वारा अपने कृत्रिम व्यसन नष्ट कर देना चाहिए ॥५॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] ने भी कृत्रिम व्यसनों के नष्ट होने का उक्त उपाय वताया है।

---

१. तथा च शुक्रः—उत्तमादधमं स्थानं यदा गच्छति मानवः। तदा तद् व्यसनं ज्ञेयं बुधैस्तस्य निरन्तरम् ॥१॥

२. तथा च गुरुः—धर्मेणाभ्युदयो यस्य प्रत्यवायस्त्वधर्मतः। तं श्रुत्वा सहजं याति व्यसनं योगिसङ्गतः ॥१॥

३. तथा च हारीतः—परचित्तानुकूल्येन विरक्तिं व्यसनात्मके। जनयन्तीष्टनाशेन ते ज्ञेया योगिनो नराः ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—आहार्यव्यसनं नश्येत् [सत्सङ्गेनाहितासितम्] महापुरुषवृत्तान्तैः श्रुतैश्चैव पुरातनैः ॥१॥

अठारह प्रकार के दुर्व्यसनों का क्रमशः निरूपण और उनके दुष्परिणाम—

स्त्रियमतिशयेन भजमानो भवत्यवश्यं तृतीया प्रकृतिः ॥६॥

अर्थ—अपनी स्त्री को अधिक मात्रा में सेवन करनेवाला मानव अधिक वीर्य के क्षय हो जाने से असमय में वृद्ध या नपुंसक हो जाता है ॥६॥

विशेषार्थ—धन्वन्तरि[1] के उद्धरण में भी उक्त विषय का निरूपण है।

सौम्यधातुक्षयः सर्वधातुक्षयं करोति ॥७॥

अर्थ—क्योंकि स्त्री-सेवन से पुरुष की शुक्र (वीर्य) धातु क्षय होती है, इससे शरीर में वर्तमान बाकी की समस्त छह धातुएँ (रस, रुधिर, मांस, मेद व अस्थि-आदि) नष्ट हो जाती हैं ॥७॥

विशेषार्थ—वैद्यक[2] के दो उद्धरणों में भी वीर्य रक्षा का उल्लेख है।

पानशौण्डश्चित्तभ्रमान्मातरमप्यभिगच्छति ॥८॥

अर्थ—मद्यपान करनेवाला व्यक्ति चित्त-भ्रम के कारण अपनी माता को भी सेवन करने लगता है ॥८॥

विशेषार्थ—नारद[3] ने भी मद्यपान का दुष्परिणाम बताया है।

मृगयासक्तिः स्तेनव्यालद्विषद्दायादानामामिषं पुरुषं करोति ॥९॥

अर्थ—शिकार खेलने में अत्यधिक आसक्त पुरुष चोर-डाँकू, सिंह, व्याघ्रादि हिंसक जन्तु, शत्रु और विरोधी कुटुम्बियों द्वारा मार डाला जाता है ॥९॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[4] ने भी शिकार खेलने का उक्त दुष्परिणाम बताया है।

नास्त्यकृत्यं द्यूतासक्तस्य, मातर्यपि हि मृतायां दीव्यत्येव हि कितवः ॥१०॥

अर्थ—जुआरी पुरुष लोक में ऐसा कौन सा अनर्थ (पाप) है, जिसमें वह प्रवृत्ति न करता हो, उदाहरण में—उसके गृह में माता भी मरी पड़ी हो तो भी जुआरी जुआ खेलता ही है ॥१०॥

विशेषार्थ—शुक्र[5] ने भी कहा है—कि 'यदि जुआरी व्यक्ति प्रेम-वश कभी अपनी प्रिया की ग्रन्थि स्पर्श करता है तो उसकी प्रिया 'कहीं यह मेरी सुन्दर साड़ी अपहरण करके जुए के दाव में न लगा देवे' इस डर से उसे विल्कुल नहीं चाहती'।

पिशुनः सर्वेषामविश्वासं जनयति ॥११॥

अर्थ—चुगल खोर अपने ऊपर सभी पुरुषों का अविश्वास उत्पन्न करता है। अर्थात्—वह सब का अविश्वास पात्र बन जाता है ॥११॥

१. तथा च धन्वन्तरिः—अकालं जरसा युक्तः पुरुषः स्त्रीनिषेवणात्। अथवा यक्ष्मणा युक्तस्तस्माद् युक्तं निषेवयेत् ॥१॥

२. तथा च वैद्यकः—सौम्यधातुक्षये पुंसां सर्वधातुक्षयो यतः। तस्मात्तं रक्षयेद्यत्नान्मूलोच्छेदं न कारयेत् ॥१॥
सौम्यधातुबलात्सर्वे बलवन्तो हि धातवः। [तं रक्षति यतः सिंहो] लघुस्तुङ्गे न सोऽधिकः ॥२॥

३. तथा च नारदः—यदा स्यान्मद्यमत्तस्तु कुलीनोऽपि पुमांस्तदा। मातरं भजते मोहात्तस्माद्युक्तं निषेवयेत् ॥१॥

४. तथा च भारद्वाजः—मृगयाव्यसनोपेतः पुरुषो वधमाप्नुयात्। चौरव्यालारिदायादपार्श्वादिकतमस्य च ॥१॥

५. तथा च शुक्रः—सानुरागोऽपि चेन्नीवीं पत्न्याः स्पृशति कर्हिचित्। द्यूतविन्नेच्छते साध्वी वस्त्राहरणशङ्कया ॥१॥

विशेषार्थ—वशिष्ठ[1] ने भी चुगलखोर के विषय में उक्त बात कही है।

दिवास्वापः सुप्तव्याधिव्यालानामुत्थापनदण्डः सकलकार्यान्तरायश्च ॥१२॥

अर्थ—दिन में सोना, शरीर में छिपे हुए अनेक रोगरूपी सर्पों को जगाने का कारण है और समस्त कार्य-सिद्धि में बाधक है। सारांश यह है कि स्वास्थ्य रक्षा और कार्यसिद्धि चाहनेवाले व्यक्ति को ग्रीष्म ऋतु को छोड़कर अन्य सभी ऋतुओं में दिन में नहीं सोना चाहिए ॥१२॥

विशेषार्थ—धन्वन्तरि[2] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

न परपरिवादात्परं सर्वविद्वेषणभेषजमस्ति ॥१३॥

अर्थ—लोक में पर-निन्दा को छोड़कर सब से द्वेष उत्पन्न करानेवाली कोई औषधि नहीं है। अर्थात् जो व्यक्ति पर निन्दा करता है उससे सभी लोग द्वेष करने लगते हैं। अथवा जो मानव पर निन्दा करता है उस निन्दा को छुड़ाने की, निन्दा किये जानेवाले पुरुष की प्रशंसा को छोड़कर दूसरी कोई अमोघ औषधि नहीं है। उदाहरणार्थ—जब हमारे सामने सोहन, मोहन को निन्दा करता है तो हमें चाहिए कि हम उस समय मोहन की अधिक प्रशंसा करें, ताकि वह उसकी निन्दा करना छोड़ दे ॥१३॥

विशेषार्थ—हारीत[3] ने भी पर निन्दा छुड़ाने की उक्त औषधि बतलाई है।

तौर्यत्रिकासक्तिः कं नाम प्राणार्थमानै र्न वियोजयति ॥१४॥

अर्थ—गान-श्रवण, नृत्य-दर्शन और वादित्र-श्रवण में अत्यधिक आसक्त हुआ कौन व्यक्ति अपने प्राण, धन और मान मर्यादा को नष्ट नहीं करता? अत्यन्त गाने-नाचने में आसक्त व्यक्ति अर्थात् भोग विलास में पड़ा हुआ व्यक्ति अपनी जान से हाथ धो बैठता है और उसका धन भी नष्ट हो जाता है एवं उसकी प्रतिष्ठा भी धूल में मिल जाती है ॥१४॥

वृथाट्या नाविधाय कमप्यनर्थं विरमति ॥१५॥

अर्थ—व्यर्थ अर्थात्—विना अर्थ-लाभादि के उद्देश्य से यहाँ वहाँ घूमने फिरने वाला व्यक्ति कोई अनर्थ (पाप) किये विना विश्राम नहीं ? ता। वर्थात्—निष्प्रयोजन फिरनेवाला व्यक्ति कोई न कोई अनर्थ कर बैठता है ॥१५॥

विशेषार्थ—भृगु[4] के उद्धरण में भी निरर्थक फिरनेवाले के विषय में यही उल्लेख है।

अतीवेर्ष्यालुं स्त्रियो घ्नन्ति त्यजन्ति वा पुरुषम् ॥१६॥

अर्थ—अत्यन्त ईर्ष्या करनेवाले व्यक्ति को स्त्रियाँ या तो छोड़ देती हैं या मार डालतीं हैं ॥१६॥

विशेषार्थ—भृगु[5] के उद्धरण का भी उक्त अभिप्राय है।

---

१. तथा च वशिष्ठः—विद्वानपि कुलीनोऽपि राजाग्रे चैव पैशुनम्। यः करोति नरो मूर्खस्तस्य कोऽपि न विश्वसेत् ॥१॥

२. तथा च धन्वन्तरिः—ग्रीष्मकालं परित्यज्य योऽन्यकाले दिवा स्वपेत्। तस्य रोगाः प्रवर्द्धन्ते यैः स याति यमालयम् ॥१॥

३. तथा च हारीतः—क्षयव्याधिपरीतस्य यथा नास्त्यत्र भेषजम्। परीवादप्रयोगस्य स्तुतिं मुक्त्वा न भेषजम् ॥१॥

४. तथा च भृगुः—वृथाटनं नरो योऽत्र कुरुते बुद्धिवर्जितः। अनर्थं प्राप्नुयाद्रौद्रं यस्य चान्तो न लभ्यते ॥१॥

५. तथा च भृगुः—ईर्ष्याधिकं त्यजन्ति स्म घ्नन्ति वा पुरुषं स्त्रियः। कुलोद्भूता अपि प्रायः किं पुनः कुकुलोद्भवाः ॥१॥

परपरिग्रहाभिगमः कन्यादूषणं वा साहसं दशमुखदाण्डिक्यविनाशहेतुः सुप्रसिद्धमेव ॥१७॥

अर्थ—दूसरों की स्त्रियों का सेवन और कन्याओं का शील-भङ्ग करना रूपी साहस कर्म रावण और दाण्डिक्य राजा के विनाश का कारण हुआ यह पुराणों में प्रसिद्ध ही है ॥१७॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[1] ने भी उक्त साहस कर्म को उभयलोक में दुःखप्रद कहा है।

यत्र नाहमस्मीत्यध्यवसायस्तत् साहसम् ॥१८॥

अर्थ—जिस रौद्र कर्म (दुश्मन-वध या चोरी-आदि) में व्यक्ति 'मैं जीवित रहूँ या न रहूँ' ऐसा निश्चय करके प्राणों की बाजी लगा कर उस रौद्र कर्म को निर्भयता पूर्वक करता है, वह उसका 'साहस' कर्म है ॥१८॥

विशेषार्थ—भृगु[2] ने भी 'साहस' का उक्त लक्षण किया है।

अर्थदूषणः कुबेरोऽपि भवति भिक्षाभाजनम् ॥१९॥

अर्थ—अर्थ-दोषी अर्थात्—आमदनी से अधिक धन का व्यय करनेवाला व्यक्ति कुबेर-सरीखा धनाढ्य होने पर भी भिक्षा का पात्र हो जाता है, पुनः साधारण व्यक्ति का भिक्षापात्र होना स्वाभाविक है ॥१९॥

विशेषार्थ—हारीत[3] ने भी अर्थ-दोषी के विषय में यही कहा है।

अतिव्ययोऽपात्रव्ययश्चार्थदूषणम् ॥२०॥

अर्थ—आमदनी से अधिक धन व्यय करना और अपात्र के लिए धन-आदि देना अर्थ-दूषण है ॥२०॥

हर्षामर्षाभ्यामकारणं तृणाङ्कुरमपि नोपहन्यात् किं पुनर्मनुष्यम् ॥२१॥

अर्थ—प्रसन्नता और क्रोध-वश विना प्रयोजन के घास का अङ्कुर भी नष्ट न करे, पुनः मनुष्य के घात करने की तो बात ही क्या है? ॥२१॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[4] का उद्धरण भी समानार्थक है।

श्रूयते किल निष्कारणं भूतावमानिनौ वातापिरिल्वलश्चासुरावगस्त्याशनाद्विनेशतुरिति ॥२२॥

अर्थ—निश्चय से पुराण ग्रन्थों में सुना जाता है—कि जीवों से विना कारण द्वेष करनेवाले 'वातापि' और 'इल्वल' नाम के दानव अगस्त्य ऋषि द्वारा भक्षण किये जाकर विनष्ट होगये ॥२२॥

यथादोषं कोटिरपि गृहीता न दुःखायते ॥२३॥

अर्थ—अपराधी के अपराध के अनुसार न्यायोचित जुर्माना-आदि करके करोड़ रुपये भी छीन लिये जाँय तो दुःखदायक नहीं होता ॥२३॥

अन्यायेन तृणशलाकापि गृहीता प्रजाः खेदयति ॥२४॥

अर्थ—विना अपराध के अन्यायपूर्वक तृणशलाका बराबर स्वल्प दण्ड दिया गया हो तो उससे प्रजा पीड़ित होती है ॥२४॥

---

१. तथा च भारद्वाजः—अन्यभार्यापहारो यस्तथा कन्याप्रदूषणम्। तत् साहसं परिज्ञेयं लोकद्वयभयप्रदम् ॥१॥

२. तथा च भृगुः—अङ्गीकृत्यात्मनो मृत्युं यत् कर्म क्रियते नरैः। तत्साहसं परिज्ञेयं रौद्रकर्मणि निर्भयम् ॥१॥

३. तथा च हारीतः—अतिव्ययं च योऽर्थस्य कुरुते कुत्सितं सदा। दारिद्र्योपहतः स स्याद्धनदोऽपि न किं परः ॥१॥

४. तथा च भारद्वाजः—तृणच्छेदोऽपि नो कार्यो विना कार्येण साधुभिः। येन नो सिद्ध्यते किंचित् न [किं पुनर्मानुषं महत्]॥१॥

विशेषार्थ—भागुरि[1] के उद्धरण में भी उक्त अभिप्राय प्रदर्शित किया गया है।

तरुच्छेदेन फलोपभोगः सकृदेव ॥२५॥

अर्थ—जिसप्रकार वृक्ष का मूलोच्छेद करने से उससे फलों का उपभोग केवल उसी समय एक वार ही होता है उसीप्रकार जो राजा अन्यायपूर्वक प्रजा का सर्वस्व अपहरण करता है उसे उसी समय केवल एक वार ही धन प्राप्त होता है, भविष्य में नहीं ॥२५॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[2] ने भी प्रजा का सर्वस्व अपहरण करनेवाले राजा के विषय में उक्त प्रकार कहा है।

प्रजाविभवो हि स्वामिनोऽद्वितीयं भाण्डागारमतो युक्तितस्तमुपभुञ्जीत ॥२६॥

अर्थ—निस्सन्देह प्रजा की धन-धान्य सम्पत्ति राजा के लिए अनोखो अक्षय कोश-सरीखी है, अतः उसे उसका उपभोग न्यायपूर्वक करना चाहिए। अनुचित उपायों अर्थात्—अपराध-प्रतिकूल आर्थिक दण्ड-आदि साधनों से कदाऽपि नहीं ॥२६॥

विशेषार्थ—गौतम[3] ने भी प्रजा की सम्पति के विषय में इसी प्रकार कहा है।

राजपरिगृहीतं तृणमपि काञ्चनीभवति जायते च पूर्वसञ्चितस्याप्यर्थस्यापहाराय ॥२७॥

अर्थ—जो व्यक्ति राजकीय तृण-सरीखी स्वल्प वस्तु भी चुरा लेता है, उसे उसके वदले में सुवर्ण देना पड़ता है, क्योंकि राजकीय साधारण वस्तु की चोरी राज-दण्ड-आदि के कारण पूर्व सञ्चित समस्त धन को नष्ट कराने में कारण होती है ॥२७॥

विशेषार्थ—गर्ग[4] के उद्धरण मे भी उक्त विषय का उल्लेख है।

येन हृदयसन्तापो जायते तद्वचनं हि वाक्पारुष्यम्* ॥२८॥

अर्थ—जिस अप्रिय कठोर वचन से हृदय सन्तापित (पीड़ित) हो, उसे 'वाक्पारुष्य' कहते है ॥२८॥

वाक्पारुष्यं शस्त्रपातादपि विशिष्यते ॥२९॥

अर्थ—मर्म-भेदी कर्कश वचन शस्त्र के घाव से भी विशेष कष्ट प्रद होते हैं, इसलिए मानव को किसी के लिए शस्त्र से चोट पहुँचाना अच्छा है, परन्तु किसी के प्रति कर्कश कठोर वचन बोलना अच्छा नहीं ॥२९॥

विशेषार्थ—विदुर[5] ने भी कर्कश वचन रूपी वाणों को महाभयङ्कर और दूसरों के मर्मस्थलों को पीड़ित करनेवाले वतलाये हैं।

ज्ञातिवयोवृत्तविद्याऽदोषाणामनुचितं हि वचो वाक्पारुष्यम् ॥३०॥

अर्थ—किसी मानव की जाति, आयुष्य, सदाचार, विद्या और निर्दोषता के प्रतिकूल वचन कहना

१. तथा च भागुरिः—गृहीता नैव दुःखाय कोटिरप्यपराधिनः । अन्यायेन गृहीतं यद्भूभुजा तृणमतिदम् ॥१॥

२. तथा च वल्लभदेवः—मूलच्छेदे यथा नास्ति तत्फलस्य पुनस्तरोः । सर्वस्वहरणे तद्वन्न नृपस्य तदुद्भवः ॥१॥

३. तथा च गौतमः—प्रजानां विभवो यस्तु सोऽपरः कोश एव हि । नृपाणां युक्तितो ग्राह्यः नाऽन्यायेन न कर्हिचित् ॥१॥

४. तथा च गर्गः—यो हरेद् भूपजं वित्तमपि स्वल्पतरं हि यत् । गृहस्थस्यापि वित्तस्य तन्नाशाय प्रजायते ॥१॥

*. सूत्रमिदं मूलप्रतितः संगृहीतं—सम्पादकः ।

५. तथा च विदुरः—वाक्सायका रौद्रतमा भवन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य मर्मस्वपि ते पतन्ति तान् पण्डितो नैव क्षिपेत् परेषु ॥१॥

वाक्पारुष्य है। अर्थात्—कुलीन को नीच कुलका कहना, वयोवृद्ध को बालक कहना, सदाचारी को दुराचारी कहना, विद्वान् को मूर्ख कहना और निर्दोषी को सदोषी कहना वाक्यारुष्य है ॥३०॥

विशेषार्थ—जैमिनि[1] ने भी वाक्पारुष्य का उक्त लक्षण करके उसके परित्याग करने को कहा है।

स्त्रियमपत्यं भृत्यं च तथोक्त्या विनयं ग्राहयेद्यथा हृदयप्रविष्टाच्छल्यादिव वचनतो न ते दुर्मनायन्ते ॥३१॥

अर्थ—नैतिक मनुष्य को अपनी स्त्री, सन्तान और सेवक को कर्कश वचन का त्यागपूर्वक ऐसे हित, मित और प्रिय वचन बोलते हुए इसप्रकार विनयशील बनाना चाहिए, जिसके फलस्वरूप वे हृदय में चुभे हुए कीले-सरीखे दुःखद दुर्वचनों से दुःखी न होने पावें, किन्तु प्रमुदित हों ॥३१॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] के उद्धरण में भी उल्लेख है—कि 'जिसके कठोर वचनों द्वारा स्त्री, पुत्र और सेवक दुःखी रहते हैं, उसे उनके द्वारा लेशमात्र भी सुख नहीं मिलता।

वधः परिक्लेशोऽर्थहरणमक्रमेण दण्डपारुष्यम् ॥३२॥

अर्थ—अन्यायपूर्वक किसी का वध कर देना, जेलखाने में रखकर यन्त्रणा देना और उसका धन अपहरण कर लेना ये दण्ड पारुष्य हैं ॥३२॥

विशेषार्थ—गुरु[3] के उद्धरण में भी दण्डपारुष्य का यही लक्षण निर्दिष्ट है।

एकेनापि व्यसनेनोपहतश्चतुरङ्गोऽपि राजा विनश्यति, किं पुनर्नाष्टादशभिः ॥३३॥

अर्थ—जो राजा उक्त अठारह प्रकार के व्यसनों में से किसी एक व्यसन में भी लिप्त होता है, वह चतुरङ्ग सेना अर्थात्—हाथी, घोड़ा, रथ और पदाति रूप चारों अङ्गोंवाला होकर के भी नष्ट होजाता है पुनः अठारह व्यसनों से युक्त के विषय में तो कहना ही क्या है ? ॥३३॥

भावार्थ—उक्त समुद्देश में शास्त्रकार ने निम्नप्रकार १८ अठारह प्रकार के व्यसनों का तात्त्विक व युक्ति-युक्त निर्देश किया है। १ स्त्री आसक्ति, २ मद्यपान, ३ शिकार खेलना, ४ द्यूत क्रीड़न, ५ पैशुन्य, ६ दिन में शयन, ७ परनिन्दा, ८ गीत सुनने में आसक्ति, ९ नृत्य देखने में आसक्ति, १० वादित्र-सुनने में आसक्ति, ११ वृथागमन, १२ ईर्ष्या, १३ साहस (परस्त्री व कन्या को दूषित करना), १४ अर्थदूषण, १५ अकारणवध, १६ द्रव्यहरण, १७ कर्कश वचन और, १८ दण्डपारुष्य। नैतिक व्यक्ति को ऐहिक और पारलौकिक दुःखों से बचने के लिए इनका त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

इति व्यसनसमुद्देशः।

१७. स्वामिसमुद्देशः।

स्वामी के गुण—

धार्मिकः कुलाचाराभिजनविशुद्धः प्रतापवान् नयानुगतवृत्ति श्च स्वामी ॥१॥

---

१. तथा च जैमिनिः—[जातिविद्यासुवृत्ताढ्यान्] निर्दोषान् यस्तु भर्त्सयेत्। तद्गुणैर्वमितां नीतैः पारुष्यं तन्न कारयेत् ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—भार्याभृत्यसुता यस्य वाक्पारुष्यसुदुःखिताः। भवन्ति तस्य नो सौख्यं तेषां पार्श्वान् प्रजायते ॥१॥

३. तथा च गुरुः—[वधं क्लेशापहारं यः] प्रजानां कुरुते नृपः। अन्यायेन हि तत् प्रोक्तं दण्डपारुष्यमेव च ॥१॥

संशोधित—सम्पादक।

अर्थ—जो धार्मिक, कुलीन, सदाचारी और उत्तम कुटुम्बवाला, प्रतापशाली तथा नीति के अनुकूल आचरण करनेवाला हो वह स्वामी है ॥१॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी स्वामी के उक्त गुणों का निरूपण किया है।

कोपप्रसादयोः स्वतन्त्रता आत्मातिशयवर्द्धनं वा यस्यास्ति स स्वामी ॥२॥

अर्थ—जो क्रोध और प्रसाद में स्वतन्त्र हो, अर्थात्—दुष्टों से कुपित हुआ उनका निग्रह करनेवाला और शिष्टों से प्रसन्न होकर उनका दान-मानादि से अनुग्रह करने में समर्थ हो, और जो अपनी उन्नत्ति की वृद्धि करने में साधन-सम्पन्न हो वह स्वामी है ॥२॥

विशेषार्थ—गर्ग[2] ने भी दुष्ट-निग्रह और शिष्ट-अनुग्रहकर्ता को स्वामी कहा है।

प्रकृति की शोभा स्वामीमूलक होती है—

स्वामिमूलाः सर्वाः प्रकृतयो भवन्त्यभिप्रेतप्रयोजना नास्वामिकाः ॥३॥

अर्थ—समस्त प्रजा स्वामी के ही कारण से अपनी इच्छित वस्तु सिद्ध करने में समर्थ होती है, विना स्वामी के नहीं ॥३॥

विशेषार्थ—गर्ग[3] के उद्धरण में भी उक्त विषय का निरूपण है।

अस्वामिकाः प्रकृतयः समृद्धा अपि निस्तरीतुं न शक्नुवन्ति ॥४॥

अर्थ—विना स्वामी की प्रजा समृद्धिशाली होने पर भी अपना उद्धार नहीं कर सकती ॥४॥

दृष्टान्त—

अमूलेषु तरुषु किं कुर्यात् पुरुषप्रयत्नः ॥५॥

अर्थ—विना जड़ के वृक्षों से पुष्प-फलादि की प्राप्ति के लिए पुरुष का प्रयत्न क्या सफल हो सकता है? उसीप्रकार विना स्वामी की प्रजा या मंत्री-आदि अधिकारी अपना मनोरथ सिद्ध करने मे क्या समर्थ हो सकते हैं? ॥५॥

विशेषार्थ—भागुरि[4] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

असत्यभाषी का दुष्परिणाम—

असत्यवादिनो विनश्यन्ति सर्वे गुणाः ॥६॥

अर्थ—असत्य बोलनेवाले के समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं ॥६॥

विशेषार्थ—रैभ्य[5] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

धोखेबाज के दोष—

***वञ्चकेषु न परिजनो नापि चिरमायुः ॥७॥**

१. तथा च शुक्रः—धार्मिको यः कुलाचारैर्विशुद्धः पुण्यवान् नयी। स स्वामी कुरुते राज्यं विशुद्धं राज्यकण्टकैः ॥१॥
२. तथा च गर्गः—स्वागतः कुरुते यश्च निग्रहानुग्रही जने। पापे साधुसमाचारे स स्वामी नेतरः स्मृतः ॥१॥
३ तथा च गर्गः—स्वामिना विद्यमानेन स्वाधिकारानवाप्नुयात्। सर्वाः प्रकृतयो नैव विना तेन समाप्नुयुः ॥१॥
४. तथा च भागुरिः—छिन्नमूलेषु वृक्षेषु यथा नो पल्लवादिकम्। तथा स्वामिविहीनानां प्रकृतीनां न वाञ्छितम् ॥१॥
५. तथा च रैभ्यः—कुलशीलोद्भवा ये च गुणा विद्यादयोऽपराः। ते सर्वे नाशमायान्ति ये मिथ्यावचनात्मकाः ॥१॥
*. 'वञ्चकेषु न धनं' इति ग प्रतौ पाठः।

अर्थ—धोखेबाजों के निकट न सेवक ठहरते हैं और न वे दीर्घजीवी होते हैं ॥७॥

विशेषार्थ—भागुरि[1] ने भी धोखेबाजों के विषय में यही कहा है।

उदार व्यक्ति लोकप्रिय होता है—

स प्रियो लोकानां यो ददात्यर्थम् ॥८॥

अर्थ—जो धन देकर दूसरों का उपकार करता है, वही उदार व्यक्ति लोगों का प्यारा बन जाता है ॥८॥

विशेषार्थ—अत्रि[2] ने भी जनता के प्रेमपात्र बनने का उक्त उपाय बतलाया है।

महान् दाता कौन है ?

स दाता महान् यस्य नास्ति प्रत्याशोपहतं चेतः, *इयमुच्चधियामलौकिकी महती कापि कठोरचित्तता (च), यदुपकृत्य भवन्ति निःस्पृहाः परतः प्रत्युपकारभीरवश्च, ॥९॥

अर्थ—संसार में वही दाता श्रेष्ठ है, जिसकी चित्तवृत्ति पात्र से प्रत्युपकार या धनादिलाभ की इच्छा से दूषित नहीं है, क्योंकि प्रत्युपकार की इच्छा से पात्रदान करना वणिक् वृत्ति है। उच्च ज्ञानी महापुरुषों की ऐसी कोई अलौकिक व श्रेष्ठ प्रकृति-युक्त दृढ़ चित्तवृत्ति होती है, जिससे वे दूसरों का उपकार करके उनसे निःस्पृही होते हैं एवं उन्हें इस बात का भय रहता है कि उपकृत व्यक्ति मेरा कहीं प्रत्युपकार न कर देवे ॥९॥

विशेषार्थ—ऋषिपुत्रक[3] के उद्धरण में पात्र से प्रत्युपकार चाहनेवाले दाता के दान को व्यर्थ बताया है।

प्रत्युपकारी का उपकार-आदि—

प्रत्युपकर्तुरुपकारः सवृद्धिकोऽर्थन्यास इव, तज्जन्मान्तरेषु च न केषामृणं येषामप्रत्युपकारं परार्थानुभवनम् ॥१०॥

अर्थ—प्रत्युपकारी का उपकार करना बढ़नेवाली धरोहर-सरीखा है। इसीप्रकार जो लोग बिना प्रत्युपकार किये ही परोपकार का उपभोग करते हैं उनका वह परोपकार दूसरे जन्म में ऋण-सरीखा होता है, अर्थात्—वे जन्मान्तर में उपकारी दाताओं के ऋणी होते हैं। अर्थात्—विवेकी पुरुष को उपकार के बदले प्रत्युपकार करते रहना चाहिए। अन्यथा वह दूसरे का उपकार पात्र के सिर पर जन्मान्तर तक ऋण-सरीखा लदा रहता है ॥१०॥

विशेषार्थ—ऋषिपुत्रक[4] ने भी प्रत्युपकार न करनेवाले के उपकार के विषय में उक्त प्रकार कहा है।

बिना प्रत्युपकार के उपकार करने के विषय में दृष्टान्त—

किं तया गवा या न क्षरति क्षीरं न गर्भिणी वा ॥११॥

अर्थ—उस गाय से क्या लाभ ? जो न दूध देती है और न गर्भवती होती है ? उसी प्रकार उस मानव के उपकार करने से क्या लाभ ? जो कि न तो वर्तमान में प्रत्युपकार करता है और न भविष्य में ॥११॥

---

१. तथा च भागुरिः—यः पुमान् वंचनासक्तस्तस्य न स्यात् परिग्रहः। न चिरंजीवितं तस्मात् सद्भिस्त्याज्यं हि वञ्चनम्॥१॥

२. तथा च अत्रिः—अन्त्यजोऽपि च पापोऽपि लोकबाह्योऽपि निर्दयः। लोकानां वल्लभः सोऽत्र यो ददाति निजं धनम् ॥१॥

*. इयमित्यादि पाठः ग, घ, च प्रतितः संकलितः।

३. तथा च ऋषिपुत्रकः—दत्वा दानं पुरुषोऽत्र तस्माल्लाभं प्रवाञ्छति। प्रगृहीतुः सकाशाच्च तद्दानं व्यर्थतां भवेत् ॥१॥

४. तथा च ऋषिपुत्रकः—उपकारं गृहीत्वा यः प्रकरोति पुन र्न वा। जन्मान्तरेषु तत्तस्य वृद्धिं याति कुसीदवत् ॥१॥

स्वामी की कृपा—

किं तेन स्वामिप्रसादेन यो न पूरयत्याशाम् ॥१२॥

अर्थ—स्वामी की उस प्रसन्नता से क्या लाभ ? जो कि सेवक की आशा पूर्ण न कर सके। क्योंकि सेवकों के मनोरथ पूर्ण करना ही स्वामी के प्रसाद का फल है ॥१२॥

दुष्ट अधिकारी-युक्त राजा—

क्षुद्रपरिषत्कः सर्पवानाश्रय इव न कस्यापि सेव्यः ॥१३॥

अर्थ—जिसकी सभा में अमात्य-आदि प्रकृति क्षुद्र-या दुष्ट होती है ऐसा राजा उसप्रकार किसी के द्वारा सेवन करने योग्य नहीं होता जिस प्रकार सर्प से बसा हुआ गृह किसी के द्वारा सेवन करने योग्य नहीं होता ॥१३॥

विशेषार्थ—गुरु[1] का उद्धरण भी दृष्टान्तपूर्वक उक्त विषय का निरूपक है।

कृतघ्नता के दोष—

अकृतज्ञस्य व्यसनेषु न सन्ति सहायाः ॥१४॥

अर्थ—कृतघ्न पुरुष की आपत्ति काल में सेवक लोग सहायता नहीं करते ॥१४॥

विशेषार्थ—जैमिनि[2] ने भी कृतघ्न के विषय में यही कहा है।

मूर्खता का दुष्परिणाम—

अविशेषज्ञः शिष्टैर्नाश्रीयते ॥१५॥

अर्थ—मूर्ख, शिष्ट जनों द्वारा आश्रय नहीं लिया जाता ॥१५॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

अतिस्वार्थी लोभी का दोष—

आत्मम्भरिः कलत्रेणापि त्यज्यते ॥१६॥

अर्थ—कुटुम्ब-आदि के संरक्षण में असमर्थ केवल अपनी उदरपूर्ति करने वाले अत्यन्त लोभी स्वार्थी पुरुष को जब उसकी स्त्री भी छोड़ देती है, पुनः दूसरों के द्वारा छोड़े जाने के विषय में तो कहना ही क्या है ॥१६॥

विशेषार्थ—गुरु[4] ने भी पेटू के विषय में उक्त प्रकार कहा है।

आलस्य का दुष्परिणाम—

अनुत्साहः सर्वव्यसनानामागमनद्वारम् ॥१७॥

अर्थ—अनुत्साह (आलस्य) समस्त प्रकार के दुःखों के आने का द्वार है ॥१७॥

विशेषार्थ—वादरायण[5] ने भी आलसी के विषय में यही कहा है।

---

१. तथा च गुरुः—हंसाकारोऽपि चेद्राजा गृध्राकारैः सभासदैः। असेव्यः स्यात्स लोकस्य ससर्प इव संश्रयः ॥१॥

२. तथा च जैमिनिः—अकृतज्ञस्य भूपस्य व्यसने समुपस्थिते। साहाय्यं न करोत्येव कश्चिदाप्तोऽपि मानवः ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—काचं मणिं मणिं काचं यो वेत्ति पृथिवीपतिः। सामान्योऽपि न तं सेवेत किं पुनर्विबुधो जनः ॥१॥

४. तथा च गुरुः—उपार्जितं यो नो दद्यात् कस्यचिद्भक्षयेत् स्वयं। आत्मम्भरिः स विज्ञेयस्त्यज्यते भार्ययापि च ॥१॥

५. तथा च बादरायणः—आलस्योपहतो यस्तु पुरुषः संप्रजायते। व्यसनानि न तं क्वापि संत्यजन्ति कथंचन ॥१॥

उत्साह के गुण—

शौर्यममर्षः शीघ्रकारिता सत्कर्मप्रवीणत्वमित्युत्साहगुणाः ॥१८॥

अर्थ—उत्साही व्यक्ति में शूरता, दूसरे व्यक्तियों द्वारा अनिष्ट किये जाने पर क्रुद्ध होना, कार्यों को शीघ्र करना तथा सत्कर्म में कुशल होना ये गुण होते हैं ॥१८॥

विशेषार्थ—शौनक[1] के उद्धरण में भी उत्साह के उक्त गुणों का उल्लेख है।

अन्यायप्रवृत्ति के दोष—

अन्यायप्रवृत्तेर्न चिरं सम्पदो भवन्ति ॥१९॥

अर्थ—अन्यायी पुरुष की सम्पत्तियाँ चिरस्थायी नहीं होतीं ॥१९॥

विशेषार्थ—अत्रि[2] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

स्वेच्छाचार का दोष—

यत्किञ्चनकारी स्वैः परैर्वा हन्यते ॥२०॥

अर्थ—स्वेच्छाचारी व्यक्ति आत्मीय जनों या शत्रुओं द्वारा मार दिया जाता है ॥२०॥

विशेषार्थ—अत्रि[3] के उद्धरण में भी स्वेच्छाचारी के विषय में उक्त उल्लेख है।

ऐश्वर्य का फल—

आज्ञाफलमैश्वर्यम् ॥२१॥

अर्थ—आज्ञा प्रदान करना और उसका पूर्ण होना ऐश्वर्य का फल है ॥२१॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[4] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

धन का फल—

दत्तभुक्तफलं धनम् ॥२२॥

अर्थ—दान देना और धन का उपभोग करना धन का फल है ॥२२॥

स्त्री का फल—

रतिपुत्रफला दाराः ॥२३॥

अर्थ—सम्भोग-सुख और सन्तान की प्राप्ति स्त्री होने का फल है ॥२३॥

राजाज्ञा की विशेषता—

राजाज्ञा हि सर्वेषामलङ्घ्यः प्राकारः ॥२४॥

अर्थ—जिसतरह अत्यन्त विशाल और ऊँचा कोट उल्लङ्घन करने के अशक्य होता है उसी तरह राजाज्ञा भी उल्लङ्घन करने के लिए अशक्य होती है ॥२४॥

१. तथा च शौनकः—शौर्यं कार्यार्थकोपस्च शीघ्रता सर्वकर्मसु। तत्कर्मणः प्रवीणत्वमुत्साहस्य गुणाः स्मृताः ॥१॥

२. तथा च अत्रिः—अन्यायेन प्रवृत्तस्य न चिरं सन्ति सम्पदः। अपि शौर्यसमेतस्य प्रभूतविभवस्य च ॥१॥

३. तथा च अत्रिः—स्वेच्छया वर्त्तते यस्तु न वृद्धान् परिपृच्छति। स परैर्हन्यते नूनमात्मीयैर्वा निरङ्कुशः ॥१॥

४. तथा च वल्लभदेवः—स एव प्रोच्यते राजा यस्याज्ञा सर्वतः स्थिता। अभिषेको व्रणास्यापि व्यजनं पट्टमेव च ॥१॥

विशेषार्थ—गुरु[१] ने भी राजाज्ञा के विषय में यही कहा है।

अपनी आज्ञा के विषय में राजा का कर्तव्य—

आज्ञाभङ्गकारिणं सुतमपि न सहेत ॥२५॥

अर्थ—राजा, आज्ञाभङ्ग करनेवाले पुत्र पर भी क्षमा न करे, अर्थात्—यथोचित दण्ड देवे ॥२५॥

विशेषार्थ—नारद[२] ने भी आज्ञाभङ्ग को विना शस्त्र का वध कहा है।

कस्तस्य चित्रगतस्य च राज्ञो विशेषो यस्याज्ञा नास्ति ॥२६॥

अर्थ—जिसकी आज्ञा का पालन नहीं होता उस राजा में और चित्र-लिखित राजा में क्या विशेषता है? अर्थात्—उसे मृत प्राय समझना चाहिए ॥२६॥

विशेषार्थ—गुरु[३] का उद्धरण भी उक्त विषय की प्रतिष्ठा करता है।

आज्ञा-उल्लंघन का दण्ड—

राजाज्ञावरुद्धस्य पुनस्तदाज्ञाऽप्रतिपादनेन उत्तमः साहसो दण्डः सम्बन्धाऽभावे तद्दातुश्च ॥२७॥

अर्थ—राजा की आज्ञा से जेलखाने में बन्दी हुआ अपराधी यदि फिर से आज्ञा उल्लङ्घन करे तो उसे १००० एक हजार पण का उत्तम साहस दण्ड देना चाहिए। यदि अपराध से अपराधी का संबंध सिद्ध न हो तो जिस न्यायकर्ता ने दण्ड दिया हो उसे उत्तम साहस दण्ड देना चाहिए ॥२७॥

कैसे वचन न बोले?

परमर्मस्पर्शकरमश्रद्धेयमसत्यमतिमात्रं च न भाषेत ॥२८॥

अर्थ—नैतिक व्यक्ति दूसरों के हृदय को चोट पहुँचानेवाले, विश्वास के अयोग्य और अधिक मात्रावाले अर्थात् बहुत ज्यादा और झूठे वचन न बोले ॥२८॥

विशेषार्थ—भार्गुरि[४] का उद्धरण भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण करता है।

वेष और आचार—

वेषमाचारं वानभिजातं न भजेत् ॥२९॥

अर्थ—विवेकी पुरुष कुलीन शिष्ट पुरुषों के अयोग्य वेष-भूषा और व्यवहार न करे। अर्थात्—मनुष्य को चाहिए कि वह ऐसा वेष-भूषा न धारण करे, जो कि कुलीन शिष्ट समाज में व्यवहार न की जाय और ऐसा व्यवहार भी किसी से न करे जो शिष्ट परम्परा के प्रतिकूल हो ॥२९॥

राजा के क्रुद्ध होने का कुफल—

प्रभौ विकारिणि को नाम न विकुरुते ॥३०॥

अर्थ—जिस व्यक्ति से राजा कुपित हो गया है उसपर कौन कुपित नहीं होता? ॥३०॥

विशेषार्थ—हारीत[५] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

---

१. तथा च गुरुः—अलंघ्यो यो भवेद्राजा प्राकार इव मानवैः। यमादेशमसौ दद्यात् कार्य एव हि स ध्रुवम् ॥१॥

२. तथा च नारद—आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणामशस्त्रो वध उच्यते। प्राणार्थिभिर्न कर्तव्यस्तस्मात् सोऽत्र कथंचन ॥१॥

३. तथा च गुरुः—यस्याज्ञां नैव कुर्वन्ति भूमौ भूपस्य मानवाः। आलेख्यग. स मन्तव्यो न मनुष्यः कथंचन ॥१॥

४. तथा च भागुरिः—परमर्म न वक्तव्यं कायवाह्यं कथंचन। अश्रद्धेयं च विज्ञेयं य इच्छेद्धितमात्मनः ॥१॥

५. तथा च हारीत.—विकारान् कुरुते योऽत्र प्रकृत्या नैव तिष्ठति। प्रभोस्तस्य विरज्येत निजा अपि च बन्धवः ॥१॥

अधर्मपरे राज्ञि को नाम नाधर्मपरः ॥३१॥

अर्थ—राजा के अधार्मिक (पापी) होने पर कौन अधार्मिक नहीं होता ? ॥३१॥

विशेषार्थ—व्यास[1] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

राजा द्वारा मानापमान का प्रभाव—

राज्ञावज्ञातो यः स सर्वैरवज्ञायते ॥३२॥

अर्थ—जो व्यक्ति राजा द्वारा तिरस्कृत व अपमानित किया जाता है, उसका सभी लोग अपमान करने लगते हैं ॥३२॥

विशेषार्थ—नारद[2] ने भी राजा द्वारा तिरस्कृत व्यक्ति के विषय में यही कहा है।

पूजितं हि पूजयन्ति लोकाः ॥३३॥

अर्थ—निश्चय से राजा से सन्मानित व्यक्ति का सभी सन्मान करते हैं ॥३३॥

प्रजा की देखभाल—

प्रजाकार्यं स्वयमेव पश्येत् ॥३४॥

अर्थ—राजा को प्रजा के कार्य स्वयं देखना चाहिए ॥३४॥

विशेषार्थ—देवल[3] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

यथावसरमप्रतीहारसङ्गं द्वारं कारयेत् ॥३५॥

अर्थ—अवसर के अनुसार राजा अपने द्वार पर से द्वारपाल को भी हटा लेवे जिससे प्रजा सरलतापूर्वक राजा से मिल सके ॥३५॥

दुर्दर्शो हि राजा कार्याकार्यविपर्यासमासन्नैः कार्यतेऽतिसंधीयते च द्विषद्भिः ॥३६॥

अर्थ—निस्सन्देह जो राजा प्रजा के कार्यो की स्वयं देखभाल नहीं करता, उस दुर्दर्श राजा के अच्छे बुरे कार्य, आसन्नवर्ती अर्थात्—उसके समीपवर्ती स्वार्थी अधिकारियों द्वारा उलट पुलट कर दिये जाते हैं अर्थात्—विगाड़ दिये जाते हैं, और ऐसा राजा शत्रुओं द्वारा धोखा देने योग्य और ठगने योग्य होता है ॥३६॥

राजा के सङ्कट से सेवकों को लाभ—

वैद्येषु श्रीमतां व्याधिवर्धनादिव नियोगिषु भर्तुर्व्यसनवर्धनादपरो नास्ति जीवनोपायः ॥३७॥

अर्थ—जिसप्रकार धनिकों की बीमारी बढ़ाना छोड़कर वैद्यों की आजीविका का कोई दूसरा उपाय नहीं है उसीप्रकार राजा को व्यसनों में फँसाने के सिवाय मंत्री-आदि अधिकारियों की जीविका का भी कोई दूसरा उपाय नहीं है। अर्थात्—राजा यदि दुर्व्यसनों में आसक्त हो जाता है तो अधिकारी वर्ग उसी छल से राजा के धन का अपहरण करते रहते हैं ॥३७॥

विशेषार्थ—रैभ्य[4] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

---

१. तथा च व्यासः—राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः खले खलाः। राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः ॥१॥

२. तथा च नारदः—अवज्ञातस्तु यो राज्ञा स विद्वानपि मानवैः। अवज्ञायेत मूर्खोऽपि पूज्यते नृपपूजितः ॥१॥

३. तथा च देवलः—ये स्युर्विचारका राज्ञामुत्कोचां प्राप्य तेऽन्यथा। विचारयन्ति कार्याणि तत्पापं नृपतेर्यतः ॥१॥

४. तथा च रैभ्यः—ईश्वराणां यथा व्याधिर्वैद्यानां निधिरुत्तमः। नियोगिनां तथा ज्ञेयः स्वामिव्यसनसंभवः ॥१॥

घूँसखोरी के विषय में—

कार्यार्थिनः पुरुषान् लञ्चा लुञ्चन्ति ॥३८॥

अर्थ—कार्यार्थी पुरुषों को घूँसखोर अधिकारी लूटते हैं ॥३८॥

लञ्चचरां भूतवलिं न कुर्यात् ॥३९॥

अर्थ—घूँसखोरी से संबंध रखनेवाली प्रजा को बलि न करे। अर्थात्—राजा प्रजा को घूँसखोरों से बचावे ॥३९॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी रिश्वत खोरों से प्रजावर्ग की रक्षा का उल्लेख किया है।

लञ्चलुञ्चा हि सर्वपातकानामागमनद्वारम् ॥४०॥

अर्थ—बलात्कारपूर्वक रिश्वतखोर समस्त पापों के आगमन के द्वाररूप होते हैं। अर्थात्—रिश्वत लेना समस्त पापों का कारण है ॥४०॥

विशेषार्थ—वशिष्ठ[2] ने भी रिश्वतखोरी के विषय में कहा है।

मातुः स्तनमपि लुञ्चन्ति लञ्चोपजीविनः ॥४१॥

अर्थ—रिश्वतखोरी से जीविका करनेवाले अपनी माता का भी स्तन काट लेते हैं अर्थात्—अपने हितैषियों से भी रिश्वत ले लेते हैं फिर दूसरों से रिश्वत लेना तो साधारण बात है ॥४१॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[3] ने भी रिश्वत खोरी के विषय में यही कहा है।

लञ्चेन कार्याभिरुद्धः स्वामी विक्रीयते ॥४२॥

अर्थ—जिस राजा के यहाँ घूँस के कारण कार्य रुकता हो, वह राजा घूँसखोरों के हाथ बिक जाता है। अर्थात्—जिससे रिश्वत ली जाती है, उसका अन्याय-युक्त कार्य भी न्याययुक्त बताकर रिश्वतखोरों को सिद्ध करना पड़ता है, जिससे स्वामी की आर्थिक क्षति होती है, यही रिश्वतखोरों द्वारा स्वामी का बिकना समझना चाहिए ॥४२॥

विशेषार्थ—भृगु[4] ने भी घूँसखोरी के विषय में उक्त अभिप्राय प्रदर्शित किया है।

प्रासादविध्वंसनेन लोहकीलकलाभ इव लञ्चेन राज्ञोऽर्थलाभः ॥४३॥

अर्थ—घूँस - रिश्वत-आदि अन्याय द्वारा प्रजा से धन की प्राप्ति राजा के लिए उसी तरह की है जिस तरह महल गिराकर लोहे का कील प्राप्त करने में है। अर्थात्—घूँसखोरी से राजा का राज्य नष्ट हो जाता है ॥४३॥

विशेषार्थ—गर्ग[5] ने भी उक्त सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है।

राज्ञो लञ्चेन कार्यकरणे कस्य नाम कल्याणम् ॥४४॥

---

१. तथा च शुक्रः—कार्यार्थिनः समायातान् यश्च भूपो न पश्यति। स चाढ्यैः गृह्यते तेषां दत्तं कोशे न जायते ॥१॥

२. तथा च वशिष्ठः—लञ्चलुञ्चानका यस्य जायन्ते कर्मरता नरः। तस्मिन् सर्वाणि पापानि संश्रयन्तीह सर्वदा ॥१॥

३. तथा च भारद्वाजः—लञ्चोपजीविना येऽत्र जनन्या अपि स्तनम्। भक्षयन्ति गुणिस्तृ शा अन्यलोकस्य का कथा ॥१॥

४ तथा च भृगुः—लञ्चेन कर्मणा यत्र कार्यं कुर्वन्ति भूपतेः। विक्रीतमपि चात्मानं नो जानाति स मूढधीः ॥१॥

५. तथा च गर्गः—लञ्चद्वारेण यो लाभो भूमिपानां स कीदृशः। लोहकीलकलाभस्तु यथा प्रासादध्वंसने ॥१॥

अर्थ—जो राजा घूँस-रिश्वत लेकर कार्य करता है, उसके राज्य में किसका कल्याण हो सकता है ? ॥४४॥

विशेषार्थ—भागुरि[1] के उद्धरण में भी अन्यायी राजा के विषय में उक्त उल्लेख है।

देवतापि यदि चौरेषु मिलति कुतः प्रजानां कुशलम् ॥४५॥

अर्थ—क्योंकि यदि देवता रूप राजा भी चोरों की सहायता करने लग जाय तो प्रजा का कल्याण कहाँ से होगा ? अर्थात्—जब रक्षक ही भक्षक हो जाय तब प्रजा का कल्याण किस प्रकार हो सकता है ? ॥४५॥

विशेषार्थ—अत्रि[2] का उद्धरण भी उक्त विषय का समर्थक है।

लञ्चेनार्थोपायं दर्शयन् देशं कोशं मित्रं तन्त्रं च भक्षयति ॥४६॥

अर्थ—राजा के लिये घूँस से अर्थ-लाभ प्रदर्शित करनेवाला अमात्य राजा के देश, कोश, मित्र और सैन्य का भक्षण कर जाता है—नष्ट कर देता है ॥४६॥

विशेषार्थ—भागुरि[3] ने भी घूँस से होनेवाली उक्त क्षति का निर्देश किया है।

राजा द्वारा अन्याय और न्याय—

राज्ञोऽन्यायकरणं समुद्रस्य मर्यादालङ्घनमादित्यस्य तमः पोषणमिव मातुश्चापत्य-भक्षणमिव कलिकालविजृम्भितानि ॥४७॥

अर्थ—राजा का अन्याय करना, समुद्र के मर्यादा-लङ्घन के समान, सूर्य द्वारा अन्धकार के प्रसार-सरीखा और माता का अपनी सन्तान के भक्षण-सा है और यह सब कलिकाल का ही विलास है ॥४७॥

राजा कालस्य कारणम् ॥४८॥

अर्थ—प्रजा के दुःखरूप अथवा सुखरूप समय-यापन करने का कारण राजा होता है ॥४८॥

न्यायतः परिपालके राज्ञि प्रजानां कामदुघा भवन्ति सर्वा दिशः, काले च वर्षति मघवान्, सर्वाश्चेतयः प्रशाम्यन्ति ॥४९॥

अर्थ—जब राजा न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करता है तब प्रजा के लिए समस्त दिशाएँ कामधेनु सरीखी अभिलषित वस्तु देनेवाली होती हैं। सारांश यह है—कि ललितकला और कृषि-व्यापार-आदि की प्रगति न्याय-युक्त शासन की अपेक्षा करती है। ऐसे अवसर पर इन्द्र यथा समय वृष्टि करता है और राज्य की समस्त ईतियाँ-अर्थात्—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डीदल-आदि का आना, मूषिकों और चिड़ियों का उपद्रव और युद्ध छिड़ जाना ये छह ईतियाँ—शान्त हो जाती हैं ॥४९॥

विशेषार्थ—किसी नीतिवेत्ता[4] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

गुरु[5] का उद्धरण भी न्यायी राजा की प्रशंसा करता है।

राजा की महत्ता—

राजानमनुवर्तन्ते सर्वेऽपि लोकपालास्तेन मध्यममप्युत्तमं लोकपालं राजानमाहुः ॥५०॥

---

१. तथा च भागुरिः—लञ्चनद्वारमाश्रित्य यो राजोत्यधनं हरेत्। न तस्य किंचित्कल्याणं कदाचित् संप्रजायते ॥१॥

२. तथा च अत्रिः—राज्ञो लुञ्चाप्रवृत्तस्य कीदृक् स्याज्जनतासुखम्। यथा दुर्गप्रसादेन चौरोपरि कृतेन च ॥१॥

३. तथा च भागुरिः—दर्शनं लुञ्चनार्थस्य यः करोति महीपतिः। स देशकोशमित्राणां तन्त्रस्य च क्षयंकरः ॥१॥

४. तथा चोक्तं—राज्ञा चिन्तापरे देशे स्वार्थसिद्धिः प्रजायते। क्षेमेण कर्षकाः सस्यं प्राप्नुयु र्धनिनो धनम् ॥१॥

५. तथा च गुरुः—इन्द्रादिलोकपाला ये पार्थिवे परिपालके। पालयन्ति च तद्राष्ट्रं वामं वामं च कुर्वते ॥१॥

अर्थ—समस्त लोकपाल राजा का अनुसरण करते हैं, अतः मध्यम श्रेणीवाले राजा को नीतिकारों ने उत्तम लोकपाल कहा है ॥५०॥

विशेषार्थ—रैभ्य[1] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

राजकीय सहायता के योग्य—

अव्यसनेन क्षीणधनान् मूलधनप्रदानेन कुटुम्बिनः प्रतिसंभावयेत् ॥५१॥

अर्थ—राजा, प्रजा के उन कुटुम्बियों को, जो कि द्यूत-क्रीड़ा-आदि व्यसनों के विना व्यापारिक घाटा-आदि के कारण निर्धन हुए हैं, मूलधन अर्थात्—पूँजी के लिए धन देकर सन्मानित करे ॥५१॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] के उद्धरण में भी निर्धनों के लिए पूँजी लगाने का उल्लेख है।

राजा का कुटुम्ब और कलत्र—

राज्ञो हि समुद्रावधिर्मही स्वकुटुम्बं, कलत्राणि तु वंशवर्द्धनक्षेत्राणि ॥५२॥

अर्थ—समुद्र पर्यन्त पृथ्वी राजा का अपना कुटुम्ब है और उसके उपजाऊ खेत उसकी वंश-वृद्धि करनेवाली स्त्रियाँ हैं ॥५२॥

भेंट और उपहार—

अर्थिनामुपायनमप्रतिकुर्वाणो न गृह्णीयात् ॥५३॥

अर्थ—यदि राजा प्रयोजनार्थी का इष्ट प्रयोजन सिद्ध कर उसका उपकार न कर सके तो उसे उसकी भेंट स्वीकर नहीं करनी चाहिए ॥५३॥

विशेषार्थ—नारद[3] के उद्धरण में भी यही निरूपण है।

हास-उपहास की मर्यादा—

आगन्तुकैरसहनैश्च सह नर्म न कुर्यात् ॥५४॥

अर्थ—अपरिचित और सहन न करनेवाले व्यक्तियों से हँसी मजाक नहीं करनी चाहिए। क्योंकि इसका परिणाम महाभयङ्कर होता है।

भावार्थ—पुराण ग्रन्थों में उल्लेख है, कि रुक्मी ने जुआ खेलते समय वल्देव को हँसी की थी परन्तु वे उसे सहन न कर सके अतः उन्होंने क्रुद्ध होकर गदा-प्रहार द्वारा उसका वध कर दिया ॥५४॥

विशेषार्थ—शौनक[4] का उद्धरण भी समानार्थ का निरूपक है।

पूज्यों से संभाषण पर नीति—

पूज्यैः सहाधिरुह्य न वदेत् ॥५५॥

अर्थ—पूज्य पुरुषों के साथ कुर्सी-आदि पर बैठकर वातचीत न करे अथवा वाद-विवाद न करे ॥५५॥

विशेषार्थ—शुक्र[5] के उद्धरण में भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण है।

---

१. तथा च रैभ्यः—[लक्ष्वादिविकलो राजा] मध्यमोऽप्यत्र मानवैः। श्लाघ्यतं यस्तु लोकानां सम्यक् स्यात् परिपालकः ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—प्रनिकं च शतं वृद्धया देयं राज्ञा कुटुम्बिने। सीदमानाय नो देयं द्यूताद्यैर्निर्धनाय च ॥१॥

३. तथा च नारद—उपायनं न गृह्णीयाद् यदि कार्यं न साधयेत्। अर्थिनां पृथ्वीपालो नो चेद्याति स वाच्यताम् ॥१॥

४. तथा च शौनकः—हास्यकेलिं न कुर्वीत भूपः सार्द्धं समागतैः। ये चापि न सहन्तेऽस्म दोषोऽयं महतोऽपरः ॥१॥

५. तथा च शुक्रः—पूज्यैः सह विवादं य. कुरुते मतिवर्जितः। स निन्दां लभते लोके परत्र नरकं व्रजेत् ॥१॥

झूँठी आशा देना अनुचित—

***भृत्यमशक्यमप्रयोजनं च जनं नाशया क्लेशयेत् ॥५६॥**

अर्थ—असमर्थ व्यक्ति को, सेवक को और निःस्वार्थी व्यक्ति को झूँठो आशा देकर पीड़ित न करे। पाठान्तर का अर्थ है कि स्वामी को प्रयोजन-सिद्धि करने में असमर्थ सेवक के लिए पारितोषिक-आदि का प्रलोभन देकर क्लेशित नहीं करना चाहिए ॥५६॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

मनुष्य किसका दास है ?

पुरुषो हि न पुरुषस्य दासः किन्तु धनस्य ॥५७॥

अथ—निश्चय से लोक में मनुष्य, मनुष्य का दास नहीं होता किन्तु धन का दास होता है ॥५७॥

विशेषार्थ—गुरु[2] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

व्यास[3] ने भी महाभारत के भीष्मपर्व में लिखा है—कि 'महात्मा भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर से कहा था—कि हे महाराज ! मनुष्य धन का दास है परन्तु धन किसी का दास नहीं, अतः धन के कारण से ही मैं कौरवों के अधीन हुआ हूँ'।

निर्धनता—

को नाम धनहीनो न भवति लघुः ॥५८॥

अर्थ—लोक में कौन सा निर्धन (दरिद्र व्यक्ति) छोटा नहीं होता ? ॥५८॥

विशेषार्थ—महाकवि कालिदास[4] ने कहा है—कि 'लोक में सभी मनुष्य निर्धनता से छोटे और धन से बड़े होते हैं।

श्री वादीभसिंहसूरि[5] ने भी दरिद्रता को दुःख-जननी कहा है।

पराधीन व्यक्ति का भविष्य—

पराधीनेषु नास्ति शर्मसम्पत्तिः ॥५९॥

अर्थ—पराधीन पुरुषों को सुख-सम्पत्ति प्राप्त नहीं होती ॥५९॥

विद्या की प्रशंसा—

सर्वधनेषु विद्यैव प्रधानमहार्यत्वात् सहानुयायित्वाच्च ॥६०॥

अर्थ—समस्त धनों में विद्या ही प्रधान धन है, क्योंकि उसका कोई व्यक्ति अपहरण नहीं कर सकता और विद्वान् पुरुष जहाँ भी जाता है, वह उसके साथ रहती है ॥६०॥

विशेषार्थ—नारद[6] का उद्धरण भी उक्त प्रकार विद्या की महत्ता प्रकट करता है।

★. 'भृत्यमशक्यप्रयोजनं नाशया क्लेशयेत्' इति ग, घ, च प्रतिषु पाठः।

१. तथा च शुक्रः—दृष्टिं नेतुं न शक्येत यो जनः पृथ्वीभुजा। वृथाशया न संक्लेश्यो विशेषान्निष्प्रयोजनः ॥१॥

२. तथा च गुरुः—पुमान् सामान्यगात्रोऽपि न चान्यस्य स कर्मकृत्। यत्करोति पुनः कर्म दासवत्तद्धनस्य च ॥१॥

३. तथा च व्यासः—अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्। इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥१॥

४. तथा च महाकविः कालिदासः—रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौर वाय ॥१॥

५. तथा च वादीभसिंहसूरिः—दारिद्र्यादपरं नास्ति जन्तूनामप्यरुन्तुदम्। अत्यक्तं मरणं प्राणैः प्राणिनां हि दरिद्रता ॥१॥

६. तथा च नारदः—धनानामेव सर्वेषां विद्याधनमनुत्तमम्। ह्रियते यन्न केनापि प्रस्थितेन समं व्रजेत् ॥१॥

श्रीमद्वादीभसिंहसूरि[1] ने भी विद्या के महत्त्व का निरूपण किया है।

सरित् समुद्रमिव नीचमुपगतापि विद्या दुर्दर्शमपि राजानं संगमयति परन्तु भाग्यानां भवति व्यापारः ॥६१॥

अर्थ—जिसतरह निम्न मार्ग से बहनेवाली नदी अपने साथ बहने वाले छोटे से छोटे तृण-आदि को समुद्र से मिला देती है उसीतरह नीच या क्षुद्र पुरुष की विद्या भी उसे बड़ी कठिनाई से दर्शन होने योग्य राजा से मिला देती है। परन्तु ऐसा होजाने पर भी राजा से अल्प धन-लाभ या प्रचुर धन-लाभ उसके भाग्य की अनुकूलता पर निर्भर होता है ॥६१॥

विशेषार्थ—विष्णुशर्मा[2] ने भी विद्या की महत्ता का निरूपण किया है।

गुरु[3] ने भी उक्त विषय का उल्लेख किया है।

सा खलु विद्या विदुषां कामधेनुर्यतो भवति समस्तजगतः स्थितिज्ञानम् ॥६२॥

अर्थ—निश्चय से विद्या कामधेनु-सरीखी विद्वानों के मनोरथ पूर्ण करनेवाली है; क्योंकि उससे उन्हें समस्त जगत की स्थिति का परिज्ञान होता है ॥६२॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] का उद्धरण भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण करता है।

लोक व्यवहार में निपुण का महत्त्व—

लोकव्यवहारज्ञो हि सर्वज्ञोऽन्यस्तु प्राज्ञोऽप्यवज्ञायत एव ॥६३॥

अर्थ—निश्चय से लोक-व्यवहार का ज्ञाता ही सर्वज्ञ है, दूसरा तो विद्वान् होने पर भी तिरस्कृत या अनादृत होता है ॥६३॥

विशेषार्थ—नारद[5] के उद्धरण में भी व्यवहार-कुशल की इसीप्रकार प्रशंसा की है।

बुद्धि के पारदर्शी व्यक्तियों का लक्षण—

ते खलु प्रज्ञापारमिताः पुरुषाः ये कुर्वन्ति परेषां प्रतिबोधनम् ॥६४॥

अर्थ—उन विद्वानों को बुद्धि के पारदर्शी कहते हैं, जो कि दूसरों को कर्तव्य का बोध कराने में निपुण हैं ॥६४॥

विशेषार्थ—जैमिनि[6] ने भी कर्तव्य-बोध कराने की कला में निपुण विद्वानों को सर्वज्ञ कहा है।

कर्तव्य-बोध न कराने वाले विद्वानों के प्रति—

अनुपयोगिना महताऽपि किं जलधिजलेन ॥६५॥

अर्थ—समुद्र की उस प्रचुर जलराशि से क्या लाभ? जो खारी होने के कारण उपभोग में नहीं आती।

---

१. तथा च वादीभसिंहसूरिः—विद्या हि विद्यमानेयं वितीर्णापि प्रकृष्यते। नाकृष्यते च चौराद्यैः पुष्यत्येव मनीषितम् ॥१॥

२. तथा च विष्णुशर्मा—संयोजयति विद्यैव नीचगापि नरं सरित्। समुद्रमिव दुर्धर्षं नृपं भाग्यमतः परं ॥१॥

३. तथा च गुरुः—नीचादपि च यो विद्यां प्राप्नुयाद् बुद्धिमान्नरः। दुर्दर्शमपि राजानं तत्प्रभावात् स पश्यति ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—विद्या कामदुघा धेनुर्विज्ञानं संप्रजायते। यतस्तस्याः प्रभावेण पूज्याः स्युः सर्वतो विशः ॥१॥

५. तथा च नारदः—लोकानां व्यवहारं यो विजानाति स पण्डितः। मूर्खोऽपि योऽथवान्यस्तु स विज्ञोऽपि यथा जड़ः ॥१॥

६. तथा च जैमिनिः—अथ विज्ञाः प्रकुर्वन्ति येऽन्येषां प्रतिबोधनम्। सर्वज्ञास्ते परे मूर्खा यत्ते स्युर्घटदीपवत् ॥१॥

उसीप्रकार विद्वान् की उस प्रकाण्ड विद्वत्ता से क्या लाभ ? जो कि दूसरों को कर्तव्य-बोध कराने की कला में समर्थ नहीं है ॥९५॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] का उद्धरण भी समानार्थक है।

इति स्वामिसमुद्देशः।

१८. अमात्यसमुद्देशः

अमात्य की महत्ता—

***चतुरङ्गेऽस्ति द्यूते नानमात्योऽपि राजा किं पुनरन्यः ॥१॥**

अर्थ—जब शतरञ्ज का बादशाह अमात्य के बिना चतुरङ्गिणी सेना-(शतरञ्ज के हाथी व प्यादे-आदि) सहित होकर के भी उसका बादशाह नहीं हो सकता, अर्थात्—उस खेल के बादशाह-आदि प्रतिद्वन्दियों को परास्त कर विजयश्री प्राप्त नहीं कर सकता, तब क्या पृथिवीपति राजा, हस्ति, अश्व, रथ और पैदल रूप चतुरङ्गिणी सेना से युक्त होकर के भी अमात्य के बिना राजा हो सकता है ? फिर अन्य के विषय में क्या कहा जाय ॥१॥

विशेषार्थ—गुरु[2] ने भी उक्त विषय का उल्लेख किया है।

नैकस्य कार्यसिद्धिरस्ति ॥२॥

अर्थ—अकेले राजा को कार्य-सिद्धि नहीं हो सकती ॥२॥

दो दृष्टान्त—

न ह्येकं चक्रं परिभ्रमति ॥३॥

अर्थ—जिसतरह रथ का अकेला पहिया दूसरे पहिया की सहायता के बिना नहीं घूमता उसीतरह अकेला राजा भी अमात्य के बिना कार्यसिद्धि नहीं कर सकता ॥३॥

किमवातः सेन्धनोऽपि वह्निर्ज्वलति ॥४॥

अर्थ—जिसप्रकार अग्नि ईन्धन-युक्त होने पर भी वायु के बिना प्रज्वलित नहीं हो सकती उसीप्रकार वलिष्ठ व सुयोग्य राजा भी अमात्य के बिना राज्य-शासन करने में समर्थ नहीं हो सकता ॥४॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[3] ने भी उक्त विषय का उल्लेख किया है।

अमात्य का स्वरूप—

स्वकर्मोत्कर्षापकर्षयोर्दानमानाभ्यां सम्पत्तिविपत्ती येषां तेऽमात्याः ॥५॥

अर्थ—जो राजा द्वारा दिये हुए दान-सन्मान से अपने कर्तव्य-पालन में उत्साह और अनुत्साह करने के अवसर पर जिन्हें हर्ष और विषाद हों वे अमात्य हैं ॥५॥

---

१. तथा च शुक्रः—किं तया विद्यया कार्यं या न बोधयते परान्। प्रभूतैश्चापि किं तोयैर्जलधेर्व्यर्थता गतैः ॥१॥

*. 'चतुरङ्गयुतोऽपि नानमात्यो राजास्ति, किं पुनरेकः' इति ग, घ, च, प्रतिषु पाठः।

२. तथा च गुरुः—चतुरङ्गेऽपि नो द्यूते मन्त्रिणा परिवर्जितः। स्वराज्यं कर्तुमीश. स्यात् किं पुनः पृथिवीपतिः ॥१॥

३. तथा च वल्लभदेवः—किं करोति समर्थोऽपि राजा मन्त्रिविवर्जित.। प्रदीप्तोऽपि यथा वह्निः समीरेण विना कृतः ॥१॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी अमात्यों का उक्त लक्षण किया है।

अमात्य के मुख्य कर्तव्य—

आयो व्ययः स्वामिरक्षा तन्त्रपोषणं चामात्यानामधिकारः ॥६॥

अर्थ—मन्त्रियों के निम्न प्रकार चार मुख्य कर्तव्य हैं—आय और व्यय की देखभाल, राजा की सुरक्षा तथा सैन्यशक्ति का संरक्षण और पोषण ॥६॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] ने भी अमात्यों के उक्त चार कर्तव्य निरूपण किये हैं।

आय-व्यय संबंधी विचार—

आयव्ययमुखयोर्मुनिकमण्डलुर्निदर्शनमेव ॥७॥

अर्थ—सम्पत्ति की आमदनी और खर्च करने के साधनों में मुनियों का कमण्डलु दृष्टान्त रूप है। अर्थात्—जिस तरह कमण्डलु जल-ग्रहण अधिक परिमाण में शीघ्रतापूर्वक करता है परन्तु उसका खर्च छोटी नली के अग्रभाग से धीरे-धीरे करता है, उसीतरह अमात्य राज्य में सम्पत्ति की आमदनी के अनेक साधनों का प्रयोग करे और व्यय नियमित और कम करे ॥७॥

विशेषार्थ—गुरु[3] ने भी व्यय की अपेक्षा आय को प्रचुर मात्रा में करने का उल्लेख किया है।

आय-व्यय का स्वरूप—

आयो द्रव्यस्योत्पत्तिमुखम् ॥८॥

अर्थ—द्रव्य की उत्पत्ति के न्यायोचित साधनों—कृषि व व्यापार आदि को 'आय' कहते हैं ॥८॥

यथास्वामिशासनमर्थस्य विनियोगो व्ययः ॥९॥

अर्थ—स्वामी की आज्ञा के अनुसार धन खर्च करना व्यय है ॥९॥

आयमनालोच्य व्ययमानो वैश्रवणोऽप्यवश्यं श्रमणायत एव ॥१०॥

अर्थ—जो व्यक्ति आमदनी का ध्यान न रखकर अधिक धन खर्च करता है वह कुवेर-सरीखा प्रचुर धन का स्वामी हो करके भी निश्चय से भिक्षुक-सरीखा (दरिद्र) हो जाता है ॥१०॥

स्वामी शब्द का अर्थ—

राज्ञः शरीरं धर्मः कलत्रमपत्यानि च स्वामिशब्दार्थाः ॥११॥

अर्थ—राजा का शरीर, धर्म, रानियाँ, और राजकुमार-राजकुमारी यह स्वामी शब्द का अभिप्राय है। सारांश यह है कि मन्त्री को इन सबकी रक्षा करनी चाहिए ॥११॥

तन्त्र का लक्षण—

तन्त्रं चतुरङ्गबलम् ॥१२॥

अर्थ—हस्ति, अश्व, रथ और पदाति इस चार प्रकार की सैन्य शक्ति को 'तन्त्र' कहते हैं ॥१२॥

---

१. तथा च शुक्रः—अप्रमादे प्रसादे च येषां च समतास्थितिः। अमात्यास्ते हि विज्ञेया भूमिपालस्य संमताः ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—आगतिर्व्ययसंयुक्ता तथा स्वामिप्ररक्षणम्। तन्त्रस्य पोषणं कार्यं मन्त्रिभिः सर्वदैव हि ॥१॥

३. तथा च गुरुः—आयोऽनल्पतरः कार्यो व्ययान्नित्यञ्च मन्त्रिभिः। विपरीतो व्ययो यस्य स राज्यस्य विनाशकः ॥१॥

अमात्य के दोष और उनका क्रमशः विवेचन—

तीक्ष्णं बलवत्पक्षमशुचिं व्यसनिनमशुद्धाभिजनमशक्यप्रत्यावर्तनमतिव्ययशीलमन्य-देशायातमतिचिक्कणं चामात्यं न कुर्वीत ॥१३॥

अर्थ—राजा को निम्नप्रकार दोषों से दूषित व्यक्ति के लिए मन्त्री पद पर नियुक्त नहीं करना चाहिए। जो अत्यन्त क्रोधी या उग्र स्वभाववाला हो, जिसके पक्ष में बहुत से शक्तिशाली पुरुष हों, जिसकी मनोवृत्ति मलिन हो और जो साफ-सुथरा न रहता हो, जो द्यूत-क्रीड़ा व मद्यपान-आदि व्यसनों में आसक्त हो, जो नीच कुल का हो, जो हठी हो, अर्थात्—जो उपदेश द्वारा असत् कार्य करने से न रोका जासके, जो अत्यन्त व्यय करनेवाला हो, जो दूसरे देश से आया हो अर्थात् परदेशी हो और जो कृपण (लोभी) हो ॥१३॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] के उद्धरण में भी उक्त अमात्य-दोष निर्दिष्ट हैं।

तीक्ष्णोऽभियुक्तः स्वयं म्रियते मारयति वा स्वामिनम् ॥१४॥

अर्थ—अत्यन्त क्रोधी व्यक्ति यदि मन्त्रीपद पर नियुक्त किया जाता है तो वह अपराध-वश दण्डित किये जाने पर क्रोध-वश या तो स्वयं अपनी आत्महत्या कर बैठता है या अपने स्वामी को मार डालता है ॥१४॥

बलवत्पक्षो नियोग्यभियुक्तो जलकल्लोल इव †मत्तगज इव समूलं नृपाङ्घ्रिपमुन्मूलयति ॥१५॥

अर्थ—प्रबल पक्षवाला व्यक्ति यदि मन्त्री पद पर नियुक्त किया जाय तो वह राजारूपी वृक्ष को उस तरह उखाड़ फेंकता है जिसतरह नदी का शक्तिशाली जल-प्रवाह तटवर्ती वृक्षों को जड़ से उखाड़ देता है, अथवा पाठान्तर में जिस तरह मदोन्मत्त हाथी वृक्ष को उखाड़ देता है ॥१५॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] ने भी शक्ति-युक्त पक्षवाले मंत्री के विषय में यही कहा है।

अल्पायतिर्महाव्ययो भक्षयति राजार्थम् ॥१६॥

अर्थ—थोड़ी आय करके प्रचुरमात्रा में व्यय करनेवाला अमात्य राजा का मूलधन खा जाता है अर्थात्—नष्ट कर देता है ॥१६॥

विशेषार्थ—गुरु[3] ने भी महाव्ययी मंत्री के विषय में यही कहा है।

अल्पायमुखो महाजनं परिग्रहं च पीडयति ॥१७॥

अर्थ—थोड़ी आय वाला अमात्य जनता और राज-परिवार को पीड़ित करता है ॥१७॥

विशेषार्थ—गर्ग[4] ने भी स्वल्प आयवाले मन्त्री के विषय में इसी प्रकार कहा है।

नागन्तुकेष्वर्थाधिकारः प्राणाधिकारो वास्ति यतस्ते स्थित्वापि गन्तारोऽपकर्तारो वा ॥१८॥

अर्थ—परदेशी व्यक्ति को अर्थाधिकार अर्थात्—अर्थ-सचिव और प्राणाधिकार अर्थात्—सैन्य-सचिव के उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर नियुक्त न करे; क्योंकि वे कुछ दिनों तक कार्य करने के उपरान्त अपने देश को चले जाते हैं और मौका पाकर राजद्रोह करने लगते हैं ॥१८॥

---

१. तथा च शुक्रः—तीव्रं क्षुद्रं दुराचारमकुलीनं विदेशजम्। एकग्राहं व्ययप्रायं कृपणं मन्त्रिणं त्यजेत् ॥१॥

†. 'मत्तगज इव' मु० पुस्तके पाठः।

२. तथा च शुक्रः—बलवत्पक्षभाग्मन्त्री उन्मूलयति पार्थिवम्। कल्लोलो बलवान् यद्वत्तटस्थं च महीरुहम् ॥१॥

३. तथा च गुरुः—मन्त्रिणं कुरुते यस्तु स्वल्पलाभं महाव्ययं। आत्मवित्तस्य भक्षार्थं स करोति न संशयः ॥१॥

४. तथा च गर्गः—अल्पायमुखमेवात्र मन्त्रिणं प्रकरोति यः। तस्य राष्ट्रं क्षयं याति तथा चैव परिग्रहः ॥१॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी कहा है कि—'परदेशी को अर्थ-सचिव व सैन्य सचिव वनानेवाला राजा अपना धन व प्राण खो बैठता है'।

स्वदेशजेष्वर्थः कूपे पतित इव कालान्तरादपि लब्धुं शक्यते ॥१९॥

अर्थ—अपने देशवासी व्यक्ति के लिए अर्थ-सचिव के पद पर नियुक्त करने से उसके द्वारा ग्रहण किया हुआ धन, कुए में गिरी हुई धनादि वस्तु की तरह कुछ समय वाद भी मिल सकता है, परन्तु विदेशी अर्थ-सचिव द्वारा गृहीत धन कदापि वसूल नहीं किया जा सकता ॥१९॥

विशेपार्थ—नारद[2] ने भी स्वदेशवासी अर्थसचिव के पक्ष का समर्थन किया है।

चिक्कणादर्थलाभः पाषाणाद्वल्कलोत्पाटनमिव ॥२०॥

अर्थ—अत्यन्त कृपण मन्त्री जव राजकीय धन ग्रहण कर लेता है तव उससे वह धन वापिस मिलना उसप्रकार असंभव होता है जिसप्रकार पत्थर से वक्कल छीलना असंभव होता है ॥२०॥

विशेषार्थ—अत्रि[3] ने भी अत्यन्त कृपण अर्थ-सचिव के विषय में यही कहा है।

अधिकारी होनेयोग्य व्यक्ति—

सोऽधिकारी यः स्वामिना सति दोषे सुखेन निगृहीतुमनुगृहीतं च शक्यते ॥२१॥

अर्थ—वही व्यक्ति अधिकारी पद के योग्य है, जो अपराध करने पर सरलतापूर्वक दण्डित या सन्मानित किया जा सके ॥२१॥

विशेषार्थ—किसी नीतिवेत्ता[4] के उद्धरण में भी उक्त उल्लेख है।

अधिकारी-पद के अयोग्य—

ब्राह्मणः क्षत्रियः सम्बन्धी वा नाधिकर्त्तव्यः ॥२२॥

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय और सम्बन्धी को अधिकारी-पद नहीं देना चाहिए ॥२२॥

ब्राह्मणो जातिवशात् सिद्धमप्यर्थं कृच्छ्रेण प्रयच्छति, न प्रयच्छति वा ॥२३॥

अर्थ—ब्राह्मण जाति संबंधी स्वभाव के कारण प्राप्त धन को भी कठिनाई से देता है अथवा नहीं भी देता ॥२३॥

क्षत्रियोऽभियुक्तः खड्गं दर्शयति ॥२४॥

अर्थ—क्षत्रिय अधिकारी विरुद्ध हुआ तलवार दिखाता है। अभिप्राय यह है कि यदि क्षत्रिय अधिकारी अपराध करनेपर दण्डित किया गया हो तो वह न्यायकर्ता के लिए अपनी तलवार दिखाता है। अर्थात्—राजा को मार डालना चाहता है ॥२४॥

ज्ञातिभावेनातिक्रम्य बन्धुः सामवायिकान् सर्वमप्यर्थं ग्रसते ॥२५॥

अर्थ—जव राजा अपने किसी वन्धु या सम्बन्धी के लिए अधिकारी पद देता है तो वह दूसरे समस्त

१. तथा च शुक्रः—अन्यदेशागताना च योऽधिकारं धनोद्भवम्। ददाति गात्ररक्षां वा सोऽर्थप्राणैर्वियुज्यते ॥१॥
२. तथा च नारदः—अर्थाधिकारिणं राजा यः करोति स्वदेशजम्। तेन द्रव्यं गृहीतं यदनष्टं कूपवद्गतम् ॥१॥
३. तथा च अत्रिः—वल्कलं दृषदो यद्वत् कृपणेन हृतं धनम्। यतस्तन्न प्रलभ्येत तस्मात्तं दूरतस्त्यजेत् ॥१॥
४. उक्तं च—सोऽधिकारी सदा शस्यः कृत्वा दोषं महीभुजे। ददाति याचितो वित्तं साम्नाय समवल्गुना ॥१॥

अधिकारियों का 'मैं राजा का सम्बन्धी हूँ' इस प्रकार का प्रभाव प्रदर्शित कर सर्वाधिकार छीन कर समस्त धन हड़प कर लेता है ॥२५॥

सम्बन्ध के तीन भेद—

सम्बन्धस्त्रिविधः श्रौतो मौख्यो यौनश्चेति ॥२६॥

अर्थ—बन्धु सम्बन्ध तीन प्रकार का है, श्रौत, मौख्य और यौन ॥२६॥

सहदीक्षितः सहाध्यायी वा श्रौतः ॥२७॥

अर्थ—जो राजा की राज्यलक्ष्मी की दीक्षा के साथ ही अमात्य पद की दीक्षा से दीक्षित हुआ हो। अर्थात्—जिसतरह राजा के लिए राज्यलक्ष्मी वंश परम्परा से प्राप्त हुई है उसी तरह जिसे अमात्य पद भी वंश परम्परा से प्राप्त हुआ हो, उसे श्रौत बन्धु कहते हैं अथवा राजा के सहपाठी को श्रौत बन्धु कहते हैं ॥२७॥

***मुखेन परिज्ञातो मौख्यः ॥२८॥**

अर्थ—मौखिक वार्तालाप और सहवास-आदि के कारण जिससे मैत्री संबंध स्थापित हुआ हो, वह मौख्य है ॥२८॥

योनेर्जातो यौनः ॥२९॥

अर्थ—एक ही माता के उदर से उत्पन्न होने पर यौन संबंध होता है।

वाचिकसम्बन्धे नास्ति सम्बन्धान्तरानुवृत्तिः ॥३०॥

अर्थ—वार्तालाप-आदि के कारण जिसके साथ मैत्री संबंध स्थापित हो चुका है, उसमें दूसरे यौन-आदि संबंधों की अपेक्षा नहीं होती ॥३०॥

अधिकारी की नियुक्ति के समय विचारणीय बातें—

न तं कमप्यधिकुर्यात् सत्यपराधे यमुपहत्यानुशयीत ॥३१॥

अर्थ—राजा पूर्वोक्त तीनों प्रकार के बन्धुओं में से किसी बन्धु को या ऐसे किसी पुरुष को अर्थ-सचिव-आदि के अधिकारी-पद पर नियुक्त न करे, जिसे अपराध वश सजा दी जानेपर पश्चाताप करना पड़े ॥३१॥

विशेषार्थ—गुरु[1] ने भी अर्थ-सचिव की नियुक्ति के विषय में यही कहा है।

मान्योऽधिकारी राजाज्ञामवज्ञाय निरवग्रहश्चरति ॥३२॥

अर्थ—राजा द्वारा पूज्य व्यक्ति को अधिकारी बनाने से वह राजाज्ञा को उल्लङ्घन कर निडर और उच्छृंखल होकर मनमानी प्रवृत्ति करता है ॥३२॥

विशेषार्थ—नारद[2] ने भी पूज्य पुरुष को अर्थ-सचिव बनाने से अर्थ-क्षति बतलाई है।

चिरसेवको नियोगी नापराधेष्वाशङ्कते ॥३३॥

अर्थ—पुराने सेवक को अधिकारी बना देने से वह अपराध कर लेने पर भी निडर रहता है ॥३३॥

---

*. 'आत्मना प्रतिपन्नो मैत्रः' इति ग, घ, च प्रतिषु पाठः।

१. तथा च गुरुः—सम्बन्धिनां त्रयाणां च न चैकर्मणि योजयेत्। अर्थाधिकारे तं चापि यं हत्वा दुःखमाप्नुयात् ॥१॥

२. तथा च नारदः—मान्योऽधिकारी मान्योऽहमिति मत्वा न शङ्कते। भक्षयन् नृपवित्तानि तस्मात्तं परिवर्जयेत् ॥१॥

विशेषार्थ—देवल[1] ने भी चिर सेवक को अर्थ-सचिव बनाने के विषय में यही कहा है।

उपकर्ताधिकारी उपकारमेव ध्वजीकृत्य सर्वमेवार्थमवलुम्पति ॥३४॥

अर्थ—जो राजा अपने उपकारी व्यक्ति को अधिकारी पद पर नियुक्त करता है तो वह (अधिकारी) पूर्वकृत उपकार को राजा के समक्ष प्रकट करके समस्त राजकीय धन हड़प कर जाता है ॥३४॥

विशेषार्थ—वशिष्ठ[2] ने भी उपकारी को अर्थसचिव बनाने का निषेध किया है।

सहपांशुक्रीडितोऽमात्योऽतिपरिचयात् स्वयमेव राजायते ॥३५॥

अर्थ—धूलि में एक साथ क्रीड़ा किये हुए व्यक्ति को अमात्य बनाने से वह विशेष परिचय के कारण स्वयं राजा-सरीखा आचरण करने लगता है ॥३५॥

विशेषार्थ—जैमिनि[3] ने भी यही कहा है।

अन्तर्दुष्टो नियुक्तः सर्वमनर्थमुत्पादयति ॥३६॥

अर्थ—कलुषित हृदयवाले व्यक्ति को अधिकारी बनाने से वह सभी प्रकार के अनर्थ (उपद्रव) कर बैठता है ॥३६॥

विशेषार्थ—गर्ग[4] ने भी दुष्ट हृदयवाले व्यक्ति को अमात्य बनाने से राज्य-क्षति बतलाई है।

शकुनिशकटालावत्र दृष्टान्तौ ॥३७॥

अर्थ—इस विषय के समर्थक 'शकुनि' और 'शकटाल' ये दो दृष्टान्त हैं। अर्थात्—उन दोनों दुष्ट हृदय-वाले मंत्रियों ने अपने अपने स्वामी से द्वेष कर राज्य में अनेक अनर्थ उत्पन्न किये, जिससे राज्य-क्षति हुई।

शकुनि का वृत्तान्त—यह गान्धार देश के राजा सुबल का पुत्र और दुर्योधन का मामा था। जिसे दुर्योधन ने राजमन्त्री पद पर नियुक्त किया था। वह हृदय से दुष्ट प्रकृति का था, इसलिए जब पाडवा के वनवास और अज्ञातवास की अवधि पूर्ण हुई तब महात्मा कृष्ण और नीतिवेत्ता विदुर ने इसे बहुत समझाया कि आप पाण्डवों का न्याय प्राप्त राज्य दुर्योधन से वापिस दिला दो, परन्तु इसने एक न मानी और पाण्डवों से वैर-विरोध रक्खा और दुर्योधन को इसने सन्धि न करने दी, जिसके फलस्वरूप महाभारत हुआ, जिसमें इसने अपने स्वामी दुर्योधन का वध करवाया और स्वयं मारा गया।

शकटाल का वृत्तान्त—यह ई० से ३५० वर्ष पूर्व राजा नन्द का मन्त्री था। यह बड़ा दुष्ट हृदयवाला था। इसे अपराध-वश जेलखाने की कड़ी सजा दी गई थी। कुछ दिनों के बाद राजा ने इसे जेलखाने से मुक्त कर पुनः राजमन्त्री पद पर अधिष्ठित किया। परन्तु यह राजा से रुष्ट था इसलिए यह उसके घात की प्रतीक्षा कर रहा था। अतः अवसर पाकर यह सम्राट् चन्द्रगुप्त के प्रधान अमात्य चाणिक्य से मिल गया और उसकी सहायता से इसने अपने स्वामी राजा नन्द को मरवा डाला ॥३७॥

सोऽधिकारी चिरं नन्दति यः स्वामिप्रसादेन नोत्सेकयति ॥३८॥

---

१ तथा च देवलः—चिरभृत्यं च यः राजा वित्तकृत्येषु योजयेत्। स वित्तं भक्षयन् शङ्कां न करोति कथञ्चन ॥१॥

२ तथा च वशिष्ठः—पुरोपकारिणं भूपो नाधिकारे नियोजयेत्। स तं कीर्तयमानस्तु सर्वं वित्तं प्रभक्षयेत् ॥१॥

३ तथा च जैमिनिः—बाल्यात्प्रभृति यः सार्द्धं क्रीडितो भूभुजा सदा। स च स्यान्मन्त्रिणः स्थाने तन्नूनं पार्थिवायते ॥१॥

४. तथा च गर्गः—अन्तर्दुष्टममात्यं यः कुरुते पृथिवीपतिः। सोऽनर्थान्नित्यशः कृत्वा सर्वराज्यं विनाशयेत् ॥१॥

अर्थ—वह अधिकारी चिरकाल तक आनन्द का उपभोग करता है, जो स्वामी के प्रसन्न होनेपर भी किसी प्रकार का अभिमान नहीं करता ॥३८॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी गर्व-शून्य अधिकारी के विषय में यही कहा है।

सुहृदि नियोगिन्यवश्यं भवति धनमित्रत्वनाशः ॥३९॥

अर्थ—मित्र को अधिकारी बनाने से निश्चय से धन और मित्रता नष्ट हो जाती है ॥३९॥

विशेषार्थ—रैम्य[2] ने भी मित्र को अधिकारी बनाने से उक्त हानि निर्दिष्ट की है।

मूर्खस्य नियोगे भर्तुर्धर्मार्थयशसां सन्देहो, निश्चितौ चानर्थनरकपातौ ॥४०॥

अर्थ—मूर्ख व्यक्ति को मन्त्री-आदि अधिकारी के पद पर अधिष्ठित करने से स्वामी के धर्म, धन और यशोलाभ संदिग्ध (अनिश्चित) होते हैं, तथा अनर्थ और नरक-गमन तो निश्चित ही होता है ॥४०॥

विशेषार्थ—नारद[3] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

किं तेन परिच्छदेन यत्रात्मक्लेशेन कार्यं सुखं वा स्वामिनः ॥४१॥

अर्थ—उस अधिकारी-गण से क्या लाभ ? जिसके होनेपर भी राजा को स्वयं कष्ट उठाकर अपने आप राजकीय कार्य करना पड़े अथवा स्वयं कर्तव्य पूर्ण करके सुख प्राप्त करना पड़े ॥४१॥

का नाम निर्वृतिः स्वयमूढतृणभोजिनो गजस्य ॥४२॥

अर्थ—जिसप्रकार घास का बोझा वहन कर उसका भक्षण करनेवाला हाथी सुखी नहीं हो सकता उसी प्रकार मन्त्री-आदि सहायकों की अपेक्षा के विना स्वय राजकीय कार्य-भार को वहन करनेवाला राजा भी सुखी नही हो सकता ॥४२॥

विशेषार्थ—नारद[4] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

सैन्धवाश्वधर्माणः पुरुषाः कर्मसु विनियुक्ता विकुर्वते तस्मादहन्यहनि तान् परीक्षेत् ॥४३॥

अर्थ—क्षुद्र प्रकृतिवाले मन्त्री-आदि अधिकारी अपने अपने अधिकारों में नियुक्त किये हुए उसप्रकार विकृत अर्थात्—मदान्मत्त और कर्तव्य-विमुख हो जाते है जिसप्रकार सैन्धव-जाति के घोड़े योग्यता प्राप्त कर लेने पर (चाल-आदि सीख लेने पर) दमन करने से विकृत हो जाते है अर्थात्—उन्मत्त होकर सवार को जमीन पर पटक देते हैं, अतः राजा को उनकी सदा जाँच करते रहना चाहिए ॥४३॥

विशेषार्थ—वादरायण[5] और भृगु[6] ने भी क्षुद्र प्रकृति अधिकारियों के विषय में इसी प्रकार कहा है।

मार्जारेषु दुग्धरक्षणमिव नियोगिषु विश्वासकरणम् ॥४४॥

अर्थ—बिल्ली से दूध की रक्षा होने के समान मन्त्री-आदि अधिकारियों पर विश्वास करना व्यर्थ है ॥४४॥

---

१. तथा च शुक्रः—स्वामिप्रसादमासाद्य न गर्वं कुरुतेऽत्र यः। स नन्दति चिरं कालं भ्रश्यते नाधिकारतः ॥१॥

२. तथा च रैम्यः—नियोगे संनियुक्तस्तु सुहृद्वित्तं प्रभक्षयेत्। स्नेहाधिक्येन निःशंकस्ततो बधमवाप्नुयात् ॥१॥

३. तथा च नारदः—मूर्खे नियोगयुक्ते तु धर्मार्थयशसां सदा। सन्देहोऽत्र पुनर्नूनमनर्थो नरके गतिः ॥१॥

४. तथा च नारदः—स्वयमाहृत्य भुञ्जाना बलिनोऽपि स्वभावतः। नरेन्द्राश्च गजेन्द्राश्च प्रायः सीदन्ति केवलाः ॥१॥

५. तथा च वादरायणः—अश्वा यथा विकुर्वन्ति दान्ता अपि च सैन्धवाः। तथापि पुरुषा ज्ञेया येऽधिकारे नियोजिताः ॥१॥

६. तथा च भृगुः—परीक्षा भूभुजा कार्या नित्यमेवाधिकारिणाम्। यस्मात्ते विकृतिं यान्ति प्राप्य सम्पदमुत्तमाम् ॥१॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[1] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

ऋद्धिश्चित्तविकारिणी नियोगिनामिति सिद्धानामादेशः ॥४५॥

अर्थ—सिद्ध महापुरुषों का आदेश है कि 'सम्पत्ति अधिकारियों का चित्त विकृत (गर्व-युक्त) कर देती है' ॥४५॥

विशेषार्थ—नारद[2] ने भी ऐश्वर्य को विकृतिजनक बताया है।

सर्वोऽप्यतिसमृद्धोऽधिकारी भवत्यायत्यामसाध्यः कृच्छ्रसाध्यः स्वामिपदाभिलाषी वा ॥४६॥

अर्थ—प्रायः सभी अधिकारी विशेष ऐश्वर्यशाली हो जानेपर भविष्य में स्वामी के वशवर्ती नहीं होते अथवा कठिनाई से वश में होते हैं अथवा स्वामी के पद की प्राप्ति के अभिलाषी होते हैं ॥४६॥

विशेषार्थ—नारद[3] ने भी ऐश्वर्यशाली अधिकारियों के विषय में उक्त निर्देश किया है।

गुरु[4] ने भी राजसेवकों के विषय में उक्त उल्लेख किया है।

अमात्यों के दोष—

भक्षणमुपेक्षणं, प्रज्ञाहीनत्वमुपरोधः प्राप्तार्थाप्रवेशो द्रव्यविनिमयश्चेत्यमात्यदोषाः ॥४७॥

अर्थ—जिस अमात्य में निम्नप्रकार ६ छह दोष पाये जावें, उसे अमात्य पद पर नियुक्त नहीं करना चाहिए। १ भक्षण अर्थात्—राज्य लक्ष्मी को अपने अधीन करना, २ राज्य सम्पत्ति की सुरक्षा में और आय में उपेक्षा रखना, ३ बुद्धि शून्यता, ४ उपरोध अर्थात्—प्रभावहीनता (उदाहरणार्थ-राजकीय द्रव्य को हड़प करनेवाले दूसरे अधिकारियों को देखते हुए जिसके द्वारा रोके जानेपर भी वे लोग अनर्थ करने से न रुकें ऐसा प्रभाव-हीन व्यक्ति), ५. प्राप्तार्थाप्रवेश अर्थात्—जो टेक्स-आदि उपायों से प्राप्त हुए धन को राजकोष में जमा नहीं करता हो ऐसा धन-लम्पट व्यक्ति, ६ द्रव्यविनिमय अर्थात्—जो राजकीय बहुमूल्य द्रव्य को अल्पमूल्य में निकाल लेता हो, अर्थात्—जो, राजकीय बहुमूल्य असर्फी-आदि को स्वयं ग्रहण करके उनके बदले में अल्प मूल्यवाले सिक्के (रुपए) राज-कोश में जमा कर देता हो ॥४७॥

विशेषार्थ—शुक्र[5] ने भी कहा है 'जो अमात्य दुष्टप्रकृति वश राजकीय धन को अनेक प्रकार से नष्ट कर देता हो वह राजा द्वारा त्याज्य है'।

राजतन्त्र की नियुक्ति पर विचार—

बहुमुख्यमनित्यं च करणं स्थापयेत् ॥४८॥

अर्थ—राजा को चाहिए कि वह अपने राजतन्त्र को सुचारु रूप से संचालन के लिए अनेक मुख्य अधिकारियों की नियुक्ति अस्थायी रूप में करे। क्योंकि अकेला अधिकारी स्वेच्छा से अनर्थ भी कर सकता है एवं स्थायी नियुक्तिवाले अधिकारी राज-कोश की क्षति करनेवाले भी हो सकते हैं ॥४८॥

१. तथा च भारद्वाजः—मार्जारेष्विव विश्वासो यथा नो दुग्धरक्षणे। नियोगिना नियोगेषु तथा कार्यो न भूभुजा ॥१॥
२. तथा च नारदः—तावन्न विकृतिं याति पुरुषोऽपि कुलोद्भवः। यावत्समृद्धिसंयुक्तो न भवेदत्र भूतले ॥१॥
३. तथा च नारदः—अतिसमृद्धिसंयुक्तो नियोगी यस्य जायते। असाध्यो भूपतेः स स्यात्तस्यापि पदवाञ्छकः ॥१॥
४. तथा च गुरुः—प्रेष्याः कर्मसुपटवः पूर्णा अलसा भवन्ति ये भृत्याः। तेषां जलौकसामिव पूर्णा नैवात्र श्रद्धता न्याय्या॥१॥
५. तथा च शुक्रः—यो अमात्यो राजकीयं स्वं बहुधा विप्रकारयेत्। सदैव दुष्टभावेन स त्याज्यः सचिवो नृपैः ॥१॥

विशेषार्थ—गुरु[1] ने भी राजतन्त्र की नियुक्ति अस्थायी कही है।

स्त्रीष्वर्थेषु च मनागप्यधिकारे न जातिसम्बन्धः ॥४९॥

अर्थ—अपनी स्त्रियों और सम्पत्ति के विषय का स्वल्प भी अधिकार देने के अवसर पर यह ध्यान रक्खे कि अधिकार प्राप्त करनेवाला जातीय सम्बन्धी न हो ॥४९॥

विशेषार्थ—गुरु[2] के उद्धरण में भी यही उल्लेख है।

स्वपरदेशजावनपेक्ष्यानित्यश्चाधिकारः ॥५०॥

अर्थ—मन्त्री-आदि अधिकारियों की नियुक्ति में स्वदेश परदेश का विचार न करके अस्थायी रूप से करनी चाहिए। क्योंकि स्थायी नियुक्ति का परिणाम हानि कर होता है ॥५०॥

राज्यतन्त्र के संचालनार्थ पंचकरण—

आदायक-निबन्धक-प्रतिबन्धक-नीवीग्राहक-राजाध्यक्षाः करणानि ॥५१॥

अर्थ—राजा के राज्यतन्त्र के संचालनार्थ पाँच करण-पंच कुल-होते हैं। १ आदायक-व्यापारी और कृषकों से चुंगी व टेक्स के जरिये द्रव्य वसूल कर राज-कोष में जमा करनेवाला कोषाध्यक्ष। २. निबन्धक—उक्त उपाय द्वारा प्राप्त द्रव्य का या माल का हिसाब, लेखा बही-आदि में लिखनेवाला, ३. प्रतिबन्धक—चुंगी-आदि के माल पर या खजाने में जमा होनेवाली वस्तुओं पर राजकीय मुहर लगानेवाला, ४ नीवी-ग्राहक आय-व्यय की शोध करने के पश्चात् बचे हुए द्रव्य को राजकोष में जमा करनेवाला (खजानची), ५. राजाध्यक्ष-उक्त चारों अधिकारियों की देखरेख करनेवाला प्रधान पुरुष ॥५१॥

नीवी का लक्षण—

आयव्ययविशुद्धं द्रव्यं नीवी ॥५२॥

अर्थ—आमदनी में से समुचित खर्च करने के पश्चात् बची हुई और जाँच पड़ताल पूर्वक खजाने में जमा की हुई सम्पत्ति को 'नीवी' कहते हैं ॥५२॥

आय-व्यय की जाँच—

नीवीनिबन्धकपुस्तकग्रहणपूर्वकमायव्ययौ विशोधयेत् ॥५३॥

अर्थ—राजा उक्त नीवी ग्राहक—खजानची-से उस बही को लेकर, जिसमें राजकीय द्रव्य के आय-व्यय का हिसाब लिखा है, अच्छीतरह जाँच पड़ताल करके आय-व्यय को विशुद्ध करे ॥५३॥

विशेषार्थ—किसी नीतिवेत्ता[3] ने भी आय-व्यय शुद्धि के विषय में उक्त उल्लेख किया है।

आयव्ययविप्रतिपत्तौ कुशलकरणकार्यपुरुषेभ्यस्तद्विनिश्चयः ॥५४॥

अर्थ—जब सम्पत्ति का आय व्यय करनेवाले अधिकारियों में आमदनी और खर्च के विषय में विवाद उपस्थित हो जाय तब राजा को चतुर कार्य पुरुषों से परामर्श करके व्यय का निश्चय कर लेना चाहिए। अर्थात्—उनके परामर्श से कभी-कभी राष्ट्र को शत्रुकृत उपद्रवों से बचाने के लिए आय से अधिक व्यय भी किया जा सकता है ॥५४॥

१. तथा च गुरुः—अशाश्वतं प्रकर्तव्यं करणं क्षितिपालकैः। बहुशिष्टं च यस्मात्तदन्यथा वित्तभक्षकम् ॥१॥

२. तथा च गुरुः—स्त्रीष्वर्थेषु च विज्ञेयो नित्योऽयं जाति संभवः ॥१॥

३. तथा चोक्तम्—शुद्धपुस्तकहस्ते यत् पुस्तकं समवस्थितम्। आयव्ययौ च तत्रस्थौ यौ तौ वित्तस्य शुद्धिदौ ॥१॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी सम्पत्ति के आय-व्यय संबंधी विवाद के विषय में उक्त प्रकार कहा है।

रिश्वत रोकने का उपाय—

नित्यपरीक्षणं, कर्मविपर्ययः, प्रतिपत्तिदा च नियोगिष्वर्थग्रहणोपायाः ॥५५॥

अर्थ—राजा अधिकारियों से रिश्वत द्वारा संचित धन निम्नप्रकार तीन उपायों से प्राप्त कर सकता है। १. नित्य परीक्षण अर्थात्—सदा अधिकारियों की जाँच पड़ताल करना, अर्थात्—गुप्तचरों द्वारा उनके दोष जानकर कड़ी सजा देना। २. कर्मविपर्यय, अर्थात्—उन्हें उच्च पदों से पृथक् कर साधारण पदों पर नियुक्त करना, जिससे वे भयभीत होकर रिश्वत से संचित धन बताने में बाध्य हो सकें। ३. समय-समय पर अधिकारियों को पुरस्कृत करते रहना, जिससे वे प्रसन्न होकर गुप्त धन दे देवें ॥५५॥

विशेषार्थ—गुरु[2] ने भी रिश्वत-धन-ग्रहण करने के उक्त तीन उपाय निर्दिष्ट किये हैं।

नापीडिता नियोगिनो दुष्टव्रणा इवान्तःसारमुद्वमन्ति ॥५६॥

अर्थ—अधिकारी वर्ग दुष्टव्रण—(पका हुआ दूषित फोड़ा) सरीखे होते हैं, जो कि विना ताड़न बन्धन-आदि किये गृह में रक्खा हुआ रिश्वत का धन नहीं बताते, अर्थात्—जिसतरह पके हुए दूषित फोड़े शस्त्रादि द्वारा छेदन भेदन किये विना भीतर का दूषित रक्त नहीं निकालते उसी तरह अधिकारी-गण भी कड़ी सजा पाये विना रिश्वत का धन नहीं बताते ॥५६॥

विशेषार्थ—अर्थशास्त्र प्रणेता आर्य चाणक्य[3] ने भी उक्त विषय का दृष्टान्त पूर्वक उल्लेख किया है।

पुनः पुनरभियोगो नियोगिषु महीपतीनां वसुधारा ॥५७॥

अर्थ—राजकीय धन का अपहरण करनेवाले अधिकारियों की वार वार भर्त्सना करते रहना राजा के लिए धन प्राप्ति का स्रोत वन जाता है। अथवा दूसरा अर्थ यह है कि रिश्वतखोर अधिकारियों के लिए वार वार ऊँचे पदो से पृथक् करके साधारण पदों में नियुक्त करने से राजाओं को उनसे रिश्वत का प्रचुर धन मिल जाता है, क्योंकि वे पद-च्युत होने के भय से रिश्वत का धन दे देते है ॥५७॥

सकृन्निष्पीडितं स्नानवस्त्रं किं जहाति सार्द्रताम् ॥५८॥

अर्थ—केवल एकवार धोकर निचोड़े हुए स्नान वस्त्र से क्या पूरा जल निकल जाता है? अर्थात्—जिस-प्रकार नहाने का कपड़ा वार वार पछाड़ कर धोने से स्वच्छ होता है उसीप्रकार घूँसखोर अधिकारी वार वार दण्डित किये जाने से शुद्ध होता है अर्थात्—संचित हुआ रिश्वत का धन दे देता है ॥५८॥

विशेषार्थ शुक्र[4] ने भी रिश्वत-धन के ग्रहण करने का उक्त उपाय बताया है।

देशमपीडयन् बुद्धिपुरुषकाराभ्यां पूर्वनिबन्धमधिकं कुर्वन्नर्थमानौ लभते ॥५९॥

अर्थ—जो अधिकारी देशवासियों को पीड़ित नहीं करता और अपनी बुद्धि-पटुता और उद्योग शीलता द्वारा राष्ट्र के पूर्व व्यवहार को विशेष उन्नतिशील बनाता है, अर्थात् राष्ट्र की कृषि और वाणिज्य-आदि की पूर्वापेक्षा विशेष उन्नति करके दिखाता है उसे स्वामी द्वारा धन व प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। ॥५९॥

१. तथा च शुक्रः—यदा विप्रतिपत्तिश्च करणस्य प्रजायते। [प्रवेशे निष्क्रये वापि] साधुभ्यो निश्चयं क्रियात् ॥१॥
२. तथा च गुरुः—छिद्रान्वेषणतो लाभो नियोगिजनसम्भवः। अधिकारविपर्यासात् प्रतिपत्तेस्तथापरः ॥१॥
३. तथा च चाणक्यः—शान्त्याधिकारिणो वित्तमन्तः सारं वदन्ति नो। निष्पीडयन्ते न ते यावद्गाढं दुष्टव्रणा इव ॥१॥
४. तथा च शुक्रः—यथा हि स्नानजं वस्त्रं सकृत्प्रक्षालितं न हि। निर्मलं स्यान्नियोगी च सकृद् दण्डे न शुद्धयति ॥१॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] के उद्धरण में भी उक्त उल्लेख है।

योग्यता के अनुसार नियुक्ति—

यो यत्र कर्मणि कुशलस्तं तत्र विनियोजयेत् ॥६०॥

अर्थ—जो अधिकारी जिस पद के कर्तव्य में कुशल हो, उसे उस पद पर नियुक्त कर देना चाहिए ॥६०॥

कार्य-सिद्धि में उपयुक्त गुण—

न खलु स्वामिप्रसादः सेवकेषु कार्यसिद्धिनिबन्धनं किन्तु बुद्धिपुरुषकारावेव ॥६१॥

अर्थ—निश्चय से स्वामी के प्रसन्न रहने से ही सेवक लोग कार्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकते किन्तु जब उनमें कार्योपयोगी बुद्धि और पुरुषार्थ गुण होंगे तभी वे कार्य-सिद्धि में सफलता प्राप्त कर सकते है ॥६१॥

शास्त्रविदप्यदृष्टकर्मा कर्मसु विषादं गच्छेत् ॥६२॥

अर्थ—शास्त्रवेत्ता विद्वान् पुरुष भी जिन कार्यों से परिचित नहीं है, उनमें मोह (अज्ञान) प्राप्त करता है ॥६२॥

विशेषार्थ—भृगु[2] ने भी इसी प्रकार कहा है।

अधिकारी का कर्तव्य—

अनिवेद्य भर्तुर्न किञ्चिदारम्भं कुर्यादन्यत्रापत्प्रतीकारेभ्यः ॥६३॥

अर्थ—स्वामी के ऊपर आनेवालीं आपत्तियों को दूर कर देनेवाले कार्य के अतिरिक्त कोई भी कार्य स्वामी से विना निवेदन किये प्रारम्भ न करे ॥६३॥

विशेषार्थ—भागुरि[3] ने भी राज-सेवक का यही कर्तव्य बताया है।

सहसोपचितार्थो मूलधनमात्रेणावशेषयितव्यः ॥६४॥

अर्थ—राजा अचानक मिला हुआ धन अर्थात्—लावारिश मरे हुए धनाढ्य व्यक्तियों की भाग्याधीन मिली हुई सम्पत्ति खजाने में स्थापित कर अपनी धन-वृद्धि करे ॥६४॥

विशेषार्थ—अत्रि[4] के उद्धरण में भी उक्त विषय का निरूपण है।

विशेष मुनाफाखोरों के प्रति राजकर्तव्य—

मूलधनाद् द्विगुणाधिको लाभो भाण्डोत्थो यो भवति स राज्ञः ॥६५॥

अर्थ—जब व्यापारी लोग वर्तनों-आदि के व्यापार में मूलधन से दुगुने से भी अधिक धन का उपार्जन करते हों तब राजा, व्यापारियों के लिए मूल धन से दुगुना धन देकर अधिक धन जब्त कर ले, क्योंकि व्यापारी गण, इतना अधिक मुनाफा छल-कपट और चोरी आदि कुमार्ग का अनुसरण किये विना नहीं कर सकते ॥६५॥

विशेषार्थ—शुक्र[5] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

---

१. तथा च शुक्रः—यो देशं रक्षयन् यत्नात् स्वबुद्धया पौरुषेण च। निबन्धान् वर्द्धयेत्प्राज्ञः स वित्तं मानमाप्नुयात् ॥१॥

२. तथा च भृगुः—येन यत्र कृतं कर्म स तस्मिन् योजितो नृपैः। नियोगी मोहमायाति यद्यपि स्याद्विचक्षणः ॥१॥

३. तथा च भागुरिः—न स्वामिवचनाद्वाह्यं कर्म कार्यं नियोगिना। अपि स्वल्पतरं यच्च मुक्त्वा शत्रुसमागमम् ॥१॥

४. तथा च अत्रिः—अचिन्तितस्तु लाभो यो नियोगाद्यस्तु जायते। स कोषे सन्नियोज्यश्च येन तच्चाधिकं भवेत् ॥१॥

५. तथा च शुक्रः—यदि मूलधनात्कश्चिद् द्विगुणाभ्यधिकं लभेत्। तत्तस्य मूलाद् द्विगुणं दत्वा शेषं नृपस्य हि ॥१॥

अधिकारी वर्ग की पारस्परिक कलह से राजा का लाभ—

परस्परकलहो नियोगिषु भूभुजां निधिः ॥६६॥

अर्थ—अधिकारियों में पारस्परिक कलह का होना राजा के लिए निधि का लाभ है। क्योंकि परस्पर वैर-विरोध होने से वे एक दूसरे का अन्याय राजा के समक्ष प्रकट करते रहेंगे, जिससे राजा को उनके अन्याय का धन छीन लेने का अवसर प्राप्त होगा ॥६६॥

विशेषार्थ—गुरु[1] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

नियोगिषु लक्ष्मीः क्षितीश्वराणां द्वितीयः कोशः ॥६७॥

अर्थ—अधिकारी वर्ग की सम्पत्ति राजाओं का दूसरा कोश है, क्योंकि राजा को आवश्यकता होने पर उनसे धन प्राप्त हो सकता है ॥६७॥

विशेषार्थ—नारद[2] ने भी इसी प्रकार कहा है।

धान्य-संग्रह की महत्ता—

सर्वसंग्रहेषु धान्यसंग्रहो महान्, यतस्तन्निबन्धनं जीवितं सकलः प्रयासश्च ॥६८॥

अर्थ—समस्त संग्रहो में अन्न का सग्रह श्रेष्ठ है, क्योंकि वह प्राणियों के जीवन निर्वाह का साधन है एवं जिसके कारण मनुष्यों को कृषि-आदि जीविकोपयोगी कार्यों में कष्ट उठाना पड़ता है ॥६८॥

विशेषार्थ—भृगु[3] के उद्धरण में भी अन्न-संग्रह को श्रेष्ठ निरूपण किया गया है।

न खलु मुखे प्रक्षिप्तं महदपि द्रव्यं प्राणत्राणाय यथा धान्यम् ॥६९॥

अर्थ—जिसप्रकार अन्न का भक्षण प्राण-रक्षा कर सकता है उसप्रकार बहु मूल्य सुवर्ण का सिक्का मुख में रक्खा हुआ प्राण-रक्षा नहीं कर सकता ॥६९॥

विशेषार्थ—गर्ग[4] ने भी धान्य की महत्ता का स्पष्टीकरण किया है।

कोदों की विशेषता—

सर्वधान्येषु चिरंजीविनः कोद्रवाः ॥७०॥

अर्थ—समस्त प्रकार के अन्नों में कोदों नाम के अन्न चिरस्थायी अन्न होते हैं, अतः उनका संग्रह दूसरे अन्नों की अपेक्षा विशेष महत्वपूर्ण है ॥७०॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[5] ने भी तुष-सहित धान्य और कोदों को चिरस्थायी तथा संग्रह-योग्य वताया है।

अन्न-संग्रह का क्रम—

अनवं नवेन वर्द्धयितव्यं व्ययितव्यं च ॥७१॥

अर्थ—पुराने अन्न की वृद्धि नये अन्न से करनी चाहिए, अर्थात्—जब दूसरे वर्ष नया अन्न उत्पन्न हो, उससे अपना भण्डार भरना चाहिए और पुराना अन्न खर्च कर देना चाहिए ॥७१॥

---

१. तथा च गुरुः—नियोगिनां मिथो वादो राज्ञा पुण्यैः प्रजायते । यतस्तेषां विवादे च लाभः स्याद् भूपतेर्बहुः ॥१॥

२. तथा च नारदः—यैव भृत्यगता संपत् सैव सपन्महीपतेः । यतः कार्ये समुत्पन्ने निःशेषस्ता समानयेत् ॥१॥

३. तथा च भृगुः—सर्वेषां संग्रहाणां च शस्योऽन्नस्य च संग्रहः । यतः सर्वाणि भूतानि क्लिश्यन्ति च तदर्थतः ॥१॥

४. तथा च गर्गः—प्रभूतैरपि नो द्रव्यैः प्राणत्राणं विधीयते । मुखे क्षिप्ते यथान्नेन स्वल्पेनापि विधीयते ॥१॥

५. तथा च भारद्वाजः—तुषधान्यानि सर्वाणि कोद्रव प्रभृतीनि च । चिरजीवीनि तान्याहुस्तेषां युक्तः सुसंग्रहः ॥१॥

विशेषार्थ—वशिष्ठ[1] के उद्धरण का भी उक्त अभिप्राय है।

नमक के संग्रह की विशेषता—

लवणसंग्रहः सर्वरसानामुत्तमः ॥७२॥

अर्थ—नमक का संग्रह सर्व रसों के संग्रह से श्रेष्ठ है ॥७२॥

सर्वरसमप्यलवणमन्नं गोमयायते ॥७३॥

अर्थ—दूध, दही-आदि समस्त रसों के होने पर भी विना नमक का भोजन गोवर-सरीखा प्रतीत होता है ॥७३॥

विशेषार्थ—हारीत[2] के उद्धरण का भी उक्त अभिप्राय है।

इति अमात्यसमुद्देशः।

१९. जनपदसमुद्देशः

देश के नामों (राष्ट्र, देश, विषय, मण्डल, जनपद, दारक और निर्गम शब्दों) की सार्थक क्रमशः परिभाषा—

पशुधान्यहिरण्यसंपदा राजते शोभते इति राष्ट्रम् ॥१॥

अर्थ—गाय, भैंस-आदि पशु, गेहूँ-चाँवल-प्रभृति अन्न और सुवर्ण-आदि सम्पत्ति से जो सुशोभित हो वह 'राष्ट्र' है ॥१॥

विशेषार्थ—भागुरि[3] ने भी 'राष्ट्र' की उक्त निरुक्ति की है ॥१॥

भर्तुर्दण्डकोशवृद्धिं दिशति ददातीति देशः ॥२॥

अर्थ—जो राजा के लिए सैन्यवृद्धि और कोश-वृद्धि प्रदान करता हो, वह 'देश' है ॥२॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] ने भी देश शब्द की यही परिभाषा की है।

विविधवस्तुप्रदानेन स्वामिनः सद्मनि गजान् वाजिनश्च विसिनोति बध्नातीति विषयः ॥३॥

अर्थ—नाना भाँति की सुवर्ण-आदि वस्तुएँ प्रदान कर राजमहल में हाथी और घोड़ों को बाँधता है, अतः देश की 'विषय' संज्ञा है ॥३॥

विशेषार्थ—शुक्र[5] ने भी 'विषय' शब्द की उक्त व्याख्या की है।

सर्वकामधुक्त्वेन नरपतिहृदयं मण्डयति भूषयतीति मण्डलम् ॥४॥

---

१. तथा च वशिष्ठः—अनवं यद्भवेत् सस्यं तन्नवेन विवर्द्धयेत्। वृद्धया प्राप्तो भवेद्यस्तु तस्य कार्यो व्ययो बुधैः ॥१॥

२. तथा च हारीतः—स्याद्रसैः पञ्चभिर्युक्तं लवणेनोज्झितं यदि। जिह्वा तद्गोमयास्वादं [गृहीत्वाऽरुचिमाप्नुयात्] ॥१॥ सं० परि०—सम्पादक

३. तथा च भागुरिः—पशुभिर्विविधैर्धान्यैः कुप्यभाण्डैः पृथग्विधैः। राजते येन लोकेऽत्र तद्राष्ट्रमिति कीर्त्यते ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—स्वामिनः कोशवृद्धिं च सैन्यवृद्धिं तथा परम्। यस्माद्दिशति नित्यं स तस्माद्देश उदाहृतः ॥१॥

५. तथा च शुक्रः—विविधान् वाजिनो गाश्च स्वामिसद्मनि नित्यशः। बिसिनोति यतस्तस्माद्विषयः प्रोच्यते बुधैः ॥१॥

अर्थ—समस्त मनोरथों की पूर्ति करके राजा के हृदय को अलङ्कृत करने के कारण राष्ट्र की 'मण्डल' संज्ञा है ॥४॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी 'मण्डल' शब्द की यही परिभाषा की है।

जनस्य वर्णाश्रमलक्षणस्य द्रव्योत्पत्तेर्वा पदं स्थानमिति जनपदः ॥५॥

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में और ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति इन चार आश्रमों में वर्तमान प्रजाजनों का निवास स्थान है अथवा धन का उद्गम स्थान है, इसलिए राष्ट्र को 'जनपद' कहते हैं ॥५॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] ने भी 'जनपद' शब्द की यही व्याख्या की है।

निजपतेरुत्कर्षजनकत्वेन शत्रुहृदयं दारयति भिनत्तीति दारकम् ॥६॥

अर्थ—अपने स्वामी का उत्कर्ष (उन्नति) करके शत्रुओं के हृदय विदीर्ण करता है, अतः राष्ट्र को 'दारक' कहते है ॥६॥

विशेषार्थ—जैमिनि[3] ने भी 'दारक' शब्द की उक्त निरुक्ति की है।

आत्मसमृद्धया स्वामिनं सर्वव्यसनेभ्यो निर्गमयतीति निर्गमः ॥७॥

अर्थ—जो अपनी समृद्धि के कारण स्वामी को समस्त आपत्तियों से छुड़ा देता है अर्थात्—बचा देता है, अतः राष्ट्र की 'निर्गम' संज्ञा है ॥७॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] ने भी निर्गम शब्द की उक्त परिभाषा की है।

देश के गुण—

अन्योऽन्यरक्षकः, खन्याकरद्रव्यनागधनवान्, नातिवृद्धनातिहीनग्रामः, बहुसारविचित्र-धान्यहिरण्यपण्योत्पत्तिरदेवमातृकः, पशुमनुष्यहितः, श्रेणिशूद्रकर्षकप्राय इति जनपदस्य गुणाः ॥८॥

अर्थ—देश में निम्न प्रकार गुण होते हैं—जो परस्पर की रक्षा करने वाला हो, अर्थात्—जहाँ पर राजा से देश की रक्षा होती हो और देश से राजा की रक्षा होती हो। जो सुवर्ण, रत्न, चाँदी, ताँबा और लोहादि धातुओं की तथा गन्धक और अभ्रक व नमक-आदि खनिज द्रव्यों की खानियोंवाला हो, जो रुपया-असर्फी आदि सम्पत्तिशाली हो और उसके जंगलों में हाथी पाये जाते हों। जिसके ग्रामों की जनसंख्या न तो बहुत बढ़ी हुई हो और न बहुत कम हो। जहाँपर बहुत से उत्तम पदार्थ, नाना भाँति के अन्न, सुवर्ण और व्यापारियों के खरीदने बेंचने योग्य वस्तुएँ पाई जाती हों। जो मेघ से होने वाली जलवृष्टि की अपेक्षा न करता हो, अर्थात्—जिसमें नदी, नहर-आदि हों न कि मेघ ही पानी बरसावे तब खेती-बाड़ी हो। जो पशुओं और मनुष्यों के लिए एक सरीखा सुखकर हो और जहाँ पर बढ़ई, जुलाहा, नाई, धोबी और चमार-आदि शिल्प शूद्र तथा किसान बहुलता से वर्तमान हों। सारांश यह है कि जिस देश में उक्त गुण पाए जाते हैं वह सुखी व समृद्धिशाली होता है ॥८॥

---

१. तथा च शुक्रः—सर्वकामसमृद्धया च नृपतेर्हृदयं यतः। मण्डनेन समा युक्तं कुरुतेऽनेन मण्डलम् ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—वर्णाश्रमाणां सर्वेषां द्रव्योत्पत्तेश्च वा पुनः। यस्मात् स्थानं भवेत् सोऽत्र तस्माज्जनपदः स्मृतः ॥१॥

३. तथा च जैमिनिः—भर्तुरुत्कर्षदानेन शत्रूणां हृदयं यतः। दारका दारयन्ति स्म प्रभूता दारकं ततः ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—मोचापयति यो वित्तैर्निजैः स्वामिनमात्मनः। व्यसनेभ्यः प्रभूतेभ्यो निर्गमः स इहोच्यते ॥१॥

देश के दोष—

विषतृणोदकोषरपाषाणकण्टकगिरिगर्त्तगह्वरप्रायभूमिर्भूरिवर्षाजीवनो व्याललुब्धकम्लेच्छबहुलः स्वल्पसस्योत्पत्तिः, तरुफलाधार इति देशदोषाः ॥९॥

अर्थ—देश के निम्न प्रकार दोष हैं—जिसका घास-पानी रोगजनक होने से विष-सरीखा हानिकारक हो, जहाँ का अधिकांश भूभाग ऊषर, पथरीला, काँटेदार झाड़ियों वाला, बहुत पहाड़ वाला, गड्ढे और गुफाओं से व्याप्त हो। जहाँ पर प्रचुर जलवृष्टि द्वारा प्रजाजनों का जीवन-निर्वाह होता हो, अर्थात्—जहाँ पर केवल धान्य उत्पन्न होती हो। जहाँ पर बहुलता से सर्प, भील और म्लेच्छों का निवास हो। जिसमें स्वल्प धान्य उत्पन्न होती हो। जहाँ के लोग धान्य को स्वल्प उपज होने के कारण वृक्षों के फलों से अपना जीवन निर्वाह करते हों ॥९॥

सिंचाई के साधन होना अनिवार्य—

तत्र सदा दुर्भिक्षमेव यत्र जलदजलेन सस्योत्पत्तिरकृष्टभूमिश्चारम्भः ॥१०॥

अर्थ—वहाँ सदा दुर्भिक्ष-अकाल-ही रहता है, जहाँ मेघों की जलवृष्टि द्वारा धान्य उत्पन्न होती हो और जहाँ खेती कर्षण-क्रिया के विना होती हो, अर्थात्—जहाँ कछवारों की पथरीली भूमि में बिना हल जोते ही बीज विखेर दिये जाते हों ॥१०॥

विशेषार्थ—गुरु[1] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

क्षत्रिय-प्रकृति—

क्षत्रियप्राया हि ग्रामाः स्वल्पास्वपि बाधासु प्रतियुद्ध्यन्ते ॥११॥

अर्थ—जिन ग्रामों में स्वेच्छाचारी क्षत्रिय वीर पुरुष अधिक संख्या में निवास करते हैं, वहाँ पर वे लोग स्वल्प तिरस्कार-जनित पीड़ाओं के होने पर आपस में लड़ मरते हैं ॥११॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] ने भी क्षत्रिय-प्राय ग्रामों में उक्त अनर्थ होने का उल्लेख किया है।

ब्राह्मणों की प्रकृति—

म्रियमाणोऽपि द्विजलोको न खलु सान्त्वेन सिद्धमप्यर्थं प्रयच्छति ॥१२॥

अर्थ—ब्राह्मण लोग प्राणों के कण्ठगत होने पर भी राजा का देय द्रव्य अर्थात्—मालगजारी-आदि-का धन सामनीति से नहीं देते जब तक उन्हें कठोर दण्ड न दिया जाय। सारांश यह है कि राजा क्षत्रिय-बहुल और ब्राह्मण-बहुल-ग्राम न बसावे ॥१२॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

पुनर्वास की व्यवस्था—

स्वभूमिकं भुक्तपूर्वमभुक्तं वा जनपदं स्वदेशाभिमुखं दानमानाभ्यां परदेशादावहेत् वासयेच्च ॥१३॥

अर्थ—राजा का कर्तव्य है कि वह परदेश में प्राप्त हुए अपने देशवासी मनुष्य को, जिससे इसने पूर्व

---

१. तथा च गुरुः—मेघजेनाम्भसा यत्र सस्यं च न ग्रैष्मिकम्। सदैव तत्र दुर्भिक्षं कृष्यारम्भो न यत्र च ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—वसन्ति क्षत्रिया येषु ग्रामेष्वतिनिरर्गलाः। स्वल्पापराधतोऽप्येव तेषु युद्धं न शाम्यति ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—ब्राह्मणैर्भक्षितो योऽर्थो न स सान्त्वेन लभ्यते। यावन्न दण्डपारुष्यं तेषां च क्रियते नृपैः ॥१॥

में कर ग्रहण किया है अथवा नहीं भी किया है, वह यदि स्वदेश में आने को उन्मुख हो तो उसे दान-मान से सन्तुष्ट कर ले आवे और अपने राज्य में बसावे ॥१३॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने पुनर्वास के विषय में यही कहा है।

शुल्कस्थानवर्ती अन्याय से हानि—

स्वल्पोऽप्यादायेषु प्रजोपद्रवो महान्तमर्थं नाशयति ॥१४॥

अर्थ—जो राजा धन की आय के स्थानों अर्थात्—चुंगीघर-आदि में व्यापारियों से थोड़ा सा भी अन्याय का धन ग्रहण करता है अर्थात् अधिक टैक्स वसूल करता है, उसकी महान् आर्थिक क्षति होती है। अभिप्राय यह है कि व्यापारियों के क्रय-विक्रय के मालपर अधिक टैक्स लगाने से वे लोग उसके भय से व्यापार बन्द कर देते हैं, या छल-कपट पूर्ण वर्ताव करते हैं, जिससे राजा की आर्थिक क्षति होती है ॥१४॥

विशेषार्थ—गुरु[2] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

राज्य-कर के ग्रहण में विचार की आवश्यकता—

क्षीरिषु कणिशेषु सिद्धादायो जनपदमुद्वासयति ॥१५॥

अर्थ—जो राजा लगान न देने के कारण किसानों को अपरिपक्व (विना पकी हुई धान्य मञ्जरी) अर्थात् गेहूँ और चांवल-आदि की कच्ची फसल कटा कर ग्रहण कर लेता है, वह उद्विग्न हुए उन्हें दूसरे देश में उद्वासित कर देता है अर्थात्—भगा देता है, जिसके फलस्वरूप राजा और कृषक दोनों आर्थिक संकट भोगते हैं। अतः राजा किसानों की लहलहाती खेती कभी न कटावे। सारांश यह है कि राजा को कृपकों के प्रति ऐसा अन्याय करना उचित नहीं है ॥१५॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

लवनकाले सेनाप्रचारो दुर्भिक्षमावहति ॥१६॥

अर्थ—जो राजा पकी हुई धान्य की फसल काटते समय अपने राष्ट्र के खेतों में से हाथी, घोड़े-आदि की सेना को इतस्ततः प्रचारित करता है, उसका देश अकाल-पीड़ित हो जाता है। क्योंकि सेना फसल का सत्यानाश कर देती है, जिससे दुर्भिक्ष होता है ॥१६॥

विशेषार्थ—जैमिनि[4] ने भी उक्त आशय प्रदर्शित किया है।

सर्वबाधा प्रजानां कोशं पीड़यति ॥१७॥

अर्थ—जो राजा अपनी प्रजा को समस्त प्रकार के कष्ट देता है, उसका कोश नष्ट हो जाता है, क्योंकि पीड़ित प्रजा टैक्स देना बन्द कर देती है, जिससे राजा का खजाना खाली हो जाता है ॥१७॥

विशेषार्थ—गर्ग[5] ने भी उक्त अभिप्राय प्रदर्शित किया है।

---

१. तथा च शुक्रः—परदेशगतं लोकं निजदेशे समानयेत्। भुक्तपूर्वमभुक्तं वा सर्वदैव महीपतिः ॥१॥

२. तथा च गुरुः—शुल्कस्थानेषु योऽन्यायः स्वल्पोऽपि च प्रवर्तते। तत्र नागच्छते कश्चिद् व्यवहारी कथंचन ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—क्षीरयुक्तानि धान्यानि यो गृह्णाति महीपतिः। कर्षकाराणां करोत्यत्र विदेशगमनं हि सः ॥१॥

४. तथा च जैमिनिः—सस्यानां परिपक्वानां समये यो महीपतिः। सैन्यं प्रचारयेत्तच्च दुर्भिक्षं प्रकरोति सः ॥१॥

५. तथा च गर्गः—प्रजानां पीड़नाद्वित्तं न प्रभूतं प्रजायते। भूपतीनां ततो ग्राह्यं प्रभूतं येन तद्भवेत् ॥१॥

अनुगृहीत के प्रति राज-कर्तव्य—

दत्तपरिहारमनुगृह्णीयात् ॥१८॥

अर्थ—राजा ने जिनको पूर्व में टेक्स लेने से मुक्त कर दिया है, उनसे वह फिर से टेक्स न लेकर उनका अनुग्रह करे; क्योंकि इससे उसकी वचन-प्रतिष्ठा और कीर्त्ति होती है ॥१८॥

विशेषार्थ—नारद[1] ने भी कर से मुक्तों के प्रति उक्त कर्तव्य बताया है।

मर्यादा-उल्लङ्घन का दुष्परिणाम—

मर्यादातिक्रमेण फलवत्यपि भूमिर्भवत्यरण्यानी ॥१९॥

अर्थ—मर्यादा का उल्लङ्घन करने से धन-धान्यादि से समृद्धिशाली फलता-फूलता राज्य भी जंगल-सरीखा फल-शून्य हो जाता है ॥१९॥

विशेषार्थ—गुरु[2] ने भी मर्यादा-उल्लङ्घन के विषय में यही कहा है।

प्रजा की रक्षा के उपाय—

क्षीणजनसम्भावनम्, तृणशलाकाया अपि स्वयमग्रहः, कदाचित् किञ्चिदुपजीवनमिति परमः प्रजानां वर्धनोपायः ॥२०॥

अर्थ—प्रजा की उन्नति के निम्न प्रकार तीन उपाय हैं—बाढ़, चोरी-आदि से निर्धन हुए कुटुम्बी जनों को रुपया-पैसा देकर सन्मानित करना, समुचित कर के सिवाय प्रजा से अन्याय पूर्वक तृणमात्र भी अधिक टेक्स वसूल न करना अथवा दरिद्रता-वश आपत्ति में फँसी हुई प्रजा से तृणमात्र भी टेक्स न लेना और कभी भी अपराध करने पर अपराध के अनुरूप दण्ड देना ॥२०॥

विशेषार्थ—नारद[3] ने भी प्रजा की उन्नति के उक्त उपाय निर्दिष्ट किये हैं।

राजकोश की वृद्धि-आदि का विचार—

न्यायेन रक्षिता पण्यपुटभेदिनी पिण्ठा राज्ञां कामधेनुः ॥२१॥

अर्थ—न्यायपूर्वक सुरक्षित शुल्कस्थान (चुंगीघर-आदि), जहाँ पर बाजारों में बिकने के लिए बाहर से आई हुई चीजों (केसर, हींग व वस्त्रादि) के बक्स-आदि खुलवा कर देखे जाते हों, राजाओं के लिए कामधेनु-सरीखे फलदायक होते हैं। सारांश यह है कि इन चुङ्गीघरों पर किसी प्रकार का अन्याय नहीं होना चाहिए, अर्थात् ज्यादा चुङ्गी न ले ली जाय, और चोरी का माल मालूम पड़ने पर पता लगाकर उसके मालिक को दे दिया जाय, इत्यादि; ऐसा न्याय होने से इन चुङ्गीघरों से राजा की आय अच्छी होती है ॥२१॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] ने भी शुल्कस्थानों के विषय में यही कहा है।

राज्ञां चतुरङ्गबलाभिवृद्धये भूयांसो भक्तग्रामाः ॥२२॥

अर्थ—राजाओं की चतुरङ्गिणी सेना की वृद्धि के लिए बहुत से धान्य के खेत वाले ग्राम सुरक्षित रहने

१. तथा च नारदः—अकरा ये कृताः पूर्वं तेषां ग्राह्यः करो न हि। निजवाक्यप्रतिष्ठार्थं भूभुजा कीर्तिमिच्छता ॥१॥

२. तथा च गुरुः—मर्यादातिक्रमो यस्यां भूमौ राज्ञः प्रजायते। समृद्धापि च सा ग्रथ्यं जायतेऽरण्यसन्निभा ॥१॥

३. तथा च नारदः—[चिन्तनं क्षीणवित्तानां] स्वग्राहस्य विवर्जनम्। युक्तदण्डं च लोकानां परमं वृद्धिकारणम् ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—ग्राह्यं नैवाधिकं शुल्कं चौर्यञ्चाहृतं भवेत्। पिण्ठायां भूभुजा देयं वणिजां तत् स्वकोशतः ॥१॥

चाहिए। अर्थात् ऐसे ग्राम किसी के लिए लगान पर नहीं देने चाहिए, उनमें जो कुछ उपज हो, वह सब उसकी सेना के भोजन के लिए होनी चाहिए ॥२२॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी प्रचुर मात्रा में धान्य की उपज वाले ग्रामों के विषय में यही कहा है।

सुमहच्च गोमण्डलं हिरण्याय युक्तं शुल्कं कोशवृद्धिहेतुः ॥२३॥

अर्थ—राज्य में प्रचुर गायों से सुवर्ण-प्राप्ति होती है और न्यायोचित कर राजा के कोश की वृद्धि का कारण है ॥२३॥

विशेषार्थ—गुरु[2] का उद्धरण भी राज-कोश की वृद्धि के विषय में समानार्थक है।

भूदान विषयक विचार—

देवद्विजप्रदेया गोरुतप्रमाणा भूमिर्दातुरादातुश्च सुखनिर्वाहा ॥२४॥

अर्थ—राजा द्वारा विद्वान् और ब्राह्मणों के लिए इतनी थोड़ी भूमि दान में दी जानी चाहिए, जिसमें गाय के रम्हाने का शब्द सुनाई पड़े; क्योंकि इतनी थोड़ी भूमि देने से दाता और पात्र (ग्रहण कर्त्ता) के लिए सुख मिलता है। अर्थात्—दाता भी दरिद्र नहीं हो पाता और कोई राजकीय अधिकारी उतनी थोड़ी जमीन पर कब्जा नहीं कर सकता, इससे ग्रहणकर्ता भी सुखी रहता है ॥२४॥

विशेषार्थ—गौतम[3] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

क्षेत्रवप्रखण्डगृहधर्मायतनानामुत्तरः पूर्वं बाधते न पुनरुत्तरं पूर्वः ॥२५॥

अर्थ—क्षेत्र, तालाब, कोट, गृह, और देवमन्दिर का दान, इन पाँच वस्तुओं के दानों में आगे आगे की वस्तुओं का दान, पूर्व के दान को बाधित कर देता है। अर्थात्—गौण समझा जाता है। परन्तु पहिली वस्तु का दान आगे की वस्तु के दान को गौण नहीं करता। अभिप्राय यह है कि खेत के दान की अपेक्षा तालाब का दान उत्तम है, इसी प्रकार तालाब-दान से कोटदान, कोटदान से गृह-दान और गृह दान से मन्दिर-दान उत्तम और मुख्य है। परन्तु आगे की वस्तुओं के दान की अपेक्षा पूर्व वस्तु का दान उत्तम या मुख्य नहीं है। क्योंकि आगे-आगे की वस्तुओं का दान विशेष पुण्यबंध का कारण है।

राज्य की किसी परती (खाली) पड़ी हुई जमीन को कोई खेत बना लेवे, दूसरे ने उसके चारों ओर कोट खड़ा कर दिया। तीसरे ने उस पर तालाब बनवा लिया और चौथे ने उस पर मकान बनवा लिया और पाँचवे ने उसे देवमन्दिर बना लिया और अन्त में विवाद उठा कि स्वामित्व किसका ? तो महत्व की दृष्टि से मन्दिर निर्माण कराने वाले का अधिकार प्रबल होगा। दान की दृष्टि से भी इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है ॥२५॥

इति जनपदसमुद्देशः।

१. तथा च शुक्रः—चतुरङ्गबलं येषु भक्तग्रामेषु तृप्यति। वृद्धिं याति न देयास्ते कस्यचित् सस्यदाः यतः ॥१॥

२. तथा च गुरुः—प्रभूता धेनवो यस्य राष्ट्रे भूपस्य सर्वदा। हिरण्याय तथा शुल्कं युक्तं कोशाभिवृद्धये ॥१॥

३. तथा च गौतमः—देवद्विजप्रदत्ता भूः प्रदत्ता लोपं नाप्नुयात्। दातुश्च ब्राह्मणस्यापि शुभा गोशब्दमात्रका ॥१॥

२०.

दुर्ग शब्द का अर्थ—

यस्याभियोगात्परे दुःखं गच्छन्ति दुर्जनोद्योगविषया वा स्वस्यापदो गमयतीति दुर्गम् ॥१॥

अर्थ—जिसके सम्मुख आने जाने पर शत्रु-गण दुःखी होजाते हैं और दुष्टों के उद्योग से अपने ऊपर आई हुई आपत्तियों को जो दूर करता है, वह 'दुर्ग' है ॥१॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी दुर्ग की उक्त परिभाषा और दुर्ग-हीन राजा का दुष्परिणाम निर्दिष्ट किया है।

दुर्ग के भेद—

तद् द्विविधं स्वाभाविकमाहार्यं च ॥२॥

अर्थ—दुर्ग दो प्रकार के हैं—स्वाभाविक और आहार्य। पर्वत-आदि से स्वभावतः घिरे हुए स्थान को स्वाभाविक दुर्ग कहते हैं और खाई-आदि से वेष्टित एवं पाषाण-आदि से निर्मित विशाल रक्षा स्थान आहार्य दुर्ग है ॥२॥

विशेषार्थ—अर्थशास्त्रकार आर्य चाणक्य[2] ने इसके चार भेद बताये हैं—जलदुर्ग, पर्वतदुर्ग, धान्वन और स्थलदुर्ग। चारों ओर नदियों से वेष्टित और मध्य में टापू-सरीखा विकट स्थान जलदुर्ग है इत्यादि।

दुर्ग का स्वरूप या विभूति—

वैषम्यं पर्याप्तावकाशो यवसेन्धनोदकभूयस्त्वं स्वस्य परेषामभावो बहुधान्यरससंग्रहः प्रवेशापसारौ वीरपुरुषा इति दुर्गसम्पत्, अन्यद्बन्दिशालावत् ॥३॥

अर्थ—पर्वत-आदि के कारण ऊँची नीची और विस्तृत भूमि का होना, जहाँपर अपने स्वामी के लिए ही घास, ईंधन और जल की प्रचुरता हो, न कि शत्रुओं के लिए, जहाँपर गेहूँ-चाँवल-आदि अन्न, नमक, तेल, घृत-वगैरह रसों का प्रचुर संग्रह हो, जिसके पहिले दरवाजे से प्रचुर धान्य और रसों का प्रवेश हो और दूसरे से निकासी होती हो, जहाँपर बहादुर सैनिकों का पहरा हो यह दुर्ग की सम्पत्ति है। जहाँपर उक्त साधन-सामग्री नहीं है, वह दुर्ग नहीं किन्तु कारागार-सरीखा है ॥३॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] ने भी प्रवेश और अपसार-हीन दुर्ग को जेलखाना बताया है।

दुर्ग-हीन देश का परिणाम—

अदुर्गो देशः कस्य नाम न परिभवास्पदम् ॥४॥

अर्थ—दुर्ग-हीन देश किसके पराजय का स्थान नहीं ? ॥४॥

अदुर्गस्य राज्ञः पयोधिमध्ये पोतच्युतपक्षिवदापदि नास्त्याश्रयः ॥५॥

१. तथा च शुक्रः—यस्य दुर्गस्य संप्राप्तेः शत्रवो दुःखमाप्नुयुः। स्वामिनं रक्षयत्येव व्यसने दुर्गमेव तत् ॥१॥
दंष्ट्रा-विरहितः सर्पो यथा नागो मदच्युतः। दुर्गेण रहितो राजा तथा गम्यो भवेद्रिपोः ॥२॥
देशगर्भे तु यद् दुर्गं तद्दुर्गं शस्यते बुधैः। देशप्रान्तगतं दुर्गं न सर्वं रक्षितो जनैः ॥३॥

२. देखिए कौटिल्य-अर्थशास्त्र अ० २१ सूत्र २।

३. तथा च शुक्रः—न निर्गमः प्रवेशश्च यत्र दुर्गे प्रविद्यते। अन्य द्वारेण वस्तूनां न दुर्गं तद्धि गुप्तिदं ॥१॥

अर्थ—जिसप्रकार जहाज से समुद्र में गिरे हुए पक्षी का कोई रक्षक नहीं होता उसीप्रकार बिना दुर्गवाले राजा का आपत्तिकाल में कोई रक्षक नहीं होता ॥५॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी उक्त विषय का इसीप्रकार स्पष्टीकरण किया है।

शत्रु के दुर्ग को नष्ट करने के उपाय—

उपायतो गमनमुपजापश्चिरानुबन्धोऽवस्कन्दतीक्ष्णपुरुषोपयोगश्चेति परदुर्गलम्भोपायाः ॥६॥

अर्थ—सामादि उपाय से शत्रु के दुर्ग में शस्त्रादि से सुसज्जित सैन्य को प्रविष्ट करना, उपजाप अर्थात्—विविध उपायों से शत्रु के अमात्य-आदि अधिकारि-वर्ग में भेद करके उसके प्रतिद्वन्द्वी बनाना, चिरानुबन्ध अर्थात्—शत्रु के दुर्ग पर सैनिकों का चिरकाल तक घेरा डालना, अवस्कन्द-अर्थात् शत्रु-दुर्ग के अधिकारियों के लिए प्रचुर सम्पत्ति और सन्मान देकर वश में करना और तीक्ष्णपुरुषोपयोग अर्थात्—घातक गुप्तचरों को शत्रुराजा के निकट भेजना यह सब शत्रु के दुर्ग को जीतने के उपाय हैं ॥६॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] ने भी शत्रु-दुर्ग के जीतने के उपाय और दुर्ग की विशेषता का उल्लेख किया है।

दुर्ग-प्रवेश और निर्गम के नियम—

नामुद्रहस्तोऽशोधितो वा दुर्गमध्ये कश्चित् प्रविशेन्निर्गच्छेद्वा ॥७॥

अर्थ—जिसके हस्त में राज-पत्र नहीं दिया गया हो, ऐसे अज्ञात व्यक्ति को और अशोधित अर्थात्—जिसके निवास, गन्तव्य स्थान और उद्देश्य-आदि की जाँच पड़ताल नहीं की गई हो, ऐसे अपरीक्षित व्यक्ति को अपने दुर्ग में न तो प्रविष्ट होने दे और न दुर्ग से बाहर निकलने दे ॥७॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] ने भी दुर्ग-प्रवेश-आदि के नियम निरूपित किये हैं।

श्रूयते किल हूणाधिपतिः पण्यपुटवाहिभिः सुभटैः चित्रकूटं जग्राह ॥८॥

अर्थ—इतिहास में उल्लेख है कि हूणों के स्वामी ने अपने सैनिकों को विक्रय-योग्य वस्तुओं के धारक व्यापारियों के वेश में दुर्ग में प्रविष्ट कराकर उनके द्वारा दुर्ग के स्वामी को मरवाकर चित्रकूट देश पर अपना अधिकार कर लिया ॥८॥

***खेटखड्गधरैः सेवार्थं शत्रुणा भद्राख्यं कांचीपतिमिति ॥९॥**

अर्थ—इतिहास में उल्लेख है—कि किसी शत्रु राजा ने कांची-नरेश की सेवा के बहाने भेजे हुए खड्ग धारण में अभ्यस्त सैनिकों को काञ्ची देश में भेजा, जिन्होंने दुर्ग में प्रविष्ट होकर भद्र नाम के काञ्ची देश के राजा को मार डाला। पाठान्तर का अर्थ है कि 'भद्र नाम के राजा ने खड्गधारी सैनिकों को शिकारियों के वेश में काञ्ची देश के दुर्ग में प्रविष्ट कराकर वहाँ के नरेश को मार डाला ॥९॥

इति दुर्ग-समुद्देशः।

---

१. तथा च शुक्रः—दुर्गेण रहितो राजा पोतभ्रष्टो यथा खगः। समुद्रमध्ये स्थानं न लभते तद्वदेव सः ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—न युद्धेन प्रशक्यं स्यात्परदुर्गं कथंचन। मुक्त्वा भेदाद्युपायांश्च तस्मात्तान् विनियोजयेत् ॥१॥
शतमेकोऽपि सम्धत्ते प्राकारस्थो धनुर्धरः। परेषामपि वीर्याढ्यं तस्माद् दुर्गेण युद्ध्यते ॥२॥

३. तथा च शुक्रः—प्रविशन्ति नरा यत्र दुर्गे मुद्राविवर्जिताः। अशुद्धा निःसरन्ति स्म तद्दुर्गं तस्य नश्यति ॥१॥

*. 'खेटक-खड्गसहायश्च भद्रः कांचीपतिमिति' ग घ प्रतिद्वये पाठः।

२१. कोश-समुद्देशः

कोश की परिभाषा—

यो विपदि सम्पदि च स्वामिनस्तन्त्राभ्युदयं कोशयति संश्लेषयतीति स कोशः ॥१॥

अर्थ—जो विपत्ति और सम्पत्ति के समय राजा के तन्त्र अर्थात् हाथी, घोड़े, रथ और पदाति रूप चतुरङ्गिणी सेना को वृद्धिगत करता है, वह कोश है ॥१॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी कोश शब्द की उक्त परिभाषा की है।

कोश के गुण—

सातिशयहिरण्यरजतप्रायो व्यावहारिकनाणकबहुलो महापदि व्ययसहश्चेति कोशगुणाः ॥२॥

अर्थ—जो अत्यधिक सुवर्ण और चाँदी से व्याप्त हो, जिसमें व्यवहारोपयोगी प्रचुर सिक्कों-रुपयों और असर्फी-आदि का अधिक संग्रह हो और जो संकट के अवसर पर अधिक व्यय करने को सहन कर सके ये कोश के गुण हैं ॥२॥

विशेषार्थ—गुरु[2] ने भी उक्त प्रकार कोश-गुण निर्दिष्ट किये हैं।

नीतिकार कामन्दक[3] ने भी कोश के उक्त गुणों का निर्देश करते हुए कहा है—कि 'धनाढ्य व्यक्ति को धर्म और अर्थ की रक्षार्थ, भृत्यों के भरण-पोषण के लिए एवं आपत्ति से बचाव करने के लिए सदा कोश की रक्षा करनी चाहिए'।

कोश-वृद्धि की उपयोगिता—

कोशं वर्धयन्नुत्पन्नमर्थमुपयुञ्जीत ॥३॥

अर्थ—राजा का कर्तव्य है कि वह कोश को वृद्धिगत करता हुआ ही न्यायोचित साधनों से प्राप्त हुए धन का उपयोग करे ॥३।

विशेषार्थ—वशिष्ठ[4] के उद्धरण में भी कोशवृद्धि के विषय में उक्त उल्लेख है।

कुतस्तस्यायत्यां श्रेयांसि यः प्रत्यहं काकिण्यापि कोशं न वर्धयति ॥४॥

अर्थ—जो राजा या व्यक्ति प्रतिदिन कौड़ी-कौड़ी जोड़कर भी अपने कोश की वृद्धि नहीं करता उसका भविष्य में किस प्रकार कल्याण हो सकता है ? ॥४॥

विशेषार्थ—गुरु[5] ने भी कोश-वृद्धि के विषय में उक्त अभिप्राय प्रकट किया है।

कोशो हि भूपतीनां जीवितं न प्राणाः ॥५॥

अर्थ—निश्चय से कोश ही राजाओं का जीवित है, अर्थात्—प्राणरक्षा का साधन है, न कि प्राण। सारांश यह है कि राजतन्त्र कोश के आश्रित है, इसके विना वह नष्ट होजाता है ॥५॥

---

१. तथा च शुक्रः—आपत्काले च संप्राप्ते सम्पत्काले विशेषतः। तन्त्रं विवर्धयते राज्ञां स कोशः परिकीर्तितः ॥१॥

२. तथा च गुरुः—आपत्काले तु सम्प्राप्ते बहुव्ययसहक्षमः। हिरण्यादिभिः संयुक्तः स कोशो गुणवान् स्मृतः ॥१॥

३. तथा च कामन्दकः—मुक्ताकनकरत्नाढ्यः पितृपैतामहोचितः। धर्मार्जितो व्ययसहः कोशः कोशज्ञसंमतः ॥१॥
धर्महेतोस्तथार्थाय भृत्यानां भरणाय च। आपदर्थञ्च संरक्ष्यः कोशः कोशवता सदा ॥२॥

४. तथा च वशिष्ठः—कोशवृद्धिः सदा कार्या नैव हानिः कथञ्चन। आपत्कालादृते प्राज्ञैर्यत्कोशो राज्यरक्षकः ॥१॥

५. तथा च गुरुः—काकिण्यापि न वृद्धिं यः कोशं नयति भूमिपः। आपत्काले तु सम्प्राप्ते शत्रुभिः पीड्यते हि सः ॥१॥

विशेषार्थ—भागुरि[1] ने भी कोश-हीन राजा का दुष्परिणाम बताया है।

क्षीणकोशो हि राजा पौरजनपदानन्यायेन ग्रसते ततो राष्ट्रशून्यता स्यात् ॥६॥

अर्थ—निश्चय से क्षीणकोश वाला राजा नागरिकों और राष्ट्र की प्रजा को अन्यायपूर्वक पीड़ित करता है, अर्थात्—निरपराधी नागरिकों को अर्थ-दण्ड देता है, जिससे राष्ट्र शून्य हो जाता है, अर्थात्—राष्ट्र की प्रजा नगर छोड़कर भाग जाती है ॥६॥

विशेषार्थ—गौतम[2] ने भी कोश-हीन राजा के विषय में उक्त विषय का निरूपण किया है।

कोशो राजेत्युच्यते न भूपतीनां शरीरम् ॥७॥

अर्थ—नीतिकार राज-कोश को ही राजा कहते हैं न कि उसके शरीर को; क्योंकि कोश-शून्य राजा शत्रुओं द्वारा पीड़ित किया जाता है ॥७॥

विशेषार्थ—रैभ्य[3] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

द्रव्य-धन-की विशेषता—

यस्य हस्ते द्रव्यं स जयति ॥८॥

अर्थ—जिसके हाथ में धन-राशि होती है वही व्यक्ति विजयश्री प्राप्त करता है ॥८॥

धनहीनः कलत्रेणापि परित्यज्यते किं पुनर्नान्यैः ॥९॥

अर्थ—जब धन-हीन (निर्धन) व्यक्ति को उसका स्त्री भी छोड़ देती है तो फिर दूसरे सेवकों द्वारा उसके छोड़े जाने में विशेषता ही क्या है? सारांश यह है कि संकट पड़ने पर निर्धन की कोई सहायता नही करता ॥९॥

न खलु कुलाचाराभ्यां पुरुषः सेव्यतामेति किन्तु वित्तेनैव ॥१०॥

अर्थ—निश्चय से मनुष्य कुलीनता और सदाचार से सेवनीय नही होता किन्तु धन से ही सेव्य होता है। अर्थात्—जब तक उसके पास धन नहीं होता तब तक मनुष्य कुलीनता और सदाचार से सेवनीय या माननीय नहीं होता। सारांश यह है कि सेवक-गण किसी व्यक्ति को कुलीन और सदाचारी होने से ही श्रेष्ठ या सेवा-योग्य नहीं समझते बल्कि धनाढ्य होने से ही उसे श्रेष्ठ मानते हैं ॥१०॥

विशेषार्थ—व्यास[4] के उद्धरण में भी उक्त विषय का निरूपण है।

स खलु महान् कुलीनश्च यस्यास्ति धनमनूनम् ॥११॥

अर्थ—निसन्देह जिसके पास प्रचुर धन है, वही व्यक्ति महान् और कुलीन है ॥११॥

विशेषार्थ—जैमिनि[5] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

किं तया कुलीनतया महत्तया वा या न सन्तर्पयति परान् ॥१२॥

---

१. तथा च भागुरिः—कोशहीनं नृपं भृत्याः कुलीनमपि चोन्नतं। संत्यज्यान्यत्र गच्छन्ति शुष्कं वृक्षमिवाण्डजाः ॥१॥

२. तथा च गौतमः—कोशहीनो नृपो लोकान् निर्दोषानपि पीडयेत्। तेऽन्यदेशं ततो यान्ति ततः कोशं प्रकारयेत् ॥१॥

३. तथा च रैभ्यः—राजा शब्दोऽत्र कोशस्य न शरीरे नृपस्य च। कोशहीनो नृपो यस्माच्छत्रुभिः परिपीड्यते ॥१॥

४. तथा च व्यासः—अर्थस्य पुरुषो दासो दासो नार्थोऽत्र कस्यचित्। अर्थार्थं येन सेव्यन्ते नीचा अपि कुलोद्भवैः ॥१॥

५. तथा च जैमिनिः—कुलीनोऽपि सुनीचोऽत्र यस्य नो विद्यते धनम्। अकुलीनोऽपि सद्वंश्यो यस्य सन्ति कपर्दिकाः ॥१॥

अर्थ—जो धनाढ्य व्यक्ति आश्रितों को सन्तुष्ट नहीं कर सकता, उस कृपण की कुलीनता और महत्ता (बड़प्पन) से क्या लाभ ? अर्थात्—कृपण की कुलीनता और धनाढ्यपन व्यर्थ है ॥१२॥

विशेषार्थ—गर्ग[1] ने भी कृपण के विषय में उक्त उल्लेख किया है।

तस्य किं सरसो महत्त्वेन यत्र न जलानि ॥१३॥

अर्थ—जिसमें जल ही न हो, उस जलाशय की महत्ता—विस्तीर्णता-क्या है ? उसीप्रकार मनुष्य कुलीनता-आदि से बड़ा होने पर भी यदि दरिद्र है तो उसका बड़प्पन क्या है ? ॥१३॥

क्षीण कोशवाले राजा की कोशवृद्धि के उपाय—

देवद्विजवणिजां धर्माध्वरपरिजनानुपयोगिद्रव्यभागैराढ्यविधवानियोगिग्रामकूटगणिकासङ्घपाखण्डिविभवप्रत्यादानैः समृद्धपौरजानपदद्रविणसंविभागप्रार्थनैरनुपक्षयश्रीकरणमंत्रिपुरोहितसामन्तभूपालानुनयगृहागमनाभ्यां क्षीणकोशः कोशं कुर्यात् ॥१४॥

अर्थ—रिक्त कोश को भरने के लिए राजा निम्नलिखित चार उपाय उपयोग में लावे—१. देवता, ब्राह्मण और वणिक्जनों का ऐसा धन ग्रहण कर ले, जो क्रमशः धर्मानुष्ठान, यज्ञानुष्ठान और कुटुम्ब-संरक्षण में उपयोगी न हो। २. धनाढ्य पुरुष, विधवा, धर्माधिकारी, ग्राम में लेन-देन का व्यवहार करनेवाला महाजन, वेश्या-समूह और पाखण्डियों का धन ग्रहण करके अपनी कोश वृद्धि करे। ३. अत्यन्त समृद्धिशाली नागरिकों और ग्रामीण व्यक्तियों से कुछ धन मांग कर अपना रिक्त कोश वृद्धिगत करे। ४. ऐसे मन्त्री, पुरोहित और अधोनस्थ राजाओं का, जिनकी सम्पत्ति क्षीण न हुई हो अर्थात्—जो अत्यन्त समृद्धिशाली हों, अनुनय और विनय करके और उनके गृह जाकर उनसे धन की याचना कर अपनी कोश-वृद्धि करे ॥१४॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] के उद्धरणों में भी कोशवृद्धि के उक्त उपायों का उल्लेख है।

इति कोशसमुद्देशः।

२२. बलसमुद्देशः

सैन्य का स्वरूप—

द्रविणदानप्रियभाषणाभ्यामरातिनिवारणेन यद्धि हितं स्वामिनं सर्वावस्थासु बलते संवृणोतीति बलम् ॥१॥

अर्थ—शत्रुओं का निवारण करके धन-दान और मधुर-भाषण द्वारा जिससे सभी अवस्थाओं में स्वामी के हित की सुरक्षा होती हो, उसे 'बल' या 'सैन्य' कहते हैं। अभिप्राय यह है कि सुसंघटित सैन्य शक्ति की प्रबलता जानकर ही राजा से दूसरे राष्ट्र प्रिय भाषण और मैत्रो स्थापित करते हैं एवं सरलता पूर्वक प्रजा से

१. तथा च गर्गः—वृथा तद्धनिनां वित्तं यन्न पुष्टिं नयेत्परान्। कुलीनेनापि किं तेन कृपणेन स्वभावतः ॥१॥

२. तथा च शुक्र—देवद्विजातिशूद्राणामुपभोगाधिकं धनम्। क्षीणकोशेन संग्राह्यं प्रविचिन्त्य विभागतः ॥१॥
पौराणां राष्ट्रजातानां ग्राह्यं साम्ना च नान्यथा। दर्शयित्वा तथादार्यं ग्राह्यं वित्तं ततो नृपैः ॥२॥
तथा शाश्वतलक्ष्मीकान् पुरोहितसमंत्रिणः। श्रोत्रियांश्चैव सामन्तान् सीमापालांस्तथैव च ॥३॥
गृहं गत्वा प्रयाचेत यथा तुष्टिमाययुः ॥४॥

कर आदि प्राप्त हो जाता है एवं शत्रु का संहार भी सेना ही करती है, जिसके फलस्वरूप राष्ट्र निष्कण्टक होता है ॥१॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी सैन्य का उक्तप्रकार लक्षण किया है।

सैन्य शक्ति में हाथी की प्रमुखता—

बलेषु हस्तिनः प्रधानमङ्गम्, स्वैरवयवैरष्टायुधा हस्तिनो भवन्ति ॥२॥

अर्थ—हाथी, घोड़े रथ और पैदल रूप चतुरङ्गिणी सेना में हाथी प्रधान अङ्ग हैं, क्योंकि वे अपने अङ्गों के कारण 'अष्टायुध' होते हैं। अर्थात्—हाथी चारों पैरों से शत्रु-सेना को रोंदता है, दोनों दांतों से शत्रु पर प्रहार करता है और पूँछ तथा सूँड से भी शत्रु के घात करने में समर्थ होता है। इसतरह अपने उक्त आठ अङ्गों से शत्रु पर प्रहार करने के कारण हाथी अष्टायुद्ध है ॥२॥

विशेषार्थ—पालकि[2] ने भी 'अष्टायुध' हाथी की प्रशंसा की है।

हस्तिप्रधानो विजयो राज्ञां यदेकोऽपि हस्ती सहस्रं योधयति न सीदति प्रहारसहस्रेणापि ॥३॥

अर्थ—राजाओं की विजय श्री में हाथी प्रधान कारण होता है; क्योंकि युद्ध भूमि में अकेला भी हाथी हजार योद्धाओं से युद्ध करता है और शत्रु द्वारा किये हुए हजारों प्रहारों से ताड़ित किये जानेपर भी व्यथित नहीं होता ॥३॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] ने भी उक्त प्रकार हाथी की महत्ता का निर्देश किया है।

जातिः कुलं वनं प्रचारश्च न हस्तिनां प्रधानं किन्तु शरीरं बलं शौर्यं शिक्षा च तदुचिता च सामग्रीसम्पत्तिः ॥४॥

अर्थ—हाथी में जाति, वंश, वन और प्रचार ये चार विशेषताएँ होतीं हैं। किन्तु ये चारों प्रधान नहीं हैं, उसके लिए शारीरिक बल, शूरता, शिक्षा और उसके योग्य सामग्री की प्राप्ति प्रधान है।

अर्थात्—यदि हाथी हृष्ट पुष्ट नहीं हैं तो वह युद्ध मे क्या कर सकता है, यदि उसमें साहस और शूरता नहीं है, तो भी वह व्यर्थ है। इसी तरह बनैला हाथी रणभूमि के योग्य शिक्षित नहीं किया गया तो उसका परिणाम भयङ्कर होगा, अर्थात्—अशिक्षित हाथी महावत और स्वामी का घात कर देता है। इसी प्रकार शिक्षा के अनुकूल सामग्री प्राप्त नहीं हुई तो भी हाथी युद्ध-भूमि में विजयश्री प्राप्त नहीं करा सकता। हाथी की मन्द, मृग, संकीर्ण और भद्र ये चार जातियाँ होती हैं। ऐरावत, पुण्डरीक, वामन, कुमुद, अञ्जन, पुष्पदन्त और सार्वभौम-आदि ये आठ कुल है ॥४॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[4] ने भी हाथी के शारीरिक बल के विषय में कहा है।

अशिक्षित हाथी से हानि—

अशिक्षिता हस्तिनः केवलमर्थप्राणहराः ॥५॥

---

१. तथा च शुक्रः—धनेन प्रियसंभाषैर्यतश्चैवं पुरार्जितम्। आपद्भ्यः स्वामिनं रक्षेत्ततो बलमिति स्मृतम् ॥१॥

२. तथा च पालकिः—अष्टायुधो भवेद्दन्ती दन्ताभ्यां चरणैरपि। तथा न पुच्छशुण्डाभ्यां संख्ये तेन स शस्यते ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—सहस्रं योधयत्येको यतो याति न च व्यथां। प्रहारैर्बहुभिर्लग्नैस्तस्माद्धस्तिमुखो जयः ॥१॥

४. तथा च वल्लभदेवः—जातिवंशवनभ्रान्तैर्बलैरेतैश्चतुर्विधैः। युक्तोऽपि बलहीनः स यदि पुष्टो भवेन्न च ॥१॥

अर्थ—अशिक्षित हाथी केवल धन और प्राणहरण करने वाले होते हैं। अर्थात्—युद्धोपयोगी शिक्षा से शून्य हाथी अपने स्वामी के धन को नष्ट करते हुए महावत के प्राणघातक होते हैं ॥५॥

विशेषार्थ—नारद[1] का उद्धरण भी प्रस्तुत विषय का स्पष्टीकरण करता है।

हाथी के गुण—

सुखेन यानमात्मरक्षा परपुरावमर्दनमरिव्यूहविघातो जलेषु सेतुबन्धो वचनादन्यत्र सर्वविनोदहेतवश्चेति हस्तिगुणाः ॥६॥

अर्थ—हाथियों में निम्न प्रकार गुण होते हैं—कठिन मार्ग को अनायास पार कर जाना, शत्रुकृत प्रहारों से अपनी और महावत की रक्षा करना, शत्रु-नगर का कोट व प्रवेश-द्वार भङ्ग कर उसमें प्रविष्ट होकर नेस्त-नाबूद करना, शत्रु की व्यूह रचना का विनाश कर देना, जल में पुल-सा बाँध देना और कर्कश, चिंघाड़रूपी वचन के अतिरिक्त विविध भाँति के मनोविनोद करना ॥६॥

विशेषार्थ—भागुरि[2] का उद्धरण भी उक्त प्रकार हाथी के गुणों का निरूपक है।

अश्वसेना की उपयोगिता—

अश्वबलं सैन्यस्य जङ्गमः प्रकारः ॥७॥

अर्थ—घोड़ों की सेना चतुरङ्गिणी सेना का जङ्गम अर्थात्—चलता फिरता भेद है। अभिप्राय यह है कि घोड़े इतने चञ्चल व तीव्रगतिवाले होते हैं, कि वे सेना में गति उत्पन्न कर देते हैं ॥७॥

विशेषार्थ—नारद[3] ने भी अश्व-सैन्य के विषय में यही कहा है।

अश्वबलप्रधानस्य हि राज्ञः कदनकन्दुकक्रीड़ाः प्रसीदन्ति श्रियः, भवन्ति दूरस्था अपि शत्रवः करस्थाः आपत्सु सर्वमनोरथसिद्धयस्तुरङ्गमा एव, सरणमपसरणमवस्कन्दः, परानीकभेदनं च तुरङ्गमसाध्यमेतत् ॥८॥

अर्थ—जिस राजा के सैन्य में 'अश्वबल' प्रधान होता है, उसके ऊपर शत्रु-संहाररूपी गेंद से क्रीड़ा करनेवाली लक्ष्मी प्रसन्न होती है, उसके दूरवर्ती शत्रु भी हस्तगत हो जाते हैं, आपत्तियों में सर्व प्रकार के मनोरथों की सिद्धि होती है। आगे बढ़ना, पीछे हटना, अवस्कन्द अर्थात्—शत्रु पर छल से प्रहार और शत्रु की सेना का भेदन करना यह सब घोड़ों की सहायता से सिद्ध होते हैं ॥८॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] के उद्धरण में भी अश्व सैन्य का निर्देश है।

जात्य घोड़े से लाभ—

जात्यारूढो विजिगीषुः शत्रोर्भवति ततस्य गमनं नारातिर्ददाति ॥९॥

अर्थ—जो विजयश्री का इच्छुक राजा जात्यश्व (अच्छी नस्ल वाले घोड़े) पर आरूढ़ होकर शत्रु पर आक्रमण करता है, इससे उसकी विजय होती है और शत्रु उस पर आक्रमण नहीं कर पाता ॥९॥

---

१. तथा च नारदः—शिक्षाहीना गजा यस्य प्रभवन्ति महीभृतः। कुर्वन्ति धननाशं ते केवलं जनसंक्षयम् ॥१॥

२. तथा च भागुरिः—सुखयानं सुरक्षा च शत्रोः पुरविभेदनम्। शत्रुव्यूहविघातश्च सेतुबन्धो गजैः स्मृतः ॥१॥

३. तथा च नारदः—तुरंगमबलं यच्च तत्प्रकारो बलं स्मृतं। सैन्यस्य भूभुजा कार्यं तस्मात्तद्वेगवत्तरम् ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—प्रेक्षतामपि शत्रूणां यतो यान्ति तुरंगमैः। भूपाला येन निघ्नन्ति शत्रुं दूरेऽपि संस्थितम् ॥१॥

जात्य अश्व की ९ जातियाँ—

तर्जिका, स्वस्थलाणा करोखरा गाजिगाणा केकाणा पुष्टाहारा, गव्हरा सादुयारा सिन्धुपारा जात्याश्वानां नवोत्पत्तिस्थानानि ॥१०॥

अर्थ—जात्य अश्व की ९ जातियाँ (उत्पत्तिस्थान) हैं। तर्जिका, स्वस्थलाणा, करोखरा, गाजिगाणा, केकाणा, पुष्टाहारा, गाव्हरा, सादुयारा और सिन्धुपारा ॥१०॥

विशेषार्थ—शालिहोत्र[1] ने भी अश्वों की उक्त जातियों का उल्लेख किया है।

युद्ध में विजयश्री के साधन—

समा भूमिर्धनुर्वेदविदो रथारूढाः प्रहर्तारो यदा तदा किमसाध्यं नाम नृपाणाम् ॥११॥

अर्थ—संग्राम में समतल भूमि प्राप्त हो और धनुर्विद्या में प्रवीण रथारूढ़ योद्धा गण हों, तो विजयश्री के इच्छुक राजाओं के लिए कुछ असाध्य नही होता, अर्थात्—उन्हें विजयश्री की प्राप्ति अवश्य होती है ॥११॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

रथ की विशेषता—

रथैरवमर्दितं परबलं सुखेन जीयते ॥१२॥

अर्थ—विजयश्री के इच्छुक राजा के रथों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट हुई शत्रु-सेना अनायास जीती जाती है ॥१२॥

सेना के छह् भेद—

मौल-भृत्यक-भृत्य-श्रेणीमित्राटविकेषु पूर्वं पूर्वं बलं यतेत ॥१३॥

अर्थ—सेना के निम्न प्रकार छह् भेद है—वंश-परम्परा से चली आई प्रामाणिक, विश्वासपात्र व युद्ध विद्या-विशारद पैदल सैन्य, अधिकारी-सेना, सेवकों की सेना, श्रेणी सेना अर्थात्—तेली, नाई, शिल्पी और चर्मकार-आदि विविध जातियों की सम्मिलित सेना, मित्रों की सेना और आटविक सेना। इनमें से पूर्व पूर्व सैन्य के लिए यत्न करना चाहिए। अर्थात् उक्त छह् प्रकार की सेनाओं में से सबसे पहिले सारभूत सैन्य को युद्ध में सुसज्जित करने मे प्रयत्नशील होना चाहिए। क्योंकि फल्गुसैन्य अर्थात्—कमजोर, अविश्वासी और युद्ध करने में अकुशल निस्सार सैन्य द्वारा पराजय निश्चित रहता है ॥१३॥

विशेषार्थ—अर्थशास्त्र प्रणेता आर्य चाणक्य[3] ने कहा है—कि 'वंश परम्परा से चली आनेवाली, सदा वश मे रहने वाली, प्रामाणिक, विश्वासपात्र पैदल सेना को 'सारवल' कहते है एवं गुणनिष्पन्न हाथियों और घोड़ों की सेना भी 'सारभूत सैन्य है।'

विशेषार्थ—नारद[4] ने भी सारभूत सैन्य से विजयश्री बतलाई है।

सेना का सातवां विशेष भेद—

अथान्यत्सप्तममौत्साहिकं बलं यद्विजिगीषोर्विजययात्राकाले परराष्ट्रविलोडनार्थमेव मिलति ॥१४॥

---

१. तथा च शालिहोत्रम्—तर्जिका स्वस्थलाणा सुतोक्खरास्योत्तमा हयाः। गाजिगाणा सकेकाणाः पुष्टाहाराश्च मध्यमाः ॥१॥
गाव्हरा सादुयाराश्च सिन्धुपारा कनीयस्था.। अश्वानां शालिहोत्रेण जातयो नव कीर्तिताः ॥२॥

२. तथा च शुक्रः—रथारूढाः सुधानुष्का भूमिभागे समे स्थिताः। युद्धयन्ते यस्य भूपस्य तस्यासाध्यं न किंचन ॥१॥

३. देखिए कौटिल्य अर्थशास्त्र सांग्रामिक प्रकरण पृ० ४८९।

४. तथा च नारदः—रथैर्विमर्दितं पूर्वं परसैन्यं जयेन्नृप.। षड्भिर्बलैः समादिष्टैर्मौलाद्यैः ससुखेन च ॥१॥

अर्थ—इनके सिवाय सातवीं सेना औत्साहिक सेना है, जो विजयश्री के इच्छुक की विजय के यात्राकाल में शत्रु राष्ट्र को नष्ट करने के लिए ही सुसज्जित व संगठित होती है ॥१४॥

औत्साहिक सैन्य के गुण—

क्षत्रसारत्वं शस्त्रज्ञत्वं शौर्यसारत्वमनुरक्तत्वं चेत्यौत्साहिकस्य गुणाः ॥१५॥

अर्थ—जिसमें क्षत्रिय राजपूतों की प्रमुखता हो, जिसके सैनिक शस्त्र विद्या में निपुण हों, शूरवीर पुरुषों की जिसमें प्रधानता हो और जिसमें स्वामी के प्रति अनुराग करने वाले सैनिक हों, ये चार औत्साहिक सेना के गुण हैं ॥१५॥

विशेषार्थ—नारद[1] ने भी औत्साहिक सेना के उक्त गुणों का निर्देश किया है।

सेना के प्रति राजा का व्यवहार—

मौलबलाविरोधेनान्यद्बलमर्थमानाभ्यामनुगृह्णीयात् ॥१६॥

अर्थ—वंश परम्परा से प्राप्त हुई प्रधान सेना को अर्थ-दान पूर्वक सन्मानित करते हुए अन्य प्रकार की सेना को धन-दान और सम्मान से अनुगृहीत करे ॥१६॥

विशेषार्थ—वादरायण[2] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

मौल सेना की विशेषता—

मौलाख्यमापद्यनुगच्छति दण्डितमपि न द्रुह्यति भवति चापरेषामभेद्यम् ॥१७॥

अर्थ—राजा की मौल सेना आपत्ति काल में भी उसका साथ देती है और दण्डित किये जाने पर भी द्रोह नहीं करती और शत्रु द्वारा अभेद्य होती है ॥१७॥

विशेषार्थ—वशिष्ठ[3] ने भी मौल सेना की उक्त विशेषता बतलाई है।

न तथार्थः पुरुषान् योधयति यथा स्वामिसम्मानः ॥१८॥

अर्थ—जैसा राजा द्वारा दिया हुआ सम्मान सैनिकों को युद्ध करने में प्रेरित करता है उतना दिया हुआ धन प्रेरित नहीं करता। अर्थात्—सैनिकों के लिए धन देने की अपेक्षा सन्मान देना विशेष श्रेयस्कर है ॥१८॥

विशेषार्थ—नारायण[4] ने भी सैनिकों को अनुरक्त रखने का उक्त उपाय बतलाया है।

सेना की विरक्ति के कारण—

स्वयमनवेक्षणं देयांशहरणं कालयापना व्यसनाप्रतीकारो विशेषविभावसंभावनं च तन्त्रस्य विरक्तिकारणानि ॥१९॥

अर्थ—राजा को सेना की विरक्ति के निम्न पाँच कारण हैं—स्वयं अपनी सेना की देख-भाल न करना, उनके लिए देने योग्य वेतन में से कुछ भाग हड़प कर लेना, आजीविका के योग्य वेतन को यथासमय न देकर

---

१. तथा च नारदः—क्षत्रियाढ्यं सुशस्त्रज्ञं शूरसारं सरागकृत्। यद्बलं तद्बलं प्रोक्तं न तत्स्यादन्यथैव यत् ॥१॥

२. तथा च बादरायणः—अन्यद्बलं समायातमौत्सुक्यात्परनाशनम्। दानमानेन तत्तोष्यं मौलसैन्याविरोधतः ॥१॥

३. तथा च वशिष्ठः—न दण्डितमपि स्वल्पं द्रोहं कुर्यात् कथंचन। मौलं बलं न भेद्यं च शत्रुवर्गेण जायते ॥१॥

४. तथा च नारायणः—न तथा पुरुषानर्थः प्रभूतोऽपि महाहवं। कारापयति योद्धॄणां स्वामिसंभावना यथा ॥१॥

विलम्ब करके देना, उन्हें विपत्तिग्रस्त देखकर भी धनादि देकर उनकी सहायता न करना और विवाह-आदि शुभ अवसरों पर उनका यथोचित सन्मान न करना ॥१९॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[1] ने भी राजा से सेना के विरुद्ध होने के उक्त कारणों का उल्लेख किया है।

तन्त्र—सैन्य के स्वयं निरीक्षण का औचित्य—

स्वयमवेक्षणीयं सैन्यं परैरवेक्षयन्नर्थतन्त्राभ्यां परिहीयते ॥२०॥

अर्थ—जो राजा आलस्य के कारण स्वयं निरीक्षण करने योग्य सैन्य की देखरेख न करके दूसरे धूर्तों से निरीक्षण कराता है, वह निस्सन्देह धन और सैन्य से क्षीण हो जाता है ॥२०॥

विशेषार्थ—जैमिनि[2] ने भी उक्त विषय की प्रतिष्ठा की है।

दूसरों को प्रतिनिधित्व न करने योग्य कार्य—

आश्रितभरणे स्वामिसेवायां धर्मानुष्ठाने पुत्रोत्पादने च खलु न सन्ति प्रतिहस्ताः ॥२१॥

अर्थ—निश्चय से अपने आश्रित रहनेवाले सेवकों का भरण-पोषण, स्वामी की सेवा, धार्मिक कार्यों का अनुष्ठान और पुत्रोत्पत्ति इन चार कार्यों में दूसरों से प्रतिनिधित्व नहीं कराया जाता। अर्थात्—उक्त चार कार्य स्वयं करना चाहिए, न कि दूसरों से कराने चाहिए ॥२१॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

आश्रितों को सन्तुष्ट करने का उपाय—

तावद्देयं यावदाश्रिताः सम्पूर्णतामाप्नुवन्ति ॥२२॥

अर्थ—स्वामी को अपने आश्रित सेवकों के लिए इतना पर्याप्त धन देना चाहिए, जिससे वे पूर्ण सन्तुष्ट हो सकें ॥२२॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

सेना का राजा के प्रति कर्तव्य—

न हि स्वं द्रव्यमव्ययमानो राजा दण्डनीयः ॥२३॥

अर्थ—राजा यदि अपना धन, अर्थात्—सेवक का या सैन्य का वेतन-आदि नहीं देता तो भी उससे कलह करना या दण्ड देना उचित नहीं। अर्थात्—सेना को चाहिए कि वह राजा से विद्रोह करके वेतन लेने की चेष्टा न करे ॥२३॥

विशेषार्थ—शुक्र[5] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

को नाम सचेताः स्वगुडं चौर्यात् खादेत ॥२४॥

---

१. तथा च भारद्वाजः—यः सैन्यं वीक्षते नैव वृत्तिभङ्गं करोति च। न काले यच्छते वृत्तिं न विशेषं करोति च ॥१॥
विशेषदर्शिते लोके न विशेषं करोति च। व्यसने च प्रतीकारं यः स्वामी न करोति च ॥२॥
तस्य तन्त्रं प्रयात्येव विरक्तं सर्वतो दिशं। तस्मात् सर्वप्रयत्नेन तोष्यं तन्त्रं महीभुजा ॥३॥

२. तथा च जैमिनिः—स्वयं नालोकयेत्तन्त्रं प्रमादाद्यो महीपतिः। तदन्यैः प्रेक्षितं धूर्तैर्विनश्यति न संशयः ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—भृत्यानां पोषणं हस्ते स्वामिसेवाप्रयोजनम्। धर्मकृत्यं सुतोत्पत्ति परपार्श्वान्न कारयेत् ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—आश्रिता यस्य सीदन्ति शत्रुस्तस्य महीपतेः। स सर्वैर्वेष्टयते लोकैः कार्पण्याच्च मुहुःस्थितः ॥१॥

५. तथा च शुक्रः—भृत्यर्थं कलहः कार्यो न भृत्यैर्भूभुजा समं। यदि यच्छति नो वृत्तिं नमस्कृत्य परित्यजेत् ॥१॥

अर्थ—कौन ऐसा विवेकी पुरुष है जो अपना गुड़ चोरी करके खायगा ?

अर्थात्—जिसतरह स्वाभिमानी पुरुष अपना गुड़ चोरी से नहीं खाता उसीतरह वह राजा से कुपित होकर अपनी हानि भी नहीं करवाना चाहता ॥२४॥

दृष्टान्त—

किं तेन जलदेन यः काले न वर्षति ॥२५॥

अर्थ—उस मेघ से क्या लाभ ? जो समय पर वृष्टि नहीं करता, उसी प्रकार जो स्वामी आपत्ति काल में सेवकों की सहायता नहीं करता वह स्वामी भी व्यर्थ है ॥२५॥

स किं स्वामी य आश्रितेषु व्यसने न प्रविधत्ते ॥२६॥

अर्थ—जो अपने आश्रितों की आपत्तिकाल में सहायता नहीं करता, वह स्वामी निन्द्य है ॥२६॥

राजा का सैन्य के प्रति कर्तव्य—

अविशेषज्ञे राज्ञि को नाम तस्यार्थे प्राणव्ययेनोत्सहेत ॥२७॥

अर्थ—जो राजा गुण-ग्राही और कृतज्ञ नहीं है, उसके लिए कौन युद्ध-भूमि में प्राण देने को उत्साहित होगा ? ॥२७॥

विशेषार्थ—अङ्गिरा[1] ने भी कहा है—कि 'काँच को मणि और मणि को काँच समझने वाले राजा के आगे कौन संग्राम भूमि में निधनता को प्राप्त होगा ?

इति बलसमुद्देशः ।

२३. मित्र-समुद्देशः

मित्र का लक्षण—

यः सम्पदीव विपद्यपि मेद्यति तन्मित्रम् ॥१॥

अर्थ—जो सम्पत्ति काल की तरह विपत्ति-काल में भी स्नेह करता है वह मित्र है ॥१॥

विशेषार्थ—जैमिनि[2] ने भी मित्र का उक्त लक्षण निरूपण किया है ।

नित्य मित्र का स्वरूप—

यः कारणमन्तरेण रक्ष्यो रक्षको वा भवति तन्नित्यं मित्रम् ॥२॥

अर्थ—विना किसी प्रयोजन के ही जिनमें रक्ष्य-रक्षक भाव होता है वह नित्य मित्र है। अर्थात्—वे दोनों व्यक्ति परस्पर में नित्य मित्र हैं, जो निष्कारण आपत्तिकाल में परस्पर एक दूसरे के द्वारा रक्षा के योग्य और रक्षा करनेवाले हैं ॥२॥

विशेषार्थ—नारद[3] ने भी नित्य मित्र का उक्त लक्षण निर्देश किया है ।

१. तथा च अङ्गिराः—काचो मणिर्मणिः काचो यस्य सम्भावनेदृशी । कस्तस्य भूपतेरग्रे संग्रामे निधनं व्रजेत् ॥१॥

२. तथा च जैमिनिः—यत्समृद्धौ क्रियात् स्नेहं यद्वत्तद्वत्तथापदि । तन्मित्रं प्रोच्यते सद्भिर्वैपरीत्येन वैरिणः ॥१॥

३. तथा च नारदः—रक्ष्यते बध्यमानस्तु अन्यैर्निष्कारणं नरः । रक्षेद्वा बध्यमानं यत्तन्नित्यं मित्रमुच्यते ॥१॥

सहज मित्र का लक्षण—

तत् सहजं मित्रं यत् पूर्वपुरुषपरम्परायातः सम्बन्धः ॥३॥

अर्थ—वंश परम्परा से अर्थात्—पिता और पितामहों से जहाँ संबंध चला आ रहा है वह सहज मित्र है ॥३॥

विशेषार्थ—भागुरि[१] ने भी सहज मित्र का उक्त लक्षण बताया है।

कृत्रिम मित्र का स्वरूप—

यद्वृत्तिजीवितहेतोराश्रितं तत् कृत्रिमं मित्रम् ॥४॥

अर्थ—जो व्यक्ति प्राण-रक्षा के लिए जीविका ग्रहण करता हुआ आश्रित होकर स्वामी से स्नेह प्रकट करता है, वह कृत्रिम मित्र है। सारांश यह है कि वह स्वार्थ-सिद्धि के उद्देश्य से स्वामी से स्नेह करता है और जीविकोंपयोगी वेतन न मिलने पर अपने स्वामी से मैत्री करना छोड़ देता है ॥४॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[२] ने भी कृत्रिम मित्र का उक्त लक्षण वतलाया है।

मित्र के गुण—

व्यसनेषूपस्थापनमर्थेष्वविकल्पः स्त्रीषु परमं शौचं कोपप्रसादविषये वाऽप्रतिपक्षत्वमिति मित्रगुणाः ॥५॥

अर्थ—मित्र के सङ्कट-ग्रस्त होने पर उसकी सहायता करने के लिए विना बुलाए उपस्थित होना, द्रव्य के सम्बन्ध में निष्कपट होना, अर्थात्—मित्र के धन को छल-कपट से हड़प न करना, मित्र की स्त्री के प्रति परम पवित्र भाव रखना और मित्र के कुपित होने पर प्रतिकूल न होना और प्रमुदित होने पर ईर्ष्या न करना ये मित्र के गुण हैं ॥५॥

विशेषार्थ—नारद[३] ने भी मित्र के उक्त गुणों का उल्लेख किया है।

मित्र के दोष—

दानेन प्रणयः स्वार्थपरत्वं, विपद्युपेक्षणमहितसम्प्रयोगो विप्रलम्भनगर्भप्रश्रयश्चेति मित्रदोषाः ॥६॥

अर्थ—मित्र द्वारा धन प्राप्त होनेपर स्नेह करना, स्वार्थ सिद्धि में तत्परता, विपत्ति काल में मित्र की सहायता न करना, मित्र के शत्रुओं से व्यवहार रखना और छल-कपट मिश्रित नम्रता प्रदर्शित करना, अर्थात्—दिखावटी नम्रता का प्रदर्शन ये मित्र के दोष हैं ॥६॥

विशेषार्थ—रैभ्य[४] ने भी उक्तप्रकार मित्र के दोषों का उल्लेख किया है।

मैत्री के भङ्ग के कारण—

स्त्रीसंगतिर्विवादोऽभीक्ष्णयाचनमप्रदानमर्थसम्बन्धः परोक्षदोषग्रहणं पैशून्याकर्णनं च मैत्रीभेदकारणानि ॥७॥

अर्थ—मित्र की स्त्री से समागम करना, मित्र से विवाद करना, सदा उससे धन की याचना करना,

१. तथा च भागुरिः—सम्बन्धः पूर्वजानां यस्तेन योऽत्र समाययौ। मित्रत्वं कथितं तच्च सहजं मित्रमेव हि ॥१॥

२. तथा च भारद्वाजः—वृत्तिं गृह्णाति यः स्नेहं नरस्य कुरुते नरः। तन्मित्रं कृत्रिमं प्राहुर्नीतिशास्त्रविदो जनाः ॥१॥

३. तथा च नारदः—आपत्काले च सम्प्राप्ते कार्ये च महति स्थिते। कोपे प्रसादनं नेच्छेन्मित्रस्येति गुणाः स्मृताः ॥१॥

४. तथा च रैभ्यः—दानस्नेहो निजार्थत्वमुपेक्षा व्यसनेषु च। वैरिसंगोऽप्रशंसा च मित्रदोषाः प्रकीर्तिताः ॥१॥

मित्र के लिए कुछ भ न देना, आपस में लेन-देन का संबंध रखना, पीठ पीछे मित्र के दोषों की चर्चा करन, और उसकी चुगली सुनना इन कारणों से मित्रता भङ्ग होती है ॥७॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी मैत्री-भेद के उक्त कारणों का उल्लेख किया है।

आदर्श मैत्री का महत्व—

न क्षीरात्परं महदस्ति यत्संगतिमात्रेण करोति नीरमात्मसमं ॥८॥

अर्थ—दूध से बढ़ कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है, जो कि मिलते ही जल को अपने-सरीखा गुणवान् बना लेता है। उसीतरह मानव को ऐसे गुणी की संगति करनी चाहिए जो उसे अपने समान गुणी बना सके ॥८॥

विशेषार्थ—गौतम[2] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

न नीरात्परं महदस्ति यन्मिलितमेव संवर्धयति रक्षति च स्वक्षयेण क्षीरम् ॥९॥

अर्थ—पानी को छोड़कर दूसरा कोई पदार्थ दूध का सच्चा मित्र नहीं, जो मिलने मात्र से ही दूध की वृद्धि करता है और अग्नि परीक्षा के समय अपना नाश करके भी दूध की रक्षा करता है ॥९॥

विशेषार्थ—भागुरि[3] ने भी पानी को दूध का सच्चा मित्र बताया है।

येन केनाप्युपकारेण तिर्यञ्चोऽपि प्रत्युपकारिणोऽव्यभिचारिणश्च न पुनः प्रायेण मनुष्याः ॥१०॥

अर्थ—लोक में पशु-आदि तिर्यञ्च प्राणी भी किसी के द्वारा उपकृत होकर प्रत्युपकार करते है और उपकारी के प्रतिकूल नहीं होते किन्तु मनुष्यों में प्रायः ऐसा नहीं देखा जाता, अर्थात्—मनुष्य कभी उपकारी के प्रति प्रत्युपकार न करके कृतघ्नता कर बैठता है, अतः मनुष्य को पशु पक्षियों से उपकारी के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करने और प्रत्युपकार करने की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए ॥१०॥

तथा चोपाख्यानकम्—

अटव्यां किलान्धकूपे पतितेषु कपिसर्पसिंहाक्षशालिकसौवर्णिकेषु कृतोपकारः कंकायन नामा कश्चित्पान्थो विशालायां पुरि तस्मादक्षशालिकाद्व्यापादनमवाप नाड़ीजङ्घश्च गौतमादिति ॥११॥

अर्थ—पौराणिक उदाहरण—एक समय किसी अटवी के घास-वगैरह से आच्छादित (ढँके हुए) एक अन्धकूप में वन्दर, सर्प, सिंह और आक्षशालिक अर्थात्—एक जुआरी और सुनार या सर्राफ गिर पड़े। उधर से संयोग-वश कङ्कायन नामका एक पथिक आया और उसने उन सभी को क्रमशः कुए से निकालकर उनका उपकार किया। उपकृत हुए उन पाँचों में से वन्दर, सर्प, सिंह और सुनार उस पान्थ के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करके उसकी आज्ञोपरान्त अपने अपने निर्दिष्ट स्थान को चले गए। परन्तु जुआरी कृतघ्न (गुनमेटा) होने के कारण उस पान्थ से कपट-पूर्ण व्यवहारों से मित्रता कर, उसके धन को अपहरण करने की इच्छा से उसके साथ हो लिया और अनेक ग्रामों और नगरों में भ्रमण करता रहा और विश्वास पात्र बन बैठा। किन्तु अन्त में उस पथिक के पास वर्तमान धन की प्राप्ति के लोभ से उसे विशाला नामकी नगरी में जब कि वह किसी शून्य

---

१. तथा च शुक्रः—स्त्रीसंगतिर्विवादोऽथ सदार्थित्वमदानता। स्वसंबंधस्तथा निन्दा पैशून्यं मित्रवैरिता ॥१॥

२. तथा च गौतमः—गुणहीनोऽपि चेत्संगं करोति गुणिभिः सह। गुणवान् मन्यते लोकैर्दुग्धाढ्यं कं यथा पयः ॥१॥

३. तथा च भागुरिः—न पानीयात् परं मित्रं विद्यते येन मिश्रितं। दुग्धं वृद्धिं समायाति रक्षते च निजक्षयात् ॥१॥

देवालय में शयन कर रहा था तब रात्रि के समय मार डाला। इसीप्रकार नाडीजङ्घ नामके किसी उपकारी को गौतम नामके तपस्वी ने मार डाला था ॥११॥

इति मित्रसमुद्देशः।

२४. राजरक्षासमुद्देशः

राजा की रक्षा—

राज्ञि रक्षिते सर्वं रक्षितं भवत्यतः स्वेभ्यः परेभ्यश्च नित्यं राजा रक्षितव्यः ॥१॥

अर्थ—राजा की रक्षा होने से समस्त राष्ट्र सुरक्षित रहता है, इसलिए उसे अपने कुटुम्बियों-आदि आत्मीयों से और शत्रुओं से सदा अपनी रक्षा करनी चाहिए ॥१॥

विशेषार्थ—रैभ्य[1] ने भी राजा की रक्षा के विषय में इसीप्रकार कहा है।

राजरक्षा के उपाय—

अत एवोक्तं नयविद्भिः पितृपैतामहं महासम्बन्धानुबद्धं शिक्षितमनुरक्तं कृतकर्मणां च जनम् आसन्नं कुर्वीत ॥२॥

अर्थ—इसीलिए नीतिज्ञों ने कहा है कि राजा को अपना अङ्गरक्षक और आसन्नचारी ऐसे व्यक्ति को नियुक्त करना चाहिए, जिसका पिता और पितामह की परम्परा से अर्थात्—उसकी वंशपरम्परा से कोई संबंध रहा हो, जो विवाह-आदि महासम्बन्ध से बँधा हुआ हो, अर्थात् जो राजा का साला-आदि निकट सम्बन्धी हो, जो शिक्षित हो, जो राजा से अनुराग करनेवाला हो और जो राजकीय कर्तव्यों में निपुण हो ॥२॥

विशेषार्थ—गुरु[2] ने भी राजा के अङ्गरक्षक के विषय में यही कहा है।

अन्यदेशीयमकृतार्थमानं स्वदेशीयं चापकृत्योपगृहीतमासन्नं न कुर्वीत ॥३॥

अर्थ—राजा इसप्रकार के व्यक्ति को अपना आसन्नचारी न बनावे, जो धन और मान देकर कभी सन्मानित नहीं किया गया है ऐसे विदेशी व्यक्ति को, जो अपने देश का भी हो, किन्तु कभी स्वयं दण्डित करके फिर से रख लिया गया हो ॥३॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] ने भी उक्त विषय को इसी प्रकार कहा है।

चित्तविकृतेर्नास्त्यविषयः किन्न भवति माताऽपि राक्षसी ॥४॥

अर्थ—विकृत चित्त वाला पापी पुरुष कौन कौन से अनर्थों में प्रवृत्त नहीं होता? उदाहरण मे अत्यन्त स्नेहमयी माता भी विकृत चित्तवाली हो जानेपर क्या राक्षसी-हत्यारी-नहीं होती? ॥४॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] ने भी विकृत चित्त के विषय में इसीप्रकार कहा है।

---

१. तथा च रैभ्यः—रक्षिते भूमिनाथे तु आत्मीयेभ्यः सदैव हि। परेभ्यश्च यतस्तस्य रक्षा देशस्य जायते ॥१॥
२. तथा च गुरुः—वंशजं च सुसम्बन्धं शिक्षितं राजसंयुतं। कृतकर्म जनं पार्श्वे रक्षार्थं धारयेन्नृपः ॥१॥
३. तथा च शुक्रः—अन्यदेशोद्भवं लोकं समीपस्थं न धारयेत्। अपूजितं स्वदेशीयं वा विरुद्धय प्रपूजितं ॥१॥
४. तथा च शुक्रः—यस्य चित्ते विकारः स्यात् सर्वं पापं करोति सः। जातं हन्ति सुतं माता शाकिनीमार्गमाश्रिता ॥१॥

अस्वामिकाः प्रकृतयः समृद्धा अपि निस्तरीतुं न शक्नुवन्ति ॥५॥

अर्थ—बिना राजा की अमात्य-आदि प्रकृति समृद्ध होनेपर भी आपत्तिकाल में अपना उद्धार नहीं कर सकती। अर्थात्—शत्रु-कृत उपद्रवों से राष्ट्र की रक्षा नहीं कर सकती ॥५॥

विशेषार्थ—वशिष्ठ[1] ने भी बिना स्वामी की प्रकृति के विषय में उक्त उल्लेख किया है।

देहिनि गतायुषि सकलाङ्गे किं करोति धन्वन्तरिरपि वैद्यः ॥६॥

अर्थ—जब प्राणी की आयु ही निःशेष हो गई हो तब समस्त अङ्गों के होते हुए भी धन्वन्तरि भी वैद्य क्या कर सकता है? ॥६॥

विशेषार्थ—व्यास[2] ने भी काल-पीड़ित व्यक्ति के विषय में यही कहा है।

राजा की रक्षा का क्रम—

राज्ञस्तावदासन्ना स्त्रियं आसन्नतरा दायादा आसन्नतमाश्च पुत्रास्ततो राज्ञः प्रथमं स्त्रीभ्यो रक्षणं ततो दायादेभ्यस्ततः पुत्रेभ्यः ॥७॥

अर्थ—राजा की समीपवर्तिनी स्त्रियाँ होती हैं उनसे अधिक समीपवर्ती दायाद होते हैं उनसे भी निकटतम पुत्र होते हैं, अतः सर्वप्रथम स्त्रियों से राजा की रक्षा करनी चाहिए, पश्चात् कुटुम्बियों से इसके बाद पुत्रों से राजा की रक्षा करनी चाहिए ॥७॥

आवण्ठादाचक्रवर्तिनः सर्वोऽपि स्त्रीसुखाय क्लिश्यति ॥८॥

अर्थ—संसार में निकृष्ट लकड़हारे से लेकर चक्रवर्ती पर्यन्त सभी मनुष्य स्त्री-सुख की प्राप्ति के लिए कृषि व व्यापार-आदि जीविका करके क्लेश उठाते हैं ॥८॥

विशेषार्थ—गर्ग[3] ने भी उक्त विषय में इसी प्रकार कहा है।

निवृत्तस्त्रीसङ्गस्य धनपरिग्रहो मृतमण्डनमिव ॥९॥

अर्थ—जिस तरह मुर्दे को वस्त्राभूषणों से सुसज्जित करना व्यर्थ है उसी तरह स्त्री के सुख-भोग से विरक्त हुए व्यक्ति के लिए धन का संचय करना व्यर्थ है ॥९॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[4] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

स्त्रियों की प्रकृति—

सर्वाः स्त्रियः क्षीरोदवेला इव विषामृतस्थानम् ॥१०॥

अर्थ—सभी स्त्रियाँ क्षीर समुद्र की तरङ्गों सरीखीं विष और अमृत दोनों की स्थान होतीं हैं। अर्थात्—प्रतिकूल चलने वाली स्त्रियाँ विष-तुल्य दुःखदायिनी और अनुकूल चलनेवाली स्त्रियाँ अमृतसरीखी सुखदायिनी होती हैं। जिस तरह क्षीरसागर के मन्थन करने पर उसी से विष और अमृत दोनों निकले थे ॥१०॥

---

१. तथा च वशिष्ठः—राजप्रकृतयो नैव स्वामिना रहिताः सदा। गन्तुं निर्वाहणं यद्वत् स्त्रियः कान्तविवर्जिताः ॥१॥

२. तथा च व्यासः—न मंत्रा न तपो दानं न वैद्यो न च भेषजं। शक्नुवन्ति परित्रातुं नरं कालेन पीड़ितम् ॥१॥

३. तथा च गर्गः—कृषि सेवां विदेशं च युद्धं वाणिज्यमेव च। सर्वं स्त्रीणां सुखार्थाय स सर्वो कुरुते जनः ॥१॥

४. तथा च वल्लभदेवः—प्रभूतमपि चेद्वित्तं पुरुषस्य स्त्रियं विना। मृतस्य मण्डनं यद्वत् तत्तस्य व्यर्थमेव हि ॥१॥

विशेषार्थ—वल्लदेव[1] ने भी विरक्त स्त्री को विष-सरीखी और अनुरक्त स्त्री को अमृत-सरीखी निर्दिष्ट की है।

मकरदंष्ट्रा इव स्त्रियः स्वभावादेव वक्रशीलाः ॥११॥

अर्थ—जिसतरह मगर की डाँढ़ें स्वभाव से कुटिल होती हैं उसीतरह स्त्रियाँ भी स्वभावतः कुटिल होती हैं ॥११॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[2] ने भी स्त्रियों के विषय में यही कहा है।

स्त्रीणां वशोपायो देवानामपि दुर्लभः ॥१२॥

अर्थ—प्रतिकूल स्त्रियों के वश में करने का उपाय देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। अर्थात्—देवता भी नहीं जानते ॥१२॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[3] के उद्धरण में भी उक्त उल्लेख है।

उत्तम स्त्री का स्वरूप—

कलत्रं रूपवत् सुभगमनवद्याचारमपत्यवदिति महतः पुण्यस्य फलम् ॥१३॥

अर्थ—सुन्दरी, सौभाग्यशालिनी, अनिन्द्य चरित्रवाली पतिव्रता और सन्तानवाली स्त्री पूर्वजन्म में किये हुए प्रचुर पुण्य से प्राप्त होती है ॥१३॥

विशेषार्थ—चारायण[4] के उद्धरण में भी यही उल्लेख है।

कामदेवोत्संगस्थापि स्त्री पुरुषान्तरमभिलषति च ॥१४॥

अर्थ—कामदेव की गोद में भी बैठी हुई स्त्री चञ्चल प्रकृति के कारण पर पुरुष की अभिलाषा करती है। अर्थात्—चञ्चल प्रकृतिवाली स्त्री कामदेव-सरीखे सुन्दर पति के पास रहकर भी दूसरे पुरुष की कामना करती है ॥१४॥

विशेषार्थ—नारद[5] ने भी उक्त विषय का उल्लेख किया है।

न मोहो लज्जा भयं स्त्रीणां रक्षणं किन्तु परपुरुषादर्शनं संभोगः सर्वसाधारणता च ॥१५॥

अर्थ—कुटुम्ब में मोह, लज्जा और भय से स्त्रियों की रक्षा नहीं होती, किन्तु स्त्रियों की रक्षा के निम्न तीन उपाय है—वह पर-पुरुष को देख न सके, पति द्वारा उसे संभोग-सुख प्राप्त होता रहे, एवं अभिलषित वस्तुएँ प्राप्त होती रहें अथवा यदि पति ईर्ष्या न करे ॥१५॥

विशेषार्थ—जैमिनि[6] ने भी स्त्रियों की रक्षा के उक्त तीन उपाय बताए है।

दानदर्शनाभ्यां समवृत्तौ हि पुंसि नापराध्यन्ते स्त्रियः ॥१६॥

अर्थ—जिन स्त्रियों का पति वस्त्राभूषणों के दान से और प्रेमपूर्ण दृष्टि-आदि से सभी स्त्रियों के साथ पक्षपात-रहित एकसा वर्ताव करता है, उससे वे वैर-विरोध नहीं करती अर्थात्—उसके वश में रहती हैं ॥१६॥

---

१. तथा च वल्लभदेवः—अमृतं न विषं किंचिदेकां मुक्त्वा नितम्बिनीम्। विरक्ता मारयेद्यस्मात् सुखायत्यनुरागिणी ॥१॥

२. तथा च वल्लभदेवः—स्त्रियोऽतिवक्रतायुक्ता यथा दंष्ट्रा झषोद्भवाः। ऋजुत्वं नाधिगच्छन्ति तीक्ष्णत्वादतिभीषणाः ॥१॥

३. तथा च वल्लभदेवः– चतुरः सृजता पूर्वमुपायांस्तेन वेधसा। न सृष्टः पंचमः कोऽपि गृह्यन्ते येन योषितः ॥१॥

४. तथा च चारायणः—सुरूपं सुभगं यद्वा सुचरित्रं सुतान्वितं। यस्येदृशं कलत्रं स्यात्पूर्वपुण्यफलं हि तत् ॥१॥

५. तथा च नारदः—कामदेवोपमं त्यक्त्वा मुखप्रेक्षं निजं पतिं। चापल्याद्वाञ्छते नारी विरूपांगमपीतरम् ॥१॥

६. तथा च जैमिनिः—अन्यस्यादर्शनं कोपात्प्रसादः काममंभवः। सर्वासामेव नारीणामेतद्रक्षणत्रयं मतम् ॥१॥

विशेषार्थ—नारद[1] ने भी स्त्रियों को अनुकूल रखने के उक्त उपाय बताए हैं।

परिगृहीतासु स्त्रीषु प्रियाप्रियत्वं न मन्येत ।।१७।।

अर्थ—विवाहित पत्नियों में प्रिय-अप्रिय का भेद न रक्खे, अर्थात्—सब के साथ समान रूप से व्यवहार करे। अर्थात्—सुन्दर स्त्रियों से प्रेम और कुरूप स्त्रियों से ईर्ष्या न करे ।।१७।।

विशेषार्थ—भागुरि[2] ने भी विवाहित स्त्रियों के साथ पक्षपातरहित वर्ताव करना बताया है।

कारणवशान्निम्बोऽप्यनुभूयते एव ।।१८।।

अर्थ—जिस प्रकार रोग की निवृत्ति के लिए कड़वी नीम औषधि के रूप में सेवन की जाती है उसी प्रकार अपनी रक्षा-आदि के प्रयोजन-वश कुरूप स्त्री भी उपभोग की जाती है ।।१८।।

विशेषार्थ—भारद्वाज[3] ने भी उक्त अभिप्राय प्रदर्शित किया है।

ऋतु-स्नात स्त्री के प्रति पति का कर्तव्य—

चतुर्थदिवसस्नाता स्त्री तीर्थं तीर्थोपरोधो महानधर्मानुबन्धः ।।१९।।

अर्थ—ऋतुमती स्त्री जब चौथे दिन स्नान करती है, तब वह तीर्थ है अर्थात्—उपभोग के योग्य पवित्र मानी जाती है, उस समय जो उसका परित्याग करता है, अर्थात्—उसका उपभोग नहीं करता उसे महान् अधर्म होता है ।।१९।।

विशेषार्थ—बादरायण[4] ने भी उक्त विषय का उल्लेख किया है।

ऋतावपि स्त्रियमुपेक्षमाणः पितॄणामृणभाजनम् ।।२०।।

अर्थ—ऋतु-स्नात अर्थात्—चौथे दिन स्नान की हुई अपनी स्त्री को सेवन न करनेवाला व्यक्ति सन्तानोत्पत्ति में बाधक होने से अपने पूर्वजों का ऋणी होता है ।।२०।।

विशेषार्थ—गर्ग[5] के उद्धरण में भी उक्त बात का उल्लेख है।

अवरुद्धाः स्त्रियः स्वयं नश्यन्ति स्वामिनं वा नाशयन्ति ।।२१।।

अर्थ—ऋतुकाल में भी सेवन न कीजानेवालीं स्त्रियाँ अपना या अपने पति का अनिष्ट कर बैठती हैं ।।२१।।

विशेषार्थ—गर्ग[6] ने भी उक्त विषय का उल्लेख किया है।

न स्त्रीणामकर्तव्ये मर्यादास्ति वरमविवाहो नोढोपेक्षणम् ।।२२।।

अर्थ—स्त्रियों के कुकृत्य की कोई मर्यादा नहीं है, अर्थात्—वह खोटे से खोटा कार्य कर सकती है। मनुष्य को विवाह न करना श्रेष्ठ है, किन्तु विवाहिता स्त्री की उपेक्षा करना उचित नहीं है ।।२२।।

विशेषार्थ—भार्गव[7] का उद्धरण भी समानार्थक है।

१. तथा च नारदः—दानवर्शा संभोगं समं स्त्रीषु करोति यः । प्रसादेन विशेषं न न विरुध्यन्ति तस्य ताः ।।१।।

२. तथा च भागुरिः—समत्वेनैव दृष्टव्या याः स्त्रियोऽत्र विवाहिताः । विशेषो नैव कर्तव्यो नरेण श्रियमिच्छता ।।१।।

३. तथा च भारद्वाजः—दुर्भगापि विरूपापि सेव्या कान्तेन कामिनी । यथौषधकृते निम्बः कटुकोऽपि प्रदीयते ।।१।।

४. तथा च बादरायणः—ऋतुस्नातां न यो नारीं भजते पापकृत्तमः । न तस्य हव्यं गृह्णन्ति देवाः कव्यं च पूर्वजाः ।।१।।

५. तथा च गर्गः—ऋतुं यच्छति नो योऽत्र भार्यायाः स्नानजे दिने । तस्य देवा न गृह्णन्ति हव्यं कव्यं च पूर्वजाः ।।१।।

६. तथा च गर्गः—ऋतुकाले च सम्प्राप्ते न भजेद्यस्तु कामिनीं । तद्दुःखात्मा प्रणश्येत स्वयं वा नाशयेत् पतिम् ।।१।।

७. तथा च भार्गवः—नाकृत्यं विद्यते स्त्रीणामपमाने कृते सति । अविवाहो वरस्तस्मान्न तूढानां विवर्जनम् ।।१।।

स्त्री रक्षा की आवश्यकता—

अकृतरक्षस्य किं कलत्रेणाकृषतः किं क्षेत्रेण ॥२३॥

अर्थ—जिस प्रकार खेती न करनेवाले के लिए खेत व्यर्थ है उसीप्रकार स्त्री की रक्षा न करनेवाले के लिए स्त्री भी व्यर्थ है ॥२३॥

पति से स्त्री की विरक्ति के कारण—

सपत्नीविधानं पत्युरसमंजसं च विमाननमपत्याभावश्च चिरविरहश्च स्त्रीणां विरक्तिकारणानि ॥२४॥

अर्थ—निम्न कारणों से स्त्रियाँ पति से विरक्त (प्रतिकूल) हो जाती हैं—

एक स्त्री होते हुए भी दूसरा विवाह कर सौत बनाना, पति का मनोमालिन्य अर्थात्—ईर्ष्या व द्वेष-आदि, पति द्वारा अनादर, सन्तान का अभाव और पति का चिर वियोग ॥२४॥

विशेषार्थ—जैमिनि[1] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

स्त्रियों के गुण-दोष पति के अनुरूप—

न स्त्रीणां सहजो गुणो दोषो वास्ति किन्तु नद्यः समुद्रमिव यादृशं पतिमाप्नुवन्ति तादृश्यो भवन्ति स्त्रियः ॥२५॥

अर्थ—स्त्रियों में स्वाभाविक गुण-दोष नहीं होता, किन्तु नदियाँ जिसतरह समुद्र में मिलकर खारी हो जाती हैं उसी तरह पति के गुण-दोषों के अनुसार स्त्रियाँ भी गुणवती व दोष-युक्त बन जाती हैं ॥२५॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] ने भी स्त्रियों के गुण-दोष के विषय में यही कहा है।

स्त्रियों में स्त्रीदूत का होना उचित—

स्त्रीणां दौत्यं स्त्रिय एव कुर्युस्तैरश्चोऽपि पुंयोगः स्त्रियं दूषयति किं पुनर्मानुष्यः ॥२६॥

अर्थ—स्त्रियों के पास सन्देश-आदि भेजने के लिए स्त्रियों को ही दूती बनाना चाहिए, क्योंकि तिर्यक् योनि के पशु-आदि के पुरुष-संयोग से स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं फिर मनुष्य-संयोग के विषय में तो कहना ही क्या है ? ॥२६॥

विशेषार्थ—गुरु[3] का उद्धरण भी स्त्रियों के दौत्य के विषय में समानार्थक है।

स्त्री-रक्षण का लक्ष्यबिन्दु—

वंशविशुद्ध्यर्थमनर्थपरिहारार्थं स्त्रियो रक्ष्यन्ते न भोगार्थं ॥२७॥

अर्थ—वंश की विशुद्धि के लिए और अनर्थों से बचने के लिए स्त्रियों की रक्षा की जाती है केवल विषयवासना की तृप्ति के लिए नहीं ॥२७॥

विशेषार्थ—गुरु[4] ने भी स्त्रियों के संरक्षण का उक्त उद्देश्य बताया है।

---

१. तथा च जैमिनिः—सपत्नी वा समानत्वमपमानमनपत्यता। देशान्तरगतिः पत्युः स्त्रीणां रागं हरन्त्यमी ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—गुणो वा यदि वा दोषो न स्त्रीणां सहजो भवेत्। भर्तुः सदृशतां यान्ति समुद्रस्यापगाः यथा ॥१॥

३. तथा च गुरुः—स्त्रीणा दौत्यं नरेन्द्रेण प्रेष्या नार्यो नरो न वा। तिर्यंचोऽपि च पुंयोगो दृष्टो दूषयति स्त्रियं ॥१॥

४. तथा च गुरुः—वंशस्य च विशुद्ध्यर्थं तथाऽनर्थक्षयाय च। रक्षितव्याः स्त्रियो विज्ञैर्न भोगाय च केवलम् ॥१॥

वेश्या का स्वरूप—

भोजनवत्सर्वसमानाः पण्याङ्गनाः कस्तासु हर्षामर्षयोरवसरः ॥२८॥

अर्थ—जिसतरह बाजार का भोजन सब के लिए समान रूप से सुलभ होता है उसीतरह वेश्याएँ भी सर्वसाधारण के उपभोग के लिए होती हैं; अतः उनकी प्राप्ति में प्रमुदित होना और अप्राप्ति में कुपित होना कैसा ? ॥२८॥

विशेषार्थ— गुरु[1] ने भी वेश्याओं के विषय में यही कहा है।

यथाकामं कामिनीनां संग्रहः परमनर्थवानकल्याणावहः प्रक्रमोऽदौवारिके द्वारि को नाम न प्रविशति ॥२९॥

अर्थ – राजा अपने सुखानुसार कामिनियों (वेश्याओं) का संग्रह कर सकता है, किन्तु उसका यह कार्य अनर्थकारक और अमङ्गल करनेवाला है। क्योंकि वेश्या किसी दूसरे व्यक्ति से अनुचित संबंध न करे अथवा उसके यहाँ कोई दूसरा न आवे, यह कैसे हो सकता है ? उदाहरणार्थ—जिस द्वार पर उसका कोई रक्षक द्वारपाल नहीं होता वहाँ पर कौन नहीं प्रविष्ट होता ? ॥२९॥

विशेषार्थ—जैमिनि[2] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

राजा के योग्य वेश्या—

मातृव्यञ्जनविशुद्धा राजवसत्युपरि स्थायिन्यः स्त्रियः संभोक्तव्याः ॥३०॥

अर्थ—जो मातृ-पक्ष से विशुद्ध हों, अर्थात्—व्यभिचार-शून्य हों और जो राजमहल में गीत-नृत्यादि के लिए आती रहतीं हों ऐसो ही वेश्याएँ राजा के भोग-योग्य है ॥३०॥

विशेषार्थ—भागुरि[3] ने भी यही कहा है।

दर्दुरस्य सर्पगृहप्रवेश इव स्त्रीगृहप्रवेशो राज्ञः ॥३१॥

अर्थ—जिस प्रकार साँप की बाँमी में मेढक का प्रवेश उसके प्राणों का घातक है उसी प्रकार परकीया या वेश्या के गृह में राजा का प्रवेश उसके प्राणों का घातक है ॥३१॥

विशेषार्थ—गौतम[4] के उद्धरण में भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण है।

न हि स्त्रीगृहादायातं किञ्चित् स्वयमनुभवनीयम् ॥३२॥

अर्थ—अपने प्राणों की रक्षा का इच्छुक राजा स्त्रियों के गृह से आई हुई कोई भी वस्तु स्वयं भक्षण न करे ॥३२॥

विशेषार्थ—बादरायण[5] ने भी उक्त प्रकार कहा है।

नापि स्वयमनुभवनीयेषु स्त्रियो नियोक्तव्याः ॥३३॥

१. तथा च गुरुः—सर्वसाधारणा वेश्या यथा भोजनकर्मणि। न प्राप्त्या कारयेत्तुष्टिं तासां कोपो न वाप्यतः ॥१॥

२. तथा च जैमिनिः—वेश्याः कामं प्रसेव्याश्च परमेर्ष्याविवर्जितैः। सर्वगम्यं भवेद् द्वारं यतस्तासामहर्निशम् ॥१॥

३. तथा च भागुरिः—मातृचिह्नविशुद्धा या राजहर्म्ये वसन्ति च। ता वेश्याः सेवनीयाश्च नान्या सेव्या विचक्षणैः ॥१॥

४. तथा च गौतमः—प्रविष्टो हि यथा भेको बिलं सर्पस्य मृत्युभाक्। तथा संजायते राजा प्रविष्टो वेश्मनि स्त्रियः ॥१॥

५. तथा च बादरायणः—स्त्रीणां गृहात्समायातं भक्षणीयं न भूभुजा। किञ्चित्स्वल्पमपि प्राणान् रक्षितुं योऽभिवाञ्छति ॥१॥

अर्थ—राजा को स्वयं भक्षण करने योग्य भोजनादि के विषयों मे स्त्रियों को नियुक्त नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे चञ्चलता-वश अनर्थ कर सकती हैं ॥३३॥

विशेषार्थ—भृगु[1] ने भी यही कहा है।

स्त्रियों के निन्द्य कृत्य और उसके समर्थक आख्यान—

संवननं स्वातन्त्र्यं चाभिलषन्त्यः स्त्रियः किं नाम न कुर्वन्ति ॥३४॥

अर्थ—वशीकरण, मारण और मोहन-आदि स्वच्छन्दता की अभिलाषा करती हुई स्त्रियाँ कौन-कौन से अनर्थ नहीं कर डालती? ॥३४॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[2] ने भी स्त्रियों को अविश्वसनीय कहा है।

श्रूयते हि किल आत्मनः स्वच्छन्दवृत्तिमिच्छन्ती विषदूषितगण्डूषेण मणिकुण्डला महादेवी यवनेषु निजतनुजराज्यार्थं जघान राजानमङ्गराजम् ॥३५॥

अर्थ—पौराणिक आख्यानों मे उल्लेख है कि यवन देश में अपनी स्वच्छन्द वृत्ति चाहनेवाली 'मणि-कुण्डला' नाम की पट्टरानी ने अपने पुत्र के राज्य के लिए अपने पति 'अङ्गराज' नामक राजा को विष-दूषित शराब के कुरले से मार डाला ॥३५॥

विषालक्तकदिग्धेनाधरेण वसन्तमतिः शूरसेनेषु सुरतविलासं, विषोपलिप्तेन मणिना वृकोदरी दशार्णेषु मदनार्णवं, निशितनेमिना मुकुरेण मदिराक्षी मगधेषु मन्मथविनोदं, कबरीनिगूढेनासिपत्रेण 'चन्द्ररसा' पाण्ड्येषु पुण्डरीकमिति ॥३६॥

अर्थ—इसीप्रकार शूरसेन (मथुरा) में वसन्तमति नाम की स्त्री ने जहर आलते से रंगे हुए अपने अधरोष्ठ के द्वारा 'सुरतविलास' नाम के राजा को, वृकोदरी ने दशार्ण (विदिशा-भेलसा) में विष-लिप्त करधनी के मणि से 'मदनार्णव' राजा को, मदिराक्षी ने मगध देश में तीक्ष्णधार वाले दर्पण से 'मन्मथविनोद' को और पांड्य देश (तिनेवली मद्रास) मे 'चन्द्ररसा' नाम की रानी ने केशपाश के भीतर छिपाई हुई तलवार अथवा छुरी से 'पुण्डरीक' नाम के राजा को मार डाला था ॥३६॥

अमृतरसवाप्य इव श्रीजसुखोपकरणं स्त्रियः ॥३७॥

अर्थ—स्त्रियाँ अमृत रस से भरी हुई वावड़ी सरीखी मनुष्यों के चित्त में आनन्द उत्पन्न करती है और लक्ष्मी के विलास से उत्पन्न होनेवाले सुलभ सुखो की साधन है ॥३७॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] ने भी उक्त प्रकार स्त्रियो का माहात्म्य बताया है।

कस्तासां कार्याकार्यविलोकनेऽधिकारः ॥३८॥

अर्थ—उनके कर्तव्य-अकर्तव्य के देखने से क्या प्रयोजन? अर्थात्—वे क्या उत्तम कार्य करती है और क्या अधम? इसको देखने से क्या प्रयोजन है? ॥३८॥

विशेषार्थ—वशिष्ठ[4] ने भी उक्त प्रकार कहा है।

---

१. तथा च भृगुः—भोजनादिषु सर्वेषु नात्मीयेषु नियोजयेत्। स्त्रियो भूमिपतिं क्वापि मारयन्ति यतश्च ताः ॥१॥

२. तथा च भारद्वाजः—कार्मणं स्वेच्छयाचारं यदा वाञ्छन्ति योषितः। तस्मात्तासु न विश्वासः प्रकर्तव्यः कथंचन ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—लक्ष्मीसंभवसौख्यस्य कथिताः वामलोचना। यथा पीयूषवाप्यश्च मनश्चाल्हाददाः सदा ॥१॥

४. तथा च वशिष्ठः—'स्त्रीणां दुश्चरितं किंचिन्न विचार्यं विचक्षणैः ॥१॥

स्त्री की स्वतन्त्रता के स्थान—

अपत्यपोषणे गृहकर्मणि शरीरसंस्कारे शयनावसरे स्त्रीणां स्वातन्त्र्यं नान्यत्र ॥३९॥

अर्थ—सन्तान का परिपालन, गृहस्थी के दैनिक कार्य-कलाप, शारीरिक शृङ्गार और पति के साथ शयन इन चार कार्यों में स्त्रियों के लिए स्वतन्त्रता देनी चाहिये अन्यत्र नहीं ॥३९॥

विशेषार्थ—भागुरि[1] ने भी उक्त चार स्थानों में स्त्रियों को स्वतन्त्रता देने का निरूपण किया है।

स्त्रियों को विशेष स्वतन्त्रता देने का दुष्परिणाम—

अतिप्रसक्तेः स्त्रीषु स्वातन्त्र्यं करपत्रमिव पत्युर्नाविदार्य हृदयं विश्राम्यति ॥४०॥

अर्थ—अत्यधिक आसक्त होकर स्त्रियों को पूर्ण स्वतन्त्रता देने का परिणाम यह होता है कि वे आरे या तलवार के समान पति के हृदय को विदीर्ण किये विना विश्राम नहीं लेतीं। अर्थात्—स्त्री को विशेष स्वतन्त्र करने का परिणाम भयङ्कर होता है ॥४०॥

विशेषार्थ—गर्ग[2] का उद्धरण भी समानार्थक है।

स्त्री के वशवर्ती होने का कुफल—

स्त्रीवशपुरुषो नदीप्रवाहपतितपादप इव न चिरं नन्दति ॥४१॥

अर्थ—जिस प्रकार नदी के प्रवाह में पड़ा हुआ वृक्ष चिरकाल तक अपनी वृद्धि नहीं कर सकता, वल्कि नष्ट हो जाता है उसी प्रकार स्त्री के वश में रहने वाला पुरुष भी आर्थिक क्षति में पड़कर नष्ट हो जाता है। अतः स्त्रियों के अधीन नहीं रहना चाहिए ॥४१॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] ने भी इसी प्रकार कहा है।

स्त्री को वश में रखने से लाभ—

पुरुषमुष्टिस्था स्त्री खड्गयष्टिरिव कमुत्सवं न जनयति ॥४२॥

अर्थ—जिस प्रकार मुट्ठी में धारण की हुई खड्गयष्टि (तलवार) व्यक्ति के कौन से मनोरथ (विजय-लाभ- आदि) पूर्ण नहीं करती? उसी प्रकार पुरुष की मुष्टि में स्थित हुई अर्थात्—पति की आज्ञानुसार चलनेवाली पतिव्रता स्त्री भी पति के कौन से मनोरथ पूर्ण नहीं करती? ॥४२॥

विशेषार्थ—किसी नीतिवेत्ता[4] ने भी पतिव्रता स्त्री के विषय में उक्त प्रकार कहा है।

स्त्री-शिक्षा—

नातीव स्त्रियो व्युत्पादनीयाः स्वभावसुभगोऽपि शास्त्रोपदेशः स्त्रीषु शस्त्रीषु पयोलव इव विषमतां प्रतिपद्यते ॥४३॥

अर्थ—स्त्रियों को कामशास्त्र की शिक्षा में विशेष प्रवीण न वनावे, क्योंकि स्वभाव से उत्तम भी कामशास्त्र का ज्ञान स्त्रियों को उस प्रकार नष्ट कर देता है, अर्थात्—चरित्र धर्म से गिराकर नष्ट कर देता है जिस प्रकार पानी की बूँद छुरी पर पड़ने से उसे मोर्चा-आदि लगाकर नष्ट कर देती है। सारांश यह है कि

---

१. तथा च भागुरिः—स्वातंत्र्यं नास्ति नारीणां मुक्त्वा कर्मचतुष्टयम्। बालानां पोषणं कृत्यं शयनं चाङ्गभूषणम् ॥२॥

२. तथा च गर्गः—स्वातंत्र्यं यद्भवेत्स्त्रीणां सुरेतषु यथेच्छया। [भिनत्त्यसकृन्मर्माणि] हृदयं पुरुषस्य च ॥१॥ सं० परि०

३. तथा च शुक्रः—न चिरं वृद्धिमाप्नोति यः स्त्रीणां वशगो भवेत्। नदीप्रवाहपतितो यथा भूमिसमुद्भवः ॥१॥

४. उक्तं च—या नारी वशगा पत्युः पतिव्रतपरायणा। सा स्वपत्युः करोत्येव मनोराज्यं हृदि स्थितम् ॥१॥

स्त्रियों को कामशास्त्र की शिक्षा के अतिरिक्त दूसरी लौकिक ललित कलाओं और धार्मिक शिक्षाओं से सुसंस्कृत करना चाहिए ॥४३॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[1] ने भी स्त्रियों के लिए कामशास्त्र को शिक्षा देने का निषेध किया है।

वेश्या को धन देने के विषय में—

अध्रुवेण साधिकोऽप्यर्थेन वेश्यामनुभवति ॥४४॥

अर्थ—धनाढ्य व्यक्ति अनिश्चित अर्थ-दान से वेश्या का उपभोग करे। अर्थात्—उसे निश्चित प्रचुर धन न देवे। उसे कभी स्वल्प कभी अधिक धन देता रहे, इससे धन की आशा से वह अनुरक्त रहती हैं ॥४४॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] ने भी इसी प्रकार कहा है।

वेश्या के सम्बन्ध में—

विसर्जनाकारणाभ्यां तदनुभवे महाननर्थः ॥४५॥

अर्थ—विना कारण छोड़ी हुई वेश्याओं के यहाँ पुनः जाने से वे व्यसनो का महान् अनर्थ (प्राणघात) कर डालती हैं ॥४५॥

विशेषार्थ—गुरु[3] का उद्धरण भ' समानार्थक है।

वेश्या-सेवन का दुष्परिणाम—

वेश्यासक्तिः प्राणार्थहानिं कस्य न करोति ॥४६॥

अर्थ—वेश्या पर अत्यन्त आसक्ति करने से किस वेश्या-लम्पट के प्राण और धन की हानि नहीं होती? अतः वेश्या-सेवन का परित्याग करना श्रेयस्कर है ॥४६॥

विशेषार्थ—नारद[4] ने भी वेश्यासेवन के त्याग का निरूपण किया है।

धनमनुभवन्ति वेश्या न पुरुषम् ॥४७॥

अर्थ—वेश्याएँ धन का उपभोग करती हैं पुरुष का नहीं ॥४७॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[5] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

धनहीने कामदेवेऽपि न प्रीतिं बध्नन्ति वेश्याः ॥४८॥

अर्थ—कामदेव-सरीखा सुन्दर व्यक्ति भी यदि निर्धन है तो उसपर वेश्याएं अनुरक्त नही होती ॥४८॥

विशेषार्थ—भागुरि[6] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

स पुमानायतिसुखी यस्य सानुशयं वेश्यासु दानम् ॥४९॥

अर्थ—वेश्याओं के लिए धन देते समय जिसके हृदय मे मानसिक खेद होता है वह व्यक्ति भविष्य में अत्यन्त सुख का अनुभव करता है, क्योंकि ऐसा व्यक्ति किसी न किसी दिन उससे अवश्य विरक्त होकर सुखी होगा ॥४९॥

---

१. तथा च भारद्वाजः—न कामशास्त्रतत्वज्ञाः स्त्रियः कार्याः कुलोद्भवैः। यतो वैरूप्यमायान्ति यथा शास्त्र्यं दुसङ्गमः ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—वेश्याना नित्यदानं यत् तद्धि दानं शुभं न हि। अपि स्तोकं प्रभूतं च चिरदत्तं सुसिद्धये ॥१॥

३. तथा च गुरुः—किं वा गुप्ताः प्रकर्तव्या. किं वा कौतुकमात्रकं। आनीय ता. प्रभोक्तव्या वेश्याः पुंभिर्विचक्षणैः ॥१॥

४. तथा च नारदः—प्राणार्थहानिरेव स्याद्वेश्यायां सक्तितो नृणाम्। यस्मात्तस्मात्परित्याज्या वेश्या पुंभिर्धनार्थिभि. ॥१॥

५. तथा च भारद्वाजः—न सेवन्ते नरं वेश्या सेवन्ते केवलं धनम्। धनहीनं यतो मर्त्यं संत्यजन्ति च तत्क्षणात् ॥१॥

६. तथा च भागुरिः—न सेव्यते धनैर्हीनः कामदेवोऽपि चेत्स्वयं। वेश्याभिर्धनलुब्धाभिः कुष्ठी चापि निषेव्यते ॥१॥

विशेषार्थ—नारद[1] ने भी प्रस्तुत विषय का स्पष्टीकरण किया है।

स पशोरपि पशुः यः स्वधनेन परेषामर्थवतीं करोति वेश्याम् ॥५०॥

अर्थ—वह मनुष्य पशु से भी महान् पशु है, जो अपने धन से वेश्या को दूसरों के लिए धनाढ्य बनाता है। क्योंकि वेश्या का कोई उत्तराधिकारी नहीं होता, इससे उसका धन नीच व्यक्ति ही प्राप्त करते हैं ॥५०॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[2] ने भी वेश्याओं के लिए धन देने से उक्त हानि निरूपण की है।

आचित्तविश्रान्ते वेश्यापरिग्रहः श्रेयान् ॥५१॥

अर्थ—अपने चित्त की शान्ति पर्यन्त ही वेश्या-संग्रह ठीक है ॥५१॥

विशेषार्थ—राजपुत्र[3] ने भी सदा वेश्या-सेवन का निषेध किया है।

सुरक्षिताऽपि वेश्या स्वां प्रकृतिं न मुञ्चति ॥५२॥

अर्थ—प्रचुर धन-धान्यादि द्वारा सन्तुष्ट कर सुरक्षित की हुई भी वेश्या परपुरुष-समागम की इच्छारूप अपनी प्रकृति नहीं छोड़ती ॥५२॥

विशेषार्थ—गुरु[4] ने भी वेश्या की प्रकृति इसी प्रकार निर्दिष्ट की है।

प्राणियों की प्रकृति का परिवर्तन अशक्य—

या यस्य प्रकृतिः सा तस्य दैवेनापि नापनेतुं शक्यते ॥५३॥

अर्थ—जिसकी जैसी प्रकृति होती है उसे विधाता भी दूर करने में असमर्थ है ॥५३॥

विशेषार्थ—नारद[5] ने भी व्याघ्र-आदि की प्रकृति का निर्देश किया है।

सुभोजितोऽपि श्वा किमशुचीन्यस्थीनि परिहरति ॥५४॥

अर्थ—अच्छी तरह स्वादिष्ट भोजन कराया हुआ भी कुत्ता क्या अपवित्र हड्डियों का चबाना छोड़ सकता है? ॥५४॥

विशेषार्थ—भृगु[6] ने भी प्रकृति का अपरिवर्तन निरूपण किया है।

न खलु कपिः शिक्षाशतेनापि चापल्यं परिहरति ॥५५॥

अर्थ—धीरता की सैकड़ों शिक्षाओं से समझाया गया भी बन्दर अपनी चञ्चलता नहीं छोड़ता ॥५५॥

विशेषार्थ—अत्रि[7] का उद्धरण भी समानार्थक है।

---

१. तथा च नारदः—प्रदानं यस्य वेश्याया भवेत्सानुशयं सदा। परिणामे सुखाढ्योऽयं जायते नात्र संशयः ॥१॥

२. तथा च वल्लभदेवः—आत्मवित्तेन यो वेश्यां महार्थी कुरुते कुधीः। अन्येषां वित्तनाशाय पशूनां पशुः सर्वतः ॥१॥

३. तथा च राजपुत्रः—वेश्यादर्शनतश्चित्तं यदि वाञ्छां करोति च। तत्र सेव्या प्रमोक्तव्या नैव नित्यं कदाचन ॥१॥

४. तथा च गुरुः—यद्वेश्या लोभसंयुक्ता स्वीकृतापि नरोत्तमैः। सेवयेत् पुरुषानन्यान् स्वभावो दुस्त्यजो यत ॥१॥

५. तथा च नारदः—व्याघ्रः सेवति काननं सुगहनं सिंहो गुहां सेवते। हंसः सेवति पद्मिनीं कुसुमितां गृध्रः श्मशानस्थलीं। साधुः सेवति साधुमेव सततं नीचोऽपि नीचं जनं। या यस्य प्रकृतिः स्वभावजनिता दुःखेन सा त्यज्यते ॥१॥

६. तथा च भृगुः—स्वभावो नान्यथा कर्तुं शक्यः केनापि कुत्रचित्। श्वेव सर्वरसान् भुक्त्वा विना मेध्यान्न तृप्यति ॥१॥

७. तथा च अत्रिः—प्रोक्तः शिक्षाशतेनापि न चापल्यं त्यजेत्कपिः। स्वभावो नोपदेशेन शक्यते कर्तुमन्यथा ॥१॥

इक्षुरसेनापि सिक्तो निम्बः कटुरेव ॥५६॥

अर्थ—गन्ने के मीठे रस से सींचा गया नीम का वृक्ष कड़ुवा ही रहता है ॥५६॥

विशेषार्थ—गर्ग[1] के उद्धरण में भी दुर्जन की प्रकृति का उल्लेख है।

***क्षीराश्रितशर्करापानभोजितश्चाहि र्न कदाचित् परित्यजति विषम् ॥५७॥**

अर्थ—साँप को मीठा दूध पिलाने पर भी वह अपनी विषैली प्रकृति कभी भी नहीं छोड़ सकता उसी-तरह जिसकी जैसी प्रकृति होती है, उसे वह कदापि नहीं छोड़ सकता।

प्रासङ्गिक अभिप्राय यह है—इसीतरह वेश्याएँ भी धन के लोभ से अपनी व्यभिचार कराने की प्रकृति नहीं छोड़ सकतीं, अतः विवेकी पुरुष को शारीरिक भयङ्कर बीमारियों (गर्मी-सुजाक-आदि) को उत्पन्न करने-वालीं और धन, धर्म, प्राण व मानमर्यादा को नष्ट करनेवालीं वेश्याओं से सदा दूर रहना चाहिए ॥५७॥

कुटुम्बियों के पोषण का दुष्परिणाम—

सन्मानदिवसादायुः कुल्यानामपग्रहहेतुः ॥५८॥

अर्थ—जब राजा अपने निकटवर्ती कुटुम्बीजनों को ऊँचे अधिकारी पदों पर नियुक्त करके जीवन पर्यन्त प्रचुर धन देकर उनका संरक्षण करता है तब वे अभिमान-वश राज्य लोभ से राजा के प्राणघातक हो जाते हैं ॥५८॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] ने भी निकटवर्ती कुटुम्बीजनों का संरक्षण राजा के विनाश का कारण बतलाया है।

तन्त्रकोशवर्द्धिनी वृत्तिर्दायादान् विकारयति ॥५९॥

अथ—राजा द्वारा जब सजातीय कुटुम्बियों के लिए उनका सैन्य और कोश बढ़ानेवाली जीविका दी जाती है तब वे विकृतचित्त होजाते हैं अर्थात्—वे शक्तिशाली होकर अभिमान और राज्य-लोभ के वश राजा का बध-बंधनादि चिन्तवन करने लगते हैं, अतः उन्हें ऐसी जीविका न देनी चाहिए ॥५९॥

विशेषार्थ—गुरु[3] का उद्धरण भी उक्त विषय में समानार्थक है।

कृत्रिम शारीरिक सौन्दर्य—

***तारुण्यमधिकृत्य संस्कारसाराहितोपयोगाच्च शरीरस्य रमणीयत्वं न पुनः स्वभावः ॥६०॥**

अर्थ—शरीर में कृत्रिम (बनावटी) सौन्दर्य होता है, न कि स्वाभाविक, क्योंकि युवावस्था को प्राप्त होकर उत्तम वस्त्राभूषणों से अलङ्कृत होने के कारण वह सुन्दर प्रतीत होता है ॥६०॥

भक्तिविश्रम्भादव्यभिचारिणं कुल्यं पुत्रं वा संवर्धयेत् ॥६१॥

अर्थ—राजा को अपने पर दृढ़ श्रद्धा रखनेवाले और भक्ति के कारण कभी विकृतचित्त न होनेवाले विश्वासपात्र आज्ञाकारी सजातीय कुटुम्बी का और पुत्र का संरक्षण और संवर्धन करना चाहिए ॥६१॥

विशेषार्थ—नारद[4] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

---

१. तथा च गर्गः—पिशुनं दानमाधुर्य संप्रयायि कथंचन। सिक्तश्चेक्षुरसेनापि दुस्त्यजा प्रकृतिर्निजा ॥१॥

*. सूत्रमिदं मु० मू० पुस्तकतः संकलितं—सम्पादकः।

२. तथा च शुक्रः—कुल्यानां पोषणं यच्च क्रियते मूढपार्थिवैः। आत्मनाशाय तज्ज्ञेयं तस्मात्याज्यं सुदूरतः ॥१॥

३. तथा च गुरुः—वृत्तिः कार्या न कुल्यानां यथा सैन्यं विवर्धते। सैन्यवृद्धया तु ते घ्नन्ति स्वामिनं राज्यलोभतः ॥१॥

*. सूत्रमिदं मु० मू० पुस्तकतः संकलितं—

४. तथा च नारदः—वर्धनीयोऽपि दायादः पुत्रो वा भक्तिभाग्यदि। न विकारं करोतिस्म ज्ञात्वा साधुस्ततः परम् ॥१॥

विनियुञ्जीत उचितेषु कर्मसु ॥६२॥

अर्थ—पूर्व सूत्र में निर्दिष्ट भक्त व विश्वासपात्र कुटुम्बी या पुत्र को उनके योग्य पदों पर नियुक्त करना चाहिए ॥६२॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[1] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

सेवक का कर्त्तव्य—

भर्तुरादेशं न विकल्पयेत् ॥६३॥

अन्यत्र प्राणबाधाबहुजनविरोधपातकेभ्यः ॥६४॥

अर्थ—स्वामी की ऐसी आज्ञा के अतिरिक्त, जिसमें सेवक के प्राण संकट में पड़ जाँय, जिससे जनता वैर-विरोध करने तत्पर होजाय तथा जो पाप में प्रवृत्त करानेवाली हो, बाकी सभी प्रकार की आज्ञा के पालन करने में सेवक किसी प्रकार का सोच-विचार न करे ॥६३-६४॥

विशेषार्थ—गुरु[2] ने भी स्वामी की कठोरतम आज्ञा के पालन का निरूपण किया है।

बलिष्ठ दायादों (कुटुम्बियों) के वश में करने के उपाय—

बलवत्पक्षपरिग्रहेषु दायिष्वाप्तपुरुषपुरःसरो विश्वासो वशीकरणं गूढपुरुषनिक्षेपः प्रणिधिर्वा ॥६५॥

अर्थ—जब राजा के दायाद (सजातीय कुटुम्बीजन) तन्त्र अर्थात्—सैन्यबल और कोशशक्ति से बलिष्ठ होजाँय उस समय उनके वश करने का पहला उपाय यह है कि राजा अपने हितैषी प्रामाणिक आप्त पुरुषों को अग्रेसर बनाकर उनके द्वारा दायादों को अपने में विश्वास उत्पन्न करावे और दूसरा उपाय यह है कि उनके पास गुप्तचर भेजकर उनका रहस्य अवगत करते रहना चाहिए कि वे लोग राज्य के विनाश का कोई षड्यन्त्र तो नहीं कर रहे हैं? ॥६५॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] ने भी शक्तिशाली दायादों को अनुकूल करने के उक्त उपाय निर्दिष्ट किये हैं।

दुर्बोधे सुते दायादे वा सम्यग्युक्तिभिर्दुरभिनिवेशमवतारयेत् ॥६६॥

अर्थ—किसी दुराग्रह-पूर्ण कार्य करने तत्पर हुए पुत्र और दायाद को युक्तियों से समझा बुझाकर उसका दुराग्रह दूर करना चाहिए ॥६६॥

विशेषार्थ—रैभ्य[4] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

उपकारी सज्जनों के प्रति सद्व्यवहार—

साधुषूपचर्यमाणेषु विकृतिभजनं स्वहस्तादङ्गाराकर्षणमिव ॥६७॥

अर्थ—उपकारी साधु पुरुषों के प्रति दुर्व्यवहार करना अपने ही हाथों से आग का अङ्गारा खींचने के समान कष्टदायक है ॥६७॥

विशेषार्थ—भागुरि[5] ने भी उक्त विषय को इसीप्रकार कहा है।

१. तथा च वल्लभदेवः—स्थानेष्वेव नियोज्यन्ते भृत्या आभरणानि च। न हि चूड़ामणिः पादे प्रभवामीति बध्यते ॥१॥
२. तथा च गुरुः—स्वाम्यादिष्टस्तु यो भृत्यो न विकल्पपरो भवेत्। समुद्रतरणार्थाय प्रविशेद्वा हुताशनम् ॥१॥
३. तथा च शुक्रः—बलवत्पक्षदायादा आप्तद्वारेण वश्यगाः। भवन्ति चातिगुप्तैश्च चरैः सम्यग्विशोधिताः ॥१॥
४. तथा च रैभ्यः—पुत्रो वा बान्धवो वापि विरुद्धो जायते यदा। तदा सन्तोषयुक्तस्तु सत्कार्यो भूतिमिच्छता ॥१॥
५. तथा च भागुरिः—साधूनां विनयाढ्यानां विरुद्धानि करोति यः। स करोति न सन्देहः स्वहस्तेनाग्निकर्षणम् ॥१॥

सन्तान के शुभाशुभ का विचार—

क्षेत्रबीजयोर्वैकृत्यमपत्यानि विकारयति ॥६८॥

अर्थ—माता पिता की अकुलीनता उनके पुत्रों को विकृत अर्थात् नीच कुल का वना देती है एवं सन्तान के जघन्य आचरण से माता पिता की अकुलीनता जानी जाती है ॥६८॥

कुलविशुद्धिरुभयतः प्रीतिर्मनः प्रसादोऽनुपहतकालसमयश्च श्रीसरस्वत्यावाहनमन्त्रपूतपरमान्नोपयोगश्च पुरुषोत्तममवतारयन्ति ॥६९॥

अर्थ—दम्पति निम्नप्रकार कारण-सामग्री से उत्तम, कुलीन व भाग्यशाली पुत्र उत्पन्न करते हैं—माता पिता दोनों शुद्ध वंश के हों, अर्थात्—दम्पति के माता-पिता का वंश परम्परा से चली आनेवाली पिण्ड-शुद्धि से शुद्ध (सज्जाति) वंश होना चाहिए।

भगवज्जिनसेनाचार्य[1] ने भी कहा है कि—'वंशपरम्परा से चली आई पिता के वंश की शुद्धि 'कुल' और माता के वंश की शुद्धि 'जाति' है एवं दोनों (कुल व जाति) की शुद्धि को 'सज्जाति' कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जिन दम्पतियों के वीजवृक्ष-समान परम्परा से चले आये हुए वंश में समान गोत्र में विवाह-आदि द्वारा पिंड में अशुद्धि न हुई हो, किन्तु एक जाति में भिन्न गोत्रज कन्या के साथ विवाह संस्कार द्वारा प्रवाह रूप से चला आया हुआ वंश विशुद्ध हो, उसे 'सज्जाति' कहते हैं, उसकी प्राप्ति होने से कुलीन पुरुष को विना प्रयत्न किये प्राप्त होनेवाले सद्गुणों (शिक्षा व सदाचार-आदि) के साथ साथ मोक्ष प्राप्ति के कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय की प्राप्ति सुलभता से हो जाती है'। दम्पति में पारस्परिक प्रेम हो, मन में प्रसन्नता हो, चन्द्र-ग्रहण-आदि दोषरहित गर्भाधान वेला हो, लक्ष्मी और सरस्वती के सूक्तों से अभिमन्त्रित सात्विक अन्न का भोजन किया गया हो। उक्त कारणों से पुरुषोत्तम अवतार ग्रहण करते हैं ॥६९॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] ने भी पुरुषोत्तम के अवतार में उक्त कारण सामग्री का उल्लेख किया है।

गर्भशर्मजन्मकर्मापत्येषु देहलाभात्मलाभयोः कारणं परमम् ॥७०॥

अर्थ—गर्भ की दशा में माता के दिन सुख से व्यतीत हुए हों, वह रोग-ग्रस्त न हुई हो और वालक का जन्म शुभ ग्रहों में होजानेपर उसका जन्म संस्कार यथाविधि शास्त्रानुसार हुआ हो तो ये उक्त दो वातें वालक की शारीरिक शक्ति और आत्मशक्ति की प्राप्ति में उत्कृष्ट साधन हैं ॥७०॥

विशेषार्थ—गुरु[3] ने भी यही कहा है।

राज्य-प्राप्ति और दीक्षा-प्राप्ति के अनधिकारी—

स्वजातियोग्यसंस्कारहीनानां राज्ये प्रव्रज्यायां च नास्त्यधिकारः ॥७१॥

अर्थ—अपनी जाति के योग्य संस्कारों से हीन पुरुषों के लिए राज्य-प्राप्ति और मुनिदीक्षा धारण करने का अधिकार नहीं है ॥७१॥

१. तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—पितुरन्वयशुद्धिर्या तत्कुलं परिभाष्यते। मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिलप्यते ॥१॥
विशुद्धिरुभयस्यास्य सज्जातिरनुवर्णिता। यत्प्राप्तौ सुलभा वोधिरयत्नोपनतैर्गुणैः ॥२॥
आदिपुराण से संकलित—

२. तथा च शुक्रः—बीजयोनी तथाहारौ यस्य नो विकृतिर्भवेत्। तथा मैथुनसम्पर्कः श्रेष्ठः संजायते पुमान् ॥१॥

३. तथा च गुरुः—गर्भस्थानमपत्यानां यदि सौख्यं प्रजायते। तद्वृद्धि शुभो देहो जीवितव्यं च जन्मनि ॥१॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

राज्याधिकार प्राप्ति के योग्य व्यक्ति—

असति योग्येऽन्यस्मिन्नङ्गविहीनोऽपि पितृपदमर्हत्यापुत्रोत्पत्तेः ॥७२॥

अर्थ—राजा के काल-कवलित होजाने पर और दूसरा कोई योग्य राज्याधिकारी न होनेपर राजा का अङ्गविहीन पुत्र भी पिता के पद का अधिकारी तब तक के लिए होता है जब तक कि उस अङ्गहीन को पुत्र उत्पन्न न हो जाय ॥७२॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] ने भी उक्त विषय का इसीप्रकार निरूपण किया है।

राजपुत्रों के लिए विनयशील होने की नैतिक शिक्षा—

साधुसम्पादितो हि राजपुत्राणां विनयोऽन्वयमभ्युदयं न च दूषयति ॥७३॥

अर्थ—जिन राजकुमारों के लिए शिष्ट पुरुषों द्वारा विनय और सदाचार की शिक्षा दी गई है, उनका वंश और वृद्धिगत राज्य दूषित नहीं होता। अर्थात्—वंश गौरवशाली और राज्य वैभवशाली होता है ॥७३॥

विशेषार्थ—बादरायण[3] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

घुणजग्धं काष्ठमिवाविनीतं राजपुत्रं राजकुलमभियुक्तमात्रं भज्येत् ॥७४॥

अर्थ—जिसप्रकार घुण-कीड़ों-से खाई हुई लकड़ी नष्ट हो जाती है उसीप्रकार दुराचारी उद्दण्ड राजकुमार के राज्य-भार ग्रहण करते ही राज्य नष्ट हो जाता है। इसलिए दुराचारी व उद्दण्ड व्यक्ति के लिए राज्य-भार नहीं देना चाहिए ॥७४॥

विशेषार्थ—भागुरि[4] ने भी दुराचारी राजपुत्र को राज्यपद पर नियुक्त करने का निषेध किया है।

विनीत राजपुत्रों से लाभ—

आप्तविद्यावृद्धोपरुद्धाः सुखोपरुद्धाश्च राजपुत्राः पितरौ नाभिद्रुह्यन्ति ॥७५॥

अर्थ—जो राजकुमार, आप्त पुरुषों और विद्या वृद्ध (कुलगुरुओं) द्वारा विनय और सदाचार की नैतिक शिक्षा से सुसंस्कृत और वृद्धिगत किये गये हैं और जिनका लालन-पालन सुख पूर्वक किया गया है, वे कभी भी अपने माता-पिता से द्रोह नहीं करते, अर्थात्—उनका अनिष्ट चिंतवन नहीं करते ॥७५॥

विशेषार्थ—गौतम[5] ने भी उक्त विषय को इसीप्रकार कहा है।

राजपुत्र का कर्तव्य—

मातापितरौ राजपुत्राणां परमं दैवम् ॥७६॥

अर्थ—उत्तम माता-पिता का मिलना राजकुमारों के उत्तम भाग्य का द्योतक है। अर्थात्—यदि उन्होंने पूर्वजन्म में पुण्य-संचय किया है तो वे माता-पिता से राज्यश्री प्राप्त करते हैं, अन्यथा नहीं ॥७६॥

---

१. तथा च शुक्रः—स्वजातियोग्यसंस्कारैर्ये नराः परिवर्जिताः। अधिकारो न राज्येषु न च तेषां व्रतेषु च ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—राजाऽभावे तु संजाते योग्यः पुत्रो न चेद्भवेत्। तदा व्यंगोऽपि संस्थाप्यो यावत्पुत्रसमुद्भवः ॥१॥

३. तथा च बादरायणः—विनयः साधुभिर्दत्तो राजन्यानां भवेद्धि यः। न दूषयति वंशं तु न राज्यं न च सम्पदम् ॥१॥

४. तथा च भागुरिः—राजपुत्रो दुराचारो यदि राज्ये नियोजितः। तद्राज्यं नाशमायाति घुणजग्धं च दारुवत् ॥१॥

५. तथा च गौतमः—आप्तैर्विद्याधिकैर्येऽत्र राजपुत्राः सुरक्षिताः। वृद्धिं गताश्च सौख्येन जनकं न द्रुह्यन्ति ते ॥१॥

विशेषार्थ—गर्ग[1] के उद्धरण में भी उक्त विषय का निरूपण है।

यत्प्रसादादात्मलाभो राज्यलाभश्च ॥७७॥

अर्थ—माता-पिता के प्रसाद (कृपा) से ही राजकुमारों को अपना शरीर मिलता है और राज्य-प्राप्ति होती है ॥७७॥

विशेषार्थ—रैभ्य[2] के उद्धरण में भी उक्त विषय का निरूपण है।

मातृपितृभ्यां मनसाप्यपमानेष्वभिमुखा अपि श्रियो विमुखा भवन्ति ॥७८॥

अर्थ—माता पिता का मन से भी अपमान करने पर आती हुई भी लक्ष्मी विमुख हो जाती है ॥७८॥

विशेषार्थ—वादरायण[3] का उद्धरण भी उक्त विषय में समानार्थक है।

किं तेन राज्येन यत्र दुरपवादोपहतं जन्म ॥७९॥

अर्थ—उस निरर्थक राज्य से क्या लाभ ? जो कि लोक-निन्दा से दूषित हो ॥७९॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] ने भी लोक-निन्द्य राज्य को निरर्थक बताया है।

क्वचिदपि कर्मणि पितुराज्ञां नो लंघयेत् ॥८०॥

अर्थ—राजकुमार किसी भी कार्य में पिता की आज्ञा का उल्लङ्घन न करे ॥८०॥

लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त—

किन्तु खलु रामः क्रमेण विक्रमेण वा हीनो यः पितुराज्ञया वनमाविवेश ॥८१॥

अर्थ—निस्सन्देह क्या महात्मा रामचन्द्र क्रम अर्थात्—राजनैतिक ज्ञान, लोकव्यवहार-पटुता या अधिकारी क्रम तथा पराक्रम (शूरवीरता) से हीन थे ? जिन्होंने अपने पिता की आज्ञानुसार वनवास के लिए प्रस्थान किया। सारांश यह है कि लोक में वह राजपुत्र अपनी पैतृक राजगद्दी का अधिकारी नहीं समझा जाता, जो कि क्रम (राजनैतिक ज्ञान, सदाचार व लोकव्यवहार-पटुता) से एवं शूरवीरता से हीन हो अथवा ज्येष्ठ न हो। परन्तु राजा दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र महात्मा रामचन्द्र में उक्त सभी गुण थे, तो भी उन्होंने अपने पिता की कठोरतम आज्ञा का पालन कर १४ वर्ष तक वनवास के कष्ट सहें ॥८१॥

यः खलु पुत्रो मनसितपरम्परया लभ्यते स कथमपकर्तव्यः ॥८२॥

अर्थ—निस्सन्देह जो पुत्र देवताओं से प्रार्थना-आदि करके प्राप्त किया जाता है, उसका अपकार किस प्रकार किया जा सकता है ? अर्थात् माता-पिता उसका अनिष्ट कैसे चिन्तवन कर सकते हैं ? ॥८२॥

विशेषार्थ—गुरु[5] ने भी दुर्लभ पुत्र के विषय में इसी प्रकार कहा है।

अशुभ कर्म करने का निषेध—

कर्तव्यमेवाशुभं कर्म यदि हन्यमानस्य विपद्विधानमात्मनो न भवेत् ॥८३॥

---

१. तथा च गर्गः—जननीजनकावेतौ प्राक्तनं कर्म विश्रुतौ। सर्वेषां राजपुत्राणां शुभाशुभप्रदौ हि तौ ॥१॥

२. तथा च रैभ्यः—अत एव हि विज्ञेयौ जननीजनकावुभौ। देवं याभ्यां प्रसादेन शरीरं राज्यमाप्यते ॥१॥

३. तथा च बादरायणः—मनसाप्यपमानं यो राजपुत्रः समाचरेत्। सदा मातृपितृभ्यां च तस्य श्रीः स्यात् पराङ्मुखाः ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—जनापवादसहितं यद्राज्यमिह कीर्त्यते। प्रभूतमपि तन्मिथ्या तत्पापाय राजसंस्थिते ॥१॥

५. तथा च गुरुः—उपयाचितसंघातैर्यः कृच्छ्रेण प्रलभ्यते। तस्मादात्मजस्य नो पापं चिन्तनीयं कथंचन ॥१॥

अर्थ—किसी का वध-आदि अशुभ कर्म भी राजा राष्ट्र की कल्याण-दृष्टि से कर सकता है, यदि बाद में वही आपत्ति अपने ऊपर भी न आने की संभावना हो।

भावार्थ—जब निस्सन्देह निरपराध घात किये जा रहे प्राणी के वध-बन्धनादि के दुःख स्वयं हिंसक को भोगने पड़ते हैं तब क्या बुद्धिमान् पुरुषों को ऐसा अनिष्ट (खोटा) कर्म करना चाहिए ? ॥८३॥

विशेषार्थ—गर्ग[1] ने भी उक्त विषय को इसी प्रकार कहा है।

ते खलु राजपुत्राः सुखिनो येषां पितरि राज्यभारः ॥८४॥

अर्थ—निश्चय से वे राजपुत्र सुखी हैं, जिनके पिता के ऊपर राज्य का भार है ॥८४॥

विशेषार्थ—अत्रि[2] ने भी उक्त प्रकार के राजपुत्रों को सुखी बताया है।

अलं तया श्रिया या किमपि सुखं जनयन्ती व्यासङ्गपरम्पराभिः शतशो दुःखमनुभावयति ॥८५॥

अर्थ—उस राज्यश्री से क्या लाभ ? जो राजा को स्वल्प सुखी करने के उपरान्त अनेक चिन्ताओं से सैकड़ों कष्ट उत्पन्न करा देती है ॥८५॥

विशेषार्थ—कौशिक[3] ने भी राज्यश्री के विषय में इसी प्रकार कहा है।

निष्फलो ह्यारम्भः कस्य नामोदर्केण सुखावहः ॥८६॥

अर्थ—बिना प्रयोजन किसी कार्य को प्रारम्भ करने से किसी को भी परिणाम में सुख-प्राप्त नहीं होता ॥८६॥

परक्षेत्रं स्वयं कृषतः कर्षापयतो वा फलं पुनस्तस्यैव यस्य तत्क्षेत्रम् ॥८७॥

अर्थ—जो मानव दूसरे का खेत स्वयं जोतता है या अन्य किसी से जुतवाता है उसका परिश्रम व्यर्थ है, क्योंकि फल का भागी तो वही होगा, जिसका वह खेत है ॥८७॥

विशेषार्थ—कौशिक[4] ने भी निष्फल कार्य के विषय में यही कहा है।

राज्य के क्रमानुसार उत्तराधिकारी—

सुतसोदरसपत्नपितृव्यकुल्यदौहित्रागन्तुकेषु पूर्वपूर्वाभावे भवत्युत्तरस्य राज्यपदावाप्तिः ॥८८॥

अर्थ—राजपुत्र, राजा का सहोदर भाई, सौतेला सम्बन्धी अर्थात्—पट्टरानी को छोड़कर दूसरी रानी का पुत्र, राजा का चाचा, अपने कुल का कोई व्यक्ति, नाती (लड़की का लड़का), बाहर से आकर राजा के पास रहनेवाला दत्तक पुत्र-आदि इन सात व्यक्तियों में से क्रमशः पूर्व पूर्व का अभाव होने पर उत्तर के व्यक्ति को राज्य पद प्राप्त होता है।

अर्थात्—उक्त सात व्यक्तियों में से सबसे पहिले राजपुत्र को और उसके न रहने पर राजा के सहोदर भ्राता को क्रमशः राजा बनाना चाहिए ॥८८॥

विशेषार्थ—शुक्र[5] ने भी राजा के उत्तराधिकारियों के विषय में यही कहा है।

जो व्यक्ति दुष्कर्म कर चुका हो, या कर रहा हो, अथवा भविष्य में दुष्कर्म करनेवाला हो उसमें निम्न लक्षण पाये जाते हैं—

---

१. तथा च गर्गः—अनिष्टमपि कर्त्तव्यं कर्म पुंभिर्विचक्षणैः। तस्य चेद्धन्यमानस्य यज्जातं तत् स्वयं भवेत् ॥१॥

२. तथा च अत्रिः—येषां पिता वहेदत्र राज्यभारं सुदुर्वहम्। राजपुत्राः सुखाढ्याश्च ते भवन्ति सदैव हि ॥१॥

३. तथा च कौशिकः—अल्पसौख्यकरा या च बहुक्लेशप्रदा भवेत्। वृथा सात्र परिज्ञेया लक्ष्म्याः सौख्यफलं यतः ॥१॥

४. तथा च कौशिकः—परक्षेत्रे तु यो बीजं परिक्षिपति मन्दधीः। परिक्षेपयतो वापि तत्फलं क्षेत्रपस्य हि ॥१॥

५. तथा च शुक्रः—सुतः सोदरसापत्नपितृव्या गोत्रिणस्तथा। दौहित्रागन्तुका योग्या पदे राज्ञो यथाक्रमम् ॥१॥

शुष्कश्याममुखता वाक्स्तम्भः स्वेदो विजृम्भणमतिमात्रं वेपथुः प्रस्खलनमास्यप्रेक्षणमावेगः कर्मणि भूमौ वाऽनवस्थानमिति दुष्कृतं कृतवतः कुर्वतः करिष्यतो वा लिङ्गानि ।।८९।।

अर्थ—जो व्यक्ति पूर्व में दुष्कर्म (अपराध) कर चुका हो, या वर्तमान में कर रहा हो या भविष्य में अपराध करेगा उसके निम्न प्रकार लक्षण देखकर न्यायाधीशों को उसे अपराधी निश्चय करना चाहिए—जिसका मुख सूखा और म्लान दिखाई देवे, जिसकी वाणी अवरुद्ध हो—जिसके मुख से स्पष्ट वचन न निकलते हों, अर्थात्—न्यायालय में प्रश्न पूँछे जाने पर जो उत्तर देने में असमर्थ हो, जिसे लोगों के समक्ष पसीना आता हो, जो बार-बार जँभाई लेता हो, जो अत्यन्त काँप रहा हो, जो लड़खड़ाते पैरों से चलता हो, जो दूसरों के मुखों की ओर बार बार देखता हो, जो काम में घबड़ाहट और शीघ्रता करता हो और जो स्थिरता से जमीन पर या एक स्थान पर न बैठता हो ।।८९।।

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी अपराधी के चार लक्षणों का उल्लेख किया है।

इति राजरक्षासमुद्देशः ।

२५. दिवसानुष्ठान-समुद्देशः

इस समुद्देश में आचार्यश्री ने मानव-जीवन को सुखप्रद व मनोज्ञ बनानेवाली दिनचर्या का विस्तृत निरूपण किया है, अतः यह समुद्देश विशेष महत्वपूर्ण है—

प्रातःकालीन कर्तव्य—

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थायेति कर्तव्यतायां समाधिमुपेयात् ।।१।।

अर्थ—प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में उठकर एकाग्रचित्त से अपने कर्तव्य का चिन्तवन करना चाहिए ।।१।।

यथेष्ट निद्रा का फल—

सुखनिद्राप्रसन्ने हि मनसि प्रतिफलन्ति यथार्थग्राहिका बुद्धयः ।।२।।

अर्थ—जिस व्यक्ति का चित्त सुखपूर्वक यथेष्ट निद्रा लेने से प्रसन्न रहता है उसमें यथार्थ वस्तु को ग्रहण करने वाली बुद्धियाँ प्रतिबिम्बित हो जातीं हैं ।।२।।

अतिनिद्रा का कुफल—

उदयास्तमनशायिषु धर्मकालातिक्रमः ।।३।।

अर्थ—सूर्योदय और सूर्यास्त के समय शयन करनेवालों का धार्मिक अनुष्ठान का समय निकल जाता है ।।३।।

प्रातःकालीन माङ्गलिक कर्तव्य—

आत्मवक्त्रमाज्ये दर्पणे वा निरीक्षेत ।।४।।

अर्थ—प्रातःकाल उठकर अपना मुख घृत में अथवा दर्पण में देखना चाहिए ।।४।।

---

१. तथा च शुक्रः—आयाति स्खलितैः पादैः सभायां पापकर्मकृत् । प्रस्वेदनेन संयुक्तो [अधोदृष्टिर्विजृम्भणः] ।।१।।
संशोधितः परिवर्तितश्च—सम्पादकः

प्रभात की वेला में अदर्शनीय—

न प्रातर्वर्षवरं विकलाङ्गं वा पश्येत् ॥५॥

अर्थ—मनुष्य, प्रातःकाल नपुंसक और अङ्गहीन का दर्शन न करे ॥५॥

जप का महत्व—

***सन्ध्यासु धौतमुखं जप्त्वा देवताऽनुगृह्णाति ॥६॥**

अर्थ—सूर्योदय और सूर्यास्त की सन्धि वेला में मुख शुद्ध करके जप करनेवाले व्यक्ति का ऋषभ-आदि तीर्थङ्कर भगवान् अनुग्रह करते हैं। पाठान्तर का अर्थ है—उक्त सन्धिवेला में जिसका मुख व पाद प्रक्षालित नहीं होते, उसपर महान् देवता अनुग्रह नहीं करते ॥६॥

दन्त-धावन—

नित्यमदन्तधावनस्य नास्ति मुखशुद्धिः ॥७॥

अर्थ—जो पुरुष सदा दाँतोन नहीं करता उसकी मुख-शुद्धि नहीं हो पाती। अर्थात्—उसका मुख स्वच्छ न होने से दुर्गन्ध आता है ॥७॥

शारीरिक क्रियाओं को न रोकना—

न कार्यव्यासङ्गेन शारीरं कर्मोपहन्यात् ॥८॥

अर्थ—मनुष्य को किसी कार्य में आसक्त होकर शारीरिक क्रियाओं अर्थात् मल-मूत्रादि का यथा समय क्षेपण-आदि-को न रोकना चाहिए ॥८॥

समुद्र में स्नान का निषेध—

न खलु युगैरपि तरङ्गविगमात् सागरे स्नानम् ॥९॥

अर्थ—मनुष्य को कदापि समुद्र में स्नान नहीं करना चाहिए, चाहे समुद्र की तरङ्गों का उठना युग युग से भी बन्द हो गया हो ॥९॥

मल-मूत्रादि का परित्याग व व्यायाम-आदि नियत समय पर करना चाहिए—

वेग-व्यायाम-स्वाप-स्नान-भोजन-स्वच्छन्दवृत्तिं कालान्नोपरुन्ध्यात् ॥१०॥

अर्थ—शारीरिक स्वास्थ्य के इच्छुक व्यक्ति को, मल-मूत्रादि के परित्याग का वेग, व्यायाम, शयन, स्नान, भोजन और ताजी हवा में घूमना-आदि की यथासमय प्रवृत्ति नहीं रोकनी चाहिए। अर्थात्—उक्त कार्यों के नियत समय का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए ॥१०॥

मल-मूत्रादि के वेग को रोकने का दुष्परिणाम—

शुक्रमलमूत्रमरुद्वेगसंरोधोऽश्मरीभगन्दर-गुल्मार्शसां हेतुः ॥११॥

अर्थ—जो व्यक्ति अपने वीर्य, मल, मूत्र और अपान वायु के वेगों को रोकता है, उसे पथरी, भगन्दर, गुल्म और बवासीर-आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥११॥

विशेषार्थ—चरक[1] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

---

*. सूत्रमिदं मु० मू० पुस्तकतः संकलितं सं० टी० पुस्तके तु 'संध्यास्वधौतमुखपादं ज्येष्ठा देवता नानुगृह्णाति'—सम्पादकः

१. तथा च चरकः—न वेगान्धारयेद्धीमाञ्जातान् मूत्रपुरीषयोः। न रेतसो न वातस्य न छर्द्याः क्षवथोर्न च ॥१॥
नोद्गारस्य न जृम्भायाः न वेगान् क्षुत्पिपासयोः। न वाष्पस्य न निद्रायाः निःश्वासस्य श्रमेण च ॥२॥

शरीर की गन्ध-लेप को छुड़ाने का उपाय—

गन्धलेपावसानं शौचमाचरेत् ॥१२॥

अर्थ—शारीरिक अङ्गोपाङ्गों में लगाई हुई-किसी वस्तु की सुगन्धि और लेप जब तक छूट न जाय तब तक उसकी शुद्धि अर्थात्—जल से धोने-आदि को क्रिया करनी चाहिए ॥१२॥

कुल्ला करने का विधान—

बहिरागतो नानाचाम्य गृहं प्रविशेत् ॥१३॥

अर्थ—बाहर से घूम-घामकर आये हुए व्यक्ति को कुल्ला किये विना अपने गृह में प्रवेश नहीं करना चाहिए ॥१३॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत आचार्यप्रवर[1] ने 'यशस्तिलक चम्पू' में भी उक्त विषय का उल्लेख किया है।

यहाँ से ६ सूत्रों में व्यायाम की विशेषता—

गोसर्गे व्यायामो रसायनमन्यत्र क्षीणाजीर्णवृद्धवातकिरूक्षभोजिभ्यः ॥१४॥

अर्थ—जिनका शरीर रोगादि के कारण क्षीण हो गया हो, जो अजीर्ण रोगी हों, जो शरीर से वृद्ध हों, जो लकुवा-आदि वातरोग से पीड़ित हों, जिन्हें रूखा-सूखा भोजन मिलता हो, उन्हें छोड़कर दूसरे स्वस्थ नवयुवकों के लिए प्रातःकाल जब कि गाएँ जंगल में चरने के लिए खोलीं जातीं हे अर्थात्—गोधूलि की वेला में व्यायाम करना रसायन के सेवन-सरीखा महान् गुणकारी होता है ॥१४॥

विशेषार्थ—चरक[2] ने भी व्यायाम के विषय में उक्त उल्लेख किया है।

शरीरायासजननी क्रिया व्यायामः ॥१५॥

अर्थ—शरीर में परिश्रम उत्पन्न करनेवाली क्रिया (दण्ड, बैठक व ड्रिल-आदि) को व्यायाम कहते हैं ॥१५॥

विशेषार्थ—आयुर्वेदकार चरक[3] ने भी कहा है कि 'शरीर को स्थिर रखनेवाली, शक्तिवर्द्धिनी और मन को प्रिय प्रतीत होनेवाली शस्त्र-संचालनादि शारीरिक क्रिया को व्यायाम कहते हैं, उसे उचित मात्रा में करना चाहिए।

शस्त्रवाहनाभ्यासेन व्यायामं सफलयेत् ॥१६॥

अर्थ—तलवार-आदि शस्त्रों के संचालन द्वारा और हाथी और घोड़े-आदि की सवारी के अभ्यास से व्यायाम को सफल बनाना चाहिए ॥१६॥

आदेहस्वेदं व्यायामकालमुशन्त्याचार्याः ॥१७॥

अर्थ—आयुर्वेद के विद्वान् आचार्यों ने व्यायाम करने की अवधि शरीर में पसीना निकलने तक कही है ॥१७॥

बलातिक्रमेण व्यायामः कां नाम नापदं जनयति ॥१८॥

अर्थ—जो मानव शारीरिक शक्ति को उल्लङ्घन कर अधिक मात्रा में व्यायाम करता है उसे कौन-कौन सी शारीरिक व्याधियाँ नहीं होतीं ? ॥१८॥

१. तथा च श्रीमत्सोमदेवसूरिः—वहिर्विहृत्य संप्राप्तो नानाचाम्य गृहं विशेत् ॥१॥ यश० चं० उ० आ० ८ श्लोक १३।

२. तथा च चरकः—बालवृद्धप्रवातारच ये चोच्चैर्बहुभाषकाः। ते वर्जयेयुर्व्यायामं क्षुधिता स्तृषिताश्च ये।

३. तथा च चरकः—शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्द्धिनी। देहव्यायामसंख्याता मात्रया तां समाचरेत् ॥१॥

विशेषार्थ—चरक[1] ने भी प्रचुर मात्रा में व्यायाम करने से अनेक रोग उत्पन्न होने का उल्लेख किया है।

अव्यायामशीलेषु कुतोऽग्निदीपनमुत्साहो देहदार्ढ्यं च ॥१९॥

अर्थ—जिनका व्यायाम करने का स्वभाव नहीं है, उनकी जठराग्नि किसप्रकार दीप्त रह सकती है ? और उनको उत्साह तथा शारीरिक पुष्टता भी कैसे प्राप्त हो सकती है ? ॥१९॥

विशेषार्थ—चरक[2] ने भी व्यायाम करने से शारीरिक लघुता व कर्तव्य करने में उत्साह-आदि का उल्लेख किया है।

यहाँ से ३ सूत्रों में शयन की परिभाषा और लाभ—

इन्द्रियात्ममनोमरुतां सूक्ष्मावस्था स्वापः ॥२०॥

अर्थ—स्पर्शन-आदि इन्द्रियाँ, आत्मा, मन और प्राणवायु की सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त होजाना शयन है ॥२०॥

यथासात्म्यं स्वपाद्भुक्तान्नपाको भवति प्रसीदन्ति चेन्द्रियाणि ॥२१॥

अर्थ—प्रकृति के अनुकूल यथेष्ट निद्रा लेने से खाये हुए भोजन का परिपाक होजाता है और समस्त इन्द्रियाँ प्रसन्न हो जाती हैं ॥२१॥

अघटितमपिहितं च भाजनं न साधयत्यन्नानि ॥२२॥

अर्थ—जिसप्रकार टूटा और बिना ढका हुआ बर्तन अन्न पकाने में समर्थ नहीं होता उसीप्रकार श्रम से थका हुआ शरीर भी यथेष्ट निद्रा के अभाव में खाये हुए भोजन को पकाने में समर्थ नहीं होता ॥२२॥

स्वास्थ्यरक्षक चार कर्तव्य—

प्रथमं नित्यस्नानं, द्वितीयकमुत्सादनं, तृतीयकमायुष्यं चतुर्थकं प्रत्यायुष्यमित्यहीनं सेवेत ॥२३॥

अर्थ—प्रथम नित्य स्नान, द्वितीय स्निग्ध पदार्थों से उवटन करना, तृतीय आयुरक्षक प्रकृति और ऋतु के अनुकूल सात्विक पौष्टिक आहार का ग्रहण और चतुर्थ मल-मूत्रादि का वेग न रोकना अर्थात्—मल-मूत्रादि का समय से विसर्जन में नागा नहीं करना ॥२३॥

यहाँ से लेकर पाँच सूत्रों में स्नान का उद्देश्य, फल व स्नानविधि-आदि—

धर्मार्थकामशुद्धिदुर्जनस्पर्शाः स्नानस्य कारणानि ॥२४॥

अर्थ—धार्मिक कर्तव्यों का अनुष्ठान, उत्साहपूर्वक धनोपार्जन, प्रसन्नतापूर्वक कामपुरुषार्थ में प्रवृत्ति, शरीर शुद्धि और दुर्जनों के स्पर्श से उत्पन्न हुए दोषों को दूर करना, इन कारणों से स्नान किया जाता है ॥२४॥

श्रमस्वेदालस्यविगमः स्नानस्य फलम् ॥२५॥

अर्थ—शरीर की थकावट, पसीना और आलस्य का दूर हो जाना स्नान का फल है ॥२५॥

जलचरस्येव तत्स्नानं यत्र न सन्ति देवगुरुधर्मोपासनानि ॥२६॥

अर्थ—जो व्यक्ति देव, गुरु और धर्म की उपासना के उद्देश्य से स्नान नहीं करता, उसका स्नान मत्स्य, मगर-आदि जलचर जीवों के स्नान की तरह व्यर्थ है ॥२६॥

---

१. तथा च चरकः—श्रमः क्लमः क्षयस्तृष्णा रक्तपित्तं प्रतामकः। अतिव्यायामतः कासो ज्वरश्छर्दिश्च जायते ॥१॥

२. तथा च चरकः—लाघवं कर्मसामर्थ्यं स्थैर्यं दुःखसहिष्णुता। दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते ॥१॥

प्रादुर्भवत्क्षुत्पिपासोऽभ्यङ्गस्नानं कुर्यात् ॥२७॥

अर्थ—जब भूँख और प्यास प्रतीत हो तब मनुष्य को समस्त अङ्गोंपाङ्गों में तैल की मालिश करने के उपरान्त स्नान करना चाहिए ॥२७॥

आतपसंतप्तस्य जलावगाहो दृङ्मान्द्यं शिरोव्यथां च जनयति ॥२८॥

अर्थ—सूर्य की गर्मी से संतप्त व्यक्ति यदि तत्काल विना विश्राम किये ही स्नान करता है तो उसकी दृष्टि मन्द पड़ जाती है और शिर में पीड़ा हो जाती है ॥२८॥

यहाँ से लेकर २२ सूत्रों में आहार संबंधी स्वास्थ्योपयोगी सिद्धान्त—

बुभुक्षाकालो भोजनकालः ॥२९॥

अर्थ—भूँख लगने का समय ही भोजन का समय है। सारांश यह है कि विवेकी पुरुष अहिंसाधर्म की रक्षार्थ रात्रि भोजन का त्याग करके दिन में भूँख लगने पर प्रकृति और ऋतु के अनुकूल भोजन करे ॥२९॥

विशेषार्थ—यशस्तिलक में आचार्यप्रवर[1] ने लिखा है कि 'जो चकोर पक्षी सरीखा रात्रि में कामसेवन करता है उसे दिन में भोजन करना चाहिए'।

अक्षुधितेनामृतमप्युपभुक्तञ्च भवति विषम् ॥३०॥

अर्थ—विना भूँख के खाया हुआ अमृत भी विष हो जाता है ॥३०॥

विशेषार्थ—प्रस्तुत आचार्य श्री[2] ने यशस्तिलक में कहा है 'विना भूँख के भोजन करनेवाला व्यक्ति अनेक व्याधिरूपी सर्पों को जगानेवाला होता है'।

जठराग्निं वज्राग्निं कुर्वन्नाहारादौ सदैव वज्रकं वलयेत् ॥३१॥

अर्थ—जो मानव अपनी जठराग्नि को वज्राग्नि अर्थात्—कठोर से कठोर वस्तु को पचानेवाली करना चाहे उसे सदा भोजन से पूर्व मुद्गर-आदि घुमाना चाहिए ॥३१॥

निरन्नस्य सर्वं द्रवद्रव्यमग्निं नाशयति ॥३२॥

अर्थ—भोजन के समय विना अन्न के केवल घी-दूध-आदि तरल पदार्थ पीने से जठराग्नि नष्ट हो जाती है ॥३२॥

अतिश्रमपिपासोपशान्तौ पेयायाः परं कारणमस्ति ॥३३॥

अर्थ—विशेष परिश्रम करने के पश्चात् वारम्वार उत्पन्न हुई प्यास की शान्ति के लिए दुग्धपान उत्तम साधन है ॥३३॥

घृताधरोत्तरं भुञ्जानोऽग्निं दृष्टिं च लभते ॥३४॥

अर्थ—घृत-पान के पश्चात् भोजन करने से मनुष्य की जठराग्नि प्रदीप्त होती है और नेत्र की ज्योति बढ़ती है ॥३४॥

सकृद्भूरि नीरोपयोगो वह्निमवसादयति ॥३५॥

अर्थ—जो एकवार में अत्यधिक पानी पीता है उसकी जठराग्नि मन्द पड़ जाती है ॥३५॥

---

१. तथा च सोमदेवसूरिः—स भोक्ता वासरे यश्च रात्रौ रन्ता चकोरवत्। यश० आ० ३ श्लोक ३३१ का उत्तरार्द्ध।

२. तथा च सोमदेवसूरिः—योऽक्षुध्यल्लोलभावेन कुर्यादाकण्ठभोजनम्। सुप्तान्व्यालानिव व्याधीन् सोऽनर्थाय प्रवोधयेत् ॥१॥

—यश० चं० पूर्वार्द्ध आ० ३ श्लोक ३३०।

भुक्कालातिक्रमादन्नद्वेषो देहसादश्च भवति ॥३६॥

अर्थ—भूँख का समय उल्लङ्घन करने से अन्न में अरुचि और शरीर में शिथिलता आती है ॥३६॥

विध्याते वह्नौ किं नामेन्धनं कुर्यात् ॥३७॥

अर्थ—जिसप्रकार अग्नि के बुझ जानेपर उसमें ईंधन डालना व्यर्थ है उसीप्रकार भूँख के समय भोजन न करने से जठराग्नि के बुझ जानेपर भोजन करने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि वह पचेगा ही नहीं ॥३७॥

यो मितं भुङ्क्ते स बहु भुङ्क्ते ॥३८॥

अर्थ—जो थोड़ा खाता है वह बहुत खाता है, अर्थात्—जठराग्नि के अनुसार स्वल्प भोजन सदा हितकारक है और दीर्घायुवाला होता है ॥३८॥

अप्रमितमसुखं विरुद्धमपरीक्षितमसाधुपाकमतीतरसमकालं चान्नं नानुभवेत् ॥३९॥

अर्थ—जो जठराग्नि से अधिक हो, अहितकर, अपनी प्रकृति के प्रतिकूल, विना परीक्षा किया हुआ, भलीभाँति परिपाक न होनेवाला, रसहीन और भूँख का समय उल्लंघन करके किया हुआ ऐसा भोजन नहीं करना चाहिए ॥३९॥

फल्गुभुजमननुकूलं क्षुधितमतिक्रूरं च न भुक्तिसमये सन्निधापयेत् ॥४०॥

अर्थ—भोजन के समय तुच्छ वस्तु खानेवाला कुत्ता और सुअर-आदि, अपने प्रतिकूल व्यक्ति अर्थात् अपने से शत्रुता रखनेवाला, भूखा और अत्यन्त क्रूर व्यक्ति को अपने समीप न बैठावे ॥४०॥

गृहीतग्रासेषु सहभोजिष्वात्मनः परिवेषयेत् ॥४१॥

अर्थ—साथ बैठकर भोजन करनेवाले जब भोजन का ग्रास उठा लेवें तब अपने लिए थाली में भोजन स्थापित करे अर्थात्—परसे। सारांश यह है कि जब कुछ सज्जनों को अपने गृह पर साथ में भोजन करने के लिए आमन्त्रित करे तब शिष्टाचार की दृष्टि से यह उचित है कि अभ्यागत सज्जन जब भोजन प्रारम्भ कर दें तब स्वयं भोजन करना प्रारम्भ करे ॥४१॥

तथा भुञ्जीत यथासायमन्येद्युश्च न विपद्येत वह्निः ॥४२॥

अर्थ—मनुष्य उसप्रकार अपनी जठराग्नि की शक्ति के अनुसार भोजन करे, जिससे उसकी जठराग्नि शाम को या दूसरे दिन मन्द न होने पावे। अर्थात्—इतना अधिक भोजन न करे कि शाम को अथवा दूसरे दिन भूँख ही न लगे ॥४२॥

न भुक्तिपरिमाणे सिद्धान्तोऽस्ति ॥४३॥

अर्थ—भोजन की मात्रा (परिमाण) के विषय में कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है, अर्थात्—प्रत्येक व्यक्ति कितना भोजन करे, इसका कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है ॥४३॥

वह्न्यभिलाषायत्तं हि भोजनम् ॥४४॥

अर्थ—निस्सन्देह भोजन जठराग्नि की अभिलाषा के अधीन है। अर्थात्—मनुष्य जठराग्नि की उत्कृष्ट, मध्यम व अल्प शक्ति के अनुकूल उत्कृष्ट, मध्यम और अल्प भोजन करे ॥४४॥

विशेषार्थ—चरक संहिता में भी आहार की मात्रा के विषय में लिखा है कि 'आहारमात्रा पुनरग्नि-

वलापेक्षिणी' अर्थात्—आहार की मात्रा मनुष्य की जठराग्नि की उत्कृष्ट, मध्यम व अल्प शक्ति की अपेक्षा करती है अतः जठराग्नि की शक्ति के अनुसार आहार करना चाहिए।

अतिमात्रभोजी देहमग्निं च विधुरयति ॥४५॥

अर्थ—अधिक मात्रा में भोजन करनेवाला व्यक्ति अपना शरीर और जठराग्नि को क्षीण कर देता है ॥४५॥

दीप्तो वह्निर्लघुभोजनाद्बलं क्षपयति ॥४६॥

अर्थ—प्रदीप्त हुई जठराग्नि भूँख से थोड़ा भोजन करने के कारण शारीरिक शक्ति नष्ट कर देती है ॥४६॥

अत्यशितुर्दुःखेनान्नपरिणामः ॥४७॥

अर्थ—भूँख से अधिक खानेवाले व्यक्ति के अन्न का परिपाक बड़ी कठिनाई से होता है ॥४७॥

श्रमार्तस्य पानं भोजनं च ज्वराय छर्दये वा ॥४८॥

अर्थ—परिश्रम से पीड़ित व्यक्ति द्वारा विना विश्राम किये तत्काल पिया हुआ जल और भक्षण किया हुआ भोजन ज्वर या वमन पैदा कर देता है ॥४८॥

न जिहत्सुर्न प्रस्रोतुमिच्छुर्नासमञ्जसमनाश्च नानपीय पिपासोद्रेकमश्नीयात् ॥४९॥

अर्थ—जब मल-मूत्र के त्याग की इच्छा हो और मन व्याकुल हो अर्थात् चित्त अस्वस्थ हो, और विशेष प्यास लगी हुई हो तब मल-मूत्र का त्याग किये बिना और चित्त स्वस्थ किये बिना एवं प्यास दूर किये बिना भोजन न करे। अतः शौचादि से निवृत्त होकर स्वस्थ चित्त से भोजन करना चाहिए ॥४९॥

भुक्त्वा व्यायामव्यवायौ सद्यो विपत्तिकारणम् ॥५०॥

अर्थ—भोजन करके तत्काल व्यायाम और मैथुन करना आपत्तिजनक है, अर्थात्—अनेक व्याधियों को उत्पन्न करता है ॥५०॥

पथ्य के विषय में—

आजन्मसात्म्यं विषमपि पथ्यम् ॥५१॥

अर्थ—जो भोज्य पदार्थ जन्मकाल से ही अपनी प्रकृति के अनुकूल हो गया हो, वह विष भी पथ्य होता है ॥५१॥

पथ्य-सेवन और अपथ्य-परिहार—

असात्म्यमपि पथ्यं सेवेत न पुनः सात्म्यमप्यपथ्यं ॥५२॥

अर्थ—जो वस्तु प्रकृति के अनुकूल न भी हो किन्तु यदि पथ्य-हितकारक है, तो उसका सेवन करना चाहिए किन्तु जो वस्तु प्रकृति के अनुकूल होने पर भी यदि अपथ्य है तो उसका सेवन नहीं करना चाहिए ॥५२॥

विषभक्षण का निषेध—

सर्वं बलवतः पथ्यमिति न कालकूटं सेवेत ॥५३॥

अर्थ—बलिष्ठ पुरुष के लिए सब कुछ पथ्य ही है ऐसा जानकर जहर न खावे ॥५३॥

विष-भक्षण का दुष्परिणाम—

सुशिक्षितोऽपि विषतंत्रज्ञो म्रियत एव कदाचिद्विषात् ॥५४॥

अर्थ—विषशास्त्र का वेत्ता अर्थात्—विष की शोधनादि विधि को जाननेवाला सुशिक्षित वैद्य भी विष-भक्षण से मर ही जाता है, अतः कदापि विष-भक्षण न करे ॥५४॥

आहारदान पूर्वक भोजन करना चाहिए—

संविभज्यातिथिष्वाश्रितेषु च स्वयमाहरेत् ॥५५॥

अर्थ—मनुष्य को अतिथियों और आश्रितों के लिए आहार-दान देकर स्वयं भोजन करना चाहिए ॥५५॥

देव-आदि की उपासना के समय अशान्तचित्त न होना—

देवान् गुरून् धर्मं चोपाचरन्न व्याकुलमतिः स्यात् ॥५६॥

अर्थ—ऋषभादि तीर्थङ्कर देव, गुरु और धर्म की भक्ति करने वाले व्यक्ति को उस समय व्याकुलमतिः अर्थात्—अशान्तचित्तवाला नहीं होना चाहिए। अर्थात्—स्थिर बुद्धि से देव-आदि की उपासना करनी चाहिए ॥५६॥

चित्त को चञ्चल करनेवाली भूमि पर बैठकर ध्यान करने का कुफल—

व्याक्षेपभूमनोनिरोधो मन्दयति सर्वाण्यपीन्द्रियाणि ॥५७॥

अर्थ—चित्त में चञ्चलता उत्पन्न करनेवाली भूमि पर बैठकर मन का निरोध करने से समस्त इन्द्रियाँ शिथिल हो जातीं हैं ॥५७॥

यहाँ से दो सूत्रों में शीतल, मन्द व सुगन्धित वायु में घूमने से लाभ—

स्वच्छन्दवृत्तिः पुरुषाणां परमं रसायनम् ॥५८॥

अर्थ—जिसप्रकार उत्तम रसायन के सेवन से शरीर निरोगी और वलिष्ठ हो जाता है उसी प्रकार शीतल, मन्द और सुगन्धित वायु में संचार (घूमना) करने से भी मनुष्यों का शरीर निरोगी और वलिष्ठ हो जाता है ॥५८॥

यथाकामं समीहमानाः किल काननेषु करिणो न भवन्त्यास्पदं व्याधीनाम् ॥५९॥

अर्थ—निश्चय से वनों में स्वेच्छापूर्वक ताजी वायु में विहार करनेवाले हाथी व्याधियों से पीड़ित नहीं होते ॥५९॥

निरन्तर सेव्य दो वस्तुएँ—

सततं सेव्यमाने द्वे एव वस्तुनी सुखाय, सरसः स्वैरालापस्ताम्बूलभक्षणं चेति ॥६०॥

अर्थ—निरन्तर सेवन करने योग्य दो ही वस्तुएँ सुख-जनक होतीं हैं—हितैषी सज्जनों के साथ सरस (मधुर) स्वच्छन्द भाव से वार्तालाप करना और ताम्बूल का भक्षण ॥६०॥

घुटनों के बल बैठने से हानि—

चिरायोर्ध्वजानुर्जडयति रसवाहिनीः स्नसाः ॥६१॥

अर्थ—जो मानव चिरकाल तक घुटनों को उठाकर बैठा रहता है उसकी रसवाहिनी नसें जकड़ जातीं हैं ॥६१॥

निरन्तर बैठने का दुष्परिणाम—

सततमुपविष्टो जठरमाध्मापयति प्रतिपद्यते च तुन्दिलतां वाचि मनसि शरीरे च ॥६२॥

अर्थ—निरन्तर बैठे रहने से मनुष्य की जठराग्नि मन्द हो जाती है और शरीर स्थूल, आवाज मोटी एवं मानसिक विचार-शक्ति स्थूल हो जाती है ॥६२॥

अत्यन्त शोक का कुफल—

अतिमात्रं खेदः पुरुषमकालेऽपि जरया योजयति ॥६३॥

अर्थ—अत्यन्त शोक करने से असमय में भी पुरुष को वृद्धावस्था आ जाती है ॥६३॥

शरीररूपी प्रासाद की विशेषता—

नादेवं देहप्रासादं कुर्यात् ॥६४॥

अर्थ—मनुष्य अपने शरीररूपी प्रासाद (महल) को ऋषभ-आदि ईश्वर से शून्य न रक्खे, अर्थात्—उसमें ईश्वर को स्थापित करे ॥६४॥

अविश्वसनीय व्यक्ति—

देवगुरुधर्मरहिते पुंसि नास्ति प्रत्ययः ॥६५॥

अर्थ—जिस व्यक्ति में ईश्वर के प्रति भक्ति, गुरुओं के प्रति श्रद्धा और अहिंसामय धर्म में अनुराग नहीं है, वह विश्वास के योग्य नहीं है ॥६५॥

दो सूत्रों में ईश्वर की परिभाषा और सार्थक नाम—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषो देवः ॥६६॥

अर्थ—ऐसे पुरुष श्रेष्ठ को ईश्वर कहते हैं, जो कि जन्म, जरा व मरणादि समस्त दुःखों से रहित हो, ज्ञानावरण-आदि चार घातिया कर्मों से तथा इनके उदय से होनेवाले राग, द्वेष, मोह-आदि भावकर्मों से रहित हो एवं पापकर्मरूपी कालिमा से रहित हो। अर्थात्—जो वीतराग, सर्वज्ञ और मोक्षमार्ग का नेता हो ॥६६॥

विशेषार्थ—आचार्यप्रवर[1] ने 'यशस्तिलक' में उक्त उल्लेख किया है।

तस्यैवैतानि खलु विशेषनामानि अर्हन्नजोऽनन्तः शम्भुर्बुद्धस्तमोऽन्तक इति ॥६७॥

अर्थ—निस्सन्देह उसी ईश्वर के अर्हन्, अज, अनन्त, शम्भु, बुद्ध और तमोन्तक यह सब नाम हैं। अर्थात्—त्रिलोक-पूज्य होने से 'अर्हन्', जन्म-रहित होने से 'अज', मृत्युञ्जय होने से 'अनन्त' आत्मिक सुख-शान्ति को प्राप्त होने से 'शम्भु' और सर्वज्ञ होने से 'बुद्ध' एवं अज्ञानरूप अन्धकार का विध्वंसक होने से 'तमोऽन्तक' ये सार्थक नाम हैं ॥६७॥

अपनी सुख-सुविधा के अनुरूप समय-विभाग—

आत्मसुखानुरोधेन कार्याय नक्तमहश्च विभजेत् ॥६८॥

अर्थ—अपनी सुख-सुविधा के अनुरूप विभिन्न कार्यों के लिए रात्रि और दिन का निश्चित समय-विभाग बना लेना चाहिए ॥६८॥

---

१. तथा च सोमदेवसूरिः—सर्वज्ञं सर्वलोकेशं सर्वदोषविवर्जितम्। सर्वसत्त्वहितं प्राहुराप्तमाप्तमतोचिताः ॥१॥

—यश० चं० आ० ६ श्लोक ५२।

असमय में कार्य करने का कुफल—

कालानियमेन कार्यानुष्ठानं हि मरणसमम् ॥६९॥

अर्थ—निस्सन्देह समय का कोई नियम न रखकर कार्य करना मरण-सरीखा होता है। अर्थात्—निश्चित समय के उपरान्त कार्य करने से कार्य सिद्ध नहीं होता ॥६९॥

विशेषार्थ—वादीभसिंहसूरि[1] ने भी कहा है—'असमय में कार्य करने की इच्छा मानव के मनोरथ सिद्ध नहीं करती'।

यहाँ से दो सूत्रों में धार्मिक कर्तव्य-पालन अनिवार्य—

***आत्यन्तिके कार्ये नास्त्यवसरः ॥७०॥**

अर्थ—शाश्वत कल्याण-कारक धार्मिक कर्तव्यों के पालन में मौका न चूके। पाठान्तर का अर्थ यह है कि आत्मकल्याण कारक सत्कर्तव्यों में धर्म ही मुख्य है, अन्य नहीं ॥७०॥

कर्तव्य में विलम्ब न करना—

अवश्यं कर्तव्ये कालं न यापयेत् ॥७१॥

अर्थ—जो कार्य निश्चित रूप से करने योग्य हैं उसमें समय का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए ॥७१॥

आत्मरक्षा में असावधानी न करना—

आत्मरक्षायां कदाचिदपि न प्रमाद्येत ॥७२॥

अर्थ—आत्मरक्षा के कार्यों में कभी भी आलस्य या असावधानी नहीं करनी चाहिए ॥७२॥

धर्मोपासना के पूर्व का कर्तव्य—

सवत्सां धेनुं प्रदक्षिणीकृत्य †धर्मोपासनं यायात् ॥७३॥

अर्थ—बछड़े सहित गौ की प्रदक्षिणा देकर धर्म की उपासना करे। पाठान्तर का अर्थ—राजा को बछड़े-सहित गाय की प्रदक्षिणा देकर न्याय-युक्त राजसिंहासन पर बैठना चाहिए ॥७३॥

कैसे व्यक्ति को राजसभा में प्रविष्ट नहीं होना चाहिए ?

अनधिकृतोऽनभिमतश्च न राजसभां प्रविशेत् ॥७४॥

अर्थ—जो राजकीय अधिकारों से हीन है और जो राजा द्वारा विना बुलाया हुआ है ऐसे व्यक्ति को राजसभा में प्रविष्ट नहीं होना चाहिए ॥७४॥

पूज्यों को नमस्कार-विधि—

आराध्यमुत्थायाभिवादयेत् ॥७५॥

अर्थ—मानव को अपने पूज्यों (माता-पिता और गुरुजनादि) के लिये नमस्कार खड़े होकर करना चाहिए, बैठे बैठे नहीं ॥७५॥

---

१. तथा च वादीभसिंहसूरिः—नह्यकालकृता वाञ्छा संपुष्णाति समीहितं। किं पुष्पावचयः शक्यः फलकाले समागते ॥१॥ —क्षत्रचूडामणि लम्ब १।

*. 'आत्यन्तिके कार्ये नास्त्यपरो धर्मस्य' इति मु० मू० पुस्तके पाठः।

†. 'धर्मासनं यायात्' इति मु० मू० पुस्तके पाठः।

किन कार्यों की देखभाल स्वयं करनी चाहिए ?

देवगुरुधर्मकार्याणि स्वयं पश्येत् ।।७६।।

अर्थ—मनुष्यों को देवकार्य अर्थात्—देवस्थान (मन्दिर-आदि), गुरुकार्य और धर्म-सम्बन्धी कार्यों की देखरेख स्वयं करनी चाहिए ।।७६।।

त्याज्य सङ्गति—

कुहकाभिचारकर्मकारिभिः सह न संगच्छेत् ।।७७।।

अर्थ—मानव को छल-कपट और धोखेबाजी का कार्य करनेवालों की और जारण-मारण व उच्चाटन-आदि दुष्कृत्य करने वाले दुष्टों की सङ्गति नहीं करनी चाहिए ।।७७।।

हिंसाप्रधान कामक्रीड़ा त्याज्य है—

प्राण्युपघातेन कामक्रीडां न प्रवर्तयेत् ।।७८।।

अर्थ—प्राणियों की हिंसा करके कामक्रीड़ा में प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए ।।७८।।

परस्त्री के साथ एकान्त में न बैठना—

जनन्यापि परस्त्रिया सह रहसि न तिष्ठेत् ।।७९।।

अर्थ—नैतिक पुरुष दूसरे की स्त्री के साथ एकान्त मे न बैठे, चाहे वह उसकी माता भी हो ।।७९।।

पूज्यों के प्रति कर्तव्य—

नातिक्रुद्धोऽपि मान्यमतिक्रामेदवमन्येत वा ।।८०।।

अर्थ—अत्यन्त क्रोध की अवस्था में भी पूज्य पुरुषों की आज्ञा का उल्लङ्घन और अपमान नहीं करना चाहिए ।।८०।।

शत्रु के स्थान में प्रविष्ट होने के विषय में—

नाप्ताशोधितं परस्थानमुपेयात् ।।८१।।

अर्थ—अपने प्रामाणिक हितैषी पुरुषों द्वारा परीक्षण कराये विना शत्रु के स्थान पर नहीं जाना चाहिए ।।८१।।

कैसे वाहनों पर नहीं बैठना चाहिए ?

नाप्तजनैर नारूढं वाहनमध्यासीत ।।८२।।

अर्थ—अपने विश्वासपात्र, प्रामाणिक, हितैषी व्यक्तियों द्वारा विना सवारी किये हुए हाथी, घोड़े-आदि वाहनों पर नहीं बैठना चाहिए ।।८२।।

अपरीक्षित तीर्थ-आदि में जाने का निषेध—

न स्वैरपरीक्षितं तीर्थं सार्थं तपस्विनं वाभिगच्छेत् ।।८३।।

अर्थ—अपने हितैषी आप्तजनों द्वारा विना परीक्षण कराये हुए देवस्थान या जलाशय-आदि तीर्थ अथवा यात्री-समूह और तपस्वी के पास न जाय ।।८३।।

अपरीक्षित मार्ग पर जाने का निषेध—

न याष्टिकैरविविक्तं मार्गं भजेत् ।।८४।।

अर्थ—राजा को दण्डधारी पुलिस कर्मचारियों द्वारा बिना परीक्षण किये हुए मार्ग पर नहीं जाना चाहिए ॥८४॥

अक्षेवनीय पदार्थ—

न विषापहारौषधिमणीन् क्षणमप्युपासीत ॥८५॥

अर्थ—विष दूर करनेवाली औषधि और मणि का सेवन क्षण भर के लिए भी न करे ॥८५॥

कण्ठस्थ न करने लायक विद्या—

***सदैव जाङ्गलिकीं विद्यां कण्ठे न धारयेत् ॥८६॥**

अर्थ—जहर उतारनेवाली विद्या को सदा कण्ठ में धारण न करे, अर्थात्—सदा कण्ठस्थ न करे ॥८६॥

राजा का प्रस्थानकालीन कर्त्तव्य—

मंत्रिभिषग्नैमित्तिकरहितः कदाचिदपि न प्रतिष्ठेत् ॥८७॥

अर्थ—राजा को मन्त्री, वैद्य और ज्योतिषी के बिना कभी भी दूसरी जगह प्रस्थान नहीं करना चाहिए ॥८७॥

भोजन व वस्त्रादि की परीक्षाविधि—

वह्नावन्यचक्षुषि च भोज्यमुपभोग्यं च परीक्षेत ॥८८॥

अर्थ—विवेकी पुरुष को अपनी भोज्य सामग्री को भक्षण करने से पूर्व अग्नि में डालकर परीक्षण कर लेनी चाहिए, अर्थात्—परीक्षक भोज्य द्रव्य को अग्नि में डाल कर यह देख लेवे कि कहीं अग्नि में से नीले रङ्ग की लपटें तो नहीं निकलतीं, अगर ऐसा हो तो समझ लेना चाहिए कि यह भोज्य-सामग्री जहर-मिश्रित होने से भक्षण के अयोग्य है। इसी प्रकार उसे वस्त्रादि उपभोग वस्तु की जाँच भी अपने आप्त पुरुषों की दृष्टि से करानी चाहिए ॥८८॥

कर्तव्य का मुहूर्त-अमृतसिद्धि योग—

अमृते मरुति प्रविशति सर्वदा चेष्टेत ॥८९॥

अर्थ—मनुष्य को सदा समस्त कार्य अमृत सिद्धि के योग में करना चाहिए ॥८९॥

ऋतुराज वसन्त में भक्ति-आदि का औचित्य—

भक्तिसुरतसमरार्थी दक्षिणे मरुति स्यात् ॥९०॥

अर्थ—जब दक्षिण दिशा की ओर अनुकूल वायु का संचार हो रहा हो, अर्थात्—वसन्त ऋतु का अवसर हो तब मनुष्य को भक्तिकार्य, कामभोग और युद्ध में प्रवृत्ति करनी चाहिए ॥९०॥

सर्व-प्रिय व्यक्ति की विशेषता—

परमात्मना समीकुर्वन् न कस्यापि भवति द्वेष्यः ॥९१॥

अर्थ—परमात्मा के साथ तादात्म्य संबंध स्थापित करनेवाला अथवा दूसरे को अपने समान समझने वाला व्यक्ति किसी का द्वेषपात्र नहीं होता ॥९१॥

---

*. सूत्रमिदं मु० मू० पुस्तकतः संकलितं—

भविष्य कार्य-सिद्धि के प्रतीक—

मनःपरिजनशकुनपवनानुलोम्यं भविष्यतः कार्यस्य सिद्धेर्लिङ्गम् ॥९२॥

अर्थ—मानसिक प्रसन्नता, सेवकों का प्रसन्न रहना, दाहिनी आँख का फड़कना-आदि शुभ शकुनों का होना तथा अनुकूल वायु का चलना भावी कार्य-सिद्धि के ज्ञापक चिह्न हैं ॥९२॥

अकेले व्यक्ति का निरन्तर भ्रमण-निषेध—

नैको नक्तं दिवं वा हिण्डेत ॥९३॥

अर्थ—अकेला व्यक्ति रात-दिन भ्रमण न करे ॥९३॥

प्रस्थान के योग्य व्यक्ति—

नियमितमनोवाक्कायः प्रतिष्ठेत ॥९४॥

अर्थ—मनुष्य को अपने मन, वाणी और शरीर का संयम रखते हुए अर्थात्—काबू में रखते हुए प्रस्थान करना चाहिए ॥९४॥

ईश्वरोपासना की वेला—

अहनि सन्ध्यामुपासीतानक्षत्रदर्शनात् ॥९५॥

अर्थ—प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन तीनों सन्ध्याओं में नक्षत्रदर्शन पर्यन्त ईश्वर की उपासना करनी चाहिए ॥९५॥

राजा का जाप्यमन्त्र—

चतुःपयोधिपयोधरां धर्मवत्सवतीमुत्साहवालधिं वर्णाश्रमखुरां कामार्थश्रवणां नयप्रतापविषाणां सत्यशौचचक्षुषं न्यायमुखीमिमां गां गोपयाम्यतस्तमहं मनसाऽपि न सहेयं योऽपराध्येत्तस्यै, इतीमं मन्त्रं समाधिस्थो जपेत् ॥९६॥

अर्थ—राजा को ध्यान में स्थित होकर निम्नप्रकार के अर्थ वाले मंत्र का जप करना चाहिए कि 'मैं ऐसी इस गौरूप पृथ्वी की रक्षा करता हूँ, जिसके चार समुद्र ही थन हैं, धर्म ही जिसका वछड़ा है, जो उत्साह-रूप पूँछवाली है, वर्ण (ब्राह्मण-आदि) और आश्रम ही जिसके खुर हैं, काम और अर्थ ही जिसके श्रोत्र हैं, नीति और प्रताप ही जिसके सींग हैं, जो सत्य और शौचरूप नेत्रों वाली है और न्याय ही जिसका मुख है, अतः जो कोई इस गौरूप पृथ्वी के प्रति अपराध करेगा उसे मैं मन से भी सहन नहीं करूँगा' ॥९६॥

यहाँ से दो सूत्रों में भोजन की वेला—

कोकवद्दिवाकामो निशि स्निग्धं भुञ्जीत ॥९७॥

अर्थ—चकवा-चकवी-सरीखा दिन में काम-भोग का इच्छुक व्यक्ति रात्रि में स्निग्ध (सचिक्कण) वस्तु का भोजन करे ॥९७॥

चकोरवन्नक्तं कामो दिवा च ॥९८॥

अर्थ—चकोर पक्षी की तरह रात्रि में मैथुन कर्म करने का इच्छुक व्यक्ति दिन में सचिक्कण वस्तु का भोजन करे। सारांश यह है कि मनुष्य भी चकोर पक्षी की तरह रात्रि में कामभोग करते हैं, अतः उन्हें दिन में ही भोजन करना चाहिए ॥९८॥

शक्ति-हीन को वीर्यवर्द्धक आहार—

पारावतकामो वृष्यान्नयोगान् चरेत् ॥९९॥

अर्थ—कबूतर के समान अति कामी पुरुष वीर्यवर्द्धक व्यञ्जन (पुड़ी और हलुवा-आदि) का सेवन करे ॥९९॥

कामशक्ति-वर्द्धक योग—

बष्कयणीनां सुरभीणां पयःसिद्धं माषदलपरमान्नं परो योगः स्मरसंवर्द्धने ॥१००॥

अर्थ—एकबार ब्याई हुई गायों के दूध में पकाई गई उड़द के दाल की खीर कामशक्ति को वृद्धिगत करने में सर्वश्रेष्ठ योग है ॥१००॥

संभोग के अयोग्य स्त्री—

नावृषस्यन्तीं स्त्रीमभियायात् ॥१०१॥

अर्थ—विषयभोग की इच्छा से हीन (विरक्त) स्त्री के साथ संभोग नहीं करना चाहिए ॥१०१॥

वृषजाति के पुरुष और पद्मिनी जाति स्त्री के लिए काम क्रीड़ा में सहायक प्रदेश—

उत्तरः प्रवर्षवान् देशः परमरहस्यमनुरागे प्रथमप्रकृतीनाम् ॥१०२॥

अर्थ—कामशास्त्र के अनुसार प्रथमप्रकृति अर्थात् वृषजाति के पुरुष और पद्मिनी जाति की स्त्री के लिए उत्तर दिशा का प्रचुरवृष्टि वाला प्रदेश विशेष रूप से कामक्रीड़ा में सहायक होता है। अर्थात्—प्रथम प्रकृतिवाले नवदम्पति के लिए यदि उत्तर दिशा का प्रचुर वर्षावाला प्रदेश प्राप्त हो, तो उन्हें कामक्रीड़ा में विशेष आनन्द का अनुभव होता है ॥१०२॥

शश जाति के पुरुष और शंखिनीजातिकी स्त्री के लिए कामक्रीड़ा में आनन्ददायक प्रदेश—

***द्वितीयप्रकृतिः सशाद्वलमृदूपवनप्रदेशः ॥१०३॥**

अर्थ—द्वितीय प्रकृति अर्थात्—शशजाति के पुरुष और शंखिनी जाति की स्त्री के लिए हरी दूब से सुशोभित मनोरम उपवन का हरा भरा प्रदेश कामक्रीड़ा में विशेष आनन्द प्रद होता है ॥१०३॥

अश्व जाति के पुरुष की कामक्रीड़ा में विशेषता—

†तृतीयप्रकृतिः सुरतोत्सवाय स्यात् ॥१०४॥

अर्थ—इसीप्रकार तृतीयप्रकृति अर्थात्—अश्वजाति का पुरुष रतिकर्म में अत्यन्त आनन्ददायक होता है। अर्थात्—स्त्रियों को विशेष सन्तोष देनेवाला होता है ॥१०४॥

मानव के प्रमोद का क्षेत्र—

‡धर्मार्थस्थाने लिङ्गोत्सवं लभते ॥१०५॥

अर्थ—जिनमन्दिर-आदि धर्मस्थानों में और अर्थ स्थानों-व्यापार-आदि के स्थानों में मानव की इन्द्रियाँ प्रसन्न रहती हैं ॥१०५॥

---

*. सूत्रमिदं मु० मू० पुस्तकतः संकलितं—

†. सूत्रमिदं मु० मू० प्रतितः संकलितं।

‡. मु० मू० प्रतितः संकलितं।

यहाँ से दो सूत्रों में सर्वश्रेष्ठ वशीकरण—

स्त्रीपुंसयो र्न समसमायोगात्परं वशीकरणमस्ति ॥१०६॥

अर्थ—परस्पर समान प्रकृति के संयोग को छोड़कर दूसरा कोई उपाय स्त्री व पुरुष के वशीकरण के लिए नहीं है ॥१०६॥

प्रकृतिरुपदेशः स्वाभाविकं च प्रयोगवैदग्ध्यमिति समसमायोगकारणानि ॥१०७॥

अर्थ—एक सरीखो प्रकृति का होना, कामशास्त्र की समुचित शिक्षा और स्वाभाविक व्यवहार-कुशलता ये सब समसमायोग के कारण हैं अर्थात्—स्त्रीपुरुष के संयोग के कारण हैं। सारांश यह है उक्त तीन उपायों से स्त्रीपुरुष का एकान्त-मिलन रूप वशीकरण सफल होता है ॥१०७॥

निरोगी सन्तान की उत्पत्ति में बाधक कारण—

क्षुत्तर्षपुरीषाभिष्यन्दार्तस्याभिगमो नापत्यमनवद्यं करोति ॥१०८॥

अर्थ—भूँख प्यास और मल-मूत्रादि के वेग को रोकने से पीड़ित हुआ मनुष्य यदि स्त्री-सेवन करता है तो उससे निर्दोष (निरोगी) सन्तान उत्पन्न नहीं होती ॥१०८॥

विषयभोग के अयोग्य काल व क्षेत्र—

न सन्ध्यासु न दिवा नाप्सु न देवायतने मैथुनं कुर्वीत ॥१०९॥

अर्थ—सन्ध्याकाल, दिन, जल और देवमन्दिर में मैथुन न करे ॥१०९॥

कुलस्त्री से संभोग के अयोग्य काल—

पर्वणि पर्वणि सन्धौ उपहते वाह्नि कुलस्त्रियं न गच्छेत् ॥११०॥

अर्थ—अमावस्या-पूर्णिमा-आदि पर्व, प्रातः सायंकाल की सन्धि वेला और चन्द्रग्रहण-आदि से दूषित दिन में अपनी विवाहिता स्त्री के साथ संभोग न करे ॥११०॥

परस्त्री-त्याग—

न तद्गृहाभिगमने कामपि स्त्रियमधिशयीत ॥१११॥

अर्थ—किसी दूसरे की स्त्री के गृह जाकर उसके साथ शयन न करे ॥१११॥

वंश-आदि के अनुरूप वेषभूषा से लाभ—

वंशवयोवृत्तविद्याविभवानुरूपो वेषः समाचारो वा न विडम्बयति ॥११२॥

अर्थ—वंश, अवस्था, सदाचार, विद्या और अपने ऐश्वर्य के अनुरूप वेष-भूषा रखने और आचरण करने से किसी को कोई विडम्बना-निन्दा-आदि नहीं होती ॥११२॥

राजकुल में प्रवेश और निर्गत के विषय में—

अपरीक्षितमशोधितं च राजकुले न किञ्चित् प्रवेशयेन्निष्कासयेद्वा ॥११३॥

अर्थ—राजकुल में ऐसी वस्तु प्रविष्ट नहीं होने देनी चाहिए और न यहाँ से वाहिर निकलने देनी चाहिए, जो कि उसके प्रामाणिक हितैषी पुरुषों द्वारा परीक्षित न हुई हो, और निर्दोष सावित को हुई न हो ॥११३॥

दृष्टान्त—

श्रूयते हि स्त्रीवेषधारी कुन्तलनरेन्द्रप्रयुक्तो गूढपुरुषः कर्णनिहितेनासिपत्रेण पल्लवनरेन्द्रं हयपतिश्च मेष-विषाणनिहितेन विषेण कुशस्थलेश्वरं जघानेति ॥११४॥

अर्थ—इतिहास में सुना जाता है कि कुन्तल देश के राजा द्वारा भेजे हुए स्त्री-वेषधारी गुप्तचर ने अपने कानों के पास छिपाई हुई तलवार या छुरी से पल्लव देश के राजा को मार डाला और हय देश के राजा द्वारा भेजे हुए गूढ़ पुरुष ने भेढ़े के सींग में रक्खे हुए विष से कुशस्थल—देशविशेष के नरेश (द्वारकाधीश) को मार डाला ॥११४॥

सर्वत्र विश्वास न करनेवाले की हानि—

सर्वत्राविश्वासे नास्ति काचित् क्रिया ॥११५॥

अर्थ—लोक में सर्वत्र विश्वास न करनेवाले व्यक्ति का कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो पाता ॥११५॥

इति दिवसानुष्ठान-समुद्देशः ।

२६. सदाचार-समुद्देशः

लोभ, प्रमाद और विश्वास से हानि—

लोभप्रमादविश्वासैर्बृहस्पतिरपि पुरुषो वध्यते वञ्च्यते वा ॥१॥

अर्थ—बृहस्पति-सरीखा बुद्धिमान् पुरुष भी लोभ, असावधानी और विश्वास के कारण मारा जाता है अथवा ठगा जाता है ॥१॥

बलिष्ठ शत्रु-कृत आक्रमण से रक्षा का उपाय—

बलवताधिष्ठितस्य विदेशगमनं तदनुप्रवेशो वा श्रेयानन्यथा नास्ति क्षेमोपायः ॥२॥

अर्थ—बलिष्ठ शत्रु द्वारा आक्रमण किये जाने पर मानव को देश त्याग कर विदेश चले जाना चाहिए अथवा उससे सन्धि कर लेना ही श्रेयस्कर है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई कल्याणकारी उपाय नहीं है ॥२॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी उक्त विषय में यही कहा है।

विदेश-वास के दोष—

विदेशवासोपहतस्य पुरुषकारः को नाम येनाविज्ञातस्वरूपः पुमान् स तस्य महानपि लघुरेव ॥३॥

अर्थ—परदेशगमन से दूषित व्यक्ति का अपनी योग्यता और महत्ता-आदि के परिचय का पुरुषार्थ व्यर्थ होता है; क्योंकि जो जिसकी योग्यता और विद्वत्ता-आदि से परिचित नहीं है, उसकी दृष्टि में महान् भी व्यक्ति क्षुद्र ही प्रतीत होता है ॥३॥

विशेषार्थ—अत्रि[2] ने भी परदेश-गमन से दूषित व्यक्ति के विषय में यही कहा है।

---

१. तथा च शुक्रः—बलवान् स्याद्यदाशंसस्तदा देशं परित्यजेत्। तेनैव सह सन्धिं वा कुर्यान्न स्थीयतेऽन्यथा ॥१॥

२. तथा च अत्रिः—महानपि विदेशस्थः स परैः परिभूयते। अज्ञायमानस्तद्देशमाहात्म्यं तस्य पूर्वकं ॥१॥

प्रतिष्ठा-हीन के अहङ्कार का दुष्परिणाम—

अलब्धप्रतिष्ठस्य निजान्वयेनाहङ्कारः कस्य न लाघवं करोति ॥४॥

अर्थ—जिसने अपने पौरुष से किसी प्रकार की प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं की, वह व्यक्ति यदि अपने उच्चवंश में जन्म लेने का अभिमान प्रदर्शित करता है, ऐसे अभिमानी व्यक्ति को लोक में कौन लघु नहीं मानता ? ॥४॥

व्याधि-ग्रस्त की दशा—

आर्त्तः सर्वोऽपि भवति धर्मबुद्धिः ॥५॥

अर्थ—सभी पुरुष व्याधि-ग्रस्त होने पर अपनी बुद्धि धर्म में प्रवृत्त करते हैं, निरोगी नहीं ॥५॥

विशेषार्थ—शौनक[1] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

धार्मिक व्यक्ति की विशेषता—

स नीरोगो यः स्वयं धर्माय समीहते ॥६॥

अर्थ—जो व्यक्ति स्वयं (विना किसी की प्रेरणा के) धर्म करने की चेष्टा करता है, वह निरोगी माना गया है ॥६॥

विशेषार्थ—हारीत[2] ने भी उक्त विषय का उल्लेख किया है।

व्याधि-ग्रस्त की औषधि—

व्याधिग्रस्तस्य ऋते धैर्यान्न परमौषधमस्ति ॥७॥

अर्थ—रोग-पीड़ित मनुष्य के लिए धैर्य को छोड़कर दूसरी कोई उत्तम औषधि नहीं है ॥७॥

विशेषार्थ—धन्वन्तरि[3] ने भी व्याधिग्रस्त के लिए उक्त औषधि का उल्लेख किया है।

भाग्यशाली की परिभाषा—

स महाभागो यस्य न दुरपवादोपहतं जन्म ॥८॥

अर्थ—जिस मनुष्य का जीवन निन्द्य दोषों (हिंसा, झूँठ, चोरी, कुशील और परिग्रह) से कलङ्कित नहीं है, वह भाग्यशाली है ॥८॥

विशेषार्थ—गर्ग[4] ने भी भाग्यशाली की उक्त परिभाषा की है।

मूर्खता का प्रतीक—

पराधीनेष्वर्थेषु स्वोत्कर्षसंभावनं मन्दमतीनाम् ॥९॥

अर्थ—पराधीन वस्तुओं से अपनी उन्नति की आशा करना मूर्खता है। अर्थात्—मूर्ख लोग पराधीन इष्ट प्रयोजन सिद्धि को स्वतः की हुई समझकर आनन्द प्रकट किया करते हैं ॥९॥

विशेषार्थ—कौशिक[5] ने भी मूढ़बुद्धि की यही परिभाषा की है।

१. तथा च शौनकः—व्याधिग्रस्तस्य बुद्धिः स्याद्धर्मस्योपरि सर्वतः। भयेन धर्मराजस्य न स्वभावात् कथंचन ॥१॥

२. तथा च हारीतः—नीरोगः स परिज्ञेयो य स्वयं धर्मवाञ्छकः। व्याधिग्रस्तोऽपि पापात्मा नीरोगोऽपि स रोगवान् ॥२॥

३. तथा च धन्वन्तरिः—व्याधिग्रस्तस्य यद्धैर्यं तदेव परमौषधं। नरस्य धैर्यहीनस्य किमौषधशतैरपि ॥१॥

४. तथा च गर्गः—आजन्ममरणान्तं च वाच्यं यस्य न जायते। सुसूक्ष्मं स महाभागो विज्ञेयः क्षितिमण्डले ॥१॥

५. तथा च कौशिकः—कार्येषु सिद्ध्यमानेषु परस्य वशगेषु च। आत्मीयेष्विव तेष्वेव तुष्टिं याति स मन्दधीः ॥१॥

भय का प्रतीकार—

न भयेषु विषादः प्रतीकारः किन्तु धैर्यावलम्बनं ॥१०॥

अर्थ—किसी प्रकार के संकट से भय उत्पन्न होनेपर दुःखी होना उपकारक नहीं किन्तु धैर्य धारण करना ही उपकारक है ॥१०॥

विशेषार्थ—भृगु[1] ने भी भय को दूर करने का उक्त उपाय बताया है।

धनुर्धारी और तपस्वी की कटु आलोचना—

स किं धन्वी तपस्वी वा यो रणे मरणे शरसन्धाने मनः समाधाने च मुह्यति ॥११॥

अर्थ—वह धनुर्धारी निन्द्य है जो युद्ध भूमि में धनुष पर बाण चढ़ाने में एकाग्रचित्त से लक्ष्य-भेद करने में अज्ञान प्राप्त करता है इसीप्रकार वह तपस्वी भी निन्द्य है जिसकी चित्तवृत्ति मृत्यु के अवसर पर आत्मदर्शन-आदि में अज्ञान प्राप्त करती है ॥११॥

विशेषार्थ—नारद[2] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

प्रत्युपकार-हीन की हानि—

कृते प्रतिकृतमकुर्वतो नैहिकफलमस्ति नामुत्रिकं च ॥१२॥

अर्थ—उपकारी के प्रति प्रत्युपकार न करनेवाले व्यक्ति को इस लोक और परलोक में भी कोई फल प्राप्त नहीं होता ॥१२॥

विशेषार्थ—हारीत[3] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

शत्रु द्वारा कहे हुए न्याय-युक्त वचन का ग्रहण—

शत्रुणाऽपि सूक्तमुक्तं न दूषयितव्यम् ॥१३॥

अर्थ—शत्रु द्वारा भी कहे हुए न्याय-युक्त हितकारक वचनों में दोष नहीं लगाना चाहिए किन्तु ग्रहण करना चाहिए ॥१३॥

विशेषार्थ—नारद[4] ने भी उक्त विषय का उल्लेख किया है।

दुर्जनों और सज्जनों के कार्य—

कलहजननमप्रीत्युत्पादनं च दुर्जनानां धर्मो न सज्जनानां ॥१४॥

अर्थ—दुष्टों के वचन कलह-जनक और द्वेष उत्पन्न करनेवाले होते हैं जब कि सज्जनों के वचन ऐसे नहीं होते किन्तु कल्याण कर होते हैं ॥१४॥

विशेषार्थ—भारवि[5] ने भी उक्त विषय का उल्लेख किया है।

१. तथा च भृगुः—भयस्थाने विषादं यः कुरुते स विनश्यति। तस्य तज्जयदं ज्ञेयं यच्च धैर्यावलम्बनं ॥१॥
२. तथा च नारदः—व्यर्था यान्ति शरा यस्य युद्धे स स्यान्न चापधृक्। योगिनोऽत्यन्तकालेन स्मृतिः ? न च योगवान् ॥१॥
३. तथा च हारीतः—कृते प्रतिकृतं नैव शुभं वा यदि वाशुभं। यः करोति च मूढात्मा तस्य लोकद्वयं न हि ॥१॥
४. तथा च नारदः—शत्रुणापि हि यत्प्रोक्तं सालङ्कारं सुभाषितं। न तद्दोषेण संयोज्यं ग्राह्यं बुद्धिमता सदा ॥१॥
५. तथा च भारविः—खलो वदति तद्येन कलहः संप्रजायते। सज्जनो धर्ममाचष्टे तच्छ्रोतव्यं क्रिया तथा ॥१॥

लक्ष्मी की विमुखता—

श्रीर्न तस्याभिमुखी यो लब्धार्थमात्रेण सन्तुष्टः ॥१५॥

अर्थ—भाग्यवश प्राप्त हुए स्वल्प धन से सन्तुष्ट हो जानेवाले व्यक्ति के निकट लक्ष्मी नहीं आती ॥१५॥

विशेषार्थ—भागुरि[1] ने भी लक्ष्मी के विमुख रहने का उक्त कारण निर्दिष्ट किया है।

वैर-विरोध से हानि—

तस्य कुतो वंशवृद्धिर्यो न प्रशमयति वैरानुबन्धम् ॥१६॥

अर्थ—जो परम्परा से चले आ रहे वैरविरोध को शान्त नहीं कर सकता उसके वंश का विस्तार कैसे हो सकता है? अतः वैरविरोध मिटा देने का प्रयत्न करना चाहिए ॥१६॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] ने भी साम-आदि उपायों से वैर-विरोध शान्त करने के लिए कहा है।

अभयदान का महत्व—

भीतेष्वभयदानात् परं न दानमस्ति ॥१७॥

अर्थ—भयभीतों के लिए अभयदान (उनकी रक्षा) देने से बढ़कर दूसरा कोई श्रेष्ठ दान नहीं है ॥१७॥

विशेषार्थ—जैमिनि[3] ने भी अभयदान को श्रेष्ठ बताया है।

उत्साही को लक्ष्मी की प्राप्ति—

स्वस्यासंपत्तौ न चिन्ता किञ्चित् काङ्क्षितमर्थं (प्रसूते) दुग्धे किन्तूत्साहः ॥१८॥

अर्थ—अपनी दरिद्रता के विषय में की हुई चिन्ता अभिलषित अपूर्व धन उत्पन्न नहीं करती किन्तु उत्साह पूर्वक उद्योग ही मनुष्यों के लिए इच्छित और पुष्कल धन पैदा करता है ॥१८॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] ने भी उत्साही पुरुष श्रेष्ठ को लक्ष्मी-प्राप्ति का निरूपण किया है।

सेवक के पापकर्म का फल—

स खलु स्वस्यैवापुण्योदयोऽपराधो वा सर्वेषु कल्पफलप्रदोऽपि स्वामी भवत्यात्मनि वन्ध्यः ॥१९॥

अर्थ—निस्सन्देह यदि कोई स्वामी सर्वसाधारण सेवकों के लिए कल्पवृक्ष-सरीखा इच्छित फल देनेवाला होवे किन्तु यदि केवल अपने को उससे कोई धनादि का लाभ न हो सके तो उसे अपने ही पाप का उदय समझना चाहिए अथवा अपना ही कोई अपराध समझना चाहिए ॥१९॥

विशेषार्थ—भागुरि[5] ने भी सेवक का मनोरथ पूर्ण न होने के विषय में यही कहा है।

जिस कारण से मनुष्य सदा दुःखित (दरिद्र) रहता है—

स सदैव दुःखितो यो मूलधनमसंवर्धयन्ननुभवति ॥२०॥

---

१. तथा च भागुरिः—अल्पेनापि प्रलब्धेन यो द्रव्येण प्रतुष्यति। पराङ्मुखो भवेत्तस्य लक्ष्मीर्नैवात्र संशयः ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—सामादिभिरुपायैर्यो वैरं नैव प्रशामयेत्। बलवानपि तद्वंशो नाशं याति शनैः शनैः ॥१॥

३. तथा च जैमिनिः—भयभीतेषु यद्दानं तद्दानं परमं मतं। रक्षात्मकं किमन्यैश्च दानैर्गजरथादिभिः ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—उत्साहिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी। दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ॥
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या। यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्र दोषः ॥१॥

५. तथा च भागुरिः—यत्प्रयच्छति न स्वामी सेवितोऽप्यल्पकं फलं। कल्पवृक्षोपमोऽन्येषां तत्फलं पूर्वकर्मणः ॥१॥

अर्थ—वह मानव सदैव दुःखी (दरिद्र) रहता है, जो अपने मूलधन (पैतृक सम्पत्ति) की व्यापार-आदि से वृद्धि न करता हुआ उपभोग करता है—व्यय करता रहता है ॥२०॥

विशेषार्थ—गौतम[1] ने भी 'मूलधन का उपभोग करनेवाले के लिए दुःखी बताया है।'

कुसंग का त्याग—

मूर्खदुर्जनचाण्डालपतितैः सह संगतिं न कुर्यात् ॥२१॥

अर्थ—मूर्ख, दुर्जन, चाण्डाल और पतित पुरुषों के साथ सङ्गति (मैत्री) न करे ॥२१॥

विशेषार्थ—किसी नीतिवेत्ता[2] ने भी मूर्ख-आदि की सङ्गति को दुःखद बताया है।

क्षणिक चित्तवाले का प्रेम निष्फल होता है—

किं तेन तुष्टेन यस्य हरिद्राराग इव चित्तानुरागः ॥२२॥

अर्थ—जिसके चित्त का अनुराग (प्रेम) हल्दी के रंग-सरीखा धोदेने से छूटनेवाला क्षणिक हो, अर्थात्—थोडे में ही वदल जानेवाला हो उस व्यक्ति के सन्तुष्ट हो जाने से भी क्या लाभ होगा ? क्योंकि वह क्षण भर में वदल कर पुनः अहित भी कर सकता है ॥२२॥

विशेषार्थ—जैमिनि[3] ने भी सज्जनों व दुर्जनों के प्रेम के विषय में उत्तम विश्लेषण किया है।

अपनी शक्ति को विना जाने पराक्रम करने से हानि—

स्वात्मानमविज्ञाय पराक्रमः कस्य न परिभवं करोति ॥२३॥

अर्थ—अपनी शक्ति और सामर्थ्य को विना सोचे समझे पराक्रम करने से किसकी पराजय नहीं होती ? ॥२३॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[4] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

शत्रु-निग्रह का सही उपाय—

नाक्रान्तिः पराभियोगस्योत्तरं किन्तु युक्तेरुपन्यासः ॥२४॥

अर्थ—शत्रु द्वारा किये हुए आक्रमण का वास्तविक उत्तर स्वयं ही उस पर आक्रमण कर देना नहीं है किन्तु युक्तियों अर्थात्—साम-दान-आदि उपायों के समुचित प्रयोग द्वारा ही वह वश में किया जा सकता है ॥२४॥

विशेषार्थ—गर्ग[5] ने भी शत्रु-निग्रह के उक्त उपाय का निरूपण किया है।

विना कारण कुपित होने वाले राजा की हानि—

राज्ञो ऽस्थाने कुपितस्य कुतः परिजनः ॥२५॥

अर्थ—विना कारण के ही आगवबूला (कुपित) होनेवाले राजा के पास सेवक-गण कैसे रह सकते हैं ? ॥२५॥

१. तथा च गौतमः—न वृद्धिं यो नयेद्वित्तं पितृपैतामहं कुधीः। केवलं भक्षयत्येव स सदा दुःखितो भवेत् ॥१॥
२. उक्तं च—मूर्खदुर्जनचाण्डालैः सङ्गतिं कुरुतेऽत्र यः। स्वप्नेऽपि न सुखं तस्य कथञ्चिदपि जायते ॥१॥
३. तथा च जैमिनिः—आजन्ममरणान्तो यः स्नेहः स स्नेह उच्यते। साधूनां यः खलाना च हरिद्रारागसन्निभः ॥१॥
४. तथा च वल्लभदेवः—यः परं केवलो याति प्रोन्नतं मदमाश्रितः। विमदः स निवर्तेत शीर्णदन्तो गजो यथा ॥१॥
५. तथा च गर्गः—नाक्रान्त्या गृह्यते शत्रुर्यद्यपि स्यात्सुदुर्लभः। युक्तिद्वारेण संग्राह्यो यद्यपि स्याद्बलोत्कटः ॥१॥

मृत व्यक्तियों के लिए रुदन व शोक करने का निषेध—

न मृतेषु रोदितव्यमश्रुपातसमा हि किल पतन्ति तेषां हृदयेष्वङ्गाराः ॥२६॥

अर्थ—बन्धुओं के स्वर्गवास हो जाने पर रुदन नहीं करना चाहिए; क्योंकि इससे उन मृत बन्धुजनों को अश्रुपात के समान अङ्गारों के पतन की हार्दिक पीड़ा होती है। सारांश यह है कि मृत व्यक्तियों के निधन होने पर विवेकी को रुदन छोड़कर सबसे पहले उनका दैहिक अग्नि-संस्कार करना चाहिए, रुदन करने वाले उनके दैहिक अग्नि-संस्कार में विलम्ब कर देते हैं ॥२६॥

विशेषार्थ—गर्ग[1] ने भी मृत व्यक्तियों के अग्नि-संस्कार का विधान करते हुए रुदन का निषेध किया है।

अतीते च वस्तुनि शोकः श्रेयानेव यद्यस्ति तत्समागमः ॥२७॥

अर्थ—नष्ट हुई इष्ट वस्तु के लिए शोक करना तभी कल्याणकारक हो सकता है जब कि वह वस्तु पुनः मिल सके किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। अतः मृत व्यक्तियों के लिए अथवा नष्ट हुई इष्ट वस्तु के लिए शोक करना व्यर्थ है ॥२७॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[2] ने भी शोक को शरीर-शोषण करनेवाला कहा है।

शोकमात्मनि चिरमनुवासयंस्त्रिवर्गमनुशोषयति ॥२८॥

अर्थ—किसी इष्ट वस्तु के लिए चिरकाल पर्यन्त शोक करनेवाला व्यक्ति अपने धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों को नष्ट कर देता है ॥२८॥

विशेषार्थ—कौशिक[3] ने भी शोक को उक्त त्रिवर्ग का नाशक बताया है।

निन्द्य पुरुष—

स किंपुरुषो योऽकिञ्चनः सन् करोति विषयाभिलाषम् ॥२९॥

अर्थ—जो व्यक्ति दरिद्र होकर के भी इन्द्रिय-जन्य सुखों की कामना करता है वह निन्द्य या पशु-तुल्य है ॥२९॥

विशेषार्थ—नारद[4] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

स्वर्ग-च्युत का प्रतीक—

अपूर्वेषु प्रियपूर्वं सम्भाषणं स्वर्गच्युतानां लिङ्गम् ॥३०॥

अर्थ—जो मानव अपरिचितों से मिलकर प्रेमपूर्वक मधुर भाषण करते हैं, उन्हें समझना चाहिए कि वे किसी कारणवश स्वर्ग से च्युत होकर इस मर्त्यलोक में आगये हैं ॥३०॥

विशेषार्थ—गुरु[5] ने भी अपरिचित व्यक्तियों से मधुर भाषण करनेवाले को स्वर्ग से आया हुआ बताया है।

१. तथा च गर्गः—श्लेष्मास्तु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतो यशः। तस्मान्न रोदितव्यं स्यात् क्रिया कार्या प्रयत्नतः ॥१॥

२. तथा च भारद्वाजः—मृतं वा यदि वा नष्टं यदि शोकेन लभ्यते। तत्कार्येणान्यथा कार्यः केवलं कायशोषकृत् ॥१॥

३. तथा च कौशिकः—यः शोकं धारयेद्देहे त्रिवर्ग नाशयेद्धि सः। क्रियमाणं चिरं कालं तस्मात्तं दूरतस्त्यजेत् ॥१॥

४. तथा च नारदः—दरिद्रो यो भवेन्मर्त्यो हीनो विषयसेवने। तस्य जन्म भवेद्व्यर्थं प्राहेदं नारदः स्वयं ॥१॥

५. तथा च गुरुः—अपूर्वमपि यो दृष्ट्वा संभाषयति वल्गु च। स ज्ञेयः पुरुषस्तज्ज्ञैर्गतोऽसावागतो दिवः ॥१॥

जिस गुण के कारण मृत पुरुष जीवित समझे जाते हैं—

न ते मृता येषामिहास्ति शाश्वती कीर्तिः ॥३१॥

अर्थ—जिन सज्जनों की लोक में परोपकार-आदि के कारण स्थायी कीर्ति व्याप्त है, स्वर्गारोहण करने पर भी उन्हें जीवित समझना चाहिए ॥३१॥

विशेषार्थ—नारद[1] ने भी कीर्तिशाली दिवंगत पुरुषों को जीवित बताया है।

पृथिवी का भाररूप मानव—

स केवलं भूभाराय जातो येन न यशोभिर्धवलितानि भुवनानि ॥३२॥

अर्थ—जिसने परोपकार-आदि गुणों से उत्पन्न होनेवाली अपनी कीर्तिचन्द्रिका से भुवनों को शुभ्र नहीं किया उसका जन्म पृथिवी के लिए भाररूप ही है ॥३२॥

विशेषार्थ—गौतम[2] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

योगी महापुरुषों का परोपकार—

परोपकारो योगिनां महान् भवति श्रेयोबन्ध इति ॥३३॥

अर्थ—योगी महापुरुषों द्वारा किये गए परोपकार अर्थात्—जनता के कल्याण कार्य जनता के लिए प्रचुर कल्याण-परम्परा है ॥३३॥

विशेषार्थ—जैमिनि[3] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

शरणागतों के प्रति कर्तव्य—

का नाम शरणागतानां परीक्षा ॥३४॥

अर्थ—अपनी शरण में आये हुए व्यक्तियों की परीक्षा नहीं करनी चाहिए ॥३४॥

स्वार्थ-युक्त परोपकार का दुष्परिणाम—

अभिभवनमन्त्रेण परोपकारो महापातकिनां न महासत्वानां ॥३५॥

अर्थ—प्रत्युपकार की इच्छा से परोपकार करना महापातकियों का कार्य है, महापुरुषों का नहीं ॥३५॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

शत्रुसभा में गुण-गान से हीन राजा का भविष्य—

तस्य भूपतेः कुतोऽभ्युदयो जयो वा यस्य द्विषत्सभासु नास्ति गुणग्रहणप्रागल्भ्यं ॥३६॥

अर्थ—जिस राजा के गुण-गान की प्रचुरता शत्रुओं की सभा में नहीं की जाती उसकी उन्नति और विजय किसप्रकार हो सकती है? अर्थात्—राजा को इतना शूरवीर और प्रभावशाली होना चाहिए जिससे शत्रु भी उसका गुण-गान करें ॥३६॥

१. तथा च नारदः—मृता अपि परिज्ञेया जीवन्तस्तेऽत्र भूतले। येषां सन्विद्यते कीर्तिस्तडागाकरपूर्विका ॥१॥
२. तथा च गौतमः—भुवनानि यशोभिर्नो यस्य शुक्लीकृतानि च। भूमिभाराय संजातः स पुमानिह केवलं ॥१॥
३. तथा च जैमिनिः—उपकारो भवेद्योऽत्र पुरुषाणां महात्मनां। कल्याणाय प्रभूताय स तेषां जायते ध्रुवम् ॥१॥
४. तथा च शुक्रः—महापातकयुक्ताः स्युस्ते निर्यान्ति वरं बलात्। अभिभवनमंत्रेण न सद्वाढं कथंचन ॥१॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी उक्त विषय का विवेचन किया है।

कुटुम्ब-संरक्षण—

तस्य गृहे कुटुम्बं धरणीयं यत्र न भवति परेषामिषम् ॥३७॥

अर्थ—आपत्ति के अवसर पर अपना कुटुम्ब ऐसे व्यक्ति के गृह पर छोड़ जाना चाहिए, जहाँ वह शत्रु-कृत उपद्रवों से सुरक्षित रह सके ॥३७॥

विशेषार्थ—जैमिनि[2] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

परस्त्री और परधन के संरक्षण का दुष्परिणाम—

परस्त्रीद्रव्यरक्षणेन नात्मनः किमपि फलं विप्लवेन महानर्थसम्बन्धः ॥३८॥

अर्थ—दूसरे की स्त्री और दूसरे के धन का संरक्षण करने से अपना कोई लाभ नहीं होता किन्तु दुर्भाग्य-वश किसी प्रकार का उपद्रव हुआ तो उससे महान् अनर्थ होता है ॥३८॥

विशेषार्थ—अत्रि[3] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

अनुरक्त सेवक के प्रति स्वामी का कर्तव्य—

आत्मानुरक्तं कथमपि न त्यजेत् यथास्ति तदन्ते तस्य सन्तोषः ॥३९॥

अर्थ—अपने यहाँ रहने से जिसे सन्तोष हो और जो अपने से अनुरक्त हो ऐसे सेवक का परित्याम कभी नहीं करना चाहिए ॥३९॥

विशेषार्थ—गुरु[4] के उद्धरण का भी उक्त अभिप्राय है।

त्याज्य सेवक—

आत्मसंभावितः परेषां भृत्यानामसहमानश्च भृत्यो हि बहुपरिजनमपि करोत्येकाकिनं स्वामिनं ॥४०॥

अर्थ—निस्सन्देह ऐसे सेवक को रखने से, जो कि घमण्डी होने के कारण दूसरे सेवकों की उन्नति को सहन नहीं करता, राजा के बहुत से भी सेवक धीरे-धीरे करके चले जाते हैं और राजा अकेला रह जाता है। अतः राजा को ऐसा सेवकों का प्रधान नियुक्त करना चाहिए, जो अपने साथियों की उन्नति से प्रसन्न हो एवं विनयशील हो ॥४०॥

विशेषार्थ—राजपुत्र[5] के उद्धरण में भी उक्त विषय का निरूपण है।

दण्डनीति—

अपराधानुरूपो दण्डः पुत्रेऽपि प्रणेतव्यः ॥४१॥

अर्थ—अपराध के अनुरूप पुत्र को भी दण्ड देना चाहिए ॥४१॥

विशेषार्थ—शुक्र[6] ने भी यही कहा है।

---

१. तथा च शुक्रः—कथं स्याद्विजयस्तस्य तथैवाभ्युदयः पुनः। भूपतेर्यस्य नो कीर्तिः कीर्त्यतेऽरिसभासु च ॥१॥

२. तथा च जैमिनिः—नामिषं मन्दिरे यस्य विप्लवं वा प्रपद्यते। कुटुम्बं धारयेत्तत्र य इच्छेच्छ्रेयमात्मनः ॥१॥

३. तथा च अत्रिः—परार्थं परनारी वा रक्षार्थं योऽत्र गृह्णाति। विप्लवं याति चेद्वित्तं तत्फलं वैरसम्भवं ॥१॥

४. तथा च गुरुः—अभियुक्तजनं यच्च न त्याज्यं तद्विवेकिनां। पोषणीयं प्रयत्नेन यदि तस्य शुभार्थता ॥१॥

५. तथा च राजपुत्रः—प्रसादाढ्यो भवेद्भृत्यः स्वामिनो यस्य दुष्टधीः। स त्यज्यतेऽन्यभृत्यैश्च [शुष्को वृक्षोऽण्डजैर्यथा] ॥१॥

६. तथा च शुक्रः—अपराधानुरूपोऽत्र दण्डः कार्यो महीभुजा। पुत्रस्यापि किमन्येषां ये स्युः पापपरायणाः ॥१॥

न्यायोचित कर—

देशानुरूपः करो ग्राह्यः ॥४२॥

अर्थ—देश की स्थिति के अनुसार ही कर ग्रहण करना चाहिए। अन्यथा अच्छी फसल-आदि न होने के कारण अधिक कर से पीड़ित हुई प्रजा राजा से विद्रोह करने तत्पर हो जाती है ॥४२॥

वक्ता के वचन—

प्रतिपाद्यानुरूपं वचनमुदाहर्तव्यं ॥४३॥

अर्थ—वक्ता श्रोता के अनुसार वचन बोले ॥४३॥

न्यायोचित व्यय—

आयानुरूपो व्ययः कार्यः ॥४४॥

अर्थ—मनुष्य को अपनी आमदनी के अनुसार ही खर्च करना चाहिए; क्योंकि विना सोचे-समझे अधिक खर्च करनेवाला कुबेर-सरीखा धनाढ्य होनेपर भी दरिद्र हो जाता है ॥४४॥

वेष-भूषा—

ऐश्वर्यानुरूपो विलासो विधातव्यः ॥४५॥

अर्थ—अपने धनादि ऐश्वर्य के अनुसार ही विलास अर्थात्—वेश-भूषा रखनी चाहिए ॥४५॥

पात्र-दान—

धनश्रद्धानुरूपस्त्यागोऽनुसर्तव्यः* ॥४६॥

अर्थ—अपने धन और श्रद्धा के अनुसार ही पात्र-दान करना चाहिए ॥४६॥

कार्य का प्रारम्भ—

सहायानुरूपं कर्म आरब्धव्यम्† ॥४७॥

अर्थ—बुद्धिमान पुरुष सहायकों के अनुकूल कार्य प्रारम्भ करे; क्योंकि उनके विना कार्य-सिद्धि संदिग्ध रहती है ॥४७॥

यथार्थ-सुख—

स पुमान् सुखी यस्यास्ति सन्तोषः ॥४८॥

अर्थ—वही व्यक्ति सच्चा सुखी है, जो सन्तोषी है। क्योंकि तीन लोक की सम्पत्ति प्राप्त हो जानेपर भी तृष्णा की दाह नष्ट नहीं होती, अतः उसका त्याग करने से ही वास्तविक सुख प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं ॥४८॥

अधम-पुरुष—

रजःस्वलाभिगामी चाण्डालादप्यधमः ॥४९॥

अर्थ—रजःस्वला स्त्री के साथ सम्भोग करनेवाला व्यक्ति चाण्डाल से भी अधिक नीच है ॥४९॥

विनयशील को उद्दण्ड न बनाना—

सलज्जं निर्लज्जं न कुर्यात् ॥५०॥

*. मु० मू० पुस्तकतः संकलितं। †. मु० मू० पुस्तकतः सं०

अर्थ—लज्जाशील व्यक्ति को निर्लज्ज नहीं बनाना चाहिए। अर्थात्—लज्जा के वश विनम्रभाव से रहनेवाले व्यक्ति को निर्लज्ज बनाना उचित नहीं है क्योंकि निर्लज्ज व्यक्ति अनर्गल प्रवृत्ति करने से नहीं चूकता ॥५०॥

दुराचार का कुप्रभाव—

स पुमान् सवस्त्रोऽपि नग्न एव यस्य नास्ति सच्चरित्रमावरणम् ॥५१॥

अर्थ—जो सदाचाररूपी आवरण से विभूषित नहीं है, वह वस्त्रों से वेष्टित हुआ भी नग्न ही है ॥५१॥

सदाचार का महत्व—

स नग्नोऽप्यनग्न एव यो भूषितः सच्चरित्रेण ॥५२॥

अर्थ—जो व्यक्ति सच्चरित्र से विभूषित है, वह नग्न होने पर भी वस्त्र-युक्त है ॥५२॥

सर्वत्र संदिग्ध व्यक्ति की हानि—

सर्वत्र संशयानेषु नास्ति कार्यसिद्धिः ॥५३॥

अर्थ—सभी स्थानों में सन्देह करनेवालों के कार्य सिद्ध नहीं होते ॥५३॥

उत्तम रसायन—

न क्षीरघृताभ्यां परं रसायनमस्ति ॥५४॥

अर्थ—दूध और घी से बढ़कर दूसरी कोई उत्तम रसायन नहीं है ॥५४॥

दुष्ट-कार्य—

परोपघातेन वृत्तिरभव्यानां ॥५५॥

अर्थ—दूसरों को पीड़ित कर अपना जीवन-निर्वाह करना दुष्टों का कार्य है ॥५५॥

पराश्रित भोजन—

वरमुपवासो न पराधीनं भोजनम् ॥५६॥

अर्थ—उपवास कर लेना उत्तम है किन्तु दूसरों के अधीन रहकर भोजन करना श्रेष्ठ नहीं। क्योंकि पराश्रित भोजन अनिश्चित और अनियमित होने से विशेष कष्ट-प्रद होता है ॥५६॥

निवास के योग्य देश—

स देशोऽनुसर्तव्यो यत्र नास्ति वर्णसङ्करः ॥५७॥

अर्थ—उस देश में निवास करना चाहिए, जिसमें वर्णसङ्कर लोग न हों ॥५७॥

जन्मान्ध—

स जात्यन्धो यः परलोकं न पश्यति ॥५८॥

अर्थ—जो व्यक्ति अपने सत्कर्तव्यों के अनुष्ठान द्वारा पारलौकिक हित में प्रयत्नशील नहीं है, वह जन्मान्ध है ॥५८॥

यथार्थ ब्राह्मण—

व्रतं विद्या सत्यमानृशंस्यमलौल्यता च ब्राह्मण्यं न पुनर्जातिमात्रम् ॥५९॥

अर्थ—केवल ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने मात्र से ब्राह्मण नहीं गिना जाता, परन्तु व्रतों (अहिंसा, सत्य और अचौर्य-आदि) का परिपालन, ज्ञानाभ्यास, सत्यभाषण, क्रूरता का त्याग और सन्तोष-आदि प्रशस्त गुणों को धारण करने से वास्तविक ब्राह्मण माना गया है ॥५९॥

विशेषार्थ—भगवज्जिनसेनाचार्य[1] ने भी यथार्थ ब्राह्मण के विषय में यही उल्लेख किया है।

निःस्पृहाणां का नाम परापेक्षा ॥६०॥

अर्थ—जो मानव निःस्पृह हैं, अर्थात्—जिन्हें धनादि की अभिलाषा नहीं है, उन्हें दूसरे व्यक्ति की सहायता-आदि की क्या आवश्यकता है ? ॥६०॥

दुःख का कारण—

कं पुरुषमाशा न क्लेशयति ॥६१॥

अर्थ—तृष्णा से कौन मानव दुःखित नहीं होता ? ॥६१॥

विशेषार्थ—सुन्दरलाल[2] कवि (सम्पादक) ने भी 'तृष्णा को दुःख का कारण और सन्तोष को सुखप्रद कहा है'।

यथार्थ संयमी और गृहस्थ की परिभाषा—

स संयमी गृहाश्रमी वा यस्याविद्यातृष्णाभ्यामनुपहतं चेतः ॥६२॥

अर्थ—जिसकी मनोवृत्ति अज्ञान और तृष्णा से दूषित नहीं है वही व्यक्ति यथार्थ संयमी अथवा गृहस्थ है ॥६२॥

सच्चा आभूषण—

शीलमलङ्कारः पुरुषाणां न देहखेदावहो बहिराकल्पः ॥६३॥

अर्थ—पुरुषों के लिए शील ही आभूषण है ऊपरी कटक-कुण्डलादि शरीर को कष्ट पहुँचानेवाले हैं, अतः वे वास्तविक आभूषण नहीं ॥६३॥

विशेषार्थ—भर्तृहरि[3] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

राजा की मैत्री—

कस्य नाम नृपतिर्मित्रम् ॥६४॥

अर्थ—राजा किसका मित्र होता है ? किसी का नहीं, क्योंकि वह अपराध करनेवाले मित्र को भी दण्ड देने से नहीं चूकता ॥६४॥

---

१. तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—तपः श्रुतं च जातिश्च त्रयं ब्राह्मण कारणं।
तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥१॥ —आदिपुराण से।

२. तथा च सुन्दरलालः कविः सम्पादकः—जो दस बीस पचास भये, शत लक्ष करोर की चाह जगेगी।
अरब खरब लौं द्रव्य भयो तो धरापति होने की चाह जगेगी।
उदय अस्त तक राज्य भयो, पर तृष्णा और ही और बढ़ेगी।
सुन्दर एक सन्तोष बिना नर तेरी तो भूख कभी न मिटेगी ॥१॥

३. तथा च भर्तृहरिः—श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन, दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन।
विभाति कायः करुणाकुलानां, परोपकारेण न तु चन्दनेन ॥१॥

दो सूत्रों में दुष्ट और याचक के प्रति कर्तव्य—

अप्रियकर्तुर्न प्रियकरणात्परममाचरणम् ॥६५॥

अर्थ—अप्रिय आचरण करनेवाले दुर्जन व्यक्ति के प्रति प्रिय व्यवहार करना अर्थात्—सज्जनता का वर्ताव करना सर्वोत्तम आचरण है ॥६५॥

अप्रयच्छन्नर्थिने न परुषं ब्रूयात् ॥६६॥

अर्थ—जिसे कुछ देने की इच्छा नहीं है ऐसे याचक के प्रति कठोर वचन नहीं बोलना चाहिए ॥६६॥

याचकों के लिए निरर्थक स्वामी—

स स्वामी मरुभूमिर्यत्रार्थिनो न भवन्तीष्टकामाश्च ॥६७॥

अर्थ—वह स्वामी याचकों के लिए मरुभूमि-सरीखा है, जिसके पास आकर वे लोग इच्छित वस्तु प्राप्त कर अपना मनोरथ पूर्ण नहीं कर सकते ॥६७॥

राजा की यथार्थ पूजा—

प्रजापालनं हि राज्ञो यज्ञो न पुनर्भूतानामालम्भः ॥६८॥

अर्थ—प्रजा का पालन करना ही राजा का यज्ञ (पूजा) है न कि प्राणियों की बलि देना ॥६८॥

सैन्य शक्ति का यथार्थ उपयोग—

प्रभूतमपि नानपराधसत्वव्यापत्तये नृपाणां बलं धनुर्वा किन्तु शरणागतरक्षणाय ॥६९॥

अर्थ—राजाओं का प्रचुर शक्तिशाली सैन्यबल अथवा दृढ़ धनुष, निरपराध व्यक्तियों को नष्ट करने के लिए नहीं किन्तु शरणागतों की रक्षार्थ होता है ॥६९॥

इति सदाचार-समुद्देश. ।

२७. व्यवहार-समुद्देशः

मनुष्यों का दृढ़ बन्धन—

कलत्रं नाम नराणामनिगडमपि बन्धनं दृढमाहुः ॥१॥

अर्थ—विद्वानों ने कहा है कि पुरुषों के लिए स्त्रीरूप बन्धन लोह-शृङ्खला-वाला न हो करके भी दृढ़ बन्धन है ॥१॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

पालन पोषण के योग्य—

त्रीण्यवश्यं भर्तव्यानि माता कलत्रमप्राप्तव्यवहाराणि चापत्यानि ॥२॥

अर्थ—माता, स्त्री और प्रौढ़ न होने के कारण जीविका करने में असमर्थ पुत्रों का पालन-पोषण अवश्य करना चाहिए ॥२॥

---

१. तथा च शुक्रः—न कलत्रात्परं किंचिद्बन्धनं विद्यते नृणां । यस्मात्तत्स्नेहनिर्बद्धो न करोति शुभानि यत् ॥१॥

विशेषार्थ—गुरु[1] ने भी उक्त माता-आदि का सदा संरक्षण बताया है।

तीर्थ-सेवा का फल—

दानं तपः प्रायोपवेशनं तीर्थोपासनफलम् ॥३॥

अर्थ—पात्र-दान, तपश्चर्या और उपवास करना ये तीर्थ सेवा के फल हैं ॥३॥

विशेषार्थ—गर्ग[2] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

२ सूत्रों में तीर्थवासियों की प्रकृति—

तीर्थोपवासिषु देवस्वापरिहरणं क्रव्यादेषु कारुण्यमिव, स्वाचारच्युतेषु पापभीरुत्वमिव प्राहुः ॥४॥

अर्थ—जिसप्रकार व्याघ्रादि हिंसक जन्तुओं में दयालुता का होना और आचार-भ्रष्ट पुरुषों में पाप भीरुता का होना असंभव होता है उसीप्रकार तीर्थ स्थान में वास करने वाले व्यक्तियों में भी देवता पर चढ़ाई हुई द्रव्य का त्याग करना भी असंभव होता है, अर्थात्—वे लोग देवद्रव्य का ग्रहण कर लेते हैं ऐसा विद्वानों ने कहा है ॥४॥

अधार्मिकत्वमतिनिष्ठुरत्वं वञ्चकत्वं प्रायेण तीर्थवासिनां प्रकृतिः ॥५॥

अर्थ—तीर्थस्थानों में निवास करनेवाले मनुष्यों की प्रकृति प्रायः अधार्मिक, विशेष निर्दयी और वञ्चना करनेवाली होती है ॥५॥

निन्द्य स्वामी—

स किं प्रभुर्यः कार्यकाले एव न संभावयति भृत्यान् ॥६॥

अर्थ—वह स्वामी निन्द्य है, जो कार्य के अवसर पर सेवकों को पुरस्कार-आदि के वितरण द्वारा सन्मानित नहीं करता ॥६॥

विशेषार्थ—भृगु[3] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

निन्द्य सेवक और निन्द्य मित्र—

स किं भृत्यः सखा वा यः कार्यमुद्दिश्यार्थं याचते ॥७॥

अर्थ—जो सेवक अपने द्वारा स्वामी की प्रयोजन-सिद्धि समझकर उससे धन की याचना करता है इसीप्रकार जो मित्र अपने द्वारा मित्र की प्रयोजन-सिद्धि समझकर उससे धन की याचना करता है वे दोनों सेवक और मित्र निन्दनीय हैं ॥७॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[4] ने भी ऐसे स्वार्थान्ध सेवक और मित्र को दुर्जन बताया है।

निन्द्य पत्नी—

यार्थेन प्रणयिनी करोति चाङ्गाकृष्टिं सा किंभार्या ॥८॥

अर्थ—वह स्त्री निन्द्य है जो धन के कारण पति से प्रेम प्रदर्शित करती हुई उसका गाढ़ालिङ्गन करती है ॥८॥

१. तथा च गुरुः—मातरं च कलत्रं च गर्भरूपाणि यानि च। अप्राप्तव्यवहाराणि सदा पुष्टिं नयेद् बुधः ॥१॥

२. तथा च गर्गः—मुक्त्वा दानं तपो वाथ तथा प्रायोपवेशनं। करोति यच्चतुर्थं यत्तीर्थे कर्म स पापभाक् ॥१॥

३. तथा च भृगुः—कार्यकाले तु सम्प्राप्ते संभावयति न प्रभुः। यो भृत्यं सर्वकालेषु स त्याज्यो दूरतो बुधैः ॥१॥

४. तथा च भारद्वाजः—कार्ये जाते च यो भृत्यः सखा वार्थं प्रयाचते। न भृत्यः स सखा नैव तौ द्वावपि हि दुर्जनौ ॥१॥

विशेषार्थ—नारद[1] ने भी उक्त विषय का उल्लेख किया है।

निन्द्य देश—

स किं देशो यत्र नास्त्यात्मनो वृत्तिः ॥९॥

अर्थ—वह देश निन्द्य है जहाँपर मनुष्य के लिए जीविका के साधन कृषि व व्यापार-आदि नहीं हैं ॥९॥

विशेषार्थ—गौतम[2] ने भी जीविका-शून्य स्वदेश को भी छोड़ देने का उल्लेख किया है।

निन्द्य भ्राता—

स किं बन्धुर्यो व्यसनेषु नोपतिष्ठते ॥१०॥

अर्थ—वह बन्धु निन्द्य है जो आपत्तिकाल में अपने भाई की सहायता नहीं करता ॥१०॥

विशेषार्थ—चाणिक्य[3] ने भी कहा है—कि 'जिसप्रकार बीमारी शरीर में पैदा होनेपर भी अनिष्ट होती है जब कि दूरदेशवर्ती जंगल में पैदा होने वाली औषधि इष्ट होती है उसीप्रकार अनिष्ट चिन्तवन करनेवाला सहोदर बन्धु भी शत्रु-सा है और विपत्तिकाल में सहायता देनेवाला दूसरा व्यक्ति बन्धु से भी बढ़कर है'।

निन्द्य मित्र—

तत् किं मित्रं यत्र नास्ति विश्वासः ॥११॥

अर्थ—वह मित्र निन्द्य है जो अपने मित्र के धन, धान्य और कलत्र (स्त्री) की रक्षा करने में विश्वास-घात करता है ॥११॥

विशेषार्थ—गर्ग[4] ने भी मित्र द्वारा अर्पित धन-धान्यादि को रक्षा करनेवाले को सच्चा मित्र कहा है।

निन्द्य गृहस्थ—

स किं गृहस्थो यस्य नास्ति सत्कलत्रसम्पत्तिः ॥१२॥

अर्थ—जिसके पास सती पतिव्रता भार्यारूप सम्पत्ति नहीं है, वह गृहस्थ निन्द्य है ॥१२॥

विशेषार्थ—शुक्र[5] ने भी कुरूप, शीलभ्रष्ट, बाँझ व कलहकारिणी स्त्रीवाले गृहस्थ को नारकी बताया है।

कुत्सित-दान—

तत्किं दानं यत्र नास्ति सत्कारः ॥१३॥

अर्थ—वह दान निन्द्य है, जिसमें दान-ग्रहण करनेवाले पात्र का यथायोग्य सन्मान नहीं किया जाता ॥१३॥

विशेषार्थ—वशिष्ठ[6] ने भी सन्मानपूर्वक दान का अक्षय फल निर्दिष्ट किया है।

१. तथा च नारदः—मोहने रक्षतेऽङ्गानि यार्थेन विनयं व्रजेत्। न सा भार्या परिज्ञेया पण्यस्त्री सा न संशयः ॥१॥

२. तथा च गौतमः—स्वदेऽशेपि न निर्वाहो भवेत्स्वल्पोऽपि यत्र च। विज्ञेयः परदेशः स त्याज्यो दूरेण पण्डितैः ॥१॥

३. तथा च चाणिक्यः—परोऽपि हितवान् बन्धुर्बन्धुरप्यहितः परः। अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौषधम् ॥१॥

४. तथा च गर्गः—धनं धान्यं कलत्रं वा निर्विकल्पेन चेतसा। अर्पितं रक्षयेद्यस्तु तन्मित्रं कथितं बुधैः ॥१॥

५. तथा च शुक्रः—कुरूपा गतशीला च वंध्या युद्धपरा सदा। स गृहस्थो न भवति स नरकस्थः कथ्यते ॥१॥

६. तथा च वशिष्ठः—काले पात्रे तथा तीर्थे शास्त्रोक्तविधिना सह। यद्दत्तं चाक्षयं तद्विशेषं स्यादेकजन्मजम् ॥१॥

निन्द्य आहार—

तत् किं भुक्तं यत्र नास्त्यतिथिसंविभागः ॥१४॥

अर्थ—भोजन की वेला में अतिथियों के लिए आहार-दान न देनेवाले व्यक्ति का आहार निन्द्य है ॥१४॥

विशेषार्थ—नारद[1] ने भी 'अतिथियों के लिए आहार-दान दिये बिना भोजन करनेवाले गृहस्थ को दो पैर वाला बिना सीगों का पशु कहा है।'

निन्द्य प्रेम—

तत्किं प्रेम यत्र कार्यवशात् प्रत्यावृत्तिः ॥१५॥

अर्थ—जहाँ प्रयोजन-वश अर्थात्—स्वार्थसिद्धि के कारण प्रवृत्ति हो वह प्रेम निन्द्य है ॥१५॥

विशेषार्थ—वादीभसिंहसूरि[2] ने भी इकतरफी प्रेम को मूर्खों की चेष्टा बताई है।

निन्द्य आचार—

तत् किमाचरणं यत्र वाच्यता मायाव्यवहारो वा ॥१६॥

अर्थ—मानव का वह आचार निन्द्य है, जिसमें अपकीर्ति और छल-कपट-पूर्ण व्यवहार हो ॥१६॥

विशेषार्थ—जैमिनि[3] ने भी लोक-निन्दित आचारवाले विद्वान् की विद्वत्ता व्यर्थ बताई है।

निन्द्य पुत्र—

तत् किमपत्यं यत्र नाध्ययनं विनयो वा ॥१७॥

अर्थ—वह पुत्र निन्द्य है, जो विद्याभ्यास से शून्य है और जो माता-पिता-आदि हितैषियों की विनय (भक्ति) नहीं करता ॥१७॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[4] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

निन्द्य ज्ञान—

तत्किं ज्ञानं यत्र मदेनान्धता चित्तस्य ॥१८॥

अर्थ—उस मानव का ज्ञान निन्द्य है, जिसकी चित्तवृत्ति विद्या के गर्व से दूषित है ॥१८॥

विशेषार्थ—शुक्र[5] ने भी ज्ञान का मद करने वाले की कटु आलोचना की है।

निन्दनीय सज्जनता—

तत्किं सौजन्यं यत्र परोक्षे पिशुनभावः ॥१९॥

अर्थ—पीठ पीछे दूसरे की निन्दा व चुगली करनेवाले और समक्ष में प्रिय वचन बोलनेवाले की सज्जनता निन्द्य है ॥१९॥

१. तथा च नारदः—अदत्त्वा यो नरोऽन्यत्र स्वयं भुंक्ते गृहाश्रमी। स पशुर्नास्ति सन्देहो द्विपदः शृङ्गवर्जितः ॥१॥

२. तथा च वादीभसिंहसूरिः—एककोटिगतस्नेहो जड़ानां खलु चेष्टितम्। क्षत्रचूड़ामणिः—

३. तथा च जैमिनिः—जायते वाच्यता यस्य श्रोत्रियस्य वृथा हि तत्। अनाचारात्समादिष्टं श्रोत्रियत्वं वदन्ति ना ? ॥१॥

४. तथा च वल्लभदेवः—कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न च धार्मिकः। किं तया क्रियते धेन्वा या न सूते न दुग्धदा ॥१॥

५. तथा च शुक्रः—विद्यामदो भवेन्नीचः पश्यन्नपि न पश्यति। पुरस्थे पूज्यलोके च नातिवाह्यं च वाहृतः ॥१॥

विशेषार्थ—गुरु[1] ने भी पीठ पीछे निन्दा करनेवाले की सज्जनता विषभक्षण सरीखी घातक निर्दिष्ट की है।

निन्द्य लक्ष्मी—

सा किं श्रीर्यया न सन्तोषः सत्पुरुषाणाम् ।।२०।।

अर्थ—अपनी विद्यमान सम्पत्ति से सन्तुष्ट न रहनेवाले सत्पुरुषों की सम्पत्ति निन्द्य है, क्योंकि वे लोग तृष्णा-वश दुःखी रहते हैं ।।२०।।

निन्द्य उपकार—

तत्किं कृत्यं यत्रोक्तिरुपकृतस्य ।।२१।।

अर्थ—किसी व्यक्ति का उपकार करके उसके समक्ष प्रकट करना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से वह प्रत्युपकार के वदले उपकारी से वैर-विरोध करने तत्पर हो जाता है ।।२१।।

विशेषार्थ—भागुरि[2] ने भी प्रत्युपकार की अभिलाषा से किये जानेवाले उपकार को निष्फल वताया है।

नियुक्ति के अयोग्य—

तयोः को नाम निर्वाहो यौ द्वावपि प्रभूतमानिनौ पंडितौ लुब्धौ मूर्खौ चासहनौ वा ।।२२।।

अर्थ—ऐसे उन दो व्यक्तियों का निर्वाह कैसे हो सकता है? जो दोनों ही बड़े घमण्डी, पण्डित व लोभी हों, अथवा दोनों मूर्ख और असहिष्णु हों ।।२२।।

विशेषार्थ—हारीत[3] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

दान दी हुई वस्तु के विषय में—

स्ववान्त इव स्वदत्ते नाभिलाषं कुर्यात् ।।२३।।

अर्थ—अपने द्वारा वमन की हुई वस्तु की तरह अपने द्वारा दिये हुए दान को ग्रहण करने की अभिलाषा नहीं करनी चाहिए ।।२३।।

विशेषार्थ—जैमिनि[4] ने भी दान की हुई वस्तु के विषय में उक्त प्रकार कहा है।

तीन सूत्रों द्वारा सत्पुरुषों के कर्तव्य—

उपकृत्य मूकभावोऽभिजातानाम् ।।२४।।

अर्थ—कुलीन पुरुष किसी का उपकार करके उसका दिग्दर्शन न करते हुए मौन रहते हैं ।।२४।।

विशेषार्थ—वल्लभदेव[5] ने भी इसीप्रकार कहा है।

परदोषश्रवणे बधिरभावः सत्पुरुषाणाम् ।।२५।।

---

१. तथा च गुरुः—प्रत्यक्षेऽपि प्रियं ब्रूते परोक्षे तु विभाषते । सौजन्यं तस्य विज्ञेयं यथा किंपाकभक्षणं ।।१।।

२. तथा च भागुरिः—योऽन्यस्य कुरुते कृत्यं प्रतिकृत्यतिवाञ्छया । न तत्र कृत्यं भवेत्तस्य पश्चात्फलप्रदायकम् ।।१।।

३. तथा च हारीतः—समर्थौ मानसंयुक्तौ पण्डितौ लोभसंश्रयौ । मिथोपदेशपरौ मूर्खौ कृत्ये मिथो न योजयेत् ।।१।।

४. तथा च जैमिनिः—स्वयं दत्तं च यद्दानं न ग्राह्यं पुनरेव तत् । यथा स्ववान्तं तद्वच्च दूरतः परिवर्जयेत् ।।१।।

५. तथा च वल्लभदेवः—इयमपरा काचिद् दृश्यते महतां महती वा भावचित्तता ।
उपकृत्य भवन्ति दूरतः परतः प्रत्युपकारशङ्कया ।।१।।

अर्थ—सज्जन पुरुष दूसरे के दोष सुनने के समय बहरे बन जाते हैं। अर्थात्—दूसरे के दोष नहीं सुनते ॥२५॥

विशेषार्थ—गर्ग[1] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

वादीभसिंहसूरि[2] ने भी अपने दोषों पर दृष्टि रखनेवाले को मोक्षमार्गी कहा है।

परकलत्रदर्शनेऽन्धभावो महाभाग्यानाम् ॥२६॥

अर्थ—महाभाग्यशाली व्यक्ति पर स्त्रियों की ओर दृष्टि-पात करने के अवसर पर अन्धे बन जाते हैं। अर्थात्—उनका अपनी पत्नी के सिवाय अन्य स्त्री जाति पर मातृ भगिनी भाव होता है ॥२६॥

विशेषार्थ—हारीत[3] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

गृह पर आये हुए शत्रु के प्रति कर्त्तव्य—

शत्रावपि गृहागते संभ्रमः कर्तव्यः किं पुनर्न महति ॥२७॥

अर्थ—जब कि अपने गृह में शत्रु के भी आने पर उसका सन्मान करना उचित है तो महापुरुष के आनेपर उसका सन्मान क्यों नहीं किया जायगा ? ॥२७॥

विशेषार्थ—भागुरि[4] ने भी गृहागत शत्रु के विषय में इसीप्रकार कहा है।

गुप्त रखने लायक वस्तु—

अन्तःसारधनमिव स्वधर्मो न प्रकाशनीयः ॥२८॥

अर्थ—अपना धर्माचरण (दान-पुण्यादि) दूसरों के समक्ष उसप्रकार प्रकाशित नहीं करना चाहिए जिस-प्रकार अपना गुप्त धन प्रकाशित नहीं किया जाता ॥२८॥

विशेषार्थ—व्यास[5] ने भी अपना धर्म व्यक्त करनेवाले को मूर्ख कहा है।

दोष-शुद्धि के उपाय—

मदप्रमादजैर्दोषैर्गुरुषु निवेदनमनुशयः प्रायश्चित्तं प्रतीकारः ॥२९॥

अर्थ—गर्व और काम-क्रोधादि कषाय-वश होनेवाले दोषों की शुद्धि के लिए निम्नप्रकार तीन प्रतीकार या उपाय हैं—अपने दोषों को गुरुजनों के समक्ष प्रकट कर देना, किये हुए दोषों पर पश्चात्ताप करना और प्रायश्चित्त कर लेना ॥२९॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[6] ने भी दोष शुद्धि के विषय में उक्त प्रकार कहा है।

श्रीमान् का प्रशंसनीय धनार्जन—

श्रीमतोऽर्थार्जने कायक्लेशो धन्यो, यो देवद्विजान् प्रीणाति ॥३०॥

१. तथा च गर्गः—परदोषान्न शृण्वन्ति येऽपि स्युर्नरपुङ्गवाः। शृण्वतामपि दोषः स्यात्ततो दोषान्यसंभवात् ? ॥१॥

२. तथा च वादीभसिंहसूरिः—अन्यदीयमिवात्मीयमपि दोषं प्रपश्यता। कः समः खलु मुक्तोऽयं युक्तः कायेन चेदपि ॥१॥

३. तथा च हारीतः—अन्यदेहान्तरे धर्मो यैः कृतश्च सुपुष्कलः। इह जन्मनि तेऽन्धस्य न वीक्षन्ते नितंबिनीम् ॥१॥

४. तथा च भागुरिः—अनादरो न कर्तव्यः शत्रोरपि विवेकिना। स्वगृहे आगतस्यात्र किं पुनर्महतोऽपि च ॥१॥

५. तथा च व्यासः—स्वकीयं कीर्तयेद्धर्मं यो जनाग्रे स मन्दधीः। क्षयं गतः समायाति पापस्य कथितस्य च ॥१॥

६. तथा च भारद्वाजः—मदप्रमादजं पापं यथा स्यात्तन्निवेदयेत्। गुरुभ्यो मुक्तिमाप्नोति मनस्तापो न भारत ॥१॥

अर्थ—जो धनाढ्य व्यक्ति अपने धन से देव और ब्राह्मणों तथा याचकों के लिए सन्तुष्ट करता है, उसका धनोपार्जन के लिए शारीरिक कष्ट उठाना धन्यवाद के योग्य है ॥३०॥

विशेषार्थ—ऋषि पुत्रक[1] ने भी यही कहा है।

नीचों की परिभाषा—

चणका इव नीचा उदरस्थापिता अपि नाविकुर्वाणास्तिष्ठन्ति ॥३१॥

अर्थ—नीच पुरुषों का चाहे कितना ही उपकार किया जावे तथापि वे चनों के भक्षण-सरीखे विना अपकार किये विश्राम नहीं लेते। अर्थात्—जिसतरह खाये हुए चने विकार (अधोवायु निस्सारण द्वारा हंसी मजाक कराना) उत्पन्न करते हैं उसीप्रकार उपकृत हुए नीच भी अपकार कर बैठते हैं ॥३१॥

विशेषार्थ—भागुरि[2] ने भी उक्त अभिप्राय व्यक्त किया है।

वन्दनीय चरित्रवाला—

स पुमान् वन्द्यचरितो यः प्रत्युपकारमनवेक्ष्य परोपकारं करोति ॥३२॥

अर्थ—उस व्यक्ति का आचरण वंदनीय है, जो प्रत्युपकार की आशा न करता हुवा दूसरों का उपकार करता है ॥३२॥

विशेषार्थ—भागुरि[3] व भर्तृहरि[4] ने भी उक्त सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है।

पाँच वस्तुएँ सभी के लिए कष्टदायक हैं—

अज्ञानस्य वैराग्यं भिक्षोर्विटत्वमधनस्य विलासो वेश्यारतस्य शौचमविदितवेदितव्यस्य तत्वाग्रह इति पंच न कस्य मस्तकशूलानि ॥३३॥

अर्थ—अज्ञानी का वैराग्य धारण करना, तपस्वी का काम सेवन, दरिद्र का शृंगार विधान, वेश्यासक्त की पवित्रता तथा तत्त्वज्ञान अर्थात्—ब्रह्मज्ञान से पूर्व जानने योग्य तत्वों को जाने विना तत्वज्ञान के लिए आग्रह करना ये पाँच किसके लिए 'शिर दर्द' नहीं होते, अर्थात्—उक्त पाँच वस्तुएँ दुःखजनक हैं ॥३३॥

विशेषार्थ—भगवत्पाद[5] ने भी उक्त पाँच वातों को पीड़ाजनक वताया है।

पञ्च महापातकी—

स हि पञ्चमहापातकी योऽशस्त्रमशास्त्रं वा पुरुषमभियुञ्जीत ॥३४॥

अर्थ—जो व्यक्ति शस्त्र-रहित निहत्थे व्यक्ति पर शस्त्र-प्रहार करता है और शास्त्र-रहित अर्थात् मूर्ख से शास्त्रार्थ करने तत्पर होता है, वह पंच महापातकी के कटुक फल भोगता है ॥३४॥

विशेषार्थ—गर्ग[6] ने भी उक्त विषय का उल्लेख किया है।

१. तथा च ऋषिपुत्रकः—कायक्लेशो भवेद्यस्तु धनार्जनसमुद्भवः। स शंस्यो धनिनो योऽत्र संविभागो द्विजार्थिषु ॥१॥

२. तथा च भागुरिः—चणकैः सदृशः ज्ञेया नीचास्तान्न समाश्रयेत्। सदा जनस्य मध्ये तु प्रकुर्वन्ति विडम्बनं ॥१॥

३. तथा च भागुरिः—उपकाररतो यस्तु वाञ्छते न स्वयं पुनः। उपकारः स वन्द्यः स्याद्वाञ्छते यो न च स्वयं ॥१॥

४. तथा च भर्तृहरिः—एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये ॥½॥

५. तथा च भगवत्पादः—मूर्खस्य तु सुवैराग्यं विटकर्म तपस्विनः। निर्धनस्य विलासित्वं शौचं वेश्यारतस्य च ॥१॥
तत्वत्यागो ब्रह्मविदो पंचैते कण्टकाः स्मृताः ॥२॥

६. तथा च गर्गः—स्त्रीबालगोद्विजस्वामिपंचानां वधकारकः। अशस्त्रं शास्त्रहीनं च हि युंजति ? ॥१॥

कार्य-वश नीच के पास जावे—

उपश्रुतिं श्रोतुमिव कार्यवशान्नीचमपि स्वयमुपसर्पेत् ॥३५॥

अर्थ—जिसप्रकार प्रयोजन-वश शकुन शब्द सुना जाता है, यदि शुभ सूचक होता है तो वह कार्य किया जाता है अन्यथा छोड़ दिया जाता है उसीप्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति को स्वार्थ-सिद्धि के लिए नीच पुरुष के भी पास स्वयं जाकर उसके वचन श्रवण करना चाहिए और अनुकूल होनेपर मानना चाहिए अन्यथा नहीं ॥३५॥

विशेषार्थ—गुरु[1] का उद्धरण भी नीच पुरुष के विषय में समानार्थक है।

२ सूत्रों में वेश्या-समागम का दुष्परिणाम—

वेश्यागमो गृहिणीं गृहपतिं वा प्रत्यवसादयति ॥३६॥

अर्थ—वेश्या के समागम से गृहिणी और गृहस्वामी का विनाश हो जाता है ॥३६॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] का उद्धरण भी वेश्यासमागम से उक्त हानि का निर्देश करता है।

वेश्यासंग्रहो देवद्विजगृहिणीबन्धूनामुच्चाटनमन्त्रः ॥३७॥

अर्थ—वेश्या-संग्रह देव, ब्राह्मण, अपनी स्त्री और बन्धुजनों से पृथक् करानेवाला उच्चाटन मन्त्र के प्रयोग-सरीखा है ॥३७॥

विशेषार्थ—गुरु[3] के दो उद्धरणों में भी वेश्या संग्रह से उक्त हानि का उल्लेख है।

लोक के पापोदय से होनेवाला बुद्धि-भ्रम—

अहो लोकस्य पापं यन्निजस्त्री रतिरपि भवति निम्बसमा, परगृहीता शुन्यपि भवति रम्भासमा ॥३८॥

अर्थ—पाप के विषय में लोगों की यह कैसी विडम्बना है? कि जिसके कारण वे लोग अपनी रति-सरीखी सुन्दर प्रिया को भी नीम-सरीखी अप्रिय मान बैठते हैं और दूसरे की स्त्री कुतिया-सरीखी क्षुद्र होनेपर भी रम्भा-सरीखी अर्थात्—देवलोक की अप्सरा-सरीखी प्रिय मान बैठते हैं ॥३८॥

एक स्त्री से लाभ—

स सुखी यस्य एक एव दारपरिग्रहः ॥३९॥

अर्थ—सुखी वही पुरुष है, जिसके एक ही स्त्री होती है ॥३९॥

विशेषार्थ—चाणिक्य[4] ने भी दो पत्नियों को कलह का बीज बताया है।

दो सूत्रों में काम-लम्पट का सुख—

व्यसनिनो यथासुखमभिसारिकासु न तथाऽर्थवतीषु ॥४०॥

अर्थ—काम-लम्पट व्यक्ति को व्यभिचारिणी स्त्रियों से जैसा सुख प्राप्त होता है वैसा वेश्याओं से नहीं ॥४०॥

---

१. तथा च गुरुः—अपि नीचोऽपि गन्तव्यः कार्ये महति संस्थिते। यदि स्यात्तद्वचो भद्रं तत्कार्यमथवा त्यजेत् ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—वेश्यारागो गृहस्थस्य गृहिणीं नाशयेत् पुरः। असद्व्ययेन पश्चाच्च येनानीता तमप्यहो ॥१॥

३. तथा च गुरुः—न वेश्या चिन्तयेत् पुंसां किमप्यस्ति च मन्दिरे। स्वकार्यमेव कुर्वाणा नरः सोऽपि च तद्रसात् ॥१॥
कृत्वा शीलपरित्यागं तस्या वाञ्छां प्रपूरयेत्। ततश्च मुच्यते सर्वैर्भार्यावान्धवपूर्वजैः ॥२॥

४. तथा च चाणिक्यः—अपि साधुजनोत्पन्ने द्वे भार्ये यत्र संस्थिते। कलहस्तत्र नो याति गृहाच्चैव कदाचन ॥१॥

विशेषार्थ—दन्तिल[1] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

महान् धनव्ययस्तदिच्छानुवर्तनं दैन्यं चार्थवतीषु ॥४१॥

अर्थ—वेश्याओं में अनुराग करने से व्यसनी का प्रचुर धन व्यय होता है एवं उनकी इच्छा का अनुसरण करना पड़ता है और दीनता प्रकट करनी पड़ती है ॥४१॥

सुख-प्रद वस्तुएँ—

आस्तरणं कम्बलो जीवधनं गर्दभः परिग्रहो वोढा सर्वकर्माणश्च भृत्या इति कस्य नाम न सुखावहानि* ॥४२॥

अर्थ—बिछाने का विस्तर, ओढ़ने का कम्वल, कृषि-आदि में उपयोगी पशुधन—गाय-बैल-आदि, गदहा, विवाहित स्त्रीरूप परिग्रह, बोझ ढोनेवाला मजूर एवं समस्त कार्य करने में कुशल सेवक ये किसके लिए सुखदायक नहीं होते ? अर्थात्—इनसे सभी को सुख प्राप्त होता है ॥४२॥

लोभ से हानि—

लोभवति भवन्ति विफलाः सर्वे गुणाः‡ ॥४३॥

अर्थ—लोभी व्यक्ति के समस्त विद्या-आदि गुण निष्फल होते हैं ॥४३॥

याचना से हानि—

प्रार्थना कं नाम न लघयति※ ॥४४॥

अर्थ—याचना करनेवाला कौन व्यक्ति लघु नहीं गिना जाता ? ॥४४॥

दारिद्रय दोष—

न दारिद्रयात् परं पुरुषस्य लाञ्छनमस्ति यत्संगेन सर्वे गुणा निष्फलतां यान्ति ॥४५॥

अर्थ—पुरुष के लिए दरिद्रता से बढ़कर दूसरा कोई कलङ्क नहीं है, जिसके संयोग से उसके समस्त गुण निष्फल हो जाते हैं ॥४५॥

विशेषार्थ—किसी विद्वान्[2] ने भी गुणवान् दरिद्र व्यक्ति द्वारा किये हुए उपकार को शङ्का-युक्त कहा है।

धनाढ्य की प्रशंसा—

अलब्धार्थोऽपि लोको धनिनो भाण्डो भवति ॥४६॥

अर्थ—धनाढ्य से धन न मिलने पर भी याचक लोग उसकी प्रशंसा करते हैं पुनः धन मिलने पर तो उसकी प्रशंसा के पुल बाँधना कोई बड़ी बात नहीं ॥४६॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[3] ने भी धनाढ्यों की प्रशंसा के विषय में कहा है।

साधुओं द्वारा धनाढ्य की चाटुकारता—

धनिनो यतयोऽपि चाटुकाराः ॥४७॥

---

१. तथा च दन्तिलः—अल्पवित्तस्य यः कामः प्रचुरः स सुखप्रदः ॥ ½ ॥

* ‡. ※. —उक्त चिन्हाङ्कितानि सूत्राणि मु० मू० प्रतितः संकलितानि—

२. उक्तं च—उपकारपरो याति निर्धनः कस्यचिद्गृहे । पारयिष्यति मात्रेण धनाढ्यो मन्यते गृही ॥१॥

३. तथा च वल्लभदेवः—न त्वया सदृशो दाता कुलीनो न च रूपवान् । कुलीनोऽपि विरूपोऽपि गीयते च धनार्थिभिः ॥१॥

अर्थ—जब साधु पुरुष भी धनाढ्य व्यक्ति की चाटुकारता (खुशामद) करते हैं तब साधारण लोगों का तो कहना ही क्या है ॥४७॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[1] ने भी धनाढ्य व्यक्ति को कुलीन, पण्डित, शास्त्रज्ञ, गुणज्ञ, वक्ता और दर्शनीय कहा है।

दो सूत्रों द्वारा जल की पवित्रता—

न रत्नहिरण्यपूताज्जलात्परं पावनमस्ति ॥४८॥

अर्थ—मरकत-आदि रत्न और सुवर्ण से पवित्र किये हुए जल से बढ़कर दूसरा कोई पवित्र पदार्थ नहीं है ॥४८॥

स्वयं मेध्या आपो वह्नितप्ता विशेषतः ॥४९॥

अर्थ—जल स्वयं पवित्र है किन्तु अग्नि पर गरम किया गया जल विशेषरूप से पवित्र है ॥४९॥

विशेषार्थ—मनु[2] ने भी जल को स्वाभाविक पवित्र बताया है।

सच्चा उत्सव—

स एवोत्सवो यत्र वन्दिमोक्षो दीनोद्धरणं च ॥५०॥

अर्थ—उत्सव मनाने की सार्थकता तभी है जब कि इस अवसर पर वन्दी छोड़े जाँय और अनाथों का उद्धार किया जाय ॥५०॥

पर्व-माहात्म्य—

तानि पर्वाणि येष्वतिथिपरिजनयोः प्रकामं सन्तर्पणम् ॥५१॥

अर्थ—रक्षा बन्धनादि पर्व वे ही हैं, जिनमें अतिथि और सेवकगण दान-सन्मानादि द्वारा अत्यन्त सन्तुष्ट किये जावें ॥५१॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[3] ने भी पर्व के दिनों में अतिथिसत्कार-आदि का निरूपण किया है।

तिथि-माहात्म्य—

तास्तिथयो यासु नाधर्माचरणम् ॥५२॥

अर्थ—प्रतिपदा-आदि तीस तिथियों में से वे ही तिथियाँ सार्थक हैं, जिनमें मानव किसीप्रकार का अधर्म आचरण नहीं करता अर्थात्—धर्म ही करता है ॥५२॥

विशेषार्थ—जैमिनि[4] ने भी पापाचरण-युक्त तिथियों को निरर्थक और धर्म-युक्त को सार्थक कहा है।

तीर्थयात्रा का माहात्म्य—

सा तीर्थयात्रा यस्यामकृत्यनिवृत्तिः ॥५३॥

अर्थ—तीर्थयात्रा वही सार्थक है, जिसमें मानव दुष्कृत्य का परित्याग कर देवे ॥५३॥

---

१. तथा च वल्लभदेवः—यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः ।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति ॥१॥

२. तथा च मनुः—आपः स्वभावतो मेध्याः किं पुनर्वह्निसंयुताः । तस्मात्सन्तस्तदिच्छन्ति स्नानमुष्णेन वारिणा ॥१॥

३. तथा च भारद्वाजः—अतिथिः पूज्यते यत्र पोषयेत्स्वपरिग्रहं । तस्मिन्नहनि सर्वाणि पर्वाणि मनुरब्रवीत् ॥१॥

४. तथा च जैमिनिः—यासु न क्रियते पापं ता एव तिथयः स्मृताः । शेषा वंध्यास्तु विज्ञेया इत्येवं मनुरब्रवीत् ॥१॥

विशेषार्थ—किसी नीतिकार[१] ने भी यही कहा है।

पंडित का माहात्म्य—

तत् पाण्डित्यं यत्र वयोविद्योचितमनुष्ठानम् ॥५४॥

अर्थ—विद्वत्ता वही सफल है, जिसमें अवस्था और विद्या के अनुकूल आचरण किया जाय ॥५४॥

विशेषार्थ—गुरु[२] ने भी विद्वत्ता के विषय में यही कहा है।

चातुर्य का लक्षण—

तच्चातुर्यं यत् परप्रीत्या स्वकार्यसाधनम् ॥५५॥

अर्थ—चतुराई वही है, जिसमें दूसरे को प्रीति उत्पन्न करके अपना प्रयोजन सिद्ध किया जाय ॥५५॥

विशेषार्थ—शुक्र[३] ने भी चतुर व्यक्ति का उक्त लक्षण किया है।

लोकोचित कर्तव्य—

तल्लोकोचितत्वं यत् सर्वजनादेयत्वम् ॥५६॥

अर्थ—लोकोचित वही कर्तव्य है, जिससे मनुष्य सब का प्रेमपात्र होजाय ॥५६॥

सज्जनता का माहात्म्य—

तत् सौजन्यं यत्र नास्ति परोद्वेगः ॥५७॥

अर्थ—वही सज्जनता है, जिससे दूसरों के हृदय सरोवर में भय और उद्वेग (त्रास) न होकर प्रसन्नता लहराए ॥५७॥

विशेषार्थ—वादरायण[४] ने भी सज्जनता का उक्त लक्षण किया है।

धीरता का माहात्म्य—

तद्धीरत्वं यत्र यौवनेनानपवादः ॥५८॥

अर्थ—जो व्यक्ति युवावस्था को प्राप्त करके अपने जीवन को परस्त्री व वेश्या सेवन-आदि दोषों से दूषित नहीं होने देते उनकी वह धीरता है ॥५८॥

विशेषार्थ—शौनक[५] ने भी धीरता का उक्त लक्षण वताया है।

भाग्यशाली का स्वरूप—

तत्सौभाग्यं यत्रादानेन वशीकरणं ॥५९॥

अर्थ—वही मानव भाग्यशाली है, जो किसी के लिए कुछ न देकर लोग उसके वश में रहें ॥५९॥

विशेषार्थ—गौतम[६] ने भी भाग्यशाली का उक्त स्वरूप वताया है।

१. तथा चोक्तं—अन्यत्र यत् कृतं पापं तीर्थस्थाने प्रयाति तत्। क्रियते तीर्थगैर्यच्च वज्रलेपं तु जायते ॥१॥
२. तथा च गुरुः—विद्याया वयसश्चापि या योग्या क्रिया इह। तथा वेषश्च योग्यः स्यात् स ज्ञेयः पण्डितो जनैः ॥१॥
३. तथा च शुक्रः—यः शास्त्रात्साधयेत् कार्यं चतुरः सः प्रकीर्तितः। साधयन्ति भेदाद्यैर्ये ते मतिवर्जिताः ॥१॥
४. तथा च वादरायणः—यस्य कृत्येन कृत्स्नेन सानन्दः स्याज्जनोऽखिलः। सौजन्यं तस्य तज्ज्ञेयंवि परीतमतोऽन्यथा ॥१॥
५. तथा च शौनकः—परदारादिदोषेण रहितं यस्य यौवनम्। प्रयाति वा पुमान् धीरो न धीरो युद्धकर्मणि ॥१॥
६. तथा च गौतमः—दानहीनोऽपि वशगो जनो यस्य प्रजायते। सुभगः स परिज्ञेयो न यो दानादिभिर्नरः ॥१॥

सभा का दूषण—

सा सभाऽरण्यानी यस्यां न सन्ति विद्वांसः ॥६०॥

अर्थ—वह सभा वनस्थली है, जिसमें विद्वान् नहीं हैं ॥६०॥

हृदय-हीन से अनुराग की निष्फलता—

किं तेनात्मनः प्रियेण यस्य न भवति स्वयं प्रियः ॥६१॥

अर्थ—कोई व्यक्ति अपना प्रेमपात्र तो हो, किन्तु उसके लिए आप प्रिय न हों तो उस प्रियता से क्या लाभ ? अर्थात्—प्रेम दोनों ओर से समान होना चाहिए ॥६१॥

विशेषार्थ—राजपुत्र[1] ने भी दोनों ओर से प्रीति का निर्देश किया है।

निन्द्य स्वामी—

स किं प्रभुर्यो न सहते परिजनसम्बाधम् ॥६२॥

अर्थ—जो स्वामी सेवकों के व्यय संबंधी उपद्रव को सहन नहीं कर सकता, अर्थात्—उनकी आवश्यकता के अनुसार धन-व्यय नहीं कर सकता, वह स्वामी निन्द्य है ॥६२॥

विशेषार्थ—गौतम[2] ने भी भृत्यवर्ग के रक्षण में असमर्थ को उदासीन कहा है।

लेख की प्रामाणिकता—

न लेखाद्वचनं प्रमाणं ॥६३॥

अर्थ—लेख से बढ़कर वचन को प्रमाण नहीं माना जाता, अर्थात्—लेख और वचन में से लेख की ही विशेष प्रतिष्ठा और विशेष प्रामाणिकता होती है और वचनों की चाहे वे बृहस्पति द्वारा हो क्यों न कहे गये हों, प्रतिष्ठा नहीं होतो ॥६३॥

विशेषार्थ—राजपुत्र[3] ने भी लेख को ही विशेष प्रामाणिक स्वीकार किया है।

लेख की अप्रामाणिकता—

अनभिज्ञाते लेखेऽपि नास्ति सम्प्रत्ययः ॥६४॥

अर्थ—विना हस्ताक्षर और विना गवाही-आदि का अपरिचित लेख भी विश्वास के योग्य नहीं होता अर्थात्—प्रामाणिक नहीं होता। सारांश यह है कि मनुष्य को किसी की लिखी हुई वात पर सहसा-बिना सोचे समझे विश्वास नहीं करना चाहिए और अनुभव व साक्षियों द्वारा उसका निर्णय करना चाहिए ॥६४॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

तत्काल अनिष्टकारी पाप—

त्रीणि पातकानि सद्यः फलन्ति स्वामिद्रोहः स्त्रीवधो बालवधश्चेति ॥६५॥

अर्थ—अपने स्वामी से द्रोह करना, स्त्री और बालक का वध करना ये तीन पाप तत्काल अनिष्ट फलदायक होते हैं ॥६५॥

१. तथा च राजपुत्रः—वल्लभस्य च यो भूयो वल्लभः स्याद्विशेषतः। स वल्लभः परिज्ञेयो योऽन्यो वैरी स उच्यते ॥१॥
२. तथा च गौतमः—भृत्यवर्गार्थजे जाते योऽन्यथा कुरुते प्रभुः। स स्वामी न परिज्ञेय उदासीनः स उच्यते ॥१॥
३. तथा च राजपुत्रः—लिखिताद्वाचिकं नैव प्रतिष्ठां याति कस्यचित्। बृहस्पतेरपि प्रायः किं तेन स्यापि ? कस्यचित् ॥१॥
४. तथा च शुक्रः—कूटलेखप्रपंचेन धूर्तेरार्यतमा नराः। लेखार्थो नैव कर्तव्यः साभिज्ञानं विना बुधैः ॥१॥

विशेषार्थ—नारद[1] ने भी ऐसे नृशंस हत्यारे को उभयलोक में दुःख भोगनेवाला कहा है।

बलिष्ठ के साथ विग्रह का दुष्परिणाम—

अप्लवस्य समुद्रावगाहनमिवाबलस्य बलवता सह विग्रहाय टिरिटिल्लितम् ॥६६॥

अर्थ—जिसप्रकार विना नौका के केवल भुजाओं से समुद्र पार करनेवाला मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होता है उसीप्रकार निर्बल पुरुष बलिष्ठ के साथ युद्ध करने से शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥६६॥

विशेषार्थ—गुरु[2] ने भी निर्बल को बलिष्ठ के साथ युद्ध करना विनाशकारी बताया है।

बलवान् का आश्रय पाकर उससे उद्दण्डता करने से हानि—

बलवन्तमाश्रित्य विकृतिभंजनं सद्यो मरणकारणम् ॥६७॥

अर्थ—बलवान् का आश्रय पाकर उससे वैर-विरोध करना तत्काल मरण का कारण होता है ॥६७॥

प्रवास का स्वरूप—

प्रवासः चक्रवर्तिनमपि सन्तापयति किं पुनर्नान्यम् ॥६८॥

अर्थ—परदेश की यात्रा चक्रवर्ती को भी कष्ट देती है, पुनः साधारण व्यक्ति को उससे कष्ट होना स्वाभाविक ही है ॥६८॥

विशेषार्थ—चारायण[3] ने भी परदेश यात्रा को कष्टप्रद कहा है।

प्रवासोपयोगी सामग्री—

बहुपाथेयं मनोऽनुकूलः परिजनः सुविहितश्चोपस्करः प्रवासे दुःखोत्तरणतरण्डको वर्गः ॥६९॥

अर्थ—मनुष्य को परदेश की यात्रा में, प्रचुर मात्रा में पाथेय (रास्ते का कलेवा) हो, मन के अनुकूल आज्ञाकारी सेवक हों और प्रवास की सब सामग्री सुव्यवस्थित रूप से हो, उक्त वस्तुएँ प्रवासरूप समुद्र में दुःखों से उद्धार पाने के लिए जहाज-सरीखीं हैं ॥६९॥

इति व्यवहार-समुद्देशः।

२८ विवाद-समुद्देश

राजा की परिभाषा—

गुणदोषयोस्तुलादण्डसमो राजा स्वगुणदोषाभ्यां जन्तुषु गौरवलाघवे ॥१॥

अर्थ—विवाद में गुण और दोषों का निर्णय करने के लिए राजा तराजू की डांड़ी-सरीखा निष्पक्ष निर्णायक होता है और प्रजा की गुरुता व लघुता अर्थात्—निरपराधी और अपराधी सिद्ध होना उसके अपने गुण और दोषों पर निर्भर होता है ॥१॥

---

१. तथा च नारदः—स्वामिस्त्रीबालहन्तॄणां सद्यः फलति पातकम्। इहलोकेऽपि तद्वच्च तत्परत्रोपभुज्यते ॥१॥

२. तथा च गुरुः—बलिना सह युद्धं यः प्रकरोति सुदुर्बलः। क्षयं करोत्यात्मनः शक्त्या युद्धं तस्य विनाशनम् ॥१॥

३. तथा च चारायणः—प्रवासे सीदति प्रायश्चक्रवर्त्यपि यो भवेत्। किं पुनर्यस्य पाथेयं स्वल्पं भवति गच्छतः ॥१॥

राजा का कर्तव्य—

राजा त्वपराधालिंगितानां समवर्ती तत्फलमनुभावयति ॥२॥

अर्थ—राजा पुत्र और प्रजाजनों में समदृष्टि होकर अपराधियों के लिए उनके अपराधों के अनुरूप दण्ड का भोग कराता है अर्थात्—अपराधों के अनुकूल दण्ड-विधान करता है ॥२॥

विशेषार्थ—गुरु[1] ने भी अपराधानुरूप दण्ड-विधान कहा है।

३ सूत्रों में न्यायालय के सदस्यों की परिभाषा-आदि—

आदित्यवद्यथावस्थितार्थप्रकाशनप्रतिभाः सभ्याः ॥३॥

अर्थ—राजा की सभा के सभासद सूर्य-सरीखे यथार्थ तत्व को प्रकाशित करने की प्रतिभा से सम्पन्न होते हैं ॥३॥

विशेषार्थ—गुरु[2] ने भी राजसभा के सभासदों की उक्त प्रकार परिभाषा की है।

अदृष्टाश्रुतव्यवहाराः परिपन्थिनः सामिषाः न सभ्याः ॥४॥

अर्थ—ऐसे व्यक्ति राजा के न्यायालय के सदस्य होने योग्य नहीं होते, जो लोकव्यवहार अर्थात्—कानून के अनुभव और अध्ययन से शून्य हों, जो राजा से शत्रुता रखते हों और जो स्वाभाविक ईर्ष्यालु और द्वेष-युक्त हों ॥४॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] ने भी सभासदों के विषय में उक्त प्रकार कहा है।

लोभपक्षपाताभ्यामयथार्थवादिनः सभ्याः सभापतेः सद्यो मानार्थहानिं लभेरन् ॥५॥

अर्थ—जिस राजा के न्यायालय में लोभ और पक्षपात दृष्टि के कारण अयथार्थवादी (सही निर्णय न देनेवाले) सभासद होते हैं, वे निस्सन्देह तत्काल उसकी मानहानि और धन की क्षति कर देते हैं ॥५॥

विशेषार्थ—गर्ग[4] ने भी सही निर्णय न देनेवाले सदासदों के विषय में यही कहा है।

मुकदमें मे न्यायाधीश के विरोधी होने पर वादी का कर्तव्य—

तत्रालं विवादेन यत्र स्वयमेव सभापतिः प्रत्यर्थी सभ्यसभापत्योरसामञ्जस्येन कुतो जयः किं बहुभिश्छगलः श्वा न क्रियते ॥६॥

अर्थ—जिस विवाद में स्वयं सभापति अर्थात्—न्यायाधीश ही विरोधी अथवा पक्षपात करनेवाला हो जाय वह विवाद अर्थात्—मुकदमा व्यर्थ है; क्योंकि सभी सभासद न्यायाधीश के अनुरूप ही बोलेंगे। जब सभासदों और न्यायाधीश में ऐकमत्य न होगा तब विजय किस प्रकार हो सकती है? उदाहरण के रूप में—क्या बहुसंख्यक लोग कहकर बकरे को कुत्ता नहीं बना देते? ॥६॥

विशेषार्थ—शुक्र[5] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

---

१. तथा च गुरुः—विजानीयात् स्वयं वाथ भूभुजा अपराधिनाम्। मृषा किं वाथवा सत्यं स्वराष्ट्रपरिवृद्धये ॥१॥

२. तथा च गुरुः—यथादित्योऽपि सर्वार्थान् प्रकटान् प्रकरोति च। तथा च व्यवहारार्थान् ज्ञेयास्तेऽमी सभासदः ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—न दृष्टो न श्रुतो वापि व्यवहारः सभासदैः। न ते सभ्यास्त्वयस्ते च विज्ञेयाः पृथिवीपतेः ॥१॥

४. तथा च गर्गः—अयथार्थप्रवक्तारः सभ्या यस्य महीपतेः। मानार्थहानिं कुर्वन्ति तस्य सद्यो न संशयः ॥१॥

५. तथा च शुक्रः—प्रत्यर्थी यत्र भूपः स्यात् तत्र वादं न कारयेत्। यतो भूमिपतेः पक्षं सर्वे प्रोचुस्तथानुगाः ॥१॥

वाद-विवाद में पराजित व्यक्ति के चिन्ह—

विवादमास्थाय यः सभायां नोपतिष्ठेत, समाहूतोऽपसरति, पूर्वोक्तमुत्तरोक्तेन बाधते, निरुत्तरः पूर्वोक्तेषु युक्तेषु, युक्तमुक्तं न प्रतिपद्यते, स्वदोषमनुद्धृत्य परदोषमुपालभते, यथार्थवादेऽपि द्वेष्टि सभामिति पराजितलिङ्गानि ॥७॥

अर्थ—विवाद अर्थात्—मुकदमा प्रारम्भ करके जो न्यायालय में उपस्थित न हो, जो आग्रहपूर्वक पुकार होने पर भी चला जाय, जिसका प्रथम वक्तव्य आगे के वक्तव्य से विरुद्ध पड़ता हो, पूर्वोक्त युक्तियुक्त बात का उत्तर देने में असमर्थ हो, जो कही हुई बात को सत्य प्रमाणित न कर सके, अपना दोष न मानकर प्रतिवादी को दोषी बताता हो और यथार्थ न्याय होनेपर भी न्यायालय का अनौचित्य बतलावे ये सब पराजित के लक्षण हैं ॥७॥

न्यायालय के सभासदों के दोष—

छलेनाप्रतिभासेन वचनाकौशलेन चार्थहानिः ॥८॥

अथ—विवाद में यदि सभासद छल-कपट करें और अभियोग के विषय में उचित परामर्श और अनुसन्धान न करें एवं वाक्पटुता में निपुण न हों तो वादी और प्रतिवादी की स्वार्थ-हानि होती है ॥८॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[1] ने भी उक्त उपायों से वादी की प्रयोजन-सिद्धि में बाधा पहुँचानेवाले सभासदों को अधम कहा है।

विवाद में प्रमाणीभूत पदार्थ—

भुक्तिः साक्षी शासनं प्रमाणं ॥९॥

अर्थ—विवाद में तीन पदार्थ प्रमाण माने जाते हैं, भुक्ति अर्थात्—जमीन जायदाद पर बारह वर्ष तक का कब्जा, गवाह और न्यायालय संबंधी लेख और दस्तावेज-आदि ॥९॥

विशेषार्थ—जैमिनि[2] ने भी विवाद में उक्त तीन पदार्थ प्रमाण माने हैं।

विवाद में अप्रमाणीभूत तीन पदार्थ—

भुक्तिः सापवादा, साक्रोशाः साक्षिणः, शासनं च कूटलिखितमिति न विवादं समापयन्ति ॥१०॥

अर्थ—यदि जमीन जायदाद पर कब्जा बलात्कारपूर्वक किया गया हो, गवाह झूठे हों और लेख और दस्तावेज झूठे हों तो विवाद अर्थात्—मुकदमे का अन्त नहीं हो पाता ॥१०॥

विशेषार्थ—रैभ्य[3] ने भी बलात्कारपूर्वक की हुई भुक्ति-आदि को अप्रमाण माना है।

अन्य अप्रमाणीभूत पदार्थ—

बलात्कृतमन्यायकृतं राजोपधिकृतं च न प्रमाणं ॥११॥

अर्थ—जो बात बलात्कार से कराई गई हो, अन्याय से हुई हो और राजकीय शक्ति की सामर्थ्य से उपयोग में लाई गई हो वह प्रमाणीभूत नहीं होती ॥११॥

विशेषार्थ—भागुरि[4] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

---

१. तथा च भारद्वाजः—छलेनापि बलेनापि वचनेन सभासदः। वादिनः स्वार्थहानिं ये प्रकुर्वन्ति च तेऽधमाः ॥१॥

२. तथा च जैमिनिः—संवादेषु च सर्वेषु शासनं भुक्तिरुच्यते। भुक्तेरनन्तरं साक्षी तदभावे च शासनम् ॥१॥

३. तथा च रैभ्यः—बलात्कारेण या भुक्तिः साक्रोशाः साक्षिणोऽत्र ये। शासनं कूटलिखितमप्रमाणानि त्रीण्यपि ॥१॥

४. तथा च भागुरिः—बलात्कारेण यत्कुर्युः सभ्याश्चान्यायतस्तथा। राजोपधिकृतं यच्च तत्प्रमाणं भवेन्न हि ॥१॥

अन्य प्रमाणीभूत वस्तु—

वेश्याकितवयोरुक्तं ग्रहणानुसारितया प्रमाणयितव्यम् ॥१२॥

अर्थ—यद्यपि वेश्या और जुआरी झूठे हुआ करते हैं तो भी न्यायालय में उनकी बात भी जितनी ग्राह्य हो अर्थात्—उक्त गवाह-आदि के आधार से जितनी सत्य सिद्ध हो, उतनी प्रमाणित माननी चाहिए ॥१२॥

विशेषार्थ—रैम्य[1] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

विवाद का अनौचित्य—

असत्यङ्कारे व्यवहारे नास्ति विवादः ॥१३॥

अर्थ—सर्वथा झूठे व्यवहार में विवाद नहीं होता। अर्थात्—जब वादी और प्रतिवादी दोनों ही झूठे होंगे तो अभियोग-मुकदमा क्या चलेगा? ॥१३॥

विशेषार्थ—ऋषिपुत्रक[2] ने भी झूठे व्यवहारवाले विवाद को निरर्थक कहा है।

धरोहर सम्बन्धी विवाद-निर्णय—

नीवीविनाशेषु विवादः पुरुषप्रामाण्यात्सत्यापयितव्यो दिव्यक्रियया वा ॥१४॥

अर्थ—किसी व्यक्ति ने किसी व्यक्ति के लिए अपना सुवर्ण-आदि धन संरक्षण करने के लिए धरोहर के रूप में सौंपा हो और उस धन के नष्ट हो जाने पर अर्थात्—वापिस माँगने पर यदि वह मनाई कर बैठे, उस धरोहर के विवाद में जिसके यहाँ प्रस्तुत धन रक्खा गया हो, उस पुरुष की विख्यात प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के आधार पर सत्य का निर्णय करना चाहिए, अथवा शपथ ग्रहण कराकर अथवा दण्ड के द्वारा सत्य का निर्णय करना चाहिए ॥१४॥

विशेषार्थ—नारद[3] ने भी धरोहर के विवाद का न्याय करने लिए उक्त दो उपाय बताए हैं।

साक्षी की परिभाषा—

यादृशे तादृशे वा साक्षिणि नास्ति दैवी क्रिया किं पुनरुभयसम्मते मनुष्ये नीचेऽपि ॥१५॥

अर्थ—जब मुकदमें में साधारण अथवा निकृष्ट चरित्र के गवाह से शपथ नहो कराई जाती तब वादी और प्रतिवादी दोनों से सम्मत नीच गवाह से शपथ कैसे कराई जायगी? ॥१५॥

विशेषार्थ—भार्गव[4] ने भी उक्त सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है।

परद्रव्य अपहरण करने वाले के विवाद में सत्य-निर्णय का उपाय—

यः परद्रव्यमभियुञ्जीताभिलुम्पते वा तस्य शपथः क्रोशो दिव्यं वा ॥१६॥

अर्थ—दूसरे का धन अपहरण या नष्ट करनेवाले के विवाद में शपथ, कुड़की या दण्ड का भय दिखाकर सत्य का निर्णय करना चाहिए ॥१६॥

विशेषार्थ—गर्ग[5] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

---

१. तथा च रैम्यः—यो वेश्या बन्धकं प्राप्य लघुमात्रं बहु व्रजेत्। सहिको द्यूतकारश्च हतौ द्वावपि ते तनौ ॥१॥

२. तथा च ऋषिपुत्रकः—असत्यंकारसंयुक्तो व्यवहारो नराधिप। विवादो वादिना तत्र नैव युक्तः कथंचन? ॥१॥

३. तथा च नारदः—निक्षेपो यदि नष्टः स्यात्प्रमाणः पुरुषार्पितः। तत्प्रमाणं स कार्यो यद्दिव्ये तं वा नियोजयेत् ॥१॥

४. तथा च भार्गवः—अधमोऽपि भवेत्साक्षी विवादे पर्यवस्थिते। तथा दैवी क्रिया न स्यात् किं पुनः पुरुषोत्तमे ॥१॥

५. तथा च गर्गः—अभियुञ्जीत चेन्मर्त्यः परार्थं वा विलुम्पते। शपथस्तस्य क्रोशो वा योग्यो वा दिव्यमुच्यते ॥१॥

अपराध-निर्णय के उपरान्त दण्ड-विधान—

अभिचारयोगैर्विशुद्धस्याभियुक्तार्थसम्भावनायां प्राणावशेषोऽर्थापहारः ॥१७॥

अर्थ—जो अपराधी शपथ-आदि प्रयोगों के द्वारा अपने लिए निर्दोष साबित कर चुका हो पश्चात् चोरी-आदि के कारण उसके अपराधी साबित हो जाने पर राजा को उसे प्राण-दान देकर उसका समस्त धन ग्रहण कर लेना चाहिए ॥१७॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

दो सूत्रों में शपथ के अयोग्य अपराधी व उनकी शुद्धि—

लिङ्गिनास्तिकस्वाचारच्युतपतितानां दैवी क्रिया नास्ति ॥१८॥

अर्थ—संन्यासी, नास्तिक, अपने आचार से भ्रष्ट तथा पतित पुरुषों के वाद-विवाद के निर्णय में शपथ क्रिया का प्रयोग नहीं करना चाहिए; क्योंकि ये लोग झूठी शपथ ले लेते हैं ॥१८॥

तेषां युक्तितोऽर्थसिद्धिरसिद्धिर्वा ॥१९॥

अर्थ—उनके विवाद का निर्णय युक्तियों द्वारा करके उनको अपराधी अथवा निरपराधी सिद्ध करे ॥१९॥

विशेषार्थ—वादरायण[2] ने भी संन्यासियों की शुद्धि के विषय में यही कहा है।

पत्र-आदि के संदिग्ध होनेपर न्यायाधीश का निर्णय—

संदिग्धे पत्रे साक्ष्ये वा विचार्य परिच्छिन्द्यात् ॥२०॥

अर्थ—यदि वादी के दस्तावेज-आदि शासकीय अभिलेख अथवा गवाह संदिग्ध हों तो न्यायाधीश बहुत विचारपूर्वक निर्णय (फैसला) देवे ॥२०॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] ने भी संदिग्ध लेख व गवाह के विषय में उक्त प्रकार कहा है।

न्यायाधीश के बिना निर्णय की निरर्थकता—

परस्परविवादे न युगैरपि विवादसमाप्तिरानन्त्याद्विपरीतप्रत्युक्तीनां ॥२१॥

अर्थ—यदि वादी-प्रतिवादी स्वयं ही परस्पर में तर्क-वितर्क करने तत्पर होजांय तो बारह वर्षों तक अभियोग का निर्णय नहीं हो सकता; क्योंकि प्रश्नों और उत्तरों तथा युक्तियों की अनन्तता होती है; अतः न्यायाधीश और वकीलों के माध्यम से विवाद का निर्णय करना चाहिए ॥२१॥

विशेषार्थ—किसी नीतिवेत्ता[4] ने कहा है कि 'राजा को न्यायाधीश के फैसले को न मानने वाले का समस्त धन जब्त कर लेना चाहिए।

ग्राम व नगर संबंधी मुकदमा—

ग्रामे पुरे वा वृत्तो व्यवहारस्तस्य विवादे तथा राजानमुपेयात् ॥२२॥

---

१. तथा च शुक्रः—यदि वादी प्रबुद्धोऽपि दिव्याद्यैः कूटजैः कृतैः। पश्चात्तस्य च विज्ञानं सर्वस्वहरणं स्मृतं ॥१॥

२. तथा च वादरायणः—युक्त्या विचिन्त्य सर्वेषां लिंगिनां तपसः क्रियां। देया वचनतया शुद्धिरसंगत्या विवर्जनम् ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—संदिग्धे लिखिते जाते साक्ष्ये वाथ सभासदैः ?। विचार्य निर्णयः कार्यो धर्मो शास्त्रसुनिश्चयः ॥१॥

४. तथा चोक्तं—धर्माधिकारिभिः प्रोक्तं यो वादं चान्यथा क्रियात्। सर्वस्वहरणं तस्य तथा कार्यं महीभुजा ॥१॥

अर्थ—ग्राम अथवा नगर में मुकदमे का फैसला होजाने पर भी यदि पुनः विवाद उपस्थित होजाय तो वादी-प्रतिवादी को राजा के पास आना चाहिए ॥२२॥

विशेषार्थ—गौतम[1] के उद्धरण का भी उक्त अभिप्राय है।

दो सूत्रों में राजकीय निर्णय और उसे न माननेवाले को कड़ी सजा—

राज्ञा दृष्टे व्यवहारे नास्त्यनुबन्धः ॥२३॥

अर्थ—राजा के द्वारा किये हुए मुकदमे के निर्णय में दोष नहीं होता और इसी कारण अपील भी नहीं होती ॥२३॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] ने भी राजकीय निर्णय न माननेवाले के लिए मृत्युदण्ड देने का निरूपण किया है।

राजाज्ञां मर्यादां वातिक्रामन् सद्यः फलेन दण्डेनोपहन्तव्यः ॥२४॥

अर्थ—जो व्यक्ति राजकीय आज्ञा या न्याय की मर्यादा का उल्लङ्घन करे अर्थात्—राजा का निर्णय न माने उसे मृत्युदण्ड दिया जावे ॥२४॥

दुष्ट-निग्रह—

न हि दुर्वृत्तानां दण्डादन्योऽस्ति विनयोपायोऽग्निसंयोग एव वक्रं काष्ठं सरलयति ॥२५॥

अर्थ—अन्यायी दुष्टों को वश करने के लिए दण्ड नीति को छोड़कर दूसरा कोई उपाय नहीं, क्योंकि जिसप्रकार टेढ़ा काष्ठ अग्नि के संयोग से ही सीधा होता है उसीप्रकार पापी लोग भी दण्ड से ही सीधे (न्याय मार्ग पर चलनेवाले होते हैं ॥२५॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] ने भी दुष्टों को सीधा करने का यही उपाय वताया है।

सरलप्रकृति वाले व्यक्ति की हानि—

ऋजुं सर्वेऽपि परिभवन्ति न हि तथा वक्रतरुश्छिद्यते यथा सरलः ॥२६॥

अर्थ—सीधे व्यक्ति का सभी पराभव कर देते हैं वन में खड़ा हुआ टेढ़ा वृक्ष वैसा नहीं काटा जाता जैसा कि सीधा ॥२६॥

विशेषार्थ—गुरु[4] ने भी सरल प्रकृति के विषय में यही कहा है।

दो सूत्रों में न्यायाधीश का राज-सभा में कर्तव्य—

स्वोपालम्भपरिहारेण परमुपालभेत स्वामिनमुत्कर्षयन् गोष्ठीमवतारयेत् ॥२७॥

अर्थ—न्यायाधीश, राजा को प्रसन्न करता हुआ सरकारी वकील की राजकीय पक्ष को प्रवल सिद्ध करके राज्य के ऊपर लगाया गया आरोप दूर करे और दूसरे को दोषी ठहराते हुए न्यायालय की वार्ता विस्तृत करे ॥२७॥

विशेषार्थ—गौतम[5] ने भी न्यायाधीश का उक्त कर्तव्य निर्दिष्ट किया है।

१. तथा च गौतमः—पुरे वा यदि वा ग्रामे यो विवादस्य निर्णयः। कृतः स्याद्यदि भूयः स्यात्तद्भूपाग्रे निवेदयेत् ॥१॥
२. तथा च शुक्रः—वादं नृपतिनिर्णीतं योऽन्यथा कुरुते हठात्। तत्क्षणादेव वध्यः स्यान्न विकल्पं समाचरेत् ॥१॥
३. तथा च शुक्रः—यथात्र कुटिलं काष्ठं वह्नियोगाद्भवेदृजुः। दुर्जनोऽपि तथा दण्डादृजुर्भवति तत्क्षणात् ॥१॥
४. तथा च गुरुः—ऋजुः सर्वं च लभते न वक्रोऽत्र पराभवं। यथा सरलो वृक्षः सुखं छिद्यते छेदकैः ॥१॥
५. तथा च गौतमः—धर्माधिकृतमर्त्येन मिषेद्धः स्वामिनोऽखिलः। विवादो न यथा दोषः स्वस्य स्यान्न तु वादिनः ॥१॥

न हि भर्तुरभियोगात्परं सत्यमसत्यं वा वदन्तमवगृह्णीयात् ॥२८॥

अर्थ—धर्माध्यक्ष अपने स्वामी का पक्षपात करके सत्य असत्य बोलनेवाले वादी को दोषी सिद्ध न करे ॥२८॥

विशेषार्थ—भागुरि[1] ने भी वादी के साथ लड़ाई-झगड़ा करने का निषेध किया है।

कलह के बीज—

अर्थसम्बन्धः सहवासश्च नाकलहः सम्भवति ॥२९॥

अर्थ—दो पृथक् व्यक्तियों का रुपये पैसे का लेन देन करना और एक मकान में निवास करना ये दोनों कार्य कलह उत्पन्न करते हैं ॥२९॥

विशेषार्थ—गुरु[2] ने भी उक्त दोनों बातें कलहकारक बताई हैं।

प्राणघात व अर्थ-क्षति के कारण—

निधिराकस्मिको वार्थलाभः प्राणैः सह संचितमप्यर्थमपहारयति ॥३०॥

अर्थ—पूर्वजों से प्राप्त हुई निधि अथवा अकस्मात् मिला हुआ धन अर्थात्—अन्याय का धन प्राणों के साथ २ संचित धन को भी नष्ट कर देता है ॥३०॥

पाँच सूत्रों में वाद-विवाद में ब्राह्मण-आदि के योग्य शपथ—

ब्राह्मणानां हिरण्ययज्ञोपवीतस्पर्शनं च शपथः ॥३१॥

अर्थ—ब्राह्मणों की शपथ सुवर्ण-स्पर्श और यज्ञोपवीत के स्पर्श से होती है ॥३१॥

विशेषार्थ—गुरु[3] ने भी ब्राह्मणों की उक्त शपथ निरूपण की है।

शस्त्ररत्नभूमिवाहनपल्याणानां तु क्षत्रियाणाम् ॥३२॥

अर्थ—वादविवाद के निर्णयार्थ क्षत्रियों की शपथ शस्त्र, रत्न, पृथ्वी, हाथी घोड़ा-आदि वाहन और सवारी की जीन का स्पर्श कराने से होती है ॥३२॥

विशेषार्थ—गुरु[4] ने भी उक्त पाँच वस्तुओं के स्पर्श से क्षत्रियों की शपथ निर्दिष्ट की है।

श्रवणपोतस्पर्शनात् काकिणीहिरण्ययोर्वा वैश्यानाम् ॥३३॥

अर्थ—कर्ण (कान), छोटा बच्चा, तोस कोड़ियाँ अथवा सुवर्ण के स्पर्श से वैश्यों की शपथ होती है ॥३३॥

विशेषार्थ—गुरु[5] ने भी उक्तप्रकार वैश्यों की शपथ का उल्लेख किया है।

शूद्राणां क्षीरबीजयोर्वल्मीकस्य वा ॥३४॥

अर्थ—शूद्रों की शपथ दूध, अन्न और बांबी के स्पर्श से होती है ॥३४॥

विशेषार्थ—गुरु[6] ने भी उक्तप्रकार शूद्रों की शपथ का निरूपण किया है।

---

१. तथा च भागुरिः—यो न कुर्याद्रणं भूयो न कार्यस्तेन विग्रहः। विग्रहेण यतो दोषो महतामपि जायते ॥१॥

२. तथा च गुरुः—यः कुर्यादर्थसम्बन्धं तथैकगृहसंस्थितिं। तस्य युद्धं विना कालः कथंचिदपि न व्रजेत् ॥१॥

३. तथा च गुरुः—हिरण्यस्पर्शनं यच्च ब्रह्मसूत्रस्य चापरं। शपथो ह्येष निर्दिष्टो द्विजातीनां न चापरः ॥१॥

४. तथा च गुरुः—शस्त्ररत्नक्षमायानपल्याणस्पर्शनाद्भवेत्। शपथः क्षत्रियाणां च पंचानां च पृथक् पृथक् ॥१॥

५. तथा च गुरुः—शपथो वैश्यजातीनां स्पर्शनात्कर्णबालयोः। काकिणीस्वर्णयोर्वापि शुद्धिर्भवति नान्यथा ॥१॥

६. तथा च गुरुः—दुग्धस्यान्नस्य संस्पर्शाद्वल्मीकस्य तथैव च। कर्तव्यः शपथः शूद्रैः विवादे निजशुद्धये ॥१॥

कारूणां यो येन कर्मणा जीवति तस्य तत्कर्मोपकरणानाम् ॥३५॥

अर्थ—धोबी और चमार-आदि कारू शूद्रों की शपथ क्रिया, उनके जीविकोपयोगी उपकरणों के स्पर्श से होती है ॥३५॥

विशेषार्थ—गुरु[1] ने भी कारू शूद्रों की उक्तप्रकार शपथ निर्दिष्ट की है।

तीन सूत्रों में व्रती-आदि की शपथ—

व्रतिनामन्येषां चेष्टदेवतापादस्पर्शनात्प्रदक्षिणादिव्यकोशात्तन्दुलतुलारोहणैर्विशुद्धिः ॥३६॥

अर्थ—व्रती तथा दूसरे पुरुषों की शपथ क्रिया उनके इष्ट देवता के चरण कमलों के स्पर्श से, इष्ट देवता की प्रदक्षिणा से, देवनिधि के स्पर्श से, चाँवलों के स्पर्श से और तुलापर पैर रखने से होती है ॥३६॥

विशेषार्थ—गुरु[2] ने भी उक्तप्रकार व्रती-आदि की शपथ क्रिया बताई है।

व्याधानां तु धनुर्लंघनं ॥३७॥

अर्थ—बहेलियों की शपथ क्रिया धनुष के लाँघने से होती है ॥३७॥

विशेषार्थ—गुरु[3] ने भी व्याधों की उक्तप्रकार शपथ का निर्देश किया है।

अन्त्यवर्णावसायिनामार्द्रचर्मारोहणम् ॥३८॥

अर्थ—चाण्डालों की शपथ क्रिया गीले चमडे पर पैर रखकर खड़े होने से होती है ॥३८॥

विशेषार्थ—गुरु[4] ने भी चाण्डालों की उक्तप्रकार शपथ क्रिया का उल्लेख किया है।

चार क्षणिक वस्तुऐं—

वेश्यामहिला, भृत्यो भण्डः, क्रीणिनियोगो, नियोगिमित्रं चत्वार्यशाश्वतानि ॥३९॥

अर्थ—वेश्या का किसी की स्त्री बनना, धूर्त और उद्दण्ड नौकर का होना, चुङ्गी और टेक्स-आदि की आय और अधिकारी की मित्रता ये चार पदार्थ, अस्थिर—क्षणिक हैं ॥३९॥

विशेषार्थ—शुक्र[5] ने भी उक्त सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है।

वेश्या-त्याग—

क्रीतेष्वाहारेष्विव पण्यस्त्रीषु क आस्वादः ॥४०॥

अर्थ—जिसप्रकार बाजार से खरीदा हुआ भोजन सुखप्रद नहीं होता उसीप्रकार बाजार की वेश्याओं से भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता ॥४०॥

विशेषार्थ—शुक्र[6] ने भी वेश्या-त्याग का निरूपण किया है।

२ सूत्रों में परिग्रह को सन्तापजनक—

यस्य यावानेव परिग्रहस्तस्य तावानेव सन्तापः ॥४१॥

१. तथा च गुरुः—यो येन कर्मणा जीवेत कारुस्तस्य तदुद्भवं। कर्मोपकरणं किंचित् तत्स्पर्शाच्छुद्ध्यते हि सः ॥१॥
२. तथा च गुरुः—व्रतिनोऽन्ये च ये लोकास्तेषां शुद्धिः प्रकीर्तिता। इष्टदेवस्य संस्पर्शात् दिव्यैर्वा शास्त्रकीर्तितैः ॥१॥
३. तथा च गुरुः—पुलिंदानां विवादे च चापलंघनतो भवेत्। विशुद्धिर्जीवनं तेषां यतः स्वयं प्रकीर्तिता ॥१॥
४. तथा च गुरुः—अन्त्यजानां तु सर्वेषामार्द्रचर्मावरोहणं। शपथः शुद्धिदः प्रोक्तो यथान्येषां च वैदिकः ॥१॥
५ तथा च शुक्रः—वेश्यापत्नी तथा भण्डः सेवकः कृतसंग्रहः। मित्रनियोगिनं यच्च न चिरं स्थैर्यतां व्रजेत् ॥१॥
६. तथा च शुक्रः—क्रयक्रीतेन भोज्येन यादृग्भुक्तेन सा भवेत्। तादृक्संगेन वेश्यायाः सन्तोषो जायते नृप ॥१॥

अर्थ—संसार में जिस पुरुष के पास जितना परिग्रह (गाय, भैंस-आदि) है उसे उतना ही सन्ताप होता है ॥४१॥

विशेषार्थ—नारद[1] ने भी परिग्रह को सन्ताप-जनक और त्याज्य बताया है।

गजे गर्दभे च राजरजकयोः सम एव चिन्ताभारः ॥४२॥

अर्थ—राजा को जैसी चिन्ता हाथी के संरक्षण की होती है वैसी धोबी को भी गधे के संरक्षण की चिन्ता होती है ॥४२॥

विशेषार्थ—नारद[2] का उद्धरण भी समानार्थक है।

५ सूत्रों में मूर्ख की मिथ्या हठ-आदि—

मूर्खस्याग्रहो नापायमनवाप्य निवर्तते ॥४३॥

अर्थ—मूर्ख व्यक्ति का आग्रह (मिथ्या हठ) विना उसके नाश के दूर नहीं होता ॥४३॥

विशेषार्थ—जैमिनि[3] ने भी मिथ्या हठ छोड़ने का निर्देश किया है।

कर्पासाग्नेरिव मूर्खस्य शान्तावुपेक्षणमौषधम् ॥४४॥

अर्थ—जिसप्रकार कपास में लगी हुई अग्नि शान्त नहीं की जा सकती उसीप्रकार मूर्ख का दुराग्रह भी दूर नहीं किया जा सकता अतः उसकी उपेक्षा करना ही उसकी औषधि है ॥४४॥

विशेषार्थ—भागुरि[4] ने भी उक्त औषधि का निर्देश किया है।

मूर्खस्याभ्युपपत्तिकरणमुद्दीपनपिण्डः ॥४५॥

अर्थ—मूर्ख पुरुष को समझाना उसके अनर्थ की वृद्धि में सहायक है ॥४५॥

विशेषार्थ—गौतम[5] ने भी मूर्ख को समझाना व्यर्थ बताया है।

कोपाग्निज्वलितेषु मूर्खेषु तत्क्षणप्रशमनं घृताहुतिनिक्षेप इव ॥४६॥

अर्थ—क्रोधरूपी अग्नि में जलते हुए मूर्खों को तत्काल शान्त करने की चेष्टा अग्नि में घी की आहुति देने-सरीखी है। अर्थात् जिसप्रकार प्रज्वलित अग्नि घी की आहुति देने से शान्त न होकर उल्टी वृद्धिगत होती है। उसीप्रकार मूर्ख का क्रोध भी समझाने से शान्त न होकर उल्टा वृद्धिगत होता है। अतः मूर्ख को क्रोध के अवसर पर समझाना निरर्थक है ॥४६॥

अनस्तितोऽनड्वानिव ध्रियमाणो मूर्खः परमाकर्षति ॥४७॥

अर्थ—जिसप्रकार नासारज्जुरहित अर्थात् विना नकेल वाला बैल, खींचनेवाले पुरुष को अपनी ओर तेजी से खींचता जाता है उसीप्रकार हठी मूर्ख व्यक्ति भी समझाने वाले शिष्ट पुरुष को अपनी ओर खींचता है अर्थात्—उससे शत्रुता करने लगता है, अतः मूर्ख को हितोपदेश देना व्यर्थ है ॥४७॥

---

१. तथा च नारदः—अनित्येऽत्रैव संसारे यावन्मात्रं परिग्रहः। तावन्मात्रस्तु सन्तापस्तस्मात्त्याज्यः परिग्रहः ॥१॥

२. तथा च नारदः—गजस्य पोषणे यद्वद्राज्ञः चिन्ता प्रजायते। रजकस्य च वालेये तादृक्षा बाधिका भवेत् ॥१॥

३. तथा च जैमिनिः—एकाग्रहोऽत्र मूर्खाणां न नश्यति विना क्षयं। तस्मादेकाग्रहो विज्ञैर्न कर्तव्यः कथंचन ॥१॥

४. तथा च भागुरिः—कर्पासे दह्यमाने तु यथायुक्तमुपेक्षणम्। एकाग्रहपरे मूर्खे तद्वदन्यं न विद्यते ॥१॥

५. तथा च गौतमः—यथा यथा जड़ो लोको विज्ञैर्लोकैः प्रबोध्यते। तथा तथा च तज्जाड्यं तस्य वृद्धिं प्रयच्छति ॥१॥

विशेषार्थ—भागुरि[1] का उद्धरण भी समानार्थक है।

निर्गुण वस्तु—

स्वयमगुणं वस्तु न खलु पक्षपाताद्गुणवद्भवति न गोपालस्नेहादुक्षा क्षरति क्षीरम् ॥४८॥

अर्थ—स्वयं निर्गुण वस्तु किसी के पक्षपात से गुणवान् नहीं हो सकती, उदाहरण में—ग्वाले के स्नेह से बैल, दूध नहीं देने लगता ॥४८॥

विशेषार्थ—नारद[2] ने भी निर्गुण वस्तु के विषय में यही कहा है।

इति विवाद-समुद्देशः।

२९. षाड्गुण्य-समुद्देशः।

योग-क्षेम का स्वरूप—

शमव्यायामौ योगक्षेमयोर्योनिः ॥१॥

अर्थ—शम अर्थात्—कर्मों के फलोपभोग में कुशलता उत्पन्न करनेवाला गुण और व्यायाम अर्थात्—नैतिक पुरुषार्थ (उद्योग) योग और क्षेम के कारण हैं अर्थात्—कार्य की प्राप्ति और उसमें सफलता प्राप्त कराते हैं।

सारांश यह है कि कोई भी व्यक्ति लौकिक और धार्मिक कार्यों में तभी सफलता प्राप्त कर सकता है जब वह पुण्य कर्म के फलोपभोग (इष्ट वस्तु की प्राप्ति) में कुशल—गर्व-शून्य हो और पापकर्म के फलोपभोग (अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति) में धीर-वीर हो एवं उद्योगशील हो ॥१॥

शम और व्यायाम का लक्षण—

कर्मफलोपभोगानां क्षेमसाधनः शमः कर्मणां योगाराधनो व्यायामः ॥२॥

अर्थ—पुण्य-पाप कर्मों के फल अर्थात्—इष्ट-अनिष्ट वस्तु के उपभोग के समय कुशलता का उत्पादक गुण (संपत्ति में गर्व न करना और विपत्ति में धैर्य धारण करना) 'शम' है एवं कार्यारम्भ में किये जानेवाले उद्योग को 'व्यायाम' कहते हैं ॥२॥

दैव का स्वरूप—

दैवं धर्माधर्मौ ॥३॥

अर्थ—प्राणियों द्वारा पूर्व जन्म में किये हुए पुण्य व पापकर्म को 'दैव' (भाग्य) कहते हैं। अर्थात्—जिसने पूर्व जन्म में पुण्य किया है वह इस जन्म में पुण्य करता है और जिसने पाप किया है वह पाप करता है ॥३॥

विशेषार्थ—व्यास[3] ने कहा है कि 'जिसने पूर्व जन्म में दान, अध्ययन और तप किया है वह पूर्वकालीन अभ्यास-वश इस जन्म में भी उसीप्रकार पुण्य कर्म में प्रवृत्ति करता है'।

पुरुषकार—उद्योगकालक्षण—

मानुषं नयानयौ ॥४॥

---

१. तथा च भागुरिः—नस्तया रहितो यद्वद् ध्रियमाणोऽपि गच्छति। वृषस्तद्वच्च मूर्खोऽपि घृतः कोपात्र तिष्ठति ॥१॥

२. तथा च नारदः—स्वयमेव कुरूपं यत् तन्न स्याच्छंसितं शुभं। यथोक्षा शंसितः क्षीरं गोपालेन ददाति नो ॥१॥

३. तथा च व्यासः—येन यच्च कृतं पूर्वं दानमध्ययनं तपः। तेनैवाभ्यासयोगेन तच्चैवाभ्यस्यते पुनः ॥१॥

अर्थ—नीति-पूर्ण (अहिंसा व सत्य-आदि) और अनीति-पूर्ण (विश्वास घात-आदि) कार्यों में किये जानेवाले उद्योग को पुरुषार्थ कहते हैं, परन्तु कर्तव्य दृष्टि से विवेकी पुरुषों को श्रेय-प्राप्ति के लिए नीति-पूर्ण सत्कार्य करने में ही प्रयत्नशील होना चाहिए ॥४॥

विशेषार्थ—गर्ग[1] ने भी विद्वानों को नीति-पूर्ण व्यवहार करने की शिक्षा दी है।

दश सूत्रों में भाग्य और पुरुषार्थ (उद्योग) के विषय में—

दैवं मानुषं च कर्म लोकं यापयति ॥५॥

अर्थ—भाग्य और पुरुषार्थ दोनों से ही मनुष्यों की प्रयोजन-सिद्धि होती है एक से नहीं।

सारांश यह है कि लोक में मनुष्यों को भाग्य की अनुकूलता और नीतिपूर्ण पुरुषार्थ से इष्टसिद्धि होती है और भाग्य की प्रतिकूलता और अनीति-पूर्ण पुरुषार्थ से अनिष्ट सिद्धि होती है, केवल भाग्य और पुरुषार्थ से नहीं ॥५॥

विशेषार्थ—गुरु[2] ने भी उक्त दोनों से ही कार्यसिद्धि का उल्लेख किया है।

तच्चिन्त्यमचिन्त्यं वा दैवं ॥६॥

अर्थ—व्यक्ति को भाग्य के भरोसे न बैठकर लौकिक (कृषि व व्यापार-आदि) और धार्मिक (दान-शीलादि) कार्यों में नीतिपूर्ण पुरुषार्थ-उद्योग-करना चाहिए ॥६॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[3] ने भी उद्योग से आर्थिक लाभ का निरूपण करते हुए भाग्यभरोसे न बैठकर पुरुषार्थ करने का निर्देश किया है।

अचिन्तितोपस्थितोऽर्थसम्बन्धो दैवायत्तः ॥७॥

अर्थ—दूसरे कार्य की सिद्धि के विषय में सोचनेवाले व्यक्ति को विना विचारे अचानक ही धन का लाभ हो जाय तो उसे भाग्याधीन समझना चाहिए ॥७॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

समन्तभद्राचार्य[5] ने भी कहा है—कि 'जिस समय मनुष्यों को इष्ट (सुखादि) और अनिष्ट (दुःखादि) पदार्थ विना उद्योग किये अचानक प्राप्त होते हैं वहाँ उनका अनुकूल व प्रतिकूल भाग्य ही कारण समझना चाहिए'।

बुद्धिपूर्वहिताहितप्राप्तिपरिहारसम्बन्धो मानुषायत्तः ॥८॥

अर्थ—मनुष्य बुद्धिपूर्वक सुखदायक पदार्थों की प्राप्ति और कष्टदायक पदार्थों से निवृत्ति करता है वह उसके नैतिक पुरुषार्थ के अधीन है ॥८॥

विशेषार्थ—शुक्र[6] ने भी बुद्धिपूर्वक सम्पन्न किये हुए कार्यों को पुरुषार्थ के अधीन बताये हैं।

---

१. तथा च गर्गः—नयो वाप्यनयो वापि पौरुषेण प्रजायते। तस्मान्नयःप्रकर्तव्यो नानयश्च विपश्चिता ॥१॥

२. तथा च गुरुः—यथा नैकेन हस्तेन ताला संजायते नृणाम्। तथा न जायते सिद्धिरेकेनैव च कर्मणा ॥१॥

३. तथा च वल्लभदेवः—उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी। दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या। यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्र दोषः ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—अन्यच्चिन्तयमानस्य यदन्यदपि जायते। शुभं वा यदि वा पापं ज्ञेयं दैवकृतं च तत् ॥१॥

५. तथा च समन्तभद्राचार्यः—अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः। —आप्तमीमांसायां।

६. तथा च शुक्रः—बुद्धिपूर्वं तु यत्कर्म क्रियतेऽत्र शुभाशुभं। नरायत्तं च तज्ज्ञेयं सिद्धं वासिद्धमेव च ॥१॥

सत्यपि दैवेऽनुकूले न निष्कर्मणो भद्रमस्ति ॥९॥

अर्थ—दैव (भाग्य) के अनुकूल होनेपर भी यदि मानव उद्योगहीन (आलसी) है तो उसका कल्याण नहीं हो सकता ॥९॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[1] ने भी उद्योग से कार्य-सिद्धि होने का निरूपण किया है।

न खलु दैवमीहमानस्य कृतमप्यन्नं मुखे स्वयं प्रविशति ॥१०॥

अर्थ—जिसप्रकार भाग्योदय से प्राप्त हुआ भोजन भाग्य के भरोसे रहनेवाले व्यक्ति के मुख में स्वयं प्रविष्ट नहीं होता किन्तु हस्त-संचालन-आदि उद्योग द्वारा ही प्रविष्ट होता है उसीप्रकार केवल भाग्य के भरोसे रहने वाले मनुष्य को कार्य में सफलता नहीं मिलती किन्तु पुरुषार्थ करने से ही मिलती है ॥१०॥

विशेषार्थ—भागुरि[2] ने भी उक्त दृष्टान्त पूर्वक उक्त विषय का उल्लेख किया है।

न हि दैवमवलम्बमानस्य धनुः स्वयमेव शरान् संधत्ते ॥११॥

अर्थ—जिसप्रकार दैववादी का धनुष अपनी डोरी पर बाणों को स्वयं (पुरुष-प्रयत्न के बिना) स्थापित नहीं कर सकता उसीप्रकार भाग्याधीन पुरुष भी उद्योग के विना किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता ॥११॥

विशेषार्थ—जैमिनि[3] ने भी उद्यम करने से कार्यसिद्धि का उल्लेख किया है।

पौरुषमवलम्बमानस्यार्थानर्थयोः सन्देहः ॥१२॥

अर्थ—उद्योगी पुरुष को इष्टसिद्धि (आर्थिक-लाभ-आदि) और अनर्थ (आर्थिक-क्षति-आदि) होने में सन्देह रहना स्वाभाविक है। सारांश यह है कि उद्योगी पुरुष की अर्थसिद्धि भाग्य की अनुकूलता पर निर्भर है ॥१२॥

विशेषार्थ—वशिष्ठ[4] ने भी उक्त सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है।

निश्चित एवानर्थो दैवपरस्य ॥१३॥

अर्थ—भाग्याधीन रहनेवाले व्यक्ति का अकर्मण्यता के कारण अनर्थ होना निश्चित ही है ॥१३॥

विशेषार्थ—नारद[5] ने भी दैव को प्रमाण मानने वाले उद्योग-शून्य व्यक्ति का अनर्थ होना निर्देश किया है।

आयुरौषधयोरिव दैवपुरुषकारयोः परस्परसंयोगः समीहितमर्थं साधयति ॥१४॥

अर्थ—जिसप्रकार आयु शेष रहने पर औषधि के सेवन से मानव का रोग दूर होता है, उसीप्रकार दैव और उद्योग दोनों के सहयोग से ही मानव अपना मनोरथ पूर्ण करने में समर्थ होता है ॥१४॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[6] ने भी आयु के विना सैकड़ों औषधियों का सेवन निरर्थक बताया है।

अनुष्ठीयमानः स्वफलमनुभावयन्न कश्चिद्धर्मोऽधर्ममनुबध्नाति ॥१५॥

---

१. तथा च वल्लभदेवः—उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः। न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥१॥

२. तथा च भागुरिः—प्राप्तं दैववशादन्नं क्षुधार्तस्यापि चेच्छुभं। तावन्न प्रविशेद् वक्त्रे यावत्प्रेषति नोत्करः ॥१॥

३. तथा च जैमिनिः—नोद्यमेन विना सिद्धिं कार्यं गच्छति किंचन। यथा चापं न गच्छन्ति उद्यमेन बिना शराः ॥१॥

४. तथा च वशिष्ठः—पौरुषमाश्रितलोकस्य नूनमेकतमं भवेत्। धनं वा मरणं वाथ वशिष्ठस्य वचो यथा ॥१॥

५. तथा च नारदः—प्रमाणीकृत्य यो दैवं नोद्यमं कुरुते नरः। स नूनं नाशमायाति नारदस्य वचो यथा ॥१॥

६. तथा च भारद्वाजः—विनायुषं न जीवेत भेषजानां शतैरपि। न भेषजैर्विना रोगः कथंचिदपि शाम्यति ॥१॥

अर्थ—किसी भी धर्म का अनुष्ठान धार्मिक व्यक्ति के लिए उस धर्माचरण का शुभ फल देता हुआ अधर्म उत्पन्न नहीं होने देता ॥१५॥

विशेषार्थ—भागुरि[1] ने भी उक्त सिद्धान्त का निरूपण किया है।

भगवज्जिनसेनाचार्य[2] ने भी 'अहिंसा, सत्य, क्षमा, शौच, तृष्णा का त्याग, सम्यग्ज्ञान और वैराग्य सम्पत्ति को धर्म और इनसे विपरीत हिंसा व झूँठ-आदि को अधर्म बताते हुए बुद्धिमानों को अनर्थ-परिहार (दुःखों से छूटना) की इच्छा से धर्मानुष्ठान करने का उपदेश दिया है'।

चार सूत्रों में राजा की प्रशंसा—

त्रिपुरुषमूर्तित्वान्न भूभुजः प्रत्यक्षं दैवमस्ति ॥१६॥

अर्थ—राजा ब्रह्मा, विष्णु और महेश की मूर्ति है, अतः इससे दूसरा कोई प्रत्यक्ष देवता नहीं है ॥१६॥

विशेषार्थ—मनु[3] ने भी राजा को सर्व देवतामय माना है।

प्रतिपन्नप्रथमाश्रमः परे ब्रह्मणि निष्णातमतिरुपासितगुरुकुलः सम्यग्विद्यायामधीती कौमारवयोऽलंकुर्वन् क्षत्रपुत्रो भवति ब्रह्मा ॥१७॥

अर्थ—जिसने प्रथमाश्रम अर्थात्—ब्रह्मचर्याश्रम को स्वीकार किया है, जिसकी बुद्धि पर ब्रह्म के चिन्तन में संलग्न है, गुरुकुल में रहकर जिसने गुरुजनों की उपासना की है, वेदविद्या अथवा समस्त राजविद्याओं अर्थात्—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति विद्याओं का वेत्ता तथा कुमारावस्था को अलंकृत करता हुआ क्षत्रिय पुत्र राजा ब्रह्मा के समान होता है ॥१७॥

संजातराज्यलक्ष्मीदीक्षाभिषेकं स्वगुणैः प्रजास्वनुरागं जनयन्तं राजानं नारायणमाहुः ॥१८॥

अर्थ—राज्यलक्ष्मी की दीक्षा से अभिषिक्त और अपने शिष्ट पालन व दुष्टनिग्रह-आदि सद्गुणों के कारण प्रजा में अपने प्रति अनुराग उत्पन्न करनेवाले राजा को विद्वानों ने विष्णु के समान कहा है ॥१८॥

विशेषार्थ—व्यास[4] ने भी राजा को विष्णु माना है।

प्रवृद्धप्रतापतृतीयलोचनानलः परमैश्वर्यमातिष्ठमानो राष्ट्रकण्टकान् द्विषद्दानवान् छेत्तुं यतते विजिगीषुर्भूपतिर्भवति पिनाकपाणिः ॥१९॥

अर्थ—धँधकती[5] हुई प्रतापाग्निरूप तृतीय नेत्रवाला, परमैश्वर्य का उपभोग करता हुआ, राष्ट्र के लिए कण्टक स्वरूप शत्रुरूप दानवों का नाश करने के लिए उद्यत, ऐसा विजयश्री की कामना करनेवाला राजा पिनाकपाणि अर्थात्—महादेव का स्वरूप है ॥१९॥

दश सूत्रों में राजमण्डल के अधिष्ठाताओं के नाम व लक्षण—

उदासीनमध्यमविजिगीष्वरिमित्रपार्ष्णिग्राहाक्रन्दासारान्तर्धयो यथासम्भवगुणविभवतारतम्यान्मण्डलानामधिष्ठातारः ॥२०॥

---

१. तथा च भागुरिः—[यत्किंचित् क्रियते कर्म] प्राणिभिः श्रद्धयान्वितैः। [तदेव हरति प्रायः] स्वफलेऽत्र प्रपातकम् ॥१॥
संशोधितं परिवर्तितं च—सम्पादकः।

२. तथा च भगवज्जिनसेनाचार्यः—धर्मः प्राणिदया सत्यं क्षान्तिः शौचं वितृप्तता। ज्ञानवैराग्यसम्पत्तिरधर्मस्तद्विपर्ययः ॥१॥
धर्मैकपरतां धत्ते बुद्धोऽनर्थजिहासया ॥२॥ —आदिपुराण पर्व १०

३. तथा च मनुः—सर्वदेवमयो राजा सर्वेभ्योऽप्यधिकोऽथवा। शुभाशुभफलं सोऽत्र देयाद्देवो भवान्तरे ॥१॥

४. तथा च व्यासः—नामुनिः कुरुते काव्यं नाविष्णुः पृथिवीपतिः ॥२॥

अर्थ—उदासीन, मध्यम, विजिगीषु, अरि, मित्र, पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, आसार और अन्तर्धि ये यथासंभव गुण और ऐश्वर्य के तारतम्य से राजमण्डल के अधिष्ठाता होते हैं।

सारांश यह है कि विजयश्री का इच्छुक राजा इनको अपने अनुकूल रखने में प्रयत्नशील होवे ॥२०॥

उदासीन-आदि के क्रमशः लक्षण—

अग्रतः पृष्ठतः कोणे वा सन्निकृष्टे वा मण्डले स्थितो मध्यमादीनां विग्रहीतानां निग्रहे संहितानामनुग्रहे समर्थोऽपि केनचित्कारणेनान्यस्मिन् भूपतौ विजिगीषुमाणे य उदास्ते स उदासीनः ॥२१॥

अर्थ—राजमण्डल में जो विजयश्री के इच्छुक प्रधान राजा के आगे, पीछे, किसी कोने में अथवा अत्यन्त समीप स्थित होकर मध्यम-आदि युद्ध करनेवालों को रोकने में और युद्ध के लिए सुसंगठितों को युद्ध का आदेश देने में समर्थ होते हुए भी किसी कारण से जो दूसरे विजयश्री के इच्छुक राजा के प्रति उपेक्षा करता है अर्थात्—युद्ध नहीं करता उसे 'उदासीन' कहते हैं ॥२१॥

उदासीनवदनियतमण्डलोऽपरभूपापेक्षया समधिकबलोऽपि कुतश्चित्कारणादन्यस्मिन्नृपतौ विजिगीषुमाणे यो मध्यस्थभावमवलम्बते स मध्यस्थः ॥२२॥

अर्थ—उदासीन की तरह जिसकी आगे, पीछे या कोने में स्थिति निश्चित न हो और दूसरे राजाओं की अपेक्षा प्रबल सैन्य से प्रचुर शक्तिशाली होने पर भी किसी कारण-वश अन्य विजयश्री के इच्छुक राजा के प्रति मध्यस्थ (न शत्रु न मित्र) बना रहता है, अर्थात्—युद्ध नहीं करता वह 'मध्यस्थ' है ॥२२॥

राजात्मदैवद्रव्यप्रकृतिसम्पन्नो नयविक्रमयोरधिष्ठानं विजिगीषुः ॥२३॥

अर्थ—जो राज्याभिषेक से अभिषिक्त हो, जो भाग्यशाली हो, जो ऐश्वर्य और अमात्य-आदि प्रकृति वर्ग से सम्पन्न हो, एवं जो राजनीति का वेत्ता और शूरवीर हो उसे 'विजिगीषु' कहते हैं ॥२३॥

य एव स्वस्याहितानुष्ठानेन प्रातिकूल्यमियर्ति स एवारिः ॥२४॥

अर्थ—जो अपने निकट संबंधियों का अपकार करके प्रतिकूलता को प्राप्त करता है वह 'अरि' है ॥२४॥

मित्रलक्षणमुक्तमेव पुरस्तात् ॥२५॥

अर्थ—'मित्रसमुद्देश' में मित्र का लक्षण पूर्व में कहा जा चुका है उस लक्षणवाले को 'मित्र' समझना चाहिए ॥२५॥

यो विजिगीषौ प्रस्थितेऽपि प्रतिष्ठमाने वा पश्चात्कोपं जनयति स पार्ष्णिग्राहः ॥२६॥

अर्थ—विजिगीषु के शत्रुभूत राजा के साथ युद्ध करने के लिए प्रस्थान करने पर या प्रस्थान करते हुए होनेपर पश्चात् जो क्रोध-वश विजिगीषु के देश का मर्दन कर डाले या नष्ट भ्रष्ट कर डाले वह 'पार्ष्णिग्राह' है ॥२६॥

पार्ष्णिग्राहाद्यः पश्चिमः स आक्रन्दः ॥२७॥

अर्थ—जो पार्ष्णिग्राह से विपरीत लक्षण वाला है, अर्थात्—जो विजिगीषु की विजय यात्रा में हर तरह से सहायता पहुँचाता है वह आक्रन्द है; क्योंकि प्रायः समस्त सीमाधिपति मित्रता का बर्ताव करते हैं, वे सब 'आक्रन्द' हैं ॥२७॥

पार्ष्णिग्राहामित्रमासार आक्रन्दमित्रं च* ॥२८॥

अर्थ—जो पार्ष्णिग्राह का शत्रु और आक्रन्द का मित्र है, वह 'आसार' है ॥२८॥

अरिविजिगीषोर्मण्डलान्तर्विहितवृत्तिरुभयवेतनः पर्वताटवीकृताश्रयश्चान्तर्धिः ॥२९॥

अर्थ—जो शत्रु और विजिगीषु इन दोनों के देश के मध्यवर्ती होकर जीवन निर्वाह करता हो और दोनों तरफ से वेतन ग्रहण करता हो तथा पर्वत और अटवी में निवास करता हो, वह 'अन्तर्धि' है ॥२९॥

दो सूत्रों में युद्ध करने योग्य शत्रु-राजा—

अराजबीजी लुब्धः क्षुद्रो विरक्तप्रकृतिरन्यायपरो व्यसनी विप्रतिपन्नमित्रामात्यसामन्तसेनापतिः शत्रुरभियोक्तव्यः ॥३०॥

अर्थ—विजिगीषु को ऐसे शत्रुराजा पर आक्रमण कर देना चाहिए—जो राजा से उत्पन्न न हो अर्थात्—जो जार से उत्पन्न हुआ हो, अथवा जिसके देश का ज्ञान न हो, जो लोभी व क्षुद्र हो अर्थात्—दुष्ट हृदय वाला हो, जिससे प्रजा ऊब गई हो, जो अन्यायी और मद्यपान-आदि व्यसनों में आसक्त हो और जिससे मित्र, अमात्य, सामन्त और सेनापति-आदि राजकीय अधिकारी विरुद्ध हो गये हों ॥३०॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] का उद्धरण भी समानार्थक है।

अनाश्रयो दुर्बलाश्रयो वा शत्रुरुच्छेदनीयः ॥३१॥

अर्थ—जिसका कोई सहायक न हो अथवा जो दुर्बल सहायकों वाला हो ऐसे शत्रु का उन्मूलन कर देना चाहिए ॥३१॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] ने भी उक्त प्रकार के शत्रु को उन्मूलन करने के विषय में कहा है।

विपर्ययो निष्पीडनीयः कर्षयेद्वा ॥३२॥

अर्थ—कल्याण-चिन्तन न करनेवाला दुष्ट हृदय-युक्त शत्रु यदि मित्र होजाय तो भी उसे विभव-हीन कर देना चाहिए, अर्थात्—उसका समस्त धन छीन लेना चाहिए, अथवा उसे मार देना चाहिए ॥३२॥

विशेषार्थ—गुरु[3] का उद्धरण भी समानार्थक है।

दो सूत्रों में शत्रुओं के भेद—

ममाभिजनः सहजशत्रुः ॥३३॥

अर्थ—अपना कुटुम्बी दायाद पट्टीदार सहज शत्रु है ॥३३॥

विरोधी विरोधयिता वा कृत्रिमः शत्रुः ॥३४॥

अर्थ—जो किसी कारण से वैर विरोध करता है या विरोध करानेवाला है, वह कृत्रिम शत्रु है ॥३४॥

विशेषार्थ—गर्ग[4] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

*. उक्त पाठः मु० मू० प्रतितः संकलितः।

१. तथा च शुक्रः—विरक्तप्रकृतिर्वैरी व्यसनी लोभसंयुतः। क्षुद्रोऽमात्यादिभिर्मुक्तः स गम्यो विजिगीषुणा ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—अनाश्रयो भवेच्छत्रुर्यो वा स्याद्दुर्बलाश्रयः। तेनैव सहितः सोऽत्र निहन्तव्यो जिगीषुणा ॥१॥

३. तथा च गुरुः—शत्रुर्मित्रत्वमापन्नो यदि नो चिन्तयेच्छिवम्। तत्कुर्याद्विभवहीनं युद्धे वा तं नियोजयेत् ॥१॥

४. तथा च गर्गः—यदि हीनबलः शत्रुः कृत्रिमः संप्रजायते। तदा दण्डोऽधिको वा स्याद्देयो दण्डः स्वशक्तितः ॥१॥

शत्रुता व मित्रता का कारण—

अनन्तरः शत्रुरेकान्तरं मित्रमिति नैष एकान्तः, कार्यं हि मित्रत्वामित्रत्वयोः कारणं न पुनर्विप्रकर्षसन्निकर्षौ ॥३५॥

अर्थ—दूरवर्ती सीमाधिपति-आदि राजा शत्रु होते हैं और समीपवर्ती मित्र होते हैं यह निश्चित सिद्धान्त नहीं है; क्योंकि शत्रुता और मित्रता के कारण कार्य हैं न कि दूरी और सामीप्य ॥३५॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी शत्रुता-मित्रता का उक्त कारण बताया है।

तीन सूत्रों में मन्त्रशक्ति की परिभाषा और उसकी विशेषता—

***ज्ञानबलं मन्त्रशक्तिः ॥३६॥**

अर्थ—ज्ञानबल (बुद्धिशक्ति) को 'मन्त्रशक्ति' कहते हैं ॥३६॥

बुद्धिशक्तिरात्मशक्तेरपि गरीयसी ॥३७॥

अर्थ—बुद्धिबल आत्मबल (शारीरिक शक्ति) से भी श्रेष्ठ है ॥३७॥

शशकेनेव सिंहव्यापादनमत्र दृष्टान्तः ॥३८॥

अर्थ—खरगोस द्वारा बुद्धिबल से सिंह का मारा जाना इसका दृष्टान्त है ॥३८॥

विशेषार्थ—पंचतन्त्र[2] में भी बुद्धिबल को प्रधान माना है।

दो सूत्रों में प्रभुशक्ति का लक्षण एवं उसके समर्थक दृष्टान्त—

कोशदण्डबलं प्रभुशक्तिः ॥३९॥

अर्थ—कोशबल और सैन्यबल को प्रभुशक्ति कहते हैं।

अर्थात्—जिस विजिगीषु के पास विशाल खजाना और हाथी, घोड़े रथ व पैदल रूप चतुरङ्ग सेना है, वह उसकी प्रभुत्वशक्ति है ॥३९॥

शूद्रकशक्तिकुमारौ दृष्टान्तौ ॥४०॥

अर्थ—इसमे शूद्रक और शक्तिकुमार दृष्टान्त है, अर्थात्—राजा शूद्रक ने अपने प्रचुर कोश से और महान् सैन्यबल से शक्तिकुमार शत्रु राजा को मार डाला था ॥४०॥

उत्साह शक्ति का लक्षण एवं दृष्टान्त—

विक्रमो बलं चोत्साहशक्तिस्तत्र रामो दृष्टान्तः ॥४१॥

अर्थ—विजिगीषु की पराक्रमशक्ति और सैन्यशक्ति को उत्साह शक्ति कहते है, उसके ज्वलन्त उदाहरण मर्यादापुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र हैं, जिन्होंने अपनी पराक्रम शक्ति और वानरवंशीय हनुमान-आदि सैनिकों की सहायता से युद्ध में रावण का वध किया था ॥४१॥

उक्त शक्तित्रय की अधिकता-आदि से विजिगीषु की श्रेष्ठता-आदि—

शक्तित्रयोपचितो ज्यायान्, शक्तित्रयापचितो हीनः समानशक्तित्रयः समः ॥४२॥

१. तथा च शुक्रः—कार्यात्सीमाधिपो मित्रं भवेत्तत्परजो रिपुः। विजिगीषुणा प्रकर्तव्यः शत्रुमित्रोपकार्यतः ॥१॥

*. सूत्रमिदं मु० मू० प्रतितः संकलितं—

२. तथा चोक्तं पंचतन्त्रे—यस्य बुद्धिर्बलं तस्य निर्बुद्धेश्च कुतो बलं। वने सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः ॥१॥

अर्थ—जो विजिगीषु, शत्रु की अपेक्षा उक्त तीनों प्रकार की शक्तियों से अधिक है, वह श्रेष्ठ है, क्योंकि उसकी युद्ध में विजय होती है और जो उक्त शक्तित्रय से हीन है वह जघन्य है, क्योंकि वह शत्रु से हार जाता है एवं जो उक्त तीनों शक्तियों में शत्रु-सरीखा है, वह सम है, उसे युद्ध नहीं करना चाहिए ॥४२॥

विशेषार्थ—गुरु[1] ने भी सम के साथ युद्ध करने का निषेध किया है।

आठ सूत्रों में षाड्गुण्य (सन्धि-विग्रह-आदि) के लक्षण—

सन्धिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभावाः षाड्गुण्यम् ॥४३॥

अर्थ—सन्धि (मैत्री करना), विग्रह-युद्ध करना, यान (शत्रु पर चढ़ाई करना), आसन (शत्रु की उपेक्षा करना), संश्रय अर्थात्—आत्म-समर्पण करना और द्वैधीभाव अर्थात्—दो शत्रुभूत राजाओं में से एक के साथ मैत्रीभाव स्थापित करने के उपरान्त दूसरे पर आक्रमण करना ये राजाओं के छह गुण-समूह हैं ॥४३॥

पणबन्धः सन्धिः ॥४४॥

अर्थ—विजिगीषु अपनी दुर्बलता-वश बलिष्ठ शत्रु राजा के लिए धनादि देकर उससे मैत्री स्थापित करता है, उसे 'सन्धि' कहते हैं ॥४४॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] ने भी सन्धि की यही परिभाषा की है।

अपराधो विग्रहः ॥४५॥

अर्थ—विजयश्री का इच्छुक राजा किसी के द्वारा किये हुए अपराध-वश उससे युद्ध करने तत्पर होता है, वह 'विग्रह' है ॥४५॥

अभ्युदयो यानम् ॥४६॥

अर्थ—शत्रु पर चढ़ाई कर देना अथवा उसे अपनी अपेक्षा बलिष्ठ समझकर पलायन कर जाना 'यान' है ॥४६॥

उपेक्षणमासनम् ॥४७॥

अर्थ—बलिष्ठ शत्रु का आक्रमण देखकर उसकी उपेक्षा कर देना अर्थात्—उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र चले जाना 'आसन' है ॥४७॥

परस्यात्मार्पणं संश्रयः ॥४८॥

अर्थ—बलिष्ठ शत्रु को आत्म-समर्पण करना 'संश्रय' है ॥४८॥

एकेन सह सन्धायान्येन सह विग्रहकरणमेकेन वा शत्रौ सन्धानपूर्वं विग्रहो द्वैधीभावः ॥४९॥

अर्थ—जब राज्य पर एक साथ दो शत्रु चढ़ाई कर दें तब बलिष्ठ शत्रु के साथ सन्धि करके अन्य पर चढ़ाई कर देना 'द्वैधीभाव' है अथवा अकेले ही शत्रु से सन्धि करके पश्चात् विग्रह अर्थात्—युद्ध करना द्वैधीभाव है ॥४९॥

प्रथमपक्षे सन्धीयमानो विगृह्यमाणो विजिगीषुरिति द्वैधीभावो बुद्ध्याश्रयः ॥५०॥

अर्थ—प्रथमपक्ष में जब विजिगीषु अपने से बलिष्ठ शत्रु के साथ सन्धि करता है पुनः कुछ समय के बाद

---

१. तथा च गुरुः—समेनापि न योद्धव्यं यद्युपायत्रयं भवेत्। अन्योन्याहृति ? यो संगो द्वाभ्यां संजायते यतः ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—दुर्बलो बलिनं यत्र पणदानेन तोषयेत्। तावत्सन्धिर्भवेत्तस्य यावन्मात्रः प्रजल्पितः ॥१॥

शत्रु के हीन शक्ति हो जानेपर युद्ध कर देता है उसे बुद्धि-आश्रित द्वैधी भाव कहते हैं; क्योंकि इससे विजिगीषु की विजय निश्चित रहती है ॥५०॥

पाँच सूत्रों में सन्धि और विग्रह के विषय में विजिगीषु का कर्तव्य—

हीयमानः पणबन्धेन सन्धिमुपेयात् यदि नास्ति परेषां विपणितेऽर्थे मर्यादोल्लंघनम् ॥५१॥

अर्थ—जब विजिगीषु राजा, शत्रु की अपेक्षा स्वयं क्षीण शक्ति हो रहा हो तो उसे शत्रु राजा के लिए आर्थिक दण्ड (धनादि) देकर उससे सन्धि कर लेनी चाहिए, किन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि शर्त के विषय में भविष्य में शत्रुपक्ष द्वारा मर्यादा का उल्लङ्घन न हो अर्थात्—विश्वास-घात न हो ॥५१॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] का उद्धरण भी उक्त विषय में समानार्थक है।

अभ्युच्चीयमानः परं विगृह्णीयात् यदि नास्त्यात्मबलेषु क्षोभः ॥५२॥

अर्थ—यदि विजिगीषु, शत्रुराजा से अधिक शक्तिशाली है एवं उसकी सेना में क्षोभ नहीं है तो उसे शत्रु से युद्ध छेड़ देना चाहिए ॥५२॥

विशेषार्थ—गुरु[2] का उद्धरण भी प्रस्तुत विषय में समानार्थक है।

न मां परो हन्तुं नाहं परं हन्तुं शक्त इत्यासीत यद्यायत्यामस्ति कुशलम् ॥५३॥

अर्थ—यदि विजिगीषु शत्रु द्वारा भविष्य में अपनी कुशलता का निश्चय कर ले कि शत्रु मुझे नष्ट नहीं करेगा और न मैं शत्रु को नष्ट करूँगा तब उसके साथ विग्रह न कर सन्धि ही कर लेनी चाहिए ॥५३॥

विशेषार्थ—जैमिनि[3] ने भी उदासीन शत्रु राजा से युद्ध करने का निषेध किया है।

गुणातिशययुक्तो यायाद्यदि न सन्ति राष्ट्रकण्टका मध्ये न भवति पश्चात्क्रोधः ॥५४॥

अर्थ—यदि विजिगीषु प्रचुर सैन्य और कोश-शक्तिशाली है एवं उसे यह निश्चय है कि उसके आक्रमण के निमित्त प्रस्थान कर देने के अनन्तर कुछ राष्ट्रकण्टक कोई हानि तो न करेंगे अथवा बाद में प्रजा-आदि का उस पर कोप नहीं है तो उसे शत्रु के साथ युद्ध करना चाहिए ॥५४॥

विशेषार्थ—भागुरि[4] ने भी गुण-युक्त विजिगीषु का उक्त कर्तव्य निर्देश किया है।

स्वमण्डलमपरिपालयतः परदेशाभियोगो विवसनस्य शिरोवेष्टनमिव ॥५५॥

अर्थ—जो राजा स्वदेश की रक्षा न करके शत्रु के देश पर आक्रमण कर बैठता है उसका यह कार्य उसप्रकार हास्यास्पद है जिसप्रकार नंगे व्यक्ति का शिर पर पगड़ी बाँधना हास्यास्पद होता है ॥५५॥

विशेषार्थ—विदुर[5] का उद्धरण भी समानार्थक है।

दो सूत्रों में शक्तिहीन विजिगीषु का कर्तव्य—

रज्जुवलनमिव शक्तिहीनः संश्रयं कुर्याद्यदि न भवति परेषामामिषम् ॥५६॥

---

१. तथा च शुक्रः—हीयमानेन दातव्यो दण्डः शत्रोर्जिगीषुणा ॥१॥
२. तथा च गुरुः—यदि स्यादधिकः शत्रोर्विजिगीषुर्निजैर्बलैः। क्षोभेन रहितैः कार्यः शत्रुणा सह विग्रहः ॥१॥
३. तथा च जैमिनिः—न विग्रहं स्वयं कुर्यादुदासीने परे स्थिते। बलाढ्येनापि यो न स्यादायत्यां चेष्टितं शुभं ॥१॥
४. तथा च भागुरिः—गुणयुक्तोऽपि भूपालोऽपि यायाद्विद्विषोपरि ?। यद्येतेन हि राष्ट्रस्य बहवः शत्रवोऽपरे ॥१॥
५. तथा च विदुरः—य एव यत्नः कर्तव्यः परराष्ट्रविमर्दने। स एव यत्नः कर्तव्यः स्वराष्ट्रपरिपालने ॥१॥

अर्थ—सैन्य व कोशशक्ति से क्षीण हुए विजिगीषु को शक्तिशाली शत्रु के प्रति आत्मसमर्पण कर देना चाहिए, जिसके फलस्वरूप वह किसी दूसरे राजा का भक्ष्य अथवा वध्य नहीं होता और उसीतरह शक्तिशाली दृढ़ हो जाता है जिसतरह अनेक तन्तुओं के आश्रय से रस्सी शक्तिशाली दृढ़ हो जाती है ।।५६।।

विशेषार्थ—गुरु[1] का उद्धरण भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण करता है ।

बलवद्भयादबलवदाश्रयणं हस्तिभयादेरण्याश्रयणमिव ।।५७।।

अर्थ—बलिष्ठ शत्रु के आक्रमण के भय से शक्तिहीन का आश्रय ग्रहण करना उसतरह उपहासास्पद और हानिकारक होता है जिसतरह हाथी के भय से एरण्ड के वृक्ष का आश्रय लेना उपहासास्पद और हानिकारक होता है ।।५७।।

विशेषार्थ—भागुरि[2] ने भी उक्त विषय की प्रतिष्ठा की है ।

अस्थिर के आश्रय से हानि—

स्वयमस्थिरेणास्थिराश्रयणं नद्यां वहमानेन वहमानस्याश्रयणमिव ।।५८।।

अर्थ—शत्रु के भय से परित्रस्त हुआ विजिगीषु जब अपने समान शत्रु के भय से त्रस्त हुए अन्य राजा का आश्रय लेता है तो वह उसतरह नष्ट हो जाता है जिसतरह नदी में बहने या डूबनेवाला व्यक्ति दूसरे बहनेवाले या डूबनेवाले व्यक्ति का आश्रय लेने से नष्ट हो जाता है । सारांश यह है कि अस्थिर (शत्रु-परित्रस्त) को स्थिर का ही आश्रय लेना चाहिए अस्थिर का नहीं ।।५८।।

विशेषार्थ—नारद[3] ने भी क्षीणशक्ति का आश्रय लेने से उक्त हानि बताई है ।

स्वाभिमानी का कर्तव्य—

वरं मानिनो मरणं न परेच्छानुवर्तनादात्मविक्रयः ।।५९।।

अर्थ—शत्रु की इच्छाओं का अनुसरण करते हुए अर्थात्—उसकी आज्ञा का परिपालन करते हुए जीवित रहना आत्मविक्रय है, उसकी अपेक्षा स्वाभिमानी पुरुष को मर जाना अच्छा है । सारांश यह है कि स्वाभिमानी व्यक्ति को शत्रु के लिए आत्मसमर्पण करना उचित नहीं ।।५९।।

विशेषार्थ—नारद[4] ने भी शत्रु के प्रति आत्म-समर्पण का निषेध किया है ।

जिस परिस्थिति में शत्रु-संश्रय उत्तम है—

आयतिकल्याणे सति कस्मिंश्चित् सम्बन्धे परसंश्रयः श्रेयान् ।।६०।।

अर्थ—यदि विजिगीषु राजा का परिणाम काल में कल्याण निश्चित हो तो उसे किसी कार्य के सम्बन्ध में शत्रु का संश्रय करना श्रेयस्कर है ।।६०।।

विशेषार्थ—हारीत[5] ने भी यही कहा है ।

दो सूत्रों में राजकीय कार्यों में कालातिक्रमण नहीं करना चाहिए—

निधानादिव न राजकार्येषु कालनियमोऽस्ति ।।६१।।

१. तथा च गुरुः—स्याद्यदा शक्तिहीनस्तु विजिगीषु हि वैरिणः । संश्रयीत तदा चान्यं बलाय व्यसनच्युतात् ।।१।।

२. तथा च भागुरिः—सबलाद्भयस्य बलाढीनं यो बलेन समाश्रयेत् । स तेन सह नश्येत यथैरण्डाश्रयी गजः ।।१।।

३. तथा च नारदः—बलं बलाश्रितेनैव सह नश्यति निश्चितं । नीयमानो यथा नद्यां नीयमानं समाश्रितः ।।१।।

४. तथा च नारदः—वरं वनं वरं मृत्युः साहंकारस्य भूपतेः । न शत्रोः संश्रयाद्राज्यं [प्राज्यं] कार्यं कथंचन ।।१।। स० प०

५. तथा च हारीतः—परिणामं शुभं ज्ञात्वा शत्रुजः संश्रयोऽपि च । कस्मिंश्चिद्विषये कार्यः सततं न कथंचन ।।१।।

अर्थ—जिसतरह अकस्मात् मिली हुई निधि तत्काल ग्रहण कर ली जाती है उसमें समय का उल्लङ्घन नहीं किया जाता उसीतरह राजकीय कार्यों में भी समय का उल्लङ्घन नहीं किया जाता किन्तु तत्काल करना चाहिए ॥६१॥

विशेषार्थ—गौतम[1] ने भी प्रस्तुत विषय का स्पष्टीकरण किया है।

मेघवदुत्थानं राजकार्याणामन्यत्र च शत्रोः सन्धिविग्रहाभ्याम् ॥६२॥

अर्थ—जिसप्रकार आकाश में बहुधा अकस्मात् मेघ (बादल) उठ जाते हैं उसीप्रकार राजकार्य भी अकस्मात् उठ जाते हैं, अतः सन्धि और विग्रह को छोड़कर अन्य राजकीय कार्यों को सम्पन्न करने में विलम्ब नहीं करना चाहिए ॥६२॥

विशेषार्थ—गुरु[2] ने भी राजकीय कार्य तत्काल करने योग्य बताये हैं।

द्वैधीभाव का उपयुक्त अवसर—

द्वैधीभावं गच्छेद् यदन्योऽवश्यमात्मना सहोत्सहते ॥६३॥

अर्थ—यदि विजिगीषु को यह विदित हो जाय कि शत्रु का शत्रु निश्चित रूप से उसके साथ युद्ध करने को तत्पर है अर्थात्—दोनों शत्रु परस्पर में युद्ध कर रहे हैं तब इसे द्वैधीभाव अर्थात्—बलिष्ठ से सन्धि और निर्बल से युद्ध अवश्य करना चाहिए ॥६३॥

विशेषार्थ—गर्ग[3] ने भी द्वैधीभाव का यही उपयुक्त अवसर बताया है।

बिना कष्ट के जीतने-लायक शत्रु—

बलद्वयमध्यस्थितः शत्रुरुभयसिंहमध्यस्थितः करीव भवति सुखसाध्यः ॥६४॥

अर्थ—दो बलिष्ठ राजाओं के मध्य वर्ती शत्रु उसप्रकार सुखपूर्वक नष्ट किया जा सकता है जिसप्रकार दो सिंहों के बीच में पड़ा हुआ हाथी सुखपूर्वक नष्ट किया जाता है ॥६४॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] ने भी उक्त सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है।

तीन सूत्रों में भूमिफल (उपज-धान्यादि) देना उचित—

भूम्यर्थिनं भूफलप्रदानेन संदध्यात् ॥६५॥

अर्थ—जब कोई शक्तिशाली सीमाधिपति भूमि का प्रार्थी हो तो उसे भूमि न देकर उसकी उपज देते हुए उससे सन्धि कर लेनी चाहिए ॥६५॥

विशेषार्थ—गुरु[5] ने भी बलिष्ठ सीमाधिपति के लिए भूमि की उपज देने को कहा है।

भूफलदानमनित्यं परेषु भूमिर्गता गतैव ॥६६॥

अर्थ—भूमि की उपज देनेवाली बात अनित्य है, क्योंकि उसे शत्रु के पुत्र-पौत्रादि नहीं भोग सकते किन्तु दूसरे के पास भूमि चली जाने पर वह सदा के लिए चली जाती है ॥६६॥

---

१. तथा च गौतमः—निधानदर्शने यद्वत्कालक्षेपो न कार्यते। राजकृत्येषु सर्वेषु तथा कार्यः सुसेवकैः ॥१॥

२. तथा च गुरुः—राजकृत्यमचिरयं यदकस्मादेव जायते। मेघवत् तत्क्षणात्कार्यं मुक्त्वैकं सन्धिविग्रहं ॥१॥

३. तथा च गर्गः—यद्यसौ सन्धिमादातुं युद्धाय कुरुते क्षणं। निश्चयेन तदा तेन सह सन्धिस्तथा रणम् ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—सिंहयोर्मध्ये यो हस्ती सुखसाध्यो यथा भवेत्। तथा सीमाधिपोऽन्येन विगृहीतो वशो भवेत् ॥१॥

५. तथा च गुरुः—सीमाधिपो बलोपेतो यदा भूमिं प्रयाचते। तदा तस्मै फलं देयं भूमेर्नैव धरां निजाम् ॥१॥

विशेषार्थ—गुरु[1] ने भी भूमि की उपज देने के विषय में कहा है।

अवज्ञयाऽपि भूमावारोपितस्तरुर्भवति बद्धमूलः ॥६७॥

अर्थ—जिसतरह भूमि में उपेक्षापूर्वक भी आरोपण किया हुआ वृक्ष बद्धमूल होता है अर्थात्—अपनी जड़ों के कारण ही फैलता है उसीतरह विजिगीषु द्वारा दी हुई भूमि को प्राप्त करनेवाला सीमाधिपति भी दृढ़मूल अर्थात्—शक्तिशाली होकर पुनः उसे नहीं छोड़ता ॥६७॥

विशेषार्थ—रैम्य[2] ने भी भूमि देने से उक्त हानि निर्दिष्ट की है।

कैसा राजा चक्रवर्ती-सरीखा होता है ?—

उपायोपपन्नविक्रमोऽनुरक्तप्रकृतिरल्पदेशोऽपि भूपतिर्भवति सार्वभौमः ॥६८॥

अर्थ—साम, दान, दण्ड ओर भेद इन नैतिक उपायों के प्रयोग में निपुण, राक्रमशाली, जिससे अमात्य-आदि- अधिकारीवर्ग और प्रजा अनुरक्त है, ऐसा राजा अल्प देश का स्वामी होनेपर भी चक्रवर्ती-सरीखा होता है ॥६८॥

वसुन्धरा (भूमि) का स्वामी—

न हि कुलागता कस्यापि भूमिः किन्तु वीरभोग्या वसुन्धरा ॥६९॥

अर्थ—निस्सन्देह कुल परम्परा से प्राप्त हुई भूमि किसी की भूमि नहीं होती किन्तु यह वसुन्धरा अर्थात्—पृथिवी वीरों के द्वारा भोगी जाती है। सारांश यह है कि राजा को राजनीतिज्ञ और पराक्रमी होना चाहिए ॥६९॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] ने भी कहा है कि 'वंशपरम्परा से प्राप्त हुई पृथिवी पराक्रमी वीरों की है न कि कायरों की।

साम-आदि चार उपाय—

सामोपप्रदानभेददण्डा उपायाः ॥७०॥

अर्थ—शत्रुभूत राजा या प्रतिकूल व्यक्ति को वश करने के चार उपाय है—साम, उपप्रदान, भेद और दण्डनीति ॥७०॥

सामनीति के भेद—

तत्र पंचविधं साम, गुणसंकीर्तनं सम्बन्धोपाख्यानं परोपकारदर्शनमायतिप्रदर्शनमात्मोपनिबन्धनमिति ॥७१॥

अर्थ—सामनीति के पाँच भेद हैं—गुणसंकीर्तन अर्थात्—शत्रु को वश में करने के लिए उसके गुणों का वर्णन करना या उसकी प्रशंसा करना, सम्बन्धोपाख्यान अर्थात्—परस्पर मैत्री सम्बन्ध दृढ़ होने में सहायक उपाख्यानो का सुनाना, प्रतिकूल व्यक्ति का उपकार करना, आयतिदर्शन 'हम लोगों की मैत्री का परिणाम भविष्य जीवन को सुखी बनाना है' इसप्रकार प्रतिकूल व्यक्ति के लिए प्रकट करना और आत्मोपनिबंधन अर्थात्—'मेरा धन आप अपने कार्य में उपयोग कर सकते हैं' इसप्रकार प्रतिकूल व्यक्ति को वश करने के लिये कहना ॥७१॥

---

१. तथा च गुरुः—भूमिपस्य न दातव्या निजा भूमिर्बलीयसः। स्तोकापि वा भयं चेत्स्यात्तस्माद्देयं च तत्फलम् ॥१॥

२. तथा च रैम्यः—लीलयाऽपि क्षितौ वृक्षः स्थापितो वृद्धिमाप्नुयात्। तस्या गुणेन नो भूपः कस्मादिह न वर्धते ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—कातराणां न वश्या स्याद्यद्यपि स्यात्क्रमागता। परकीयापि चात्मीया विक्रमो यस्य भूपतेः ॥१॥

विशेषार्थ—व्यास[1] ने सामनीति का माहात्म्य बताया है।

आत्मोपनिबन्धन का लक्षण—

यन्मम द्रव्यं तद्भवता स्वकृत्येषु प्रयुज्यतामित्यात्मोपनिबंधनं ॥७२॥

अर्थ—मेरे पास जो कुछ रुपया पैसा-आदि है, उसे आप अपने कार्यों में लगाइये इसका नाम 'आत्मोपनिवन्धन' है ॥७२॥

उपप्रदान का लक्षण—

बह्वर्थसंरक्षणायाल्पार्थप्रदानेन परप्रसादनमुपप्रदानम् ॥७३॥

अर्थ—जहाँ पर विजयश्री का इच्छुक राजा शत्रु से अपनी प्रचुर सम्पत्ति के संरक्षण-निमित्त उसे स्वल्प धन देकर प्रसन्न कर लेता है उसे 'उपप्रदान' या दान कहते हैं ॥७३॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] ने भी उपप्रदान की उक्त परिभाषा की है।

भेदनीति का लक्षण—

योगतीक्ष्णगूढ़पुरुषोभयवेतनैः परबलस्य परस्परशङ्काजननं निर्भर्त्सनं वा भेदः ॥७४॥

अर्थ—विजयश्री का इच्छुक राजा अपने सैन्यनायक, क्रूरप्रकृति के पुरुष, गुप्तचर और दोनों ओर से वेतनभोगी व्यक्तियों द्वारा शत्रु-सैन्य में परस्पर शङ्का उत्पन्न करता है अथवा तिरस्कार की भावना भरता है उसे 'भेद नीति' कहते हैं ॥७४॥

विशेषार्थ—गुरु[3] ने भी भेद नीति की उक्त प्रकार परिभाषा की है।

दण्ड नीति की परिभाषा—

वधः परिक्लेशोऽर्थहरणं च दण्डः ॥७५॥

अर्थ—शत्रु का वध करना, उसे दुःखित करना या उसका धन छीन लेना इसे 'दण्ड' कहते हैं ॥७५॥

विशेषार्थ—जैमिनि[4] का उद्धरण भी समानार्थक है।

दो सूत्रों में शत्रु के यहाँ से आए हुए व्यक्ति की परीक्षा अनिवार्य—

शत्रोरागतं साधु परीक्ष्य कल्याणबुद्धिमनुगृह्णीयात् ॥७६॥

अर्थ—शत्रु के पास से आये हुए व्यक्ति की सूक्ष्मबुद्धि से परीक्षा करने के उपरान्त यदि वह विश्वसनीय सिद्ध हो तो उसका अनुग्रह करे अर्थात्—दान-मानादि से सन्तुष्ट करे ॥७६॥

विशेषार्थ—भागुरि[5] ने भी शत्रु के यहाँ से आए हुए की परीक्षा का उल्लेख किया है।

किमरण्यजमौषधं न भवति क्षेमाय ॥७७॥

अर्थ—क्या जंगल में उत्पन्न हुई औषधि आरोग्यजनक नहीं होती? उसी तरह शत्रु के यहाँ से आया हुआ व्यक्ति भी हितचिन्तक हो सकता है ॥७७॥

१. तथा च व्यासः—साम्ना यत्सिद्धिदं कृत्यं ततो नो विकृतिं व्रजेत्। सज्जनानां यथा चित्तं दुरुक्तैरपि कीर्तितैः ॥१॥
साम्नैव यत्र सिद्धिर्न तत्र दण्डो बुधेन विनियोज्यः। पित्तं यदि शर्करया शाम्यति तत्किं पटोलेन ॥२॥

२. तथा च शुक्रः—बह्वर्थः स्वल्पवित्तेन यदा शत्रोः प्ररक्षते। परप्रसादनं तत्र प्रोक्तं तज्ज्ञ विचक्षणैः ॥१॥

३. तथा च गुरुः—सैन्यं विषं तथा गुप्ताः पुरुषाः सेवकात्मकाः। तैश्च भेदः प्रकर्तव्यो मिथः सैन्यस्य भूपतेः ॥१॥

४. तथा च जैमिनिः—वधस्तु क्रियते यत्र परिक्लेशोऽथवा रिपोः। अर्थस्य ग्रहणं भूरिर्दण्डः स परिकीर्तितः ॥१॥

५ तथा च भागुरिः—शत्रोः सकाशतः प्राप्तं सेवार्थं शिष्टसम्मतं। परीक्षा तस्य कृत्वाथ प्रसादः क्रियते ततः ॥१॥

विशेषार्थ—गुरु[1] ने कहा है कि 'जिस प्रकार शरीरवर्ती व्याधि पीड़ाजनक होती है और जंगल में पैदा हुई औषधि हितकारक होती है उसीप्रकार अहितचिन्तक बन्धु भी शत्रु है और हितचिन्तक शत्रु भी बन्धु माना गया है'।

शत्रु के निकट संबंधी के गृह-प्रवेश से हानि—

गृहप्रविष्टकपोत इव स्वल्पोऽपि शत्रुसम्बन्धी लोकस्तन्त्रमुद्वासयति ॥७८॥

अर्थ—जिसप्रकार गृह में प्रविष्ट हुआ कबूतर गृह को उजाड़ बना देता है उसीप्रकार शत्रुपक्ष का छोटा सा भी व्यक्ति सैन्य में विद्रोह उत्पन्न कर देता है ॥७८॥

विशेषार्थ—बादरायण[2] का उद्धरण भी समानार्थक है।

दो सूत्रों में उत्तम लाभ—

मित्रहिरण्यभूमिलाभानामुत्तरोत्तरलाभः श्रेयान् ॥७९॥

अर्थ—मित्र, सुवर्ण और भूमि-लाभ इन तीन लाभों में उत्तरोत्तर का लाभ अर्थात्—आगे आगे की वस्तु का लाभ विशेष श्रेयस्कर है, अर्थात्—मित्र प्राप्ति से सुवर्ण प्राप्ति अच्छी है और सुवर्ण प्राप्ति से बढ़कर भूमि की प्राप्ति है ॥७९॥

विशेषार्थ—गर्ग[3] का उद्धरण भी प्रस्तुत विषय में समानार्थक है।

हिरण्यं भूमिलाभाद्भवति मित्रं च हिरण्यलाभादिति ॥८०॥

अर्थ—क्योंकि भूमि की प्राप्ति से सुवर्ण की प्राप्ति होती है और सुवर्णप्राप्ति से मित्र-प्राप्ति होती है।'८०॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] ने सुवर्ण-लाभ को उत्तम कहा है।

दो सूत्रों में लाभ के विषय में विचार—

स्वयमसहायश्चेत् भूमिहिरण्यलाभायालं भवति तदा मित्रं गरीयः* ॥८१॥

अर्थ—सहायकों से हीन राजा, पृथिवी और सुवर्ण की प्राप्ति करने में असमर्थ होता है, अतः उक्त तीनों लाभों में मित्र का लाभ श्रेष्ठ है ॥८१॥

सहानुयायि मित्रं स्वयं वा स्थास्नु भूमिमित्राभ्यां हिरण्यं गरीयः† ॥८२॥

अर्थ—सदा साथ देनेवाला मित्र और स्वयं स्थिरशील भूमि की प्राप्ति द्रव्याधीन है; अतः भूमि व मित्र लाभ से सुवर्ण-लाभ श्रेष्ठ है ॥८२॥

शत्रु से मैत्री—

शत्रोर्मित्रत्वकारणं विमृश्य तथाचरेद्यथा न वञ्च्यते ॥८३॥

अर्थ—शत्रु यदि मित्रता करने का इच्छुक है तो उसकी मित्रता के कारणों पर विचार करके उसके साथ ऐसा सतर्क व्यवहार रक्खे जिससे वञ्चित न होना पड़े ॥८३॥

---

१. तथा च गुरुः—परोऽपि हितवान् बन्धुर्बन्धुरप्यहितः परः। अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौषधम् ॥१॥
२. तथा च बादरायणः—शत्रुपक्षभवो लोकः स्तोकोऽपि गृहमाविशेत्। यदा तदा समाधत्ते तद्गृहं च कपोतवत् ॥१॥
३. तथा च गर्गः—उत्तमो मित्रलाभस्तु हेमलाभस्ततो वरः। तस्माच्छ्रेष्ठतरं चैव भूमिलाभं समाश्रयेत् ॥१॥
४. तथा च शुक्रः—न भूमिर्न च मित्राणि कोशनष्टस्य भूपतेः। द्वितीयं तद्भवेत्सद्यो यदि कोशो भवेद्गृहे ॥१॥
*. † इदं सूत्रद्वयं मु० मू० पुस्तकतः संकलितं—सम्पादकः।

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी विना विचारे शत्रु से मैत्री करने का निषेध किया है।

विजिगीषु राजा का अपकीर्ति-भाजन होना—

गूढोपायेन सिद्धकार्यस्यासंवित्तिकरणं सर्वां शङ्कां दुरपवादं च करोति ॥८४॥

अर्थ—मैत्री को प्राप्त हुए जिस शत्रुभूत राजा द्वारा प्रच्छन्न उपायों से विजयश्री के इच्छुक राजा का प्रयोजन सिद्ध किया गया है, उसका यदि यह समुचित सन्मानादि नहीं करता तब उसके मन में इसके प्रति अनेक आशङ्काएँ उत्पन्न होती हैं और विजिगीषु कृतघ्नता के कारण अपकीर्ति का पात्र भी होता है ॥८४॥

विशेषार्थ—गुरु[2] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

गृहीतपुत्रदारानुभयवेतनान् कुर्यात् ॥८५॥

अर्थ—विजिगीषु, दोनों पक्ष से वेतनभोगी गुप्तचरों के स्त्री और पुत्रों को अपने यहाँ सुरक्षित रखकर उन्हें शत्रु के देश में भेजे, ताकि वे वापिस आकर इसे शत्रु की चेष्टा निवेदन करे ॥८५॥

विशेषार्थ—जैमिनि[3] ने भी दोनों पक्ष से वेतनभोगी गुप्तचरों के विषय में यही कहा है।

शत्रु-निग्रह के उपरान्त विजिगीषु का कर्त्तव्य—

शत्रुमपकृत्य भूदानेन तद्दायादानात्मनः सफलयेत् क्लेशयेद्वा ॥८६॥

अर्थ—विजयश्री का इच्छुक राजा शत्रु का अपकार करके अर्थात्—उसकी धन-धरती छीनकर उसके शक्ति-हीन कुटुम्बियों के लिए उसकी भूमि प्रदान कर उन्हें अपने अधीन वना ले अथवा यदि वे वलिष्ठ हों तो उन्हें पीड़ित करे ॥८६॥

विशेषार्थ—नारद[4] ने भी यही कहा है।

शत्रु के विश्वास के साधन—

परविश्वासजनने सत्यं शपथः प्रतिभूः प्रधानपुरुषप्रतिग्रहो वा हेतुः ॥८७॥

अर्थ—शत्रु पर विश्वास निम्नप्रकार चार कारणों से किया जा सकता है। १. उसका सत्य व्यवहार, २. शपथग्रहण, ३. जमानत और उसके प्रधान अमात्य-आदि का पूर्ण रूप से अपनी ओर मिल जाना ॥८७॥

विशेषार्थ—गौतम[5] ने भी शत्रु के विश्वास करने के विषय में उक्त साधन वताए हैं।

दो सूत्रों में शत्रु पर आक्रमण न करने का अवसर—

सहस्रैकीयः पुरस्ताल्लाभः शतैकीयः पश्चात्कोप इति न यायात् ॥८८॥

अर्थ—प्रथम तो प्रचुर लाभ हो अर्थात्—हजार मुद्राओं का लाभ हो किन्तु अन्त में कुछ उपद्रव की संभावना हो तो शत्रु पर आक्रमण नहीं करना चाहिए ॥८८॥

विशेषार्थ—भृगु[6] ने भी यही कहा है।

१. तथा च शुक्रः—पर्यालोचं विना कुर्याद्यो मैत्रीं रिपुणा सह। स वंचनामवाप्नोति तस्य पार्श्वविसंशयः ॥१॥
२. तथा च गुरुः—वृद्धिं गच्छेद्यतः पार्श्वात्तं प्रयत्नेन तोषयेत्। अन्यथा जायते शंका रणगोपाद्धि गर्हणा ॥१॥
३. तथा च जैमिनिः—गृहीतपुत्रदारांश्च कृत्वा चोभयवेतनान्। प्रेषयेद्वैरिणः स्थाने येन तच्चेष्टितं लभेत् ॥१॥
४. तथा च नारदः—साधयित्वा परं युद्धे तद्भूमिस्तस्य गोत्रिणः। दातव्यात्मवशो यः स्यान्नान्यस्य तु कथंचन ॥१॥
५. तथा च गौतमः—शपथैः कोशपानेन महापुरुषवाक्यतः। प्रतिभूरिष्टसंग्रहाद्रिपोर्विश्वसतां व्रजेत् ॥१॥
६. तथा च भृगुः—पुरस्ताद्भूरिलाभेऽपि पश्चात्कोपोऽल्पको यदि। तद्यात्रा नैव कर्तव्या तत्स्वल्पोऽप्यधिको भवेत् ॥१॥

सूचीमुखा ह्यनर्था भवन्त्यल्पेनापि सूचीमुखेन महान् दवरकः प्रविशति ॥८९॥

अर्थ—निस्सन्देह उपद्रव सुई के छिद्र-सरीखे होते हैं। सुई का छिद्र स्वल्प ही होता है किन्तु उसमें वहुत लम्बा डोरा चला जाता है, इसीप्रकार वहुत लाभ की आशा से किये गये प्रस्थान में लाभ के अनन्तर स्वल्प भी संभावित उपद्रव वढ़ जाता है, जिससे महान् संकट की संभावना होती है ॥८९॥

विशेषार्थ—वादरायण[1] ने भी स्वल्प संभावित उपद्रव होने पर आक्रमण का निषेध किया है।

विजयश्री का इच्छुक राजा कैसे लाभ का चिन्तवन करे ?

न पुण्यपुरुषापचयः क्षयो हिरण्यस्य धान्यापचयो व्ययः शरीरस्यात्मनो लाभमिच्छेद्येन सामिषक्रव्याद् इव नापरैरवरुध्यते ॥९०॥

अर्थ—विजयश्री के इच्छुक को ऐसे लाभ की इच्छा करनी चाहिए, जिसमें उसके किसी प्रभावशाली या प्रतापी अमात्य-आदि का नाश न हो, कोश क्षीण न होने पावे, धान्य की क्षीणता न हो, और उसके जीवन का नाश न होने पावे, एवं जिस तरह मांस-खंड को धारण करनेवाला पक्षी दूसरे मांसभक्षी पक्षियों द्वारा रोका जाता है उसीप्रकार अनायास लाभ को प्राप्त हुआ यह भी शत्रु राजा द्वारा रोका न जासके ॥९०॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] ने भी विजिगीषु को उक्तप्रकार के लाभ का विवेचन किया है।

दो सूत्रों में अपराधियों के प्रति क्षमा करने से हानि और निग्रह से लाभ—

शक्तस्यापराधिषु या क्षमा सा तस्यात्मनस्तिरस्कारः ॥९१॥

अर्थ—जो राजा दण्ड देने में समर्थ होकर भी अपराधियों के प्रति क्षमा करता है, वह अपना ही तिरस्कार करता है, अर्थात् दण्ड न पाकर अपराधी पुनः उसका अपराध करेगा। अतः अपराधी को दण्डित करना न्यायोचित है ॥९१॥

विशेषार्थ—वादरायण[3] का उद्धरण भी समानार्थक है।

अतिक्रम्यवर्तिषु निग्रहं कर्तुः सर्पादिव दृष्टप्रत्यवायः सर्वोऽपि बिभेति जनः ॥९२॥

अर्थ—राजाज्ञा का उल्लङ्घन करनेवालों के लिए दण्ड देनेवाले राजा से सभी लोग अपने नाश की आशङ्का करते हुए उसी तरह भयभीत होते हैं जिस तरह सर्प के स्पर्श से भयभीत होते हैं ॥९२॥

विशेषार्थ—भागुरि[4] ने भी यही कहा है।

प्रवेश के अयोग्य सभा—

अनायकां बहुनायकां वा सभां न प्रविशेत् ॥९३॥

अर्थ—विना सभापति की अथवा जिसमें वहुत से सभापति हों उस सभा में नहीं जाना चाहिए ॥९३॥

जन-समुदाय के नेता होने से हानि—

गणपुरश्चारिणः सिद्धे कार्ये स्वस्य न किंचिद्भवत्यसिद्धे पुनः ध्रुवमपवादः ॥९४॥

१. तथा च वादरायणः—स्वल्पेनापि न गन्तव्यं पश्चात्कोपेन भूभुजा। यतः स्वल्पोऽपि तद्ग्राह्यः स वृद्धिं परमां व्रजेत् ॥१॥

२. तथा च शुक्रः— स्वतंत्रस्य क्षयो न स्यात्तथा चैवात्मनोऽपरः। येन लाभेन नान्यैश्च रुध्यते तं विचिन्तयेत् ॥१॥

३. तथा च वादरायणः—शक्तिमानपि यः कुर्यादपराधिषु च क्षमां। स पराभवमाप्नोति सर्वेषामपि वैरिणां ॥१॥

३. तथा च भागुरिः—अपराधिषु यः कुर्यान्निग्रहं दारुणं नृपः। तस्माद्बिभेति सर्वोऽपि सर्पसंस्पर्शनादिव ॥१॥

अर्थ—किसी गण (जन-समूह) का नेता होकर अग्रेसर होने में, कार्य सिद्ध हो जानेपर नेता को कोई विशेष लाभ नहीं होता और कार्य सिद्ध न होनेपर तो उसकी निन्दा अवश्य होती है ॥९४॥

विशेषार्थ—नारद[1] ने भी जन-समूह का नेता होने से उक्त हानि निर्दिष्ट की है।

त्याज्य या दूषित सभा—

सा गोष्ठी न प्रस्तोतव्या यत्र परेषामपायः ॥९५॥

अर्थ—वह सभा प्रशंसनीय नही है, जिसमें प्रयोजनार्थी पुरुषों को पक्षपात के कारण हानि होती है आचार्य प्रवर का अभिप्राय यह है कि निष्पक्ष व्यक्तियों की ही सभा प्रशस्य होती है ॥९५॥

विशेषार्थ—जैमिनि[2] ने भी पक्षपात-पूर्ण सभा को त्याज्य बताया है।

गृह में आई हुई लक्ष्मी के विषय में—

गृहागतमर्थं केनापि कारणेन नावधीरयेद्यदैवार्थागमस्तदैव सर्वतिथिनक्षत्रग्रहबलं ॥९६॥

अर्थ—गृह में पदार्पण की हुई लक्ष्मी का किसी भी कारण-वश अनादर नहीं करना चाहिए, उसे तत्काल ग्रहण करना चाहिए, जिस समय लक्ष्मी का आगमन होता है उस समय की तिथि व नक्षत्र शुभ और ग्रह वलिष्ठ गिने जाते हैं ॥९६॥

विशेषार्थ—गर्ग[3] ने भी लक्ष्मी की प्राप्ति का दिन शुभ बताया है।

धनोपार्जन का उपाय—

गजेन गजबन्धनमिवार्थेनार्थोपार्जनम् ॥९७॥

अर्थ—द्रव्य से ही द्रव्य का उपार्जन उसतरह होता है जिसतरह शिक्षित हाथी के माध्यम से वन में दूसरा हाथी पकड़ा जाता है। सारांश यह है कि हाथी से हाथी के बन्धन की तरह धन से धनोपार्जन होता है ॥९७॥

विशेषार्थ—जैमिनि[4] ने भी धनोपार्जन का उक्त उपाय निर्दिष्ट किया है।

दण्ड-विधान का निर्णय—

न केवलाभ्यां बुद्धिपौरुषाभ्यां महतो जनस्य सम्भूयोत्थाने संघातविघातेन दण्डं प्रणयेच्छतमवध्यं सहस्रमदण्ड्यं न प्रणयेत्* ॥९८॥

अर्थ—यदि महान् जनसमूह सुसंगठित होकर किसी पक्ष का उत्थापन करता है तो उस जनसंघ को दूषित कर देना चाहिए, अर्थात्—उसे अवैध घोषित कर देना चाहिए, परन्तु राजा को अपनी बुद्धि और पौरुष के गर्व में आकर उसे दण्डित नहीं करना चाहिए; क्योंकि सौ मानवों का संघ तो अवध्य होता है और हजार मानवों का संघ अदण्ड्य है। सारांश यह है कि सुसंगठित जनमत के विषय में विशेष गम्भीरता पूर्वक विचार करना चाहिए सहसा उतावली में आकर अपने सामर्थ्य के मद में कुछ दण्ड का विधान नहीं करना चाहिए। पाठान्तर का अर्थ यह है—यदि कुछ लोग संगठित होकर वगावत करने तत्पर हुए हों उस समय राजा को उन्हें भेदनीति से फोड़ फाड़ करके पृथक् २ करके सजा देनी चाहिए ॥९८॥

---

१. तथा च नारदः—बहूनामग्रगो भूत्वा यो ब्रूते न मतं परः। तस्य सिद्धौ नो लाभः स्यादसिद्धौ जनवाच्यता ॥१॥

२. तथा च जैमिनिः—सभाया पक्षपातेन कार्यार्थी यत्र हन्यते। न सा सभा भवेच्छस्या शिष्टैस्त्याज्या सुदूरतः ॥१॥

३. तथा च गर्गः—गृहागतस्य वित्तस्य दिनशुद्धिं न चिन्तयेत्। आगच्छति यदा वित्तं तदैव सुशुभं दिनं ॥१॥

४ तथा च जैमिनिः—अर्था अर्थेषु बध्यन्ते गजैरिव महागजः। गजा गजैर्विना न स्युरर्था अर्थैर्विना तथा ॥१॥

*. 'महतो जनस्य सम्भूयोत्थाने संघातविघातेन दण्डं प्रणयेत् शतमवध्यं सहस्रमवध्यमिति मु० मू० प्रतौ पाठः।

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी उत्तम पुरुषों का समूह दण्ड के अयोग्य बताया है।

प्रशस्त राजावाली भूमि—

सा राजन्वती भूमिर्यस्यां नासुरवृत्ती राजा ॥९९॥

अर्थ—वही भूमि राजन्वती अर्थात्—प्रशस्त राजा से युक्त है, जिसका राजा आसुरी वृत्ति का नहीं है ॥९९॥

विशेषार्थ—गुरु[2] का उद्धरण भी समानार्थक है।

असुरवृत्ति राजा की परिभाषा—

परप्रणेयो राजाऽपरीक्षितार्थमानप्राणहरोऽसुरवृत्तिः ॥१००॥

अर्थ—दूसरे की बुद्धि पर चलनेवाला और विना सम्यक् परीक्षण के ही अपराधियों का धन, मान और प्राणों का अपहरण करनेवाला राजा 'असुरवृत्तिवाला' है ॥१००॥

विशेषार्थ—भागुरि[3] ने भी असुरवृत्तिवाले राजा का यही लक्षण किया है।

परप्रणेय राजा का लक्षण—

परकोपप्रसादानुवृत्तिः परप्रणेयः ॥१०१॥

अर्थ—दूसरों के कहने से कुपित होनेवाला और प्रसन्न होनेवाला राजा 'परप्रणेय' है ॥१०१॥

विशेषार्थ—राजगुरु[4] ने भी कहा है कि परप्रणेय राजा का राज्य चिर कालीन नहीं होता।

स्वामी की आज्ञा-पालन—

तत्स्वामिच्छन्दोनुवर्तनं श्रेयो यन्न भवत्यायत्यामहिताय ॥१०२॥

अर्थ—सेवक को स्वामी की उस इच्छा का अनुसरण करना चाहिए, जिससे भविष्य में अपना अहित न हो ॥१०२॥

विशेषार्थ—गर्ग[5] का उद्धरण भी उक्त विषय में समानार्थक है।

राजा द्वारा ग्राह्य धन—

निरनुबन्धमर्थानुबन्धं चार्थमनुगृह्णीयात् ॥१०३॥

अर्थ—राजा को प्रजा से कर के रूप में ऐसा धन-ग्रहण करना चाहिए, जिससे प्रजा को पीड़ा न हो. और अर्थ-क्षति न हो ॥१०३॥

अन्याय का धन—

नासावर्थो धनाय यत्रायत्यां महानर्थानुबन्धः ॥१०४॥

अर्थ—वह धन, धन नहीं है, जिससे भविष्य में प्रचुर आर्थिक क्षति हो। अभिप्राय यह है कि चोरी-

---

१. तथा च शुक्रः—बुद्धिपौरुषगर्वेण दण्डयेन्न महाजनं। एकानुगामिकं राजा यदा तु शत्रुपूर्वकम् ॥१॥

२. तथा च गुरुः—यस्यां राजा सुवृत्तः स्यात्सौम्यवृत्तः सदैव हि। सा भूमिः शोभते नित्यं सदा वृद्धिं च गच्छति ॥१॥

३. तथा च भागुरिः—परवाक्यैर्नृपो यत्र सद्वृत्तां सुप्रपीड़येत्। प्रभूतेन तु दण्डेन सोऽसुरवृत्तिरुच्यते ॥१॥

४. तथा च राजगुरुः—परप्रणेयो भूपालो न राज्यं कुरुते चिरं। पितृपैतामहं चेत्स्यात्किं पुनः परभूपजं ॥१॥

५. तथा च गर्गः—मंत्रिभिस्तत्प्रियं वाच्यं प्रभोः श्रेयस्करं च यत्। आयत्यां कष्टदं यच्च कार्यं तन्न कदाचन ॥१॥

आदि निन्द्य कर्मों से जो धन संचय किया जाता है, वह राजा द्वारा पूर्व-संचित धन के साथ जब्त कर लिया जाता है, अतः नैतिक व्यक्ति को न्यायोचित उपायों से धनोपार्जन करना चाहिए ।।१०४।।

विशेषार्थ—अत्रि[1] ने भी अन्याय के धन के विषय में यही कहा है।

धन-प्राप्ति—

लाभस्त्रिविधो नवो भूतपूर्वः पैत्र्यश्च ।।१०५।।

अर्थ—अर्थ-लाभ तीन प्रकार का है, नवीन अर्थात्—कृषि व व्यापारादि साधनों द्वारा नवीन धन की प्राप्ति, भूतपूर्व अर्थात्—पूर्व में उक्त साधनों द्वारा प्राप्त किया हुआ धन अथवा व्यय से बचाकर एकत्रित की गई पूँजी-आदि और पैतृक अर्थात्—जिसे पिता और पितामह-आदि छोड़ गये हों ।।१०५।।

विशेषार्थ—शुक्र[2] ने भी उक्त तीन प्रकार के अर्थ-लाभ को कल्याणकारक बताया है।

इति षाड्गुण्य-समुद्देशः।

३०. युद्ध-समुद्देशः

दो सूत्रों में मन्त्री और मित्र-दूषण—

स किं मन्त्री मित्रं वा यः प्रथममेव युद्धोद्योगं भूमित्यागं चोपदिशति, स्वामिनः सम्पादयति च महान्तमनर्थसंशयं ।।१।।

अर्थ—वह मन्त्री अथवा मित्र निन्द्य है, जो किसी विवाद के प्रारम्भ में राजा के लिए अन्य कोई श्रेयस्कर मार्ग-दर्शन (सन्धि-आदि) न कर युद्ध का और भूमित्याग का उपदेश देता है और इस तरह उसे महान् अनर्थ के संशय में डाल देता है ।।१।।

विशेषार्थ—गर्ग[3] का उद्धरण भी उक्त विषय में समानार्थक है।

संग्रामे को नामात्मवानादावेव स्वामिनं प्राणसन्देहतुलायामारोपयति ।।२।।

अर्थ—कौन ऐसा विचारशील सचिव होगा, जो अपने स्वामी को सबसे पहले युद्ध में प्रेरित कर उसके प्राणों को संशय की तुला पर आरोपित करेगा ? अर्थात्—सचिव को प्रारम्भ में सन्धि का उपक्रम कर असफल होने पर ही युद्ध के लिए राजा को तत्पर करना चाहिए ।।२।।

विशेषार्थ—गौतम[4] ने भी अन्य उपाय असफल होनेपर युद्ध करने का उल्लेख किया है।

भूमि-रक्षार्थ विजिगीषु का कर्तव्य—

भूम्यर्थं नृपाणां नयो विक्रमश्च न भूमित्यागाय ।।३।।

अर्थ—राजा की समस्त नीति और पराक्रम की सार्थकता अपनी भूमि की रक्षा और वृद्धि के लिए होती है, न कि भूमि के परित्याग के लिए ।।३।।

---

१. तथा च अत्रिः—अन्यायोपार्जितं वित्तं यो गृहं समुपानयेत् । गृह्यते भूभुजा तस्य गृहगेन समन्वितम् ।।१।।

२. तथा च शुक्रः—उपार्जितो नवोऽर्थः स्याद्भूतपूर्वस्तथा परः । पितृपैतामहोऽन्यस्तु त्रयो लाभाः शुभावहाः ।।१।।

३. तथा च गर्गः—उपस्थिते रिपौ मंत्री युद्धं बुद्धिं ददाति यः । मंत्रिरूपेण वैरी स देशत्यागं च यो वदेत् ।।१।।

४. तथा च गौतमः—उपस्थिते रिपौ स्वामी पूर्वं युद्धे नियोजयेत् । उपायं दापयेत् व्यर्थे गते पश्चान्नियोजयेत् ।।१।।

विशेषार्थ—शुक्र[1] का उद्धरण भी उक्त विषय को प्रतिष्ठा करता है।

दो सूत्रों में शस्त्र युद्ध का अवसर—

बुद्धियुद्धेन परं जेतुमशक्तः शस्त्रयुद्धमुपक्रमेत् ॥४॥

अर्थ—जब विजिगीषु बुद्धियुद्ध अर्थात्—साम-आदि उपायों के प्रयोग द्वारा शत्रु पर विजय श्री प्राप्त करने में असमर्थ हो जाय तब उसे शस्त्र-युद्ध का उपक्रम करना चाहिए ॥४॥

विशेषार्थ—गर्ग[2] ने भी बुद्धि-युद्ध असफल होने पर शस्त्र-युद्ध करने को कहा है।

न तथेषवः प्रभवन्ति यथा प्रज्ञावतां प्रज्ञाः ॥५॥

अर्थ—जिसतरह बुद्धिमानों की बुद्धियाँ शत्रु के उन्मूलन करने में समर्थ होती हैं उसतरह वीर पुरुषों द्वारा प्रेरित हुए वाण समर्थ नहीं होते ॥५॥

विशेषार्थ—गौतम[3] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

चार सूत्रों में बुद्धि-युद्ध का माहात्म्य—

दृष्टेऽप्यर्थे सम्भवन्त्यपराद्धेषवो धनुष्मतोऽदृष्टमप्यर्थं साधु साधयति प्रज्ञावान् ॥६॥

अर्थ—धनुर्धारी के वाण निशाना साधकर चलाये हुए भी दृष्ट लक्ष्य-भेद करने में असफल हो जाते हैं परन्तु बुद्धिमान् व्यक्ति बुद्धिवल से अप्रत्यक्ष कार्य को भी भलीभाँति सिद्ध कर लेता है ॥६॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] ने भी बुद्धि को अदृष्ट कार्य में सफलताजनक कहा है।

श्रूयते हि किल दूरस्थोऽपि माधवपिता कामन्दकीयप्रयोगेण माधवाय मालतीं साधयामास ॥७॥

अर्थ—महाकवि श्री भवभूति-विरचित 'मालतीमाधव' नाटक में लिखा है, कि माधव के पिता 'देवरात' ने वहुत दूर रह करके भी कामन्दकी नाम की संन्यासिनी के प्रयोग द्वारा अर्थात्—उसे मालती के पास भेजकर अपने पुत्र माधव के लिए 'मालती' प्राप्त की थी यह देवरात को बुद्धिशक्ति का ही माहात्म्य था ॥७॥

प्रज्ञा ह्यमोघं शस्त्रं कुशलबुद्धीनाम् ॥८॥

अर्थ—विद्वान् पुरुषों का बुद्धिवल ही निस्सन्देह अमोघ (सफल) शस्त्र है ॥८॥

प्रज्ञाहताः कुलिशहता इव न प्रादुर्भवन्ति भूमिभृतः ॥९॥

अर्थ—जिसतरह वज्रप्रहार से ताड़ित किये हुए पर्वत पुनः उत्पन्न नहीं होते उसीतरह विद्वानों की बुद्धिवल द्वारा जीते हुए शत्रु भी पुनः शत्रुता करने का साहस नहीं कर सकते ॥९॥

विशेषार्थ—गुरु[5] ने भी प्रज्ञाशस्त्र को सफल वताया है।

शत्रु से भयभीत न होना—

परैः स्वस्याभियोगमपश्यतो भयं नदीमपश्यत उपानत्परित्यजनमिव ॥१०॥

---

१. तथा च शुक्रः—भूम्यर्थं भूमिपैः कार्यो नयो विक्रम एव च। देशत्यागो न कार्यस्तु प्राणत्यागेऽपि संस्थिते ॥१॥

२. तथा च गर्गः—युद्धं बुद्ध्यात्मकं कुर्यात् प्रथमं शत्रुणा सह। व्यर्थेऽस्मिन् समुत्पन्ने ततः शस्त्ररणं भवे ् ॥१॥

३. तथा च गौतमः—न तथात्र शरास्तीक्ष्णाः समर्थाः स्यू रिपोर्वधे। यथा बुद्धिमतां प्रज्ञा तस्मात्तां सन्नियोजयेत् ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—धातुष्कस्य शरो व्यर्थो दृष्टे लक्ष्येऽपि याति च। अदृष्टान्यपि कार्याणि बुद्धिमान् सम्प्रसाधयेत् ॥१॥

५. तथा च गुरुः—प्रज्ञाशस्त्रममोघं च विज्ञानाद्बुद्धिरूपिणी। तया हता न जायन्ते पर्वता इव भूमिपाः ॥१॥

अर्थ—जिसप्रकार नदी को बिना देखे ही पहले से ही जूते उतारनेवाला व्यक्ति हँसी का पात्र होता है उसीप्रकार शत्रु-कृत उपद्रव को जाने बिना पहले से ही भयभीत होनेवाला व्यक्ति भी हँसी का पात्र होता है। अत: शत्रु का आक्रमण होनेपर उसका प्रतीकार सोचना चाहिए ॥१०॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

अत्यन्त क्रोधी का दुष्परिणाम—

अतितीक्ष्णो बलवानपि शरभ इव चिरं न नन्दति ॥११॥

अर्थ—अत्यन्त क्रोधी राजा बलिष्ठ होनेपर भी अष्टापद सरीखा चिरकाल तक सुखी नहीं रह सकता। अर्थात्—नष्ट हो जाता है। अर्थात्—जिसप्रकार अष्टापद नामका हिंस्र जंगली पशु मेघ की गर्जना सुनकर उसे हाथी को चिंघाड़ समझकर सहन न करता हुआ पर्वत की शिखर से गिरकर नष्ट हो जाता है उसीप्रकार अत्यन्त क्रोधी राजा बलिष्ठ होनेपर भी उग्रप्रकृति के कारण शत्रु से युद्ध करने पर नष्ट हो जाता है, अत: अत्यन्त क्रोधी होना उचित नहीं है ॥११॥

विशेषार्थ—बादरायण[2] ने भी यही कहा है।

पलायन की अपेक्षा युद्ध करना उचित है—

प्रहरतोऽपसरतो वा समे विनाशे वरं प्रहारो यत्र नैकान्तिको विनाशः ॥१२॥

अर्थ—युद्ध करना और युद्ध भूमि से पलायन करना इन दोनों कार्यों में ही जब समानरूप से विनाश संभव हो तब युद्ध करना ही श्रेष्ठ है, जिसमें विनाश निश्चित नहीं है अपि तु विजयश्री की भी संभावना है ॥१२॥

दैव का माहात्म्य—

कुटिला हि गतिर्दैवस्य मुमूर्षुमपि जीवयति जिजीविषुमपि च मारयति ॥१३॥

अर्थ—निस्सन्देह दैव की गति (भाग्य की रेखा) कुटिल होती है वह मृत्यु के इच्छुक को भी जिला देती है व जीवन के इच्छुक को भी मार डालती है। सारांश यह है कि दैवगति को कोई समझ नहीं पाता, अत: जीवन-मरण की बात दैवपर डालकर राजा को युद्ध करना ही उचित है ॥१३॥

विशेषार्थ—कौशिक[3] ने भी उक्तप्रकार दैव की वक्रगति का उल्लेख किया है।

बलिष्ठ शत्रु द्वारा आक्रमण किये हुए राजा का कर्तव्य—

दीपशिखायां पतंगवदैकान्तिके विनाशेऽविचारमपसरेत् ॥१४॥

अर्थ—जिसतरह दीपक की शिखा में पतङ्ग का विनाश निश्चित होता है उसीतरह युद्ध में अपना निश्चित विनाश समझकर राजा को युद्ध से बिना विचार किये ही पलायन कर देना चाहिए ॥१४॥

विशेषार्थ—गौतम[4] ने भी उक्त विषय की प्रतिष्ठा की है।

भाग्य की अनुकूलता—

जीवितसम्भवे दैवो देयात्कालबलम् ॥१५॥

---

१. तथा च शुक्रः—यथा चादर्शने नद्या उपानत्परिमोचनं। तथा शत्रावदृष्टेऽपि भयं हास्याय भूभुजां ॥१॥

२. तथा च बादरायणः—अतितीक्ष्णतया शत्रुं बलाढ्यो दुर्बलो भवेत्। स द्रुतं नश्यते यद्वच्छरभो मेघनिःस्वनैः ॥१॥

३. तथा च कौशिकः—मर्तुकामोऽपि चेन्मर्त्यः कर्मणा क्रियते हि सः। दीर्घायु र्जीवितेच्छाढ्यो म्रियते तद्वतोऽपि सः ॥१॥

४. तथा च गौतमः—बलवन्तं रिपुं प्राप्य यो न नश्यति दुर्बलः। स नूनं नाशमभ्येति पतंगो दीपमाश्रितः ॥१॥

अर्थ—जब मनुष्य दीर्घायु होता है तब भाग्य उसे ऐसी शक्ति प्रदान करता है, जिससे वह निर्बल होने पर भी बलिष्ठ शत्रु को मार डालता है ॥१५॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी भाग्योदय से दीर्घायु पुरुष के विषय में इसीप्रकार कहा है।

दो सूत्रों में सार-सैन्य से लाभ और असार-सैन्य से हानि—

वरमल्पमपि सारं बलं न भूयसी मुण्डमण्डली ॥१६॥

अर्थ—शक्ति-हीन और साहस-हीन बहुत बड़ी सेना की अपेक्षा थोड़ी सी शक्तिशाली और साहसी सेना श्रेष्ठ है ॥१६॥

विशेषार्थ—नारद[2] का उद्धरण भी समानार्थक है।

असारबलभङ्गः सारबलभङ्गं करोति ॥१७॥

अर्थ—जहाँ शक्तिशाली और साहसी सारसैन्य और शक्ति व साहस-हीन दोनों प्रकार की सेनाएँ युद्ध भूमि में उपस्थित होती हैं, वहाँ शत्रु-कृत उपद्रव के कारण शक्ति व साहस-हीन असार सेना के नाश अथवा भगदड़ से सारवान् अर्थात्—शक्तिशाली और साहसी सेना में भी भगदड़ मच जाती है और उसका विनाश हो जाता है ॥१७॥

विशेषार्थ—कौशिक[3] ने भी कायरसेना का भङ्ग वीरसेना के भङ्ग का कारण बताया है।

अकेले को युद्ध करना त्याज्य—

नाप्रतिग्रहो युद्धमुपेयात् ॥१८॥

अर्थ—प्रतिग्रह (सैन्य से सुसज्जित) हुए विना अकेले राजा को युद्ध में नहीं जाना चाहिए ॥१८॥

विशेषार्थ—गुरु[4] ने भी एकाकी राजा को युद्ध करने का निषेध किया है।

दो सूत्रों में प्रतिग्रह का लक्षण एवं परिणाम—

राजव्यञ्जनं पुरस्कृत्य पश्चात्स्वाम्यधिष्ठितस्य सारबलस्य निवेशनं प्रतिग्रहः ॥१९॥

अर्थ—राजचिन्ह—पताका और वाद्य-आदि आगे करके उसके पीछे स्वामी से अधिष्ठित शक्तिशाली साहसी सैन्य के सुसज्जित करने को प्रतिग्रह कहते हैं ॥१९॥

विशेषार्थ—नारद[5] ने भी प्रतिग्रह का उक्त लक्षण किया है।

सप्रतिग्रहं बलं साधु युद्धायोत्सहते ॥२०॥

अर्थ—प्रतिग्रह-युक्त सेना युद्ध के लिए अच्छी तरह से उत्साहित होती है ॥२०॥

विशेषार्थ—शुक्र[6] का उद्धरण भी समानार्थक है।

दो सूत्रों में युद्धकाल में हितकर भूमि एवं दृष्टान्त

पृष्ठतः सदुर्गजला भूमिर्बलस्य महानाश्रयः ॥२१॥

---

१. तथा च शुक्रः—पुरुषस्य यदायुः स्याद्दुर्बलोऽपि तदा परं। हिनस्ति चेद्बलोपेतं निजकर्मप्रभावतः ॥१॥

२. तथा च नारदः—वरं स्वल्पापि च श्रेष्ठा नास्वल्पापि च कातरा। भूपतीनां च सर्वेषां युद्धकाले पताकिनी ॥१॥

३. तथा च कौशिकः—कातराणां च यो भंगो संग्रामे स्यान्महीपतेः। स हि भंगं करोत्येव सर्वेषां नात्र संशयः ॥१॥

४. तथा च गुरुः—एकाकी यो व्रजेद्राजा संग्रामे सैन्यवर्जितः। स नूनं मृत्युमाप्नोति यद्यपि स्याद्धनंजयः ॥१॥

५. तथा च नारदः—स्वामिनं पुरतः कृत्वा तत्पश्चादुत्तमं बलं। ध्रियते युद्धकाले यः स प्रतिग्रहसंज्ञितः ॥१॥

६. तथा च शुक्रः—राजा पुरःस्थितो यत्र तत्पश्चात् संस्थितं बलं। उत्साहं कुरुते युद्धे ततः स्याद्विजये पदं ॥१॥

अर्थ—सेना के पृष्ठभाग में जल-सहित दुर्ग का होना सेना के लिए महान् आश्रय होता है ॥२१॥

विशेषार्थ—गुरु[1] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

नद्या नीयमानस्य तटस्थपुरुषदर्शनमपि जीवितहेतुः ॥२२॥

अर्थ—नदी में बहे जाते हुए व्यक्ति के लिए तट पर पुरुष का दिखलाई देना भी उसके जीवन का कारण होता है ॥२२॥

विशेषार्थ—जैमिनि[2] ने भी प्रस्तुत विषय का स्पष्टीकरण किया है।

जल-माहात्म्य—

निरन्नमपि सप्राणमेव बलं यदि जलं लभेत ॥२३॥

अर्थ—युद्ध के समय सेना को अन्न न मिलने पर भी यदि जल मिल जाय तो वह अपनी प्राणरक्षा कर सकती है ॥२३॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[3] ने भी जल-माहात्म्य निर्दिष्ट किया है।

आत्मशक्ति विना जाने युद्ध करने का दुष्परिणाम—

आत्मशक्तिमविज्ञायोत्साहः शिरसा पर्वतभेदनमिव ॥२४॥

अर्थ—जो निर्वल राजा अपनी सैन्य-आदि की शक्ति को न जानकर वलिष्ठ शत्रु से युद्ध के लिए उत्साह करता है, उसका वह कार्य मस्तक से पर्वत के विदारण-सरीखा घातक है ॥२४॥

विशेषार्थ—कौशिक[4] ने भी यही कहा है।

दो सूत्रों में सामनीति एवं दृष्टान्त—

सामसाध्यं युद्धसाध्यं न कुर्यात् ॥२५॥

अर्थ—साम नीति से सिद्ध होनेवाले कार्य को युद्ध-साध्य नहीं करना चाहिए ॥२५॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[5] ने भी यही कहा है।

गुडादभिप्रेतसिद्धौ को नाम विषं भुञ्जीत ॥२६॥

अर्थ—जब गुड-भक्षण द्वारा अभिलषित प्रयोजन (आरोग्य-लाभ) होता है तब कौन बुद्धिमान पुरुष विष-भक्षण में प्रवृत्त होगा ? ॥२६॥

विशेषार्थ—हारीत[6] का उद्धरण भी समानार्थक है।

दो सूत्रों में मूर्ख के कार्य—

अल्पव्ययभयात्सर्वनाशं करोति मूर्खः ॥२७॥

---

१. तथा च गुरुः—जलदुर्गवती भूमिर्यस्य सैन्यस्य पृष्ठतः। पृष्ठदेशे भवेत्तस्य तन्महाश्वासकारणं ॥१॥

२. तथा च जैमिनिः—नीयमानोऽत्र यो नद्या तटस्थं वीक्ष्यते नरं। हेतुं तं मन्यते सोऽत्र जीवितस्य हितात्मनः ॥१॥

३. तथा च भारद्वाजः—अन्नाभावादपि प्रायो जीवितं न जलं विना। तस्माद्युद्धं प्रकर्तव्यं जलं कृत्वा च पृष्ठतः ॥१॥

४. तथा च कौशिकः—आत्मशक्तिमजानानो युद्धं कुर्याद्बलीयसा। सार्धं स च करोत्येव शिरसा गिरिभेदनम् ॥१॥

५. तथा च वल्लभदेवः—साम्नैव यत्र सिद्धिस्तत्र न दण्डो बुधैर्विनियोज्यः।
पित्तं यदि शर्करया शाम्यति ततः किं तत् पटोलेन ॥१॥

६. तथा च हारीतः—गुडास्वादनतः शक्तिर्यदि गात्रस्य जायते। आरोग्यलक्षणा नाम तद्भक्षयति को विषं ॥१॥

अर्थ—मूर्ख व्यक्ति स्वल्प व्यय के भय से अपना सर्वनाश कर बैठता है ।

अर्थात्—वह राजा मूर्ख है, जो किसी बलिष्ठ शत्रु राजा द्वारा कोई क्षुद्र वस्तु या प्रदेश माँगने पर उसे नहीं देता और उसके फलस्वरूप उस बलिष्ठ शत्रु के कुपित होनेपर अपना सब कुछ खो देता है ॥२७॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[1] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है ।

को नाम कृतधीः शुल्कभयाद्भाण्डं त्यजति ॥२८॥

अर्थ—कौन बुद्धिमान् शुल्क (चुङ्गी) देने के भय से अपने व्यापारी माल की गाँठ त्याग देता है ? ॥२८॥

विशेषार्थ—कौशिक[2] का उद्धरण भी उक्त विषय में समानार्थक है ।

प्रशस्त व्यय—

स किं व्ययो यो महान्तमर्थं रक्षति ॥२९॥

अर्थ—वह व्यय क्या व्यय कहा जायगा ? जिससे प्रचुर धन-राशि नष्ट होने से बचाई जा सके ।

प्राकरणिक अभिप्राय यह है कि बलिष्ठ शत्रु राजा से सन्धि करने में किया गया धन-व्यय व्यय नहीं है, क्योंकि सन्धि का परिणाम प्रचुर धन-राशि की रक्षा है ॥२९॥

विशेषार्थ—शौनक[3] का उद्धरण भी एक सरीखा अभिप्राय प्रदर्शक है ।

त्याग का माहात्म्य—

पूर्णसरः सलिलस्य हि न परीवाहादपरोऽस्ति रक्षणोपायः ॥३०॥

अर्थ—जिसप्रकार जल से समूचे भरे हुए तालाब की रक्षा का बहाव (जल के निकास) के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं होता उसीप्रकार धनाढ्य पुरुषों की धन रक्षा का त्याग के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥३०॥

विशेषार्थ—विष्णुशर्मा[4] ने भी यही कहा है ।

बलिष्ठ शत्रु के लिए धन न देने का दुष्परिणाम—

अप्रयच्छतो बलवान् प्राणैः सहार्थं गृह्णाति ॥३१॥

अर्थ—बलिष्ठ शत्रु की याचना पर जो अर्थ-दान नहीं देता, उसका धन वह बलिष्ठ शत्रु उसके प्राणों के साथ ले लेता है ॥३१॥

विशेषार्थ—भागुरि[5] का उद्धरण भी समानार्थक है ।

बलिष्ठ शत्रु-राजा के लिए अर्थ-दान का उपाय—

बलवति सीमाधिपेऽर्थं प्रयच्छन् विवाहोत्सवगृहगमनादिमिषेण प्रयच्छेत् ॥३२॥

---

१. तथा च वल्लभदेवः—हीनो नृपोऽल्पं महते नृपाय यायाचितो नैव ददाति साम्ना ।
कदर्यमाणेन ददाति स्वारिं तेषां स चूर्णस्य पुनर्ददाति ॥१॥

२. तथा च कौशिकः—यस्य बुद्धिर्भवेत्काचित्स्वल्पापि हृदये स्थिता । न भाण्डं त्यजेत्सारं स्वल्पदानकृतात् भयात् ॥१॥

३. तथा च शौनकः—उपचारपरित्राणाद्दत्वा वित्तं सुबुद्धयः । बलिनो रक्षयन्तिस्म यच्छेषं गृहसंस्थितम् ॥१॥

४. तथा च विष्णुशर्मा—उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम् । तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसां ॥१॥

५. तथा च भागुरिः—[बलाढ्येनार्थितः साम्ना] यो न यच्छति दुर्बलः । किंचिद्वस्तु समं प्राणैस्तत्तस्यासौ हरेद् ध्रुवम् ॥१॥

सं० परि०—सम्पादक

अर्थ—शक्ति-हीन राजा यदि किसी शक्तिशाली सीमाधिपति के लिए प्रयोजन-वश धन देने का इच्छुक हो तो विवाहोत्सव-आदि के व्याज से अथवा उसके यहाँ जाकर मिलने की भेंट के व्याज से द्रव्य प्रदान करे ॥३२॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी बलिष्ठ के लिए अर्थ-दान का उक्त उपाय बताया है।

बलिष्ठ के लिए अर्थ-दान न करने का दुष्परिणाम—

आमिषमर्थमप्रयच्छतोऽनवधिः स्यान्निबन्धः शासनम् ॥३३॥

अर्थ—जो निर्बल राजा यदि शक्तिशाली प्रतिद्वन्दी सीमाधिपति के लिए किसी व्याज से धन नहीं देता तो उसे दण्डस्वरूप में अवधि-शून्य निबन्ध अर्थात्—कारागार-आदि का बन्धन प्राप्त होता है एवं उसकी कठोर आज्ञा का पालन करना पड़ता है ॥३३॥

विशेषार्थ—गुरु[2] का उद्धरण भी समानार्थक है।

राजा का कर्तव्य—

स्वयमल्पबलः कोशदेशदुर्गभूमिरप्रतिवेद्यंश्च यदि शत्रुर्देशं न परित्यजेत्* ॥३४॥

अर्थ—स्वयं अन्य सैन्यशाली होनेपर भी कोश, देश और दुर्गभूमि से युक्त एवं जिसका बलिष्ठ शत्रु राजा उक्त बातों से अपरिचित है, ऐसे राजा को केवल शत्रु-कृत उपद्रव के भय से अपना देश छोड़कर स्थान-भ्रष्ट होना उचित नहीं है ॥३४॥

चार सूत्रों में सैन्य-विहीन राजा एवं दृष्टान्तमाला—

कृतसंघातविघातोऽरिभिर्विशीर्णयूथो गज इव कस्य न भवति साध्यः ॥३५॥

अर्थ—जिसप्रकार झुण्ड से भ्रष्ट हुआ अकेला हाथी सहजरूप से वश में कर लिया जाता है उसीप्रकार शत्रु द्वारा जिसका सैन्य नष्ट किया गया है, ऐसा शक्ति-हीन राजा भी किसके द्वारा वश में नहीं किया जाता? ॥३५॥

विशेषार्थ—नारद[3] ने भी यही कहा है।

विनिःस्रावितजले सरसि विषमोऽपि ग्राहो जलव्यालवत् ॥३६॥

अर्थ—जिसकी समस्त जलराशि निकाली जा चुकी है ऐसे तालाब में जिसप्रकार बड़ा शक्तिशाली घड़ियाल जल सर्प-सरीखा प्रभाव-हीन हो जाता है उसीप्रकार सैन्य शक्ति के क्षीण हो जाने से राजा भी प्रभाव-हीन हो जाता है ॥३६॥

विशेषार्थ—रैभ्य[4] का उद्धरण भी उक्त विषय में समानार्थक है।

वनविनिर्गतः सिंहोऽपि शृगालायते ॥३७॥

१. तथा च शुक्रः—वृद्धयुत्सवगृहातिथ्यव्याजैर्देयं बलाधिके। सीमाधिपे सदैवात्र रक्षार्थं स्वधनस्य च ॥१॥

२. तथा च गुरुः—सीमाधिपे बलाढ्ये तु यो न यच्छति किंचन। व्याजं कृत्वा स तस्यार्थं संख्याहीनं समाचरेत् ॥१॥

*. सूत्रमिदं मु० मू० प्रतितः संकलितं।

३. तथा च नारदः—उच्चाटितोऽरिभी राजा परदेशसमागतः। वनहस्तीव साध्यः स्यात्परिग्रहविवर्जितः ॥१॥

४. तथा च रैभ्यः—सरसः सलिले नष्टे यथा ग्राहस्तुलां व्रजेत्। जलसर्पस्य तद्वच्च स्थानहीनो नृपो भवेत् ॥१॥

अर्थ—जिसतरह जंगल से निकला हुआ सिंह भी स्यार-सरीखा शक्तिहीन हो जाता है उसीतरह नष्ट सैन्य और स्थान-भ्रष्ट राजा भी क्षीण शक्ति होजाता है ॥३७॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] का उद्धरण भी सदृश अर्थ का वाचक है।

विच्छिन्नोपान्तप्रताने वंशे किमस्त्याकर्षकस्य क्लेशः ? ॥३८॥*

अर्थ—जिसके निकटवर्ती बांसों का समूह काट दिया गया है, उस बांस को खींचने या उन्मूलन करने में क्या खींचनेवाले को कुछ क्लेश हो सकता है ? उसी तरह जिसका पक्ष (सहायक सैन्य-आदि) नष्ट कर दिया गया है, उस शत्रु पर विजयश्री प्राप्त करने में भी कुछ क्लेश नहीं हो सकता ॥३८॥

दो सूत्रों में संगठन का माहात्म्य—

नास्ति संघातस्य निःसारता किन्न स्खलयति मत्तमपि वारणं कुथिततृणसंघातः ॥३९॥

अर्थ—संघ (संगठन या समूह) शक्ति-हीन नहीं होता; क्या वटे हुए मूँज की रस्सी मदोन्मत्त हाथी के गमन को नहीं रोकती ? अर्थात्—उसके द्वारा मदोन्मत्त हाथी भी बाँधा जाता है ॥३९॥

विशेषार्थ—विष्णुशर्मा[2] ने भी उक्त प्रकार संघशक्ति का माहात्म्य बतलाया है।

संहतैर्बिसतन्तुभिर्दिग्गजोऽपि नियम्यते ॥४०॥

अर्थ—जिसप्रकार वटे हुए मृणालतन्तुओं से अर्थात्—उसकी रस्सी से दिग्गज भी बाँधा जाता है उसीप्रकार राजा भी सैन्य द्वारा शक्तिशाली शत्रु पर विजयश्री प्राप्त करता है ॥४०॥

विशेषार्थ—हारीत[3] का उद्धरण भी समानार्थक है।

दो सूत्रों में दण्ड-साध्य शत्रु एवं तत्समर्थक दृष्टान्तमाला—

दण्डसाध्ये रिपावुपायान्तरमग्नावाहुतिप्रदानमिव ॥४१॥

अर्थ—जो शत्रु दण्ड (युद्ध) द्वारा वश करने योग्य है, उसके प्रति अन्य साम-दान-आदि उपायों का प्रयोग प्रज्वलित अग्नि में घी को आहुति देने के समान उसको क्रोध-वृद्धि का कारण होता है ॥४१॥

विशेषार्थ—माघकवि[4] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

यन्त्रशस्त्राग्निक्षारप्रतीकारे व्याधौ किं नामान्यौषधं कुर्यात् ॥४२॥

अर्थ—जिसप्रकार यन्त्र विशेष, शस्त्र अर्थात्—चीर-फाड़, अग्नि व क्षार चिकित्सा से नष्ट होने योग्य व्याधि अन्य औषधि द्वारा नष्ट नहीं की जा सकती उसीप्रकार दण्ड द्वारा वश में किया जानेवाला शत्रु भी अन्य साम आदि उपायों द्वारा काबू में नहीं किया जा सकता ॥४२॥

दो सूत्रों में कृत्रिम शूरता व अहंकार—

अज्ञातरणवृत्तः सर्वोऽपि भवति शूरः* ॥४३॥

अर्थ—जब तक युद्ध संबंधी वृत्तान्त को नहीं जानते तब तक सभी लोग शूरवीर होते हैं ॥४३॥

---

१. तथा च शुक्रः—मृगालतां समभ्येति यथा सिंहो वनच्युतः। स्थानभ्रष्टो नृपोऽप्येवं लघुतामेति सर्वतः ॥१॥

*. सूत्रमिदं मु० मू० प्रतितः संकलितं।

२. तथा च विष्णुशर्मा—बहूनामप्यसाराणां समवायो बलाधिकः। तृणैरावेष्टितो रज्जुर्यथा नागोऽपि बध्यते ॥१॥

३. तथा च हारीतः—अपि सूक्ष्मतरैर्भृत्यैर्बहुभिर्वश्यमानयेत्। अपि वीर्योत्कटं शत्रुं पद्मसूत्रैर्यथा गजम् ॥१॥

४. तथा च माघकविः—साम वादाः सकोपस्य तस्य प्रत्युतदीपकाः। प्रतप्तस्येव सहसा सर्पिषस्तोयबिन्दवः ॥१॥

*. सूत्रमिदं मु० मू० पुस्तकतः संकलितं।

अदृष्टान्यसामर्थ्यः को नाम न भवति सदर्पः ?† ॥४४॥

अर्थ—दूसरे की शक्ति को विना जाने कौन पुरुष अहंकार नहीं करता ॥४४॥

श्रीवृद्धि का परिणाम—

अतिप्रवृद्धा श्रीः कं नाम न दर्पयति‡ ॥४५॥

अर्थ—अत्यन्त बढ़ी हुई लक्ष्मी किसे गर्व-युक्त नहीं बनाती ? ॥४५॥

क्षीण-सैन्य शत्रु—

कृतार्थापहारो व घटिततन्त्रश्च परो रुष्यन्नपि किं कुर्यात् ?❀ ॥४६॥

अर्थ—जिसका धन अपहृरण कर लिया गया है एवं जिसका सैन्य भी नष्ट कर दिया गया है, ऐसा शत्रु क्रुद्ध होकर के भी क्या कर सकता है ? ॥४६॥

शक्ति-हीन शत्रु के विषय में दृष्टान्त—

उत्पाटितदंष्ट्रो भुजंगो रज्जुरिव ॥४७॥

अर्थ—जिसप्रकार सर्प की दाँढ़ निकाल देनेपर वह रस्सी सरीखा निर्विष व शक्तिहीन होजाता है उसीप्रकार जिसका धन और सैन्य नष्टकर दिया गया है ऐसा शत्रु भी शक्तिहीन होजाता है ॥४७॥

विशेषार्थ—नारद[1] का उद्धरण भी उक्त विषय में समानार्थक है।

प्रतिहत प्रतापवाला शत्रु—

प्रतिहतप्रतापोऽङ्गारः संपतितोऽपि किं कुर्यात् ॥४८॥

अर्थ—जिसप्रकार नष्ट प्रतापवाला अङ्गार (भस्म विशेष) शरीर पर पड़ा हुआ कुछ नहीं कर सकता उसीप्रकार वह शत्रु भी, जिसका धन व सैन्यरूप प्रताप नष्ट होगया है, कुछ हानि नहीं कर सकता ॥४८॥

दो सूत्रों में शत्रु की चाटुकारता और दृष्टान्त—

विद्विषां चाटुकारं न बहु मन्येत ॥४९॥

अर्थ—शत्रुओं के चाटुकार अर्थात्—कपटपूर्ण व्यवहार (चिकनी चुपड़ी बातें-आदि) को विशेष महत्व नहीं देना चाहिए ॥४९॥

जिह्वया लिहन् खड्गो मारयत्येव ॥५०॥

अर्थ—जिसतरह तलवार जिह्वा द्वारा चाटी जाने पर भी उसे काट डालती है उसीतरह शत्रु भी चाटुकार करता हुआ मार डालता है ॥५०॥

तीन सूत्रों में नीतिशास्त्र का लक्षण—

तन्त्रावापौ नीतिशास्त्रं ॥५१॥

अर्थ—तन्त्र अर्थात्—अपने देश की रक्षार्थ सैन्य-संगठन की योजना और अवाप अर्थात्—दूसरे देश की प्राप्ति-हेतु कीजानेवाली सन्धि व विग्रह-आदि की योजना के प्रतिपादक शास्त्र को 'नीतिशास्त्र' कहते हैं ॥५१॥

---

† ‡ ❀ उक्त सूत्रत्रयं मु० मू० पुस्तकतः संकलितं—सम्पादक।

१. तथा च नारदः—दंष्ट्राविरहितः सर्पो भग्नशृंगोऽथवा वृषः। तथा वैरी परिज्ञेयो यस्य नार्थो न सेवकाः ॥१॥

स्वमण्डलपालनाभियोगस्तंत्रम् ॥५२॥

अर्थ—अपने देश अथवा राज्य की सुरक्षा और उसके पालन-पोषण की योजना बनाना 'तन्त्र' है ॥५२॥

परमण्डलावाप्त्यभियोगोऽवापः ॥५३॥

अर्थ—दूसरे के देश अथवा राज्य की प्राप्ति-हेतु सन्धि और विग्रह-आदि की योजना बनाना 'अवाप' है ॥५३॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी 'तन्त्र' और 'अवाप' का उक्तप्रकार लक्षण किया है।

सैन्य-हीन अकेले विजिगीषु को युद्ध करने का निषेध—

बहूनेको न गृह्णीयात् सदर्पोऽपि सर्पो व्यापाद्यत एव पिपीलिकाभिः ॥५४॥

अर्थ—सैन्य-हीन अकेला व्यक्ति बहुत से प्रतिद्वन्दियों के साथ युद्ध न करे, क्योंकि बलिष्ठ जहरीले साँप को भी बहुत सी चीटियाँ मिलकर मार ही डालती हैं ॥५४॥

विशेषार्थ—नारद[2] का उद्धरण भी उक्त विषय में समानार्थक है।

अपरीक्षित शत्रु-भूमि—

अशोधितायां परभूमौ न प्रविशेन्निर्गच्छेद्वा ॥५५॥

अर्थ—बिना परीक्षा की हुई शत्रु की भूमि में न तो प्रवेश करना चाहिए और न वहाँ से वापिस आना चाहिए ॥५५॥

तीन सूत्रों में युद्धकालीन विजिगीषु का कर्तव्य—

विग्रहकाले परस्मादागतं न किंचिदपि गृह्णीयात् गृहीत्वा न संवासयेदन्यत्र तद्दायादेभ्यः, श्रूयते हि निजस्वामिना सह कूटकलहं विधायावाप्तविश्वासः कृकलासो नामानीकपतिरात्मविपक्षं विरूपाक्षं जघानेति ॥५६॥

अर्थ—जब युद्ध चल रहा हो उस समय शत्रु-पक्ष से आये हुए किसी भी अपरीक्षित यक्ति को अपने पक्ष में न मिलावे और न आश्रय दे और शत्रु के कुटुम्बी, जो कि उससे रुष्ट होकर वहाँ से चले आये हैं, उन्हें परीक्षण-पूर्वक अपने पक्ष में मिलाकर आश्रय देवे अन्य किसी को नहीं। ऐसा कथानकों में सुना जाता है, कि 'कृकलास' नाम के सेनापति ने अपने स्वामी से कूट कलह अर्थात्—झूठी लड़ाई करके अपने स्वामी के विपक्षी 'विरूपाक्ष' का विश्वासभाजन बनकर उसे मार डाला था ॥५६॥

बलमपीडयन् परानभिषेणयेत् ॥५७॥

अर्थ—विजयश्री का इच्छुक राजा अपनी सेना को किञ्चित् भी कष्ट न देता हुआ अर्थात्—प्रचुर दान-मानादि से सन्तुष्ट करता हुआ उस सेना के साथ शत्रु-देश पर आक्रमण करे ॥५७॥

दीर्घप्रयाणोपहतं बलं न कुर्यात्स तथाविधमनायासेन भवति परेषां साध्यं ॥५८॥

अर्थ—अपनी सेना को बहुत लम्बे प्रवास से खेदखिन्न नहीं करनी चाहिए। क्योंकि दीर्घप्रवास से खेद-खिन्न हुई सेना शत्रुओं द्वारा सुखपूर्वक जीती जा सकती है ॥५८॥

१. तथा च शुक्रः—स्वमण्डलस्य रक्षार्थं यत्तन्त्रं परिकीर्तितं। परदेशस्य संप्राप्त्या अवापो नयलक्षणं ॥१॥
२. तथा च नारदः—एकाकिना न योद्धव्यं बहुभिः सह दुर्बलैः। वीर्याढ्यैर्नापि हन्येत यथा सर्पः पिपीलिकैः ॥१॥

दो सूत्रों में शत्रु-सैन्य को नष्ट करने का उपाय—

न दायादादपरः परबलस्याकर्षणमन्त्रोऽस्ति ॥५९॥

अर्थ—पट्टीदारों सगोत्रियों से बढ़कर शत्रु की सेना को नष्ट करने का दूसरा कोई मन्त्र नहीं है। सारांश यह है कि शत्रु के पट्टीदार कुटुम्बी ऐसे ही व्यक्ति होते हैं, जो कि राज्य-प्राप्ति के लोभ से सुखपूर्वक अपने पक्ष में मिलाये जा सकते हैं, अतः उनको अपने पक्ष में मिलाना श्रेयस्कर है ॥५९॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] का उद्धरण भी प्रस्तुत विषय में समानार्थक है।

यस्याभिमुखं गच्छेत्तस्यावश्यं दायादानुत्थापयेत् ॥६०॥

अर्थ—विजयश्री का इच्छुक राजा जिस शत्रु पर चढ़ाई करे उसके पट्टीदार दायादों (कुटुम्बियों) को अवश्य उभाड़े या भड़कावे। अर्थात्—उन्हें साम-दान-आदि उपायों से अपने पक्ष में मिलाकर शत्रु से युद्ध करने के लिए प्रेरित्त करे ॥६०॥

दो सूत्रों में शत्रु द्वारा शत्रु-उन्मूलन एवं दृष्टान्त—

कण्टकेन कण्टकमिव परेण परमुद्धरेत् ॥६१॥

अर्थ—विजयश्री के इच्छुक को उसप्रकार शत्रु द्वारा शत्रु का उन्मूलन करना चाहिए जिसप्रकार काँटे से काँटा का उन्मूलन किया जाता है—निकाला जाता है ॥६१॥

बिल्वेन हि बिल्वं हन्यमानमुभयथाप्यात्मनो लाभाय ॥६२॥

अर्थ—जिसप्रकार बेल से वेल फोड़े जाने पर दोनों में से एक अथवा दोनों फूट जाते हैं उसीप्रकार जब शत्रु से शत्रु लड़ाया जाता है तब उनमें से एक का अथवा दोनों का नाश निश्चित होता है जिससे विजिगीषु का दोनों प्रकार से लाभ होता है ॥६२॥

दो सूत्रों में अपराधी शत्रु के प्रति राजनीति व दृष्टान्त—

यावत्परेणापकृतं तावतोऽधिकमपकृत्य सन्धिं कुर्यात् ॥६३॥

अर्थ—शत्रु ने जितनी अधिक विजिगीषु राजा की हानि की हो उससे अधिक उसकी हानि करने के उपरान्त उससे सन्धि कर ले ॥६३॥

विशेषार्थ—गौतम[2] का उद्धरण भी समानार्थक है।

नातप्तं लोहं लोहेन सन्धत्ते ॥६४॥

अर्थ—जिसप्रकार विना तपाया हुआ अर्थात्—'ठण्डा लोहा दूसरे लोह-खण्ड से नहीं जुड़ता, अर्थात्—गरम लोह-खंड ही परस्पर में जुड़ते हैं उसीप्रकार दोनों कुपित होने पर परस्पर सन्धि के सूत्र में बँधते हैं ॥६४॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

सन्धि का कारण—

तेजो हि सन्धाकारणं नापराधस्य क्षान्तिरुपेक्षा वा ॥६५॥

---

१. तथा च शुक्रः—न दायादात्परो वैरी विद्यतेऽत्र कथंचन। अभिचारकमन्त्रश्च शत्रुसैन्यनिषूदने ॥१॥

२. तथा च गौतमः—यावन्मात्रोऽपराधश्च शत्रुणा हि कृतो भवेत्। तावत्तस्याधिकं कृत्वा सन्धिः कार्यो बलान्वितैः ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—द्वाभ्यामपि हि तप्ताभ्यो लोहाभ्यां च यथा भवेत्। भूमिपानां च विज्ञेयस्तथा सन्धिः परस्परं ॥१॥

अर्थ—निस्सन्देह सन्धि का कारण तेज अर्थात्—कोश व सैन्यशक्ति ही होती है न कि अपराधी शत्रु के प्रति क्षमा करना या उसकी उपेक्षा करना। अभिप्राय यह है कि अपराधी शत्रु पर क्षमा या उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ॥६५॥

शक्तिशाली विजिगीषु का कर्तव्य—

उपचीयमानो घटेनेवाश्मा हीनेन विग्रहं कुर्यात् ॥६६॥

अर्थ—जिसतरह पत्थर का छोटा-सा टुकड़ा शक्तिशाली (वजनदार) होने से घड़े को फोड़ देता है उसीतरह विजयश्री का इच्छुक राजा कोश और सैन्यशक्ति से वृद्धिंगत हुआ महान् शत्रु को भी नष्ट करने की क्षमता रखता है। अतः शक्तिशाली को हीन शक्तिवाले शत्रु से युद्ध करना चाहिए ॥६६॥

विशेषार्थ—जैमिनि[1] का उद्धरण भी उक्त विषय में समानार्थक है।

विजिगीषु की उन्नति—

दैवानुलोम्यं पुण्यपुरुषोपचयोऽप्रतिपक्षता च विजिगीषोरुदयः ॥६७॥

अर्थ—भाग्य की अनुकूलता, उत्तम और कर्तव्यशील पुरुषों का समागम एवं विरोधियों का अभाव इन गुणों से विजिगीषु का अभ्युदय होता है ॥६७॥

विशेषार्थ—गुरु[2] ने भी विजिगीषु के उक्त गुणों का निर्देश किया है।

सन्धि के योग्य शत्रु—

पराक्रमकर्कशः प्रवीरानीकश्चेद्धीनः सन्धाय साधूपचरितव्यः ॥६८॥

अर्थ—जब विजयश्री का इच्छुक राजा स्वयं शक्ति-हीन हो और शत्रु विशेष पराक्रम से निष्ठुर हो और वीर पुरुषों की सैन्यशक्ति से सम्पन्न हो तो उसके साथ सन्धि करके सम्यक् व्यवहार करना चाहिए ॥६८॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] का उद्धरण भी समानार्थक है।

पराक्रम करानेवाला तेज—

दुःखामर्षजं तेजो विक्रमयति ॥६९॥

अर्थ—दुःख से क्रोध और क्रोध से तेज उत्पन्न होता है, पश्चात् उस तेज द्वारा शत्रु पराक्रम करने के लिए प्रेरित किया जाता है। अर्थात्—जब विजिगीषु द्वारा शत्रु क्लेशित किया जाता है तब उसके हृदय में क्रोध की भीषण ज्वाला धधकती है, जिसके फलस्वरूप उसमें तेज उत्पन्न होता है, जो कि उसे पराक्रमी बनाने में सहायक होता है, अतः वीर सैन्यशक्तिवाला शत्रु अपने भाग्य की प्रतिकूलता-वश यदि एक बार विजिगीषु द्वारा परास्त कर दिया जाता है, परन्तु उसका परिणाम विजिगीषु के लिए महाभयङ्कर होता है, क्योंकि वह पुनः बार-बार हमला करने तत्पर रहता है, अतः प्रबल सैनिकोंवाले शत्रु के साथ युद्ध न कर सन्धि ही कर लेनी चाहिए ॥६९॥

विशेषार्थ—किसी नीतिवेत्ता[4] का उद्धरण भी सदृश अर्थ का वाचक है।

---

१. तथा च जैमिनिः—यदि स्याच्छक्तिसंयुक्तो लघुः शत्रोश्च भूपतिः। तदा हन्ति परं शत्रुं यदि स्यादतिपुष्कलं ॥१॥

२. तथा च गुरुः—यदि स्यात्प्राञ्जलं कर्म प्राप्तिर्योग्यनृणां तथा। तथा चाप्रतिपक्षत्वं विजिगीषोरिमे गुणाः ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—यदा स्याद्वीर्यवान् शत्रुः श्रेष्ठसैन्यसमन्वितः। आत्मानं बलहीनं च तदा तस्योपचर्यते ॥१॥

४. तथा च चोक्तं—दुःखामर्षोद्भव तेजो यत्पुंसां सम्प्रजायते। तच्छत्रुं समरे हत्वा ततश्चैव निवर्तते ॥१॥

दो सूत्रों में अवार्य वीर्यवेग और दृष्टान्त—

स्वजीविते हि निराशस्यावार्यो भवति वीर्यवेगः ॥७०॥

अर्थ—जो अपने जीवन की आशा नहीं करता अर्थात्—मृत्यु से भी न डरकर जो युद्ध में प्रवृत्त होता है उसकी वीरता का वेग अजेय होता है, अर्थात्—अपने प्राणों का मोह छोड़कर लड़नेवाले योद्धा के आक्रमण के वेग को रोकना दुष्कर होता है ॥७०॥

विशेषार्थ—नारद[1] का उद्धरण भी उक्त विषय का निरूपक है।

लघुरपि सिंहशावो हन्त्येव दन्तिनम् ॥७१॥

अर्थ—जिसतरह छोटा भी सिंह-शावक शक्ति-शाली होने से महान् हाथी को मार डालता है उसीतरह छोटा भी विजिगीषु प्रबल सैन्य शक्ति से सम्पन्न हुआ महान् शत्रु को युद्ध में परास्त कर देता है ॥७१॥

विशेषार्थ—जैमिनि[2] का उद्धरण भी एक-सरीखे अभिप्राय का प्रदर्शक है।

पराजित शत्रु के प्रति राजनीति—

नातिभग्नं पीड़येत् ॥७२॥

अर्थ—विजिगीषु विशेष रूप से पराजित किये हुए (दुर्दशा-ग्रस्त) शत्रु को पीड़ित न करे। अन्यथा सताया हुआ शत्रु अपने विनाश की आशङ्का से पुनः पराक्रम-शील होकर उपद्रव कर बैठता है ॥७२॥

विशेषार्थ—विदुर[3] ने भी पराजित शत्रु के विषय में इसीप्रकार कहा है।

शूरवीर शत्रु के सन्मान का दुष्परिणाम—

शौर्यैकधनस्योपचारो मनसि तच्छागस्येव पूजा ॥७३॥

अर्थ—शूरता ही है अद्वितीय धन जिसका ऐसे प्रबल पराक्रमी शत्रु के प्रति सन्मान का बाह्य प्रदर्शन, उसके मन में वैसा ही रोष उत्पन्न करता है जैसा कि चंडिका देवी की पूजा न करके उसके बकरे की पूजा करने से देवी को रोष उत्पन्न होता है। सारांश यह है कि विजयश्री के इच्छुक को विशेष शक्तिशाली शत्रु का कपट-पूर्ण सन्मान करके अपने को खतरे में नहीं डालना चाहिए ॥७३॥

विशेषार्थ—भागुरि[4] ने भी उक्त विषय का उल्लेख किया है।

दो सूत्रों में समान शक्ति व अधिक शक्तिवाले शत्रु के साथ युद्ध करने से हानि—

समस्य समेन सह विग्रहे निश्चितं मरणं जये च सन्देहः आमं हि पात्रमामेनाभिहतमुभयतः क्षयं करोति ॥७४॥

अर्थ—समान शक्तिवालों के परस्पर युद्ध में दोनों का मरण निश्चित होता है और विजयश्री की प्राप्ति संदिग्ध रहती है। उदाहरण के रूप में यदि मिट्टी के कच्चे घड़े परस्पर एक दूसरे से ताडित किये जावें या

---

१. तथा च नारदः—न तेषां जायते वीर्यं जीवितव्यस्य वाञ्छकाः। न मृत्योर्ये भयं चक्रुस्ते [वीराः स्युर्जयान्विताः] ॥१॥
सं०प०—सम्पादक

२. तथा च जैमिनिः—यद्यपि स्याल्लघुः सिंहस्तथापि द्विपमाहवे। एवं राजापि वीर्याढ्यो महारिं हन्ति चेल्लघुः ॥१॥

३. तथा च विदुरः—भग्नः शत्रुर्न गन्तव्यः पृष्ठतो विजिगीषुणा। कदाचिच्छूरतां याति मरणे कृतनिश्चयः ॥१॥

४. तथा च भागुरिः—उपयाचितदानेन च्छागेनापि प्ररुष्यति। चण्डिका बलवान् भूपः स्वल्पयापि तथेज्यया ॥१॥

टकराये जावें तो दोनों नष्ट हो जाते हैं। सारांश यह है कि समान बलवाले के साथ युद्ध न करे किन्तु सन्धि कर लेनी चाहिए ॥७४॥

विशेषार्थ—भागुरि[1] ने भी समान बलवालों को युद्ध करने का निषेध किया है।

ज्यायसा सह विग्रहो हस्तिना पदातियुद्धमिव ॥७५॥

अर्थ—जिसप्रकार पैदल सैनिक हाथी के साथ युद्ध करने से नष्ट हो जाते हैं उसीप्रकार हीन शक्तिवाला विजिगीषु भी अपने से अधिक शक्तिशाली शत्रु के साथ युद्ध करने से नष्ट होजाता है ॥७५॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[2] ने भी प्रस्तुत विषय का स्पष्टीकरण किया है।

धर्मविजयी राजा का लक्षण—

स धर्मविजयी राजा यो विधेयमात्रेणैव सन्तुष्टः प्राणार्थमानेषु न व्यभिचरति* ॥७६॥

अर्थ—जो राजा पराजित शत्रु के शरणागत होने पर सन्तुष्ट होता है और प्रजा के प्राण, धन और मानमर्यादा का अपहरण नहीं करता, वही धर्मविजयो है ॥७६॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] ने भी 'धर्मविजयी' का उक्त लक्षण बताया है।

लोभविजयी राजा की परिभाषा—

स लोभविजयी राजा यो द्रव्येण कृतप्रीतिः प्राणाभिमानेषु न व्यभिचरति ॥७७॥

अर्थ—जो राजा द्रव्य (धन) मात्र प्राप्त करके सन्तुष्ट होजाता है और प्रजा के प्राण और अभिमान का अपहरण नहीं करता वह 'लोभविजयो' है ॥७७॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] ने भी 'लोभविजयी' का उक्त लक्षण बताया है।

असुरविजयी राजा का लक्षण—

सोऽसुरविजयी यः प्राणार्थमानोपघातेन महीमभिलषति ॥७८॥

अर्थ—जो जीते हुए देश की प्रजा के प्राण, सम्पत्ति और सम्मान को नष्ट कर उसकी भूमि की अभिलाषा रखता है, वह 'असुरविजयी' है ॥७८॥

विशेषार्थ—शुक्र[5] ने भी असुरविजयी का उक्त लक्षण किया है।

असुरविजयी राजा के आश्रय से हानि—

असुरविजयिनः संश्रयः सूनागारे मृगप्रवेश इव ॥७९॥

अर्थ—जिसप्रकार बधिक के गृह में प्रविष्ट हुए मृग का वध होता है उसीप्रकार असुरविजयी राजा के आश्रय से भी प्रजा का नाश होता है ॥७९॥

---

१. तथा च भागुरिः—समेनापि न योद्धव्यमित्युवाच वृहस्पतिः। अन्योन्याहतिना भंगो घटाभ्यां जायते यतः ॥१॥

२. तथा च भारद्वाजः—हस्तिना सह संग्रामः पदातीनां क्षयावहः। तथा बलवता नूनं दुर्बलस्य क्षयावहः ॥१॥

*. 'नापकरोति' इति मु० मू० पुस्तके पाठः।

३. तथा च शुक्रः—प्राणवित्ताभिमानेषु यो राजा न द्रुहेत्प्रजाः। स धर्मविजयी लोके यथालाभेन कोशभाक् ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—प्राणेषु चाभिमानेषु यो जनेषु प्रवर्तते। स लोभविजयी प्रोक्तो यः स्वार्थेनैव तुष्यति ॥१॥

५. तथा च शुक्रः—अर्थमानोपपातेन यो महीं वाञ्छते नृपः। देवारिविजयी प्रोक्तो भूलोकेऽत्र विचक्षणैः ॥१॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

स्थायी राजा की विशेषता—

यादृशस्तादृशो वा यायिनः स्थायी बलवान् यदि साधुचरः संचारः ॥८०॥

अर्थ—स्थायी राजा, यदि दुर्बल और कोश-हीन भी है तो भी वह आक्रमणकारी से बलिष्ठ होता है, जिसका गुप्तचर विभाग कर्तव्यशील है ॥८०॥

विशेषार्थ—नारद[2] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

ब्रह्मघाती—

रणेषु भीतमशस्त्रं च हिंसन् ब्रह्महा भवति ॥८१॥

अर्थ—युद्धभूमि में, भयभीत और अस्त्र-हीन (निहत्था) की हिंसा करने वाला राजा ब्रह्महत्या का भागी होता है ॥८१॥

विशेषार्थ—जैमिनि[3] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

युद्ध-भूमि में पकड़े हुए योद्धाओं के प्रति राजनीति—

संग्रामधृतेषु यायिषु सत्कृत्य विसर्गः ॥८२॥

अर्थ—युद्धभूमि में पकड़े गए आक्रमणकारियों के लिए सत्कार-पूर्वक अर्थात्—कुछ वस्त्र-आदि उपहार देकर छोड़ देना चाहिए ॥८२॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[4] का उद्धरण भी समानार्थक है।

वन्दीभूत राजाओं से भेंट—

स्थायिषु संसर्गः सेनापत्यायत्तः ॥८३॥

अर्थ—स्थायी शत्रुभूत राजाओं को अन्य गिरफ्तार किए हुए वन्दी राजाओं के पास जाकर भेंट होने देना सेनापति के अधीन है। अर्थात्—यदि वह कोई खतरा न समझे तो भेंट करने दे अन्यथा नहीं ॥८३॥

विशेषार्थ—किसी नीतिवेत्ता[5] का उद्धरण भी समानार्थक है।

मनुष्यों की बुद्धिरूपी नदी का बहाव—

मतिनदीयं नाम सर्वेषां प्राणिनामुभयतो वहति पापाय धर्माय च, तत्राद्यं स्रोतोऽतीव सुलभं दुर्लभं तद् द्वितीयमिति ॥८४॥

अर्थ—लोक में समस्त प्राणियों के दो पार्श्वों में पाप और पुण्य के लिए बुद्धिरूपी नदी प्रवाहित हो रही है, जिसमें पाप का स्रोत अत्यन्त सुलभ है किन्तु धर्म का—पुण्य का स्रोत दुर्लभ है। अर्थात्—मनुष्य पाप की ओर सहजरूप से प्रवृत्त होता है किन्तु धर्म की ओर कठिनता से।

सारांश यह है, कि मनुष्यों की बुद्धि नीति-विरुद्ध व त्याज्य असत्कार्यों (जुआ और मद्य पानादि) में

---

१. तथा च शुक्रः—असुरविजयिनं भूपं संश्रयेन्मतिवर्जितः। स नूनं मृत्युमाप्नोति सूनं प्राप्य मृगो यथा ॥१॥

२. तथा च नारदः—राज्यं च दुर्बलो वापि स्थायी स्याद्बलवत्तरः। सकाशाद्यायिनश्चेत् स्यात्सुसन्नद्धः सुचारकः ॥१॥

३. तथा च जैमिनिः—भग्नशस्त्रं तथा त्रस्तं तथास्मीति च वादिनं। यो हन्याद्वैरिणं संख्ये ब्रह्महत्यां समश्नुते ॥१॥

४. तथा च भारद्वाजः—संग्रामे वैरिणो ये च यायिनः स्थायिनो धृताः। गृहीता मोचनीयास्ते क्षात्रधर्मेण पूजिताः ॥१॥

५. तथा चोक्तं—यायिना संसर्गस्तु स्थायिनः संप्रणश्यति। यदि सेनापतेश्चित्ते रोचते नान्यथैव तु ॥१॥

स्वतः प्रवृत्त होती है परन्तु अहिंसा व सत्य-आदि नैतिक शुभकार्यों में लाखों प्रयत्न करने पर भी प्रवृत्त नहीं होती, अतः शाश्वत कल्याण की कामना करने वाले व्यक्ति को अपनी बुद्धि अनीति अनाचार से हटाकर नीति व सदाचार की ओर प्रवृत्त करनी चाहिए ।।८४।।

विशेषार्थ—गुरु[१] ने भी मनुष्यों को बुद्धिरूपी नदी के पाप और पुण्य इन दोनों स्रोतों का उल्लेख किया है।

वादीभसिंहसूरि[२] ने भी कहा है 'मानवों की बुद्धि त्याज्य कार्यों में स्वतः प्रवृत्त होनेवाली व शुभ कार्यों अनेक प्रयत्न करने पर भी प्रवृत्त न होनेवाली होती है'।

महापुरुषों की शपथ—

सत्येनापि शप्तव्यं महतामभयप्रदानवचनमेव शपथः ।।८५।।

अर्थ—शत्रु के हृदय में विश्वास उत्पन्न कराने के लिए सत्य अर्थात्—सच्ची-शपथ करनी चाहिए न कि झूठी, अभयदान देनेवाले प्रामाणिक वचन बोलना ही महापुरुषों की शपथ है ।।८५।।

विशेषार्थ—शुक्र[३] ने भी उत्तम पुरुषों को उक्त शपथ का उल्लेख किया है।

समस्त व्यवहार वचनाधीन एवं सत्यवादी की लोक-पूज्यता—

सतामसतां च वचनायत्ताः खलु सर्वे व्यवहाराः, स एव सर्वलोकमहनीयो यस्य वचनमन्यमनस्कतयाप्यायातं भवति शासनं ।।८६।।

अर्थ—निस्सन्देह संसार के सभी व्यवहार सज्जनों और दुर्जनों के वचनों के अधीन होते हैं। वही सत्पुरुष निश्चय से समस्त मनुष्यों द्वारा पूजनीय है, जिसके वचन मानसिक उपयोग के विना—उपेक्षाभाव से भी कहे हुए लिखित दस्तावेज-सरीखे प्रामाणिक होते हैं ।।८६।।

विशेषार्थ—शुक्र[४] का उद्धरण भी उक्त विषय में समानार्थक है।

नीति-पूर्ण वाणी का माहात्म्य—

नयोदिता वाग्वदति सत्या ह्येषा सरस्वती ।।८७।।

अर्थ—इसमें कोई सन्देह नहीं, कि सज्जन पुरुषों द्वारा कही हुई नीति से ओतःप्रोत वाणी प्रत्यक्ष में सत्य सरस्वती का रूप है ।।८७।।

विशेषार्थ—गौतम[५] का उद्धरण भी उक्त विषय में समानार्थक है।

मिथ्या वचनों का दुष्परिणाम—

व्यभिचारिवचनेषु नैहिकी पारलौकिकी वा क्रियाऽस्ति ।।८८।।

अर्थ—जो व्यक्ति अपने वचनों का पालन नहीं करते अथवा जो प्रामाणिक यथार्थ वचन नहीं बोलते उनकी ऐहिक और पारलौकिक क्रियाएँ (कर्तव्य) निष्फल होती हैं ।।८८।।

---

१. तथा च गुरुः—मतिर्नाम नदी ख्याता पापधर्मोद्भवा नृणां। द्विस्रोतः प्रथमं तस्याः पापो धर्मस्तथापरं ।।१।।

२. तथा च वादीभसिंहसूरिः—हेये स्वयं सती बुद्धिर्यत्नेनाप्यसती शुभे ।।१।।

३. तथा च शुक्रः—उत्तमानां नृणामत्र यद्वाक्यमभयप्रदं। स एव सत्यः शपथः किमन्यैः शपथैः कृतैः ।।१।।

४. तथा च शुक्रः—स एव पूज्यो लोकानां यद्वाक्यमपि शासनं। विस्तीर्णं प्रसिद्धं च लिखितं शासनं यथा ।।१।।

५. तथा च गौतमः—नीत्यात्मिकात्र या वाणी प्रोच्यते साधुभिर्जनैः। प्रत्यक्षा भारती ह्येषा विकल्पो नास्ति कश्चन ।।१।।

विशेषार्थ—गौतम[1] ने भी मिथ्यावादी को ऐहिक व पारलौकिक कल्याण से वञ्चित कहा है।

विश्वासघात महापाप—

न विश्वासघातात् परं पातकमस्ति ॥८९॥

अर्थ—लोक में विश्वासघात से बढ़कर दूसरा कोई महान् पाप नहीं है ॥८९॥

विशेषार्थ—अङ्गिर[2] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

विश्वासघाती अविश्वसनीय—

विश्वासघातकः सर्वेषामविश्वासं करोति ॥९०॥

अर्थ—विश्वासघातक व्यक्ति सभी पर अविश्वास उत्पन्न करता है अर्थात्—उस पर कोई भी विश्वास नहीं करता ॥९०॥

विशेषार्थ—रैभ्य[3] का उद्धरण भी सदृश अर्थ का वाचक है।

असत्यसन्धिषु कोशपानं जातान् हन्ति ॥९१॥

अर्थ—झूठी प्रतिज्ञा करने वाले पुरुषों का शपथ करना उनकी सन्तति का विनाश कर देता है ॥९१॥

विशेषार्थ—किसी नीतिवेत्ता[4] ने भी यही कहा है।

तीन सूत्रों में मिथ्यावादी की अपकीर्ति एवं पौराणिक दृष्टान्त—

असत्यवादिनो मृतस्यापि हि न दुर्यशो विनश्यति* ॥९२॥

अर्थ—मिथ्यावादी की अपकीर्ति मरनेपर भी नष्ट नहीं होती फिर जीवित अवस्था में कैसे नष्ट हो सकती है? ॥९२॥

सकृदुत्थिता प्रसिद्धि र्देवैरपि निवारयितुं न शक्यते† ॥९३॥

अर्थ—एक वार असत्यभाषण-आदि दुर्गुणों से फैली हुई अपकीर्त्ति देवताओं द्वारा भी निवारण नहीं की जा सकती ॥९३॥

तथाहि-धर्मपुत्रः किलासत्यमभाषतापीतमद्यमित्यन्यथाऽप्यस्ति दुःप्रसिद्धिः ‡ ॥९४॥

अर्थ—जैसे 'महाभारत के समय धर्मराज युधिष्ठिर[5] ने विशेष मात्रा में मद्यपान करके मिथ्याभाषण

---

१. तथा च गौतमः—न तेषामिह लोकोऽस्ति न परोऽस्ति दुरात्मनां। यैरेव वचनं प्रोक्तमन्यथा जायते पुनः ॥१॥

२. तथा च अङ्गिरः—विश्वासघातकादन्यः परः पातकसंयुतः। न विद्यते धरापृष्ठे तस्मात्तं दूरतस्त्यजेत् ॥१॥

३. तथा च रैभ्यः—विश्वासघातको यः स्यात् तस्य माता पितापि च। विश्वासं न करोत्येव जनेष्वन्येषु का कथा ॥१॥

४. तथा चोक्तं—यदसत्यं जने कोशपानं तदिह निश्चितं। करोति पुत्रपौत्राणां घातं गोत्रसमुद्भवम् ॥१॥

*. † ‡ इदं सूत्रत्रयं मु० मू० पुस्तकतः संकलितं—सम्पादक।

५. उक्त ऐतिहासिक उदाहरण का स्पष्टीकरण—

कौरवों और पाण्डवों के गुरु 'द्रोणाचार्य' के इकलौते पुत्र का नाम 'अश्वत्थामा' था और कौरवों की सेना के हाथी का नाम भी 'अश्वत्थामा' था। महाभारत के युद्ध में गुरु द्रोणाचार्य की यह प्रतिज्ञा थी कि 'यदि मेरा इकलौता पुत्र 'अश्वत्थामा' मारा जायगा तो मैं युद्ध नहीं करूँगा।'

कौरवों की तरफ से युद्ध करनेवाले वीर गुरु द्रोणाचार्य को जीतना पाण्डवों के लिए टेढ़ी खीर थी, इसलिए उन्होंने गुरु द्रोणाचार्य को युद्ध से अलहदा करने की राजनैतिक चाल चली।

किया' यद्यपि मद्यपान की बात झूठ है, तथापि उनकी अपकीर्ति जन-साधारण में सुनी जाती है ॥९४॥

दूसरे की कीर्ति का लोप—

यशोवधः प्राणवधाद्गरीयान्* ॥९५॥

अर्थ—दूसरे की कीर्ति का लोप करना उसके प्राणों के घात से भी बढ़ कर है ॥९५॥

दो सूत्रों में सैन्य-व्यूहरचना के कारण एवं उसकी स्थिरता का समय—

बलं बुद्धिर्भूमिर्ग्रहानुलोम्यं परोद्योगश्च प्रत्येकं बहुविकल्पं दण्डमण्डलाभोगा संहतव्यूह-रचनाया हेतवः ॥९६॥

अर्थ—विजयश्री के इच्छुक राजा का अनेक प्रकार का सैन्यबल, बुद्धिमत्ता, विस्तृत भूमि, राजा के ग्रहों की अनुकूलता, शत्रु राजा की उद्योग-शीलता और सैन्यमण्डल का विविध प्रकार का विस्तार ये सब सुसंगठित व्यूह-रचना के कारण हैं, अर्थात्—उक्त कारण सामग्री से विजिगीषु द्वारा सैन्य-व्यूह की रचना की जाती है ॥९६॥

साधुरचितोऽपि व्यूहस्तावत्तिष्ठति यावन्न परबलदर्शनम् ॥९७॥

अर्थ—बुद्धिमान विजिगीषु राजा द्वारा की गई सुसंगठित सैन्य की व्यूह रचना भी तभी तक ठीक व स्थिरशील रहती है जब तक कि वह शत्रु-सेना का दर्शन नहीं करती, अर्थात् उसके अनन्तर संग्राम छिड़ जाने पर व्यूह का संगठन छिन्नभिन्न होने लगता है।

सारांश यह है कि शत्रु-सेना के दृष्टिगोचर होने पर विजिगीषु के वीर सैनिक अपना व्यूह छोड़कर शत्रु-सैन्य में प्रविष्ट होकर उससे भयङ्कर युद्ध करने भिड़ जाते हैं ॥९७॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी व्यूह-भङ्ग का उक्त कारण उल्लेख किया है।

युद्ध-शिक्षा—

न हि शास्त्रशिक्षाक्रमेण योद्धव्यं किन्तु परप्रहाराभिप्रायेण ॥९८॥

एक समय जब पाण्डवों द्वारा कौरव-सैन्य का 'अश्वत्थामा' नामका हाथी धराशायी किया गया तब विजय दुन्दुभि बजाई गई, और 'अश्वत्थामा मृतः' 'अश्वत्थामा मृतः इसप्रकार 'अश्वत्थामा' नाम के गुरु द्रोणाचार्य के पुत्र के निधन का शोर किया गया। उसे द्रोणाचार्य ने सुना। परन्तु उन्हें शत्रु पक्ष की कही हुई बात पर सहसा विश्वास नहीं हुआ, इसलिए उन्होंने इसका निर्णय करने के लिए सत्यवादी धर्मराज युधिष्ठिर से पूँछा।

कृष्ण व अर्जुन ने ऐसे अवसर पर धर्मराज युधिष्ठिर को मिथ्याभाषण करने के लिए बाध्य किया, अतः युधिष्ठिर ने 'अश्वत्थामा नामका हाथी ही मारा गया है न कि द्रोणाचार्य का पुत्र' यह जानते हुए भी 'अश्वत्थामा मृतः नरो वा कुञ्जरो वा ? अर्थात्—अश्वत्थामा मर चुका है, परन्तु वह मनुष्य है ? अथवा हाथी ? इसे मैं नही जानता इसप्रकार मिथ्या भाषण कर डाला।

तत्पश्चात् पांडवों की ओर से खेले गए राजनैतिक दावपेचों से गुरु द्रोण 'अश्वत्थामा मृतः नरः' इतना ही सुन सके, अतः उन्हें धर्मराज युधिष्ठिर की बात पर विश्वास हो गया और पुत्र-शोक से व्याकुल होकर स्वर्ग-वास को प्राप्त हुए। सारांश यह है कि एकवार मिथ्याभाषण करने से धर्मराज युधिष्ठिर की अभी भी कटु आलोचना की जाती है कि उन्होंने मद्यपान करके मिथ्याभाषण किया।

*. उक्त सूत्रं मु० मू० पुस्तकतः संकलितं—सम्पादक।

१. तथा च शुक्रः—व्यूहस्य रचना तावत्तिष्ठति शास्त्रनिर्मिता। यावदन्यद्बलं नैव दृष्टिगोचरमागतं ॥१॥

अर्थ—संग्राम में वीर सैनिकों को शस्त्र विद्या की शिक्षा के अनुरूप युद्ध नहीं करना चाहिए किन्तु शत्रु के प्रहार के अनुसार युद्ध करना चाहिए ॥९८॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] का उद्धरण भी उक्त विषय में सदृश-अर्थ का वाचक है।

शत्रु-नगर में सैन्य प्रवेश का अवसर—

व्यसनेषु प्रमादेषु वा परपुरे सैन्यप्रेषणमवस्कन्दः ॥९९॥

अर्थ—जब शत्रु संकट-ग्रस्त हो अथवा असावधान हो तब विजयश्री के इच्छुक राजा को शत्रु-नगर में अपनी सेना भेजना 'अवस्कन्द' है ॥९९॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] ने भी 'अवस्कन्द' का उक्त लक्षण बताया है।

कूटयुद्ध का लक्षण—

अन्याभिमुखं प्रयाणकमुपक्रम्यान्योपघातकरणं कूटयुद्धं ॥१००॥

अर्थ—दूसरे शत्रु पर चढाई प्रकट करके वहाँ से अपना सैन्य लौटाकर युद्ध छेड़कर अन्य शत्रु का घात करना 'कूटयुद्ध' है ॥१००॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] ने भी कूटयुद्ध का यही लक्षण किया है।

तूष्णीयुद्ध का लक्षण—

वषविषमपुरुषोपनिषदवाग्योगोपजापैः परोपघातानुष्ठानं तूष्णीदण्डः ॥१०१॥

अर्थ—विष-प्रयोग, घातक पुरुषों का प्रयोग, एकान्त में स्वयं शत्रु के पास जाना, सन्देश भेजना और भेदनीति इन उपायों से शत्रु का घात करना 'तूष्णीयुद्ध' है ॥१०१॥

विशेषार्थ—गुरु[4] ने तूष्णीयुद्ध का यही लक्षण किया है।

एक व्यक्ति को सेनाध्यक्ष बनाने का दुष्परिणाम—

एकं बलस्याधिकृतं न कुर्यात्, भेदापराधेनैकः समर्थो जनयति महान्तमनर्थं ॥१०२॥

अर्थ—किसी एक व्यक्ति को समस्त सैन्य का पूर्ण अधिकार नहीं देना चाहिए, क्योंकि शत्रु राजा से मिल जाने पर वह महान् उपद्रव कर सकता है। अर्थात्—यदि किसी एक व्यक्ति के पास सेना का सर्वाधिकार हुआ और किसी प्रकार वह शत्रु से जा मिला तो अवश्य ही वह अपने स्वामी का सर्वनाश कर देगा ॥१०२॥

विशेषार्थ—भागुरि[5] ने भी किसी एक व्यक्ति को सेनाध्यक्ष बनाने से उक्त प्रकार की हानि बतलाई है।

ऋणी राजा की हानि—

राजा राजकार्येषु मृतानां सन्ततिमपोषयन्नृणभागी स्यात् साधु नोपचर्यते तन्त्रेण ॥१०३॥

अर्थ—यदि राजा राजकार्य (युद्ध-आदि) में मरे हुए सैनिकों आदि की सन्तति अर्थात्—पुत्र-पौत्रादि-

---

१. तथा च शुक्रः—शिक्षाक्रमेण नो युद्धं कर्तव्यं रणसंकुले। प्रहारान् प्रेक्ष्य शत्रूणां तदर्हं युद्धमाचरेत् ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—व्यसने वा प्रमादे वा संसक्तः स्यात्परो यदि। तदावस्कन्ददानं च कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—अन्याभिमुखमार्गेण गत्वा किंचित्प्रयाणकं। व्यावृत्य घातः क्रियते सदैव कुटिलाहवैः ॥१॥

४. तथा च गुरुः—विषदानेन योऽन्यस्य हस्तेन क्रियते बधः। अभिचारककृत्येन रिपोर्मौनाहवो हि सः ॥१॥

५. तथा च भागुरिः—एकं कुर्यान्न सैन्येशं सुसमर्थं विशेषतः। धनाकृष्टः परैर्भेदं कदाचित् स परैः क्रियात् ॥१॥

का पालन-पोषण नहीं करता तो वह उनका ऋणी रहता है, जिसके फलस्वरूप मन्त्री-आदि प्रकृति वर्ग भी उसकी भलीभाँति सेवा नहीं करता, क्योंकि उनको यह अनुभव होता है कि वह हमारे न रहने पर हमारे बच्चों के साथ भी ऐसा ही कृतघ्नता का बर्ताव करेगा ॥१०३॥

विशेषार्थ—वशिष्ठ[१] का उद्धरण भी समानार्थक है।

वीरता प्रदर्शन से लाभ—

स्वामिनः पुरःसरणं युद्धेऽश्वमेधसमं ॥१०४॥

अर्थ—युद्ध में स्वामी से आगे जाकर शत्रु से युद्ध करनेवाले वीर सैनिक को अश्वमेध यज्ञ करने के समान उत्तम फल मिलता है ॥१०४॥

विशेषार्थ—वशिष्ठ[२] का उद्धरण भी समानार्थक है।

युद्ध से विमुख होनेवाले की हानि—

युधि स्वामिनं परित्यजतो नास्तीहामुत्र च कुशलं ॥१०५॥

अर्थ—लड़ाई मे अपने स्वामी का परित्याग करके युद्धभूमि से भागनेवाले सैनिक का ऐहलौकिक और पारलौकिक कल्याण नहीं होता ॥१०५॥

विशेषार्थ—भागुरि[३] का उद्धरण भी उक्त विषय में समानार्थक है।

युद्ध के लिए प्रस्थान करनेवाले विजिगीषु का कर्तव्य—

विग्रहायोच्चलितस्यार्द्धं बलं सर्वदा सन्नद्धमासीत, सेनापतिः प्रयाणमावासं च कुर्वीत चतुर्दिशमनीकान्यदूरेण संचरेयुस्तिष्ठेयुश्च ॥१०६॥

अर्थ—जब विजिगीषु शत्रु से युद्ध करने के लिए प्रस्थान करे तब उसका सेनापति आधी सेना को सदा तैयार रक्खे। अर्थात्—शस्त्रादि से सुसज्जित रक्खे। उसका सेनापति युद्ध में जाकर एक स्थान पर आवास बनाकर अर्थात्—डेरा डालकर अवसर के अनुकूल वास भी करे और शत्रु की चारों दिशाओं में विजिगीषु की सेनाएँ संचार करतीं रहें और टिकीं रहें ॥१०६॥

विशेषार्थ—शुक्र[४] ने भी शत्रु-भूमि के प्रति प्रस्थान करनेवाले राजाओं को सदा सावधान रहना बतलाया है।

विजिगीषु के पर्वत निवासी गुप्तचरों का कर्तव्य—

धूमाग्निरजोविषाणध्वनि-व्याजेनाटविकाः प्रणधयः परबलान्यागच्छन्ति निवेदयेयुः ॥१०७॥

अर्थ—जब विजिगीषु दूर हो और शत्रुराजा की फौज उसकी ओर आरही हो तब जंगलों में रहनेवाले इसके गुप्तचर, धूम करने, आग जलाने, धूल उड़ाने और शृंग-ध्वनि के व्याज से उसे शत्रु की फौज आने का बोध करावें ॥१०७॥

१. तथा च वशिष्ठ.—मृताना पुरत. संख्ये योऽपत्यानि न पोषयेत्। तेषां स हत्यायाः ? तूर्णं गृह्यते नात्र संशयः ॥१॥
२. तथा च वशिष्ठः—स्वामिनः पुरतः संख्ये हन्त्यात्मानं च सेवकः। यत्प्रमाणानि यागानि ताम्याप्नोति फलानि च ॥१॥
३. तथा च भागुरिः—यः स्वामिनं परित्यज्य युद्धे याति पराङ्मुखः। इहाकीर्ति परां प्राप्य मृतोऽपि नरकं व्रजेत् ॥१॥
४. तथा च शुक्रः—परभूमिप्रतिष्ठानां नृपतीनां शुभं भवेत्। आवासे च प्रयाणे च यतः शत्रुः परीक्ष्यते ॥१॥

विशेषार्थ—गुरु[1] का उद्धरण भी उक्त विषय में समानार्थक है।

दो सूत्रों में सेना के पड़ाव-योग्य व अयोग्य स्थान—

पुरुषप्रमाणोत्सेधमबहुजनविनिवेशनाचरणापसरणयुक्तमग्रतो महामण्डपावकाशं च तदंगमध्यास्य सर्वदा स्थानं दद्यात् ॥१०८॥

अर्थ—विजिगीषु राजा को अपनी फौज का पड़ाव ऐसे स्थान में डालना चाहिए, जो पुरुष-प्रमाण अर्थात्—पाँच-छह फुट ऊँचा हो, जिसमें थोड़े आदमियों का प्रवेश, परिभ्रमण और निर्गम-निकास हो, जिसके आगे विशाल सभामण्डप के लिए पर्याप्त स्थान हो, उसके मध्य में स्वयं ठहरकर उसमें अपनी सेना को ठहरावे ॥१०८॥

. सर्वसाधारणभूमिकं तिष्ठतो नास्ति शरीररक्षा ॥१०९॥

अर्थ—जहाँ सर्वसाजारण व्यक्तियों का आना जाना हो ऐसे स्थान पर सैन्य का पड़ाव डालने या स्वयं ठहरने से विजिगीषु अपनी प्राण-रक्षा नहीं कर सकता ॥१०९॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] ने भी अयोग्य स्थान में पड़ाव डालने से प्राण-क्षति वताई है।

दो सूत्रों में शत्रु-भूमि में प्रवेश के विषय में—

भूचरो दोलाचरस्तुरंगचरो वा न कदाचित्परभूमौ प्रविशेत् ॥११०॥

अर्थ—शत्रु की भूमि में पैदल, पालकी पर चढ़कर और घोड़े पर चढ़कर कभी भी प्रवेश नहीं करना चाहिए अर्थात्—नहीं जाना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से जब उसे अचानक शत्रु-कृत उपद्रवों का भय प्राप्त होगा तव वह उनसे अपनी रक्षा नहीं कर सकता ॥११०॥

विशेषार्थ—गुरु[3] ने भी अरक्षित विजिगीषु को शत्रु द्वारा घाते जाने का उल्लेख किया है।

करिणं जंपाणं वाप्यध्यासीने न प्रभवन्ति क्षुद्रोपद्रवाः ॥१११॥

अर्थ—हाथी अथवा जंपाण (पहाड़ी प्रदेशों का प्रसिद्ध वाहन—मनुष्य की पीठ पर बँधे हुए वेंत के आसन पर चलना) पर चढ़कर चलने से क्षुद्र उपद्रवों की संभावना नहीं रहती ॥१११॥

विशेषार्थ—भागुरि[4] ने भी उक्त प्रकार के विजिगीषु को सुरक्षित वताया है।

इति युद्ध-समुद्देशः।

३१. विवाह-समुद्देशः

कामसेवन की योग्यता—

द्वादशवर्षा स्त्री षोडशवर्षः पुमान् प्राप्तव्यवहारौ भवतः ॥१॥

---

१. तथा च गुरुः—प्रभौ दूरस्थिते वैरी यदागच्छति सन्निधौ। भूमादिभिर्निवेशः सः चरैश्चारण्यसंभवैः ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—परदेशं गतो यः स्यात् सर्वसाधारणं नृपः। आस्थानं कुरुते मूढो घातकैः स निहन्यते ॥१॥

३. तथा च गुरुः—परभूमिं प्रविष्टो यः पादचारी परिभ्रमेत्। हये स्थितो वा दोलायां घातकैर्हन्यते हि सः ॥१॥

४ तथा च भागुरिः—परभूमौ महीपालः करिणं यः समाश्रितः। व्रजन् जंपणमध्यास्य तस्य कुर्वन्ति किं परे ॥१॥

अर्थ—बारह वर्ष की स्त्री और सोलह वर्ष का पुरुष ये दोनों कामसेवन की योग्यता वाले होते हैं ॥१॥

विशेषार्थ—राजपुत्र[1] ने भी उक्त विषय पर यही कहा है।

विवाह पूर्वक कामसेवन का परिणाम—

विवाहपूर्वो व्यवहारश्चातुर्वर्ण्यं कुलीनयति ॥२॥

अर्थ—विवाहपूर्वक कामसेवन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्ण की सन्तान में कुलीनता उत्पन्न करता है ॥२॥

विशेषार्थ—जैमिनि[2] ने भी विवाह की उक्तप्रकार महत्ता का उल्लेख किया हैं।

छह सूत्रों में विवाह का लक्षण और ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य विवाहों के लक्षण—

युक्तितो वरणविधानमग्निदेवद्विजसाक्षिकं च पाणिग्रहणं विवाहः ॥३॥

अर्थ—विधिपूर्वक कन्या का वरण निश्चय करके अग्नि, देव और ब्राह्मण की साक्षीपूर्वक वर द्वारा कन्या का पाणिग्रहण किया जाना 'विवाह' है ॥३॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[3] ने भी विवाह का यही लक्षण किया है।

शास्त्रकारों[4] ने विवाह के आठ भेद बताये हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर, पैशाच और राक्षस विवाह।

स ब्राह्मयो विवाहो यत्र वरायालंकृत्य कन्या प्रदीयते ॥४॥

अर्थ—जिस विवाह में कन्या के पिता-आदि संरक्षक, कन्या को मनोज्ञ वस्त्राभूषणों से अलङ्कृत करके वर के लिए देते हैं, वह 'ब्राह्म' विवाह हैं ॥४॥

स दैवो विवाहो यत्र यज्ञार्थमृत्विजः कन्याप्रदानमेव दक्षिणा ॥५॥

अर्थ—जिसमें यज्ञ का विधान करके वर के रूप में वर्तमान पुरोहित के लिए यज्ञ की दक्षिणा के रूप में कन्यादान किया जाता है उसे 'दैव विवाह' कहते हैं ॥५॥

विशेषार्थ—गुरु[5] ने भी इसीप्रकार 'दैवविवाह' का लक्षण किया है।

***गोमिथुनपुरःसरं कन्यादानादार्षः ॥६॥**

अर्थ—वर के लिए गाय-बैल की जोड़ी देकर कन्या-दान करना 'आर्षविवाह' है। पाठान्तर का अर्थ—वर के लिए गाय, भूमि, सुवर्ण देकर कन्यादान करना 'आर्षविवाह' है ॥६॥

विशेषार्थ—किसी नीतिवेत्ता[6] ने भी आर्षविवाह का यही लक्षण किया है।

---

१. तथा च राजपुत्रः—यदा द्वादशवर्षा स्यान्नारी षोडशवार्षिकः। पुरुषः स्यात्तदा रंगस्ताभ्यां मैथुनज. परः ॥१॥

२. तथा च जैमिनि—सुवर्णां कन्यकां यस्तु विवाहयति धर्मतः। सन्तानं तस्य शुद्धं स्यान्नाकृत्येषु प्रवर्तते ॥१॥

३. तथा च भारद्वाजः—वरणं युक्तितो यच्च वह्निब्राह्मणसाक्षिकं। विवाहः प्रोच्यते शुद्धो योऽन्यस्य स्याच्च विप्लवः ॥१॥

४. तथा चोक्तं—ब्राह्मयो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथापरः। गन्धर्वश्चासुरश्चैव पैशाचो राक्षसस्तथा ॥१॥

५. तथा च गुरुः—कृत्वा यज्ञविधानं तु यो ददाति च ऋत्विजः। समाप्तौ दक्षिणां कन्यां दैवं वैवाहिकं हि तत् ॥१॥

*. 'गोभूमिसुवर्णपुरः सरमिति' ह० लि० मू० प्रतौ पाठः।

६. तथा चोक्त—कन्यां दत्वा पुनर्दद्याद्यत्र गोमिथुनं परं। वराय दीयते सोऽत्र विवाहश्चार्षसंज्ञितः ॥१॥

त्वं भवास्य महाभाग्यस्य सधर्मचारिणीति विनियोगेन कन्याप्रदानात् प्राजापत्यः ॥७॥

अर्थ—'तुम इस महाभाग्यशाली वर की सधर्मचारिणी अर्थात्—एक साथ धर्माचरण करनेवाली धर्म-पत्नी हो' इसप्रकार के उपदेश के साथ कन्यादान करना 'प्राजापत्य विवाह' है ॥७॥

विशेषार्थ—गुरु[1] ने भी 'प्राजापत्य विवाह' का उल्लेख किया है।

एते चत्वारो धर्म्या विवाहाः ॥८॥

अर्थ—ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य ये चार शास्त्र-विहित धार्मिक विवाह है ॥८॥

पांच सूत्रों में गान्धर्व, आसुर, पैशाच और राक्षस विवाहों के लक्षण एवं समालोचना—

मातुः पितुर्बन्धूनां चाप्रामाण्यात् [illegible] मिथः समवायाद्गान्धर्वः ॥९॥

अर्थ—जिसमें वर-कन्या अपने [illegible] जनों को प्रमाण न मानकर अर्थात्—उनकी स्वीकारता के विना-पारस्परिक प्रेम-वश आपस [illegible] अर्थात्—दाम्पत्य प्रेम कर लेते हैं वह 'गान्धर्व विवाह' है ॥९॥

विशेषार्थ—गुरु[2] ने भी गान्धर्वविवाह का यही लक्षण किया है।

पणबन्धेन कन्याप्रदानादासुरः ॥१०॥

अर्थ—जिसमें कन्या का पिता लोभ-वश वरपक्ष से धनादि लेकर अयोग्य वर के लिए कन्या प्रदान करता है उसे 'आसुर विवाह' कहते हैं ॥१०॥

विशेषार्थ—गुरु[3] ने भी 'आसुर विवाह' का यही लक्षण किया है।

सुप्तप्रमत्तकन्यादानात्पैशाचः ॥११॥

अर्थ—सोई हुई अथवा शराव-आदि के नशे से मत्त हुई कन्या का दान करना 'पैशाच' विवाह है ॥११॥

विशेषार्थ—गुरु[4] ने भी पैशाचविवाह का उक्त लक्षण किया है।

कन्यायाः प्रसह्यादानाद्राक्षसः ॥१२॥

अर्थ—वलात्कार पूर्वक कन्या का अपहरण करना 'राक्षस विवाह' है ॥१२॥

विशेषार्थ—गुरु[5] ने भी राक्षस विवाह' का यही लक्षण किया है।

एते चत्वारोऽधर्म्या अपि नाधर्म्या यद्यस्ति वधूवरयोनपवादं परस्परस्य भाव्यत्वं ॥१३॥

अर्थ—यद्यपि गान्धर्व, पैशाच, आसुर और राक्षस, ये चारों विवाह धर्म-सम्मत नहीं हैं तथापि यदि वर-वधू का दाम्पत्य प्रेम निर्दोष है तो ये अधर्म-संगत—अन्याय-पूर्ण नहीं हैं ॥१३॥

विवाह की अयोग्यता प्रदर्शक कन्या-दूषण—

उन्नतत्वं कनीनिकयोः, लोमशत्वं जङ्घयोरमांसलत्वमूर्वोरचारुत्वं कटिनाभिजठरकुचयुगलेषु,

---

१. तथा च गुरुः—धनिनो धनिनं यत्र विषये कन्यकामिह। सन्तानाय स विज्ञेयः प्राजापत्यो मनीषिभिः ॥१॥

२. तथा च गुरुः—पितरौ समतिक्रम्य यत्कन्या भजते पतिं। सानुरागा सरंगं च स गान्धर्व इति स्मृतः ॥१॥

३. तथा च गुरुः—मूल्यं सारं गृहीत्वा च पिता कन्यां च लोभतः। सुरूपामथवृद्धाय विवाहस्त्वासुरो मतः ॥१॥

४. तथा च गुरुः—सुप्तां वाथ प्रमत्तां वा यो मत्वाथ विवाहयेत्। कन्यकां सोऽत्र पैशाचो विवाहः परिकीर्तितः ॥१॥

५. तथा च गुरुः—रुदतीं च बन्धुवर्गाणां हठाद्गुरुजनस्य च। गृह्णाति यो वरो कन्यां स विवाहस्तु राक्षसः ॥१॥

शिरालुत्वमशुभसंस्थानत्वं च बाह्वोः, कृष्णत्वं तालुजिह्वाधरहरीतकीषु, विरलविषमभावो दशनेषु, कूपत्वं कपोलयोः, पिंगलत्वमक्ष्णोर्लग्नत्वं पि(चि)ल्लिकयोः, स्थपुटत्वं ललाटे, दुःसन्निवेशत्वं श्रवणयोः, स्थूलकपिलपरुषभावः केशेषु, अतिदीर्घातिलघुन्यूनाधिकताऽसमकटकुब्जवामनकिराताङ्गत्वं जन्मदेहाभ्यां समानताधिकत्वं चेति कन्यादोषाः सहसा तद्गृहे स्वयमाहूतगतस्य वाम्यक्ता, व्याधिमती, रुदती, पतिघ्नी, सुप्ता, स्तोकायुष्का, बहिर्गता कुलटाऽप्रसन्ना दुःखिता कलहोद्यता परिजनोद्वासिन्यप्रियदर्शना दुर्भगेति नैतां वृणीत कन्याम् ॥१४॥

अर्थ—यदि कन्या में निम्नलिखित दूषण [illegible] उसके साथ विवाह नहीं करना चाहिए, जिसके नेत्रों की तारकाएँ (पुतलियाँ) उठी हुई हों, [illegible] जंघाओं में रोम अधिक हों, जिसके ऊरुओं (पिण्डलियों) में मांस न हो, कमर, नाभि, उदर और और [illegible] न सुन्दर हों, जिसकी भुजाओं (बाहों) में अधिक नसें दृष्टिगोचर हों और उनका आकार भी सुन्दर सुडौल न हो, जिसके तालु, जीभ और ओष्ठ हरड़-सरीखे काले हों, दाँत विषम (ऊँचे-नीचे) और विरले हों, गालों में गड्ढे पड़ते हों, जिसके नेत्र पीले हों, दोनों भ्रुकुटियां जुड़ी हुई हों ? अथवा पैर की आखिरी अङ्गुलि सटी हुई हो, जिसका मस्तक ऊँचा-नीचा हो अर्थात्—उभरा हुआ या धँसा हुआ हो, जिसके दोनों श्रोत्र (कान) ठीक स्थान पर न हों, जिसके केश मोटे, पीले और रूक्ष हों, जो बहुत लम्बी, बहुत छोटी हो, जो स्वास्थ्य में विशेष हीन हो, अर्थात्—जो विशेष दुबली-पतली हो, जिसकी कमर विषम हो, अर्थात्—शरीर के अन्य भागों के अनुकूल न हो, जो कुबड़ी हो, बोनी हो, टेढ़े-मेढ़े अङ्गों वाली हो, जो वर के जन्म और शरीर से समान हो अथवा अधिक हो, इनके अतिरिक्त कन्या के गृह में स्वयं आये हुए या बुलाये हुए व्यक्ति से मिलने-जुलने वाली हो, रुग्ण हो, सदा रोनेवाली हो, पति का घात करने वाली हो, सदा सोती हुई हो, अल्प आयुवाली हो, बाहर भागी हुई, कुलटा, सदा अप्रसन्न अर्थात् उदास, हो, दुःखी, लड़ने के लिए तत्पर, नौकरों के लिए उद्वेग उत्पन्न करनेवाली, जिसका दर्शन प्रिय न हो, और अभागिनी उक्त प्रकार की कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए ॥१४॥

पाणिग्रहण की शिथिलता का दुष्परिणाम—

शिथिले पाणिग्रहणे वरः कन्यया परिभूयते ॥१५॥

अर्थ—जब वरकन्या का पाणिग्रहण शिथिल होता है तो कन्या वर का पराभव (तिरस्कार) कर देती है ॥१५॥

विशेषार्थ—नारद[1] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है ।

नवा वधू की प्रचण्डता का कारण—

मुखमपश्यतो वरस्यानमीलितलोचना कन्या भवति प्रचण्डा ॥१६॥

अर्थ—पाणिग्रहण के समय यदि वर अपनी ऐसी नवा वधू के मुख की ओर दृष्टिपात नहीं करता, जो कि उसकी की ओर सतृष्णभाव से देख रही है, तब वह प्रचण्ड अर्थात्—उग्रस्वभाववाली हो जाती है ॥१६॥

विशेषार्थ—जैमिनि[2] ने भी यही उल्लेख किया है ।

---

१. तथा च नारदः—शिथिलं पाणिग्रहणं स्यात्कन्यावरयोर्यदा । परिभूयते तदा भर्ता कान्तया तत्प्रभावतः ॥१॥

२. तथा च जैमिनिः—मुखं न वीक्षते भर्ता वेदिमध्ये व्यवस्थितः । कन्याया वीक्षमाणाया प्रचण्डा सा भवेत्तदा ॥१॥

नवावधू द्वारा अनादृत होने का अवसर—

सह शयने तूष्णीं भवन् पशुवन्मन्येत ॥१७॥

अर्थ—नवा वधू के साथ सोते समय यदि वर चुपचाप रहता है अर्थात्—उसके साथ वार्तालाप व भोग विलास नहीं करता तो वह उसे पशु-सरीखा मूर्ख समझती है ॥१७॥

नवा वधू का द्वेषपात्र—

बलादाक्रान्ता जन्मविद्वेष्यो भवति ॥१८॥

अर्थ—यदि वर प्रारम्भ में ही अपनी नवावधू के साथ जबर्दस्ती काम-क्रीड़ा करने तत्पर होता है तो उसकी नवा वधू जन्मपर्यन्त उससे द्वेष करती रहती है ॥१८॥

नवावधू के प्रणयपात्र होने के उपाय—

धैर्यचातुर्यायत्तं हि कन्याविस्रम्भणम् ॥१९॥

अर्थ—कन्या को अपना विश्वास भाजन एवं प्रणयपात्र बनाना वर की धीरता और चतुरता के अधीन होता है ॥१९॥

विवाह संबंध के योग्य गुण—

समविभवाभिजनयोरसमगोत्रयोश्च विवाह सम्बन्धः ॥२०॥

अर्थ—एक सरीखे ऐश्वर्यशाली और कुलीनता वाले किन्तु भिन्न भिन्न गोत्रवाले वरकन्याओं में विवाह सबंध होना उचित है ॥२०॥

तीन सूत्रों में विवाह-योग्य गुण न होने का दुष्परिणाम—

महतः पितुरैश्वर्यादल्पमवगणयति ॥२१॥

अर्थ—जब धनाढ्य पिता की कन्या दरिद्र वर को प्राप्त करती है तो वह अपने समृद्धिशाली पिता के ऐश्वर्य से उन्मत्त होकर अपने दरिद्र पति को नीचा गिनने लगती है ॥२१॥

अल्पस्य कन्या पितुर्दौस्थ्यं महता कष्टेन विज्ञायते ॥२२॥

अर्थ—यदि कन्या का पिता स्वल्पधनी और वर विशेष धनाढ्य हुआ तो कन्या के मानसिक दुःख का यथार्थ अनुभव वर को विशेष कठिनाई से होता है ॥२२॥

अल्पस्य महता सह संव्यवहारे महान् व्ययोऽल्पश्चायः ॥२३॥

अर्थ—साधारण व्यक्ति का धनाढ्य व्यक्ति के साथ विवाह संबंध होने से व्यय अधिक और आय कम होती है ॥२३॥

वंश और चरित्र से अशुद्ध कन्या का अङ्गीकार करना श्रेष्ठ नहीं—

वरं वेश्यायाः परिग्रहो नाविशुद्धकन्यायाः परिग्रहः ॥२४॥

अर्थ—वेश्या को अङ्गीकार करना अच्छा है किन्तु वंश और चरित्र से अशुद्ध कन्या का वरण करना अच्छा नहीं है ॥२४॥

कन्या का नीच कुलवाले वर के साथ विवाह करना अनुचित—

वरं जन्मनाशः कन्यायाः नाकुलीनेष्ववक्षेपः ॥२५॥

अर्थ—कन्या का पैदा होते ही मर जाना उत्तम है, परन्तु उसका नीच कुलवाले वर के साथ विवाह करना उत्तम नहीं है ॥२५॥

धनाढ्य व कृपण पिता के धन से कन्या को कोई लाभ नहीं—

अदातरि समृद्धेऽपि किं कुर्युरुपजीविनः । किंशुके किं शुकाः कुर्युः फलितेऽपि बुभुक्षिताः* ॥२६॥

अर्थ—जिसप्रकार किंशुक (टेसू) वृक्ष के फलशाली होनेपर भी उससे तोते लाभ नहीं उठा सकते, क्योंकि वे भूखे रहते हैं उसीप्रकार धनिक व कृपण मनुष्य के धन से भी सेवकों को कोई लाभ नहीं होसकता। प्रसङ्ग के अनुरूप अभिप्राय यह है कि धनाढ्य होनेपर भी कृपण पिता के प्रचुर धन से कन्या लाभ नहीं उठा सकती ॥२६॥

कन्या के सन्देह स्थान की अवधि—

सम्यग्वृत्ता कन्या तावत्सन्देहास्पदं यावन्न पाणिग्रहः ॥२७॥

अर्थ—कन्या सदाचारिणी भी है तथापि तब तक सन्देह का स्थान वनी रहती है जब तक कि उसका विवाह संस्कार नहीं होजाता ॥२७॥

पुनर्विवाह में स्मृतिकारों की मान्यता—

विकृतप्रत्यूढापि पुनर्विवाहमर्हतीति स्मृतिकाराः ॥२८॥

अर्थ—स्मृतिकारों का मत है कि संयोग-वश विकृत अर्थात्—अन्धे, लूले, लगड़े-आदि विकृत अंगवाले पुरुष के साथ विवाहित कन्या पुनर्विवाह के योग्य होती है ॥२८॥

अनुलोम विवाह सम्बन्ध—

आनुलोम्येन चतुस्त्रिद्विवर्णाः कन्याभाजनाः ब्राह्मणक्षत्रियविशः ॥२९॥

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये अनुलोम क्रम से अर्थात्—ब्राह्मण, चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) की कन्याओं से और क्षत्रिय तीनों वर्ण (क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) की कन्याओं से और वैश्य दोनों वर्ण (वैश्य और शूद्र) की कन्याओं से विवाह कर सकता है ॥२९॥

मामा की पुत्री से विवाहसम्बन्ध—

देशापेक्षो मातुलसम्बन्धः ॥३०॥

अर्थ—मामा की पुत्री के साथ विवाह करना देश की प्रथा के अधीन है। अर्थात्—जिस देश में मामा की पुत्री का विवाह सम्बन्ध प्रचलित है, वहाँ उसे योग्य माना जाता है सर्वत्र नहीं ॥३०॥

विवाह का उद्देश्य या फल—

धर्मसन्ततिरनुपहता रतिर्गृहवार्तासुविहितत्वमाभिजात्याचारविशुद्धिर्देवद्विजातिथिबान्धवसत्कारानवद्यत्वं च दारकर्मणः फलं ॥३१॥

अर्थ—धर्म परम्परा का अक्षुण्ण चलते रहना अथवा धार्मिक सज्जाति सन्तान का लाभ होना, कामोपभोग में वाधा न आना, गृह के कार्यों का सुव्यवस्थित रूप से होना, कुलीनता और आचार-व्यवहार में शुद्धि का होना, देव, ब्राह्मण, अतिथि और बन्धुजनों के सन्मान में त्रुटि न होना ये सब विवाह के फल हैं ॥३१॥

---

*. मदं मु० मू० प्रतितः संगृहीतं—सम्पादक

यथार्थ गृह का लक्षण—

गृहिणी गृहमुच्यते न पुनः कुड्यकटसंघातः ।।३२।।

अर्थ—गृहिणी (धर्मपत्नी) का नाम गृह है न कि ईंट-पत्थर और लकड़ी के संघात का ।।३२।।

कुलवधू की रक्षा के उपाय—

गृहकर्मविनियोगः परिमितार्थत्वमस्वातंत्र्यं सदाचारः मातृव्यंजनस्त्रीजनावरोध इति कुलवधूनां रक्षणोपायः ।।३३।।

अर्थ—गृह के कार्यों में लगाये रखना, सीमित धन देना, अधिक स्वच्छन्दता न होने देना, नीति व सदाचार की शिक्षा देते रहना और बड़ी वृद्ध स्त्रियों के मध्य रोक रखना अर्थात्—अन्यत्र न जाने देना ये सब कुलवधुओं की सुरक्षा के उपाय हैं ।।३३।।

दो सूत्रों में वेश्यासेवन का त्याग और उनके कुलागत कार्य—

रजकशिलाकुर्कुरखर्परसमा हि वेश्याः कस्तास्वभिजातोऽभिरज्येत ।।३४।।

अर्थ—वेश्याएँ धोबी की शिला-सरीखीं और कुत्ते के भोजनार्थ रक्खे हुए मिट्टी के खप्पड़-सरीखीं सर्व-साधारण होती हैं, उनमें कौन कुलीन पुरुष अनुराग करेगा ? अर्थात्—कोई कुलीन और वंशवैभव का अभिमानी पुरुष वेश्यागामी नहीं होगा ।।३४।।

दानेदौर्भाग्यं सत्कृतौ परोपभोग्यत्वं आसक्तौ परिभवो मरणं वा महोपकारेऽप्यनात्मीयत्वं बहुकालसंबन्धेऽपि त्यक्तानां तदेव पुरुषान्तरगामित्वमिति वेश्यानां कुलागतो धर्मः ।।३५।।

अर्थ—वेश्याओं के निम्नप्रकार कुलपरम्परा से चले आए कर्तव्य हैं—प्रेमी के दान और सन्मान से कभी सन्तुष्ट न होना, अनुरक्त पुरुषों द्वारा सन्मानित होने पर भी दूसरों से सम्भोग करना, उनमें अत्यन्त आसक्ति होने पर या तो तिरस्कृत होना अथवा मरण को प्राप्त करना, प्रेमियों द्वारा महान् उपकार किये जाने पर भी उनके प्रति स्वल्प भी आत्मीयता प्रदर्शित न करना और अनुरक्त पुरुषों के साथ बहुत समय तक प्रेम संबंध रहने पर भी उनके द्वारा छोड़ दी जानेपर तत्काल ही अन्य पुरुष से रतिविलास कर लेना ।।३५।।

इति विवाह-समुद्देशः ।

३२. प्रकीर्णक-समुद्देशः

प्रकीर्णक का लक्षण—

समुद्र इव प्रकीर्णकसूक्तरत्नविन्यासनिबन्धनं प्रकीर्णकं ।।१।।

अर्थ—जिसतरह समुद्र में विशाल रत्न-राशि यहाँ वहाँ बिखरी हुई होती है उसीतरह प्रकीर्णक काव्य-समुद्र में भी विभिन्न प्रसङ्गों के उपयोगी सुभाषित रत्नों का विन्यास पाया जाता है, उसे 'प्रकीर्णक' कहते हैं ।।१।।

राजा या महामात्य का लक्षण—

वर्णपदवाक्यप्रमाणप्रयोगनिष्णातमतिः सुमुखः सुव्यक्तो मधुरगम्भीरध्वनिः प्रगल्भः

प्रतिभावान् सम्यगूहापोहावधारणगमकशक्तिसम्पन्नः संप्रज्ञातसमस्तलिपिभाषावर्णाश्रमसमयस्वपरव्यवहारस्थितिराशुलेखनवाचनसमर्थश्चेति सान्धिविग्रहिकगुणाः ॥२॥

अर्थ—सान्धिविग्रहिक अर्थात्—सन्धि और युद्ध के विषय में परामर्श देनेवाले राजा या प्रधान अमात्य में निम्न गुण होने चाहिए। जो वर्ण, पद और वाक्य अर्थात्—व्याकरण, और तर्कशास्त्र के प्रयोग में परिपक्व बुद्धि-युक्त हो, स्पष्ट अक्षरों का वक्ता, स्पष्ट अर्थवाले वाक्यों का प्रयोग करनेवाला, मधुर व गम्भीर है वाणी जिसकी, धृष्ट, प्रतिभाशाली, योग्य-अयोग्य के ज्ञान को हृदय में धारण करने की शक्ति से सम्पन्न, समस्त लिपि, भाषा, चारों वर्णों व आश्रमों के आचार-विचार, दर्शनशास्त्र, अपने तथा पर के व्यवहार में कुशल तथा जो शीघ्र लिखने और पढ़ने की कला में समर्थ हो ॥२॥

विरक्त के लक्षण—

कथाव्यवच्छेदो व्याकुलत्वं मुखे वैरस्यमनवेक्षणं स्थानत्यागः साध्वाचरितेऽपि दोषोद्भावनं विज्ञप्ते च मौनमक्षमाकालयापनमदर्शनं वृथाभ्युपगमश्चेति विरक्तलिंगानि ॥३॥

अर्थ—जो व्यक्ति अपने प्रति या कथा के प्रति विरक्त हो, उसके निम्नप्रकार लक्षण होते है—कथा भङ्ग करना, अर्थात्—जो कथा को ध्यानपूर्वक न सुने अथवा चलती हुई बातचीत को बीच में से काट देवे या न सुने, जो कथा सुनता हुआ भी व्याकुल हो जाय, जिसकी मुखाकृति उस समय म्लान होजाय, जो वक्ता के सामने दृष्टिपात न करता हो, जिस स्थान पर बैठा हो वहां से उठकर दूसरी जगह चला जाय, अच्छे कार्यों में भी दोष निकालता हो, कुछ प्रश्न करने पर मौन होजाना, उत्तर देने में असमर्थ होकर व्यर्थ समय बिताना, अथवा मुख न दिखाना, और बात स्वीकार करके उसे पूरा न करना ॥३॥

अनुरक्त के लक्षण—

दूरादेवेक्षणं, मुखप्रसादः, संप्रश्नेष्वादरः, प्रियेषु वस्तुषु स्मरणं, परोक्षे गुणग्रहणं, तत्परिवारस्य सदानुवृत्तिरित्यनुरक्तलिंगानि ॥४॥

अर्थ—अपने प्रति श्रद्धालु अनुरागी व्यक्ति में निम्न प्रकार के लक्षण होते हैं—जो अपने को दूर से ही देखने लगे, अपने को देखकर जिसका मुखकमल विकसित होजाय, प्रश्न करनेपर विशेष आदर के साथ सुनना और उत्तर देना, अपने लिए की गईं प्रिय बातों (उपकार-आदि) का स्मरण करना, परोक्ष में गुण-कीर्तन करना और सदा उसके परिवारवालों के अनुकूल व्यवहार करना अर्थात्—विनयशील होना ॥४॥

दो सूत्रों में काव्य के गुण और दोष—

श्रुतिसुखत्वमपूर्वाविरुद्धार्थातिशययुक्तत्वमुभयालंकारसम्पन्नत्वमन्यूनाधिकवचनत्वमतिव्यक्तान्वयत्वमिति काव्यस्य गुणाः ॥५॥

अथ—काव्य के गुण निम्न प्रकार हैं—जो सुनने में सुखप्रद हो, जो नवीन और विरोध-रहित (निर्दोष) अर्थ के अतिशय से युक्त हो, जो शब्दालंकार और अर्थालङ्कार से युक्त हो, जो न न्यून न अधिक वचनों के प्रयोग से युक्त हो, जो अत्यन्त स्फुट पद तथा वाक्य-संबंध से युक्त हो अथवा जिसका अन्वय अति स्पष्ट हो अर्थात्—जो दूरान्वयी न हो ॥५॥

अतिपरुषवचनविन्यासत्वमनन्वितगतार्थत्वं दुर्बोधानुपपन्नपदोपन्यासमयथार्थयतिविन्यासत्वमभिधानाभिधेयशून्यत्वमिति काव्यस्य दोषाः ॥६॥

अर्थ—काव्य के दोष निम्नप्रकार हैं—अत्यन्त कर्कश वाक्य रचना, असम्बद्ध और कहे हुए अर्थ की पुनरावृत्ति करना, कठिनता से समझ में आने योग्य और व्याकरण से सिद्ध न होनेवाले पदों का प्रयोग करना, अनुचित स्थानों पर यति अर्थात्—विराम का प्रयोग करना और कोश-आदि में कहे हुए शब्दों के प्रयोग से शून्य होना ॥६॥

कवियों के भेद—

वचनकविरर्थकविरुभयकविश्चित्रकविर्वर्णकविर्दुष्करकविररोचकी सम्मुखाभ्यवहारी चेत्यष्टौ कवयः ॥७॥

अर्थ—कवि आठप्रकार के होते हैं—वचनकवि अर्थात्—जो आचार्य श्री वीरनन्दी और महाकवि कालिदास-आदि के समान प्रसाद गुण-युक्त ललित पदों द्वारा काव्य रचना करता हो। अर्थकवि अर्थात्—जो महाकवि हरिश्चन्द्र और भारवि कवि के सदृश गूढार्थ-युक्त काव्य की रचना करता हो। उभयकवि अर्थात्—जो भगवज्जिनसेनाचार्य या माघकवि के समान ललितपदशालिनी और गूढार्थवाली काव्यमाला का गुम्फन करता हो। चित्रकवि अर्थात्—चित्रालंकार-युक्त काव्य रचयिता, वर्णकवि अर्थात्—शब्दाडम्बर-युक्त काव्य-रचना करनेवाला, दुष्कर कवि अर्थात्—चाणिक्य-आदि कवियों के समान अत्यन्त क्लिष्ट कविता करनेवाला, अरोचकी अर्थात्—जिसकी काव्यरचना रुचिकर न हो, और सम्मुखाभ्यवहारी अर्थात्—श्रोताओं के समक्ष ही कविता बनानेवाला आशुकवि ॥७॥

कवि होने का फल अथवा कवियों को आश्रय देने का फल—

मनः प्रसादः, कलासु कौशलं, सुखेन चतुर्वर्गविषया व्युत्पत्तिरासंसारं च यश इति कविसंग्रहस्य फलं ॥८॥

अर्थ—राजा को अपनी सभा में कवियों का संग्रह करने से निम्नप्रकार लाभ होते हैं—कवियों की कविताएँ सुनने से मानसिक प्रसन्नता होती है, विभिन्न प्रकार की कलाओं में निपुणता प्राप्त होती है, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का ज्ञान सुखपूर्वक होता है और संसार पर्यन्त उस राजा की स्थायी कीर्ति कवि की कविता के माध्यम से होती है। अथवा कवि होने से उक्त गुण सम्पत्ति प्राप्त होती है ॥८॥

तीन सूत्रों में गीत, वाद्य और नृत्य के गुण—

आलप्तिशुद्धिर्माधुर्यातिशयः प्रयोगसौन्दर्यमतीवमसृणता स्थानकम्पितकुहरितादिभावो रागान्तरसंक्रान्तिः परिगृहीतरागनिर्वाहो हृदयग्राहिता चेति गीतस्य गुणाः ॥९॥

अर्थ—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद इन सात स्वरों का आलाप शुद्ध हो, जो श्रोत्रेन्द्रिय को अत्यन्त प्रिय प्रतीत हो अर्थात्—अत्यधिक मधुर हो, पद-रचना में लालित्य हो, अत्यन्त स्निग्धता और कोमलता हो, जिसमें त्रिमात्रावाले षड्ज और ऋषभ-आदि स्वरों का विस्तार (आरोह) व संकोच (अवरोह) वर्तमान हो अर्थात्—ऊँचे स्वरपूर्वक गा सकने योग्य धुन में गाना और ध्वनि-संकोच करना, दूसरे राग में सरलतापूर्वक परिवर्तन किया जाना, जिस राग में गीत प्रारम्भ किया गया हो उसी राग में उसका निर्वाह हो एवं हृदय-ग्राहिता का होना ये सब गीत के गुण हैं ॥९॥

समत्वं तालानुयायित्वं गेयाभिनेयानुगतत्वं श्लक्ष्णत्वं प्रव्यक्तयति प्रयोगत्वं श्रुतिसुखावहत्वं चेति वाद्यगुणाः ॥१०॥

अर्थ—समपर बजना अर्थात्—जो कर्कशता-शून्य हों, पाँच प्रकार के ताल के अनुरूप बजना, गीत और नृत्य के अनुकूल बजनेवाला, वाद्यसंबंधी दोषों से रहित अर्थात्—जो निर्दोष हो, जिसमें यति (विश्रान्ति) यथोचित और प्रकटरीति से पाई जाय और जिसके श्रवण से श्रोत्रेन्द्रिय के लिए सुख प्रतीत हो ये वाद्य के गुण हैं ॥१०॥

दृष्टिहस्तपादक्रियासु समसमायोगः संगीतकानुगतत्वं सुश्लिष्टललिताभिनयाङ्गहार-प्रयोगभावो रसभाववृत्तिलावण्यभाव इति नृत्यगुणाः ॥११॥

अर्थ—जिसमें नेत्र, हस्त, और पैरों की संचालन-क्रिया का एक काल में मिलाप ताल और लय के अनुरूप हो, जो संगीत का अनुसरण करनेवाला हो, जिसमें गायनाचार्य द्वारा सूचित किये हुए सघन अर्थात्—बिना विच्छेदवाला और ललित अभिनय (नृत्य) द्वारा अङ्गों के विक्षेप का आचरण अभिव्यक्त किया गया हो, और जिसमें शृंगार-आदि नवरस, आलम्बन भाव और उद्दीपनभाव एवं कौशिकी-आदि वृत्तियों के अनुरूप सौन्दर्य प्रतीत हो, ये सब नृत्य के गुण हैं ॥११॥

महापुरुष का लक्षण—

स खलु महान् यः खल्वार्तोऽपि न दुर्वचनं ब्रूते ॥१२॥

अर्थ—निस्सन्देह वही महापुरुष है, जो कि दुःखी होनेपर भी किसी के सम्मुख दुर्वचनों का प्रयोग नहीं करता ॥१२॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी महापुरुष का यही लक्षण किया है।

निन्द्य गृहस्थ—

स किं गृहाश्रमी यत्रागत्यार्थिनो न भवन्ति कृतार्थाः ॥१३॥

अर्थ—जिसके पास आकर याचक लोग सन्तुष्ट नहीं होते वह गृहस्थ निन्द्य है ॥१३॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] ने भी याचकों के सन्मान का निरूपण किया है।

तात्कालिक सुख चाहनेवालों के कार्य—

ऋणग्रहणेन धर्मः सुखं सेवा वणिज्या च तादात्विकानां नायतिहितवृत्तीनां ॥१४॥

अर्थ—तात्कालिक क्षणिक सुख चाहनेवाले पुरुष ऋण लेकर दान-पुण्य-आदि धर्म, सांसारिक सुख (विवाह-आदि) का उपभोग एवं राजा का सन्मान और व्यापार करते हैं परन्तु जो भविष्य में यथार्थ सुख चाहते हैं वे ऐसा नहीं करते ॥१४॥

विशेषार्थ—गर्ग[3] ने भी तात्कालिक सुख चाहनेवालों के उक्त कार्यों का उल्लेख किया है।

ऋण लेकर दान देना अनुचित—

स्वस्य विद्यमानमर्थिभ्यो देयं नाविद्यमानं ॥१५॥

अर्थ—अपने पास जो वस्तु वर्तमान हो उसे ही याचकों के लिए देना चाहिए न कि अविद्यमान वस्तु ऋण लेकर देनी चाहिए ॥१५॥

१. तथा च शुक्रः—दुर्वाक्यं नैव यो ब्रूयादत्यर्थं कुपितोऽपि सन्। स महत्त्वमवाप्नोति समस्ते धरणीतले ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—तृणानि भूमिरुदकं वाचा चैव तु सूनृता। दरिद्रैरपि दातव्यं समासन्नस्य चार्थिनः ॥१॥

३. तथा च गर्गः—धर्मकृत्यं ऋणप्राप्त्या सुखं सेवा परं परं। तादात्विकर्विनिर्दिष्टं तद्धनस्य न चापरं ॥१॥

विशेषार्थ—गर्ग[1] का उद्धरण भी समानार्थक है।

ऋण देनेवाले की हानि—

ऋणदातुरासन्नं फलं परोपास्तिः कलहः परिभवः प्रस्तावेऽर्थालाभश्च ॥१६॥

अर्थ—कर्जा देनेवाले धनाढ्य पुरुष को तत्काल यही फल मिलता है कि उसे दूसरे की उपासना करनी पड़ती है, अर्थात्—जिस व्यक्ति के लिए ऋण दिया है, उसके यहाँ जाकर मांगना पड़ता है, कलह होता है, ऋण लेनेवाले के द्वारा तिरस्कार होता है और अवसर पर धन नहीं मिलता ॥१६॥

विशेषार्थ—अत्रि[2] ने भी ऋणदाता के विषय में यही कहा है।

ऋण लेनेवाले के स्नेह-आदि की अवधि—

अदातुस्तावत्स्नेहः सौजन्यं प्रियभाषणं वा साधुता च यावन्नार्थावाप्तिः ॥१७॥

अर्थ—कर्जा लेकर फिर उसे वापिस न देने का इच्छुक व्यक्ति, कर्जा देने वाले धनाढ्य से तभी तक स्नेह, सज्जनता, प्रियभाषण और सज्जनतापूर्ण व्यवहार रखता है जब तक कि उसे कर्जा नहीं मिल जाता ॥१७॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] का उद्धरण भी उक्त विषय में समानार्थक है।

तीन सूत्रों में सत्यासत्य का निर्णय—

तदसत्यमपि नासत्यं यत्र न सम्भाव्यार्थहानिः ॥१८॥

अर्थ—झूठ बोलकर भविष्य की किसी विशेष अर्थ-हानि को बचाया जा सके अथवा महान् कार्य सिद्ध हो सके तो वह झूठ, झूठ नहीं है ॥१८॥

विशेषार्थ—बादरायण[4] ने भी इसीप्रकार उल्लेख किया है।

प्राणवधे नास्ति कश्चिदसत्यवादः ॥१९॥

अर्थ—प्राण-घात के अवसर पर यदि झूठ बोलकर किसी निरपराध व्यक्ति के प्राणों की रक्षा की जा सके तो वह झूँठ झूठ नहीं है ॥१९॥

विशेषार्थ—व्यास[5] ने भी पाँच प्रकार के असत्य को अपातक (सत्य) कहा है।

अर्थाय मातरमपि लोको हिनस्ति किं पुनरसत्यं न भाषते ॥२०॥

अर्थ—दरिद्र पापी व्यक्ति धन के लिए माता का भी घात कर डालता है तब क्या वह धनार्थ मिथ्या-भाषण नहीं करता ? अतः धन के विषय में किसी पर विश्वास नही करना चाहिए चाहे वह अनेक प्रकार की शपथ भी करे ॥२०॥

विशेषार्थ—शुक्र[6] ने भी प्रस्तुत विषय का उल्लेख किया है।

---

१. तथा च गर्गः—अविद्यमानं यो दद्यादृणं कृत्वापि वल्लभः। कुटुम्बं पीड्यते येन तस्य पापस्य भाग्भवेत् ॥१॥

२. तथा च अत्रिः—उद्धारकप्रदातॄणां त्रयो दोषाः प्रकीर्तिताः। स्वार्थदानेन सेवा च युद्धं परिभवस्तथा ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—तावत्स्नेहस्य बन्धोऽपि ततः पश्चाच्च साधुता। ऋणकस्य भवेद्यावत्तस्य गृह्णाति नो धनम् ॥१॥

४. तथा च बादरायणः—तदसत्यमपि नासत्यं यदत्र परिगीयते। गुरुकार्यस्य हानिं च ज्ञात्वा नीतिरिति स्फुटम् ॥१॥

५. तथा च व्यासः—नासत्ययुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजा न विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारी पंचानृतान्याहुरपातकानि ॥१॥

६. तथा च शुक्रः—अपि स्याद्यदि मातापि तां हिनस्ति जनोऽधनः। किं पुनः कोशपानाद्यं तस्मादर्थे न विश्वसेत् ॥१॥

भाग्याधीन पदार्थ—

सत्कला सत्योपासनं हि विवाहकर्म, दैवायत्तस्तु वधूवरयोर्निर्वाहः ॥२१॥

अर्थ—निस्सन्देह मानव को प्रशस्त कलाओं को प्राप्ति और सत्य भाषण में स्वाभाविक रुचि और कुलीन रूपवती कन्या से विवाह संबंध होना, ये वस्तुएँ भाग्याधीन प्राप्त हो जाती हैं। परन्तु वधू और वर का निर्वाह—अर्थात्—पुत्र-पौत्रादि का लाभ तो दैवाधीन है अर्थात्—भाग्य की अनुकूलता पर निर्भर होता है ॥२१॥

विशेषार्थ—गुरु[1] ने भी उक्त इष्ट सामग्री की प्राप्ति भाग्याधीन बताई है।

रति काल के अवसर पर कहे हुए पुरुष-वचनों की मीमांसा—

रतिकाले तन्नास्ति कामार्तो यन्न ब्रूते पुमान् न चैतत् प्रमाणं ॥२२॥

अर्थ—काम से पीड़ित पुरुष रति के अवसर पर अपनी प्रिया को प्रसन्न करने के लिए ऐसा कौन सा विषय है? जो नहीं कहता किन्तु वह सब प्रमाण नहीं होता। अर्थात्—कामी पुरुष को रतिकाल के समय अपनी प्रिया को तात्कालिक मधुर वचनों से अनुरक्त करना चाहिए ॥२२॥

विशेषार्थ—राजपुत्र[2] ने भी उक्त विषय का उल्लेख किया है।

दाम्पत्य प्रेम की अवधि—

तावत्स्त्रीपुरुषयोः परस्परं प्रीतिर्यावन्न प्रातिलोम्यं कलहो रतिकैतवं च ॥२३॥

अर्थ—दम्पतियों में तभी तक पारस्परिक प्रेम रहता है जब तक उनमें किसी कारण से परस्पर में प्रतिकूलता न हो, कलह न हो और रतिविलास में कुटिलता न हो ॥२३॥

विशेषार्थ—राजपुत्र[3] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

तादात्विकबलस्य कुतो रणे जयः प्राणार्थः स्त्रीषु कल्याणं वा ॥२४॥

अर्थ—जिस राजा के पास अस्थायी सेना है उसे युद्ध में विजयश्री किस प्रकार प्राप्त हो सकती है? तथा प्राणरक्षा की दृष्टि से स्त्रियों के प्रति किये गये श्रेयस्कर कार्यों (उपकारों) से प्राण-रक्षा नहीं हो सकती ॥२४॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] ने भी अल्प सैन्यवाले के विषय में उक्त उल्लेख किया है।

लोगों की विनयशीलता की सीमा—

तावत्सर्वः सर्वस्यानुनयवृत्तिपरो यावन्न भवति कृतार्थः ॥२५॥

अर्थ—जब तक लोग दूसरों के द्वारा कृतार्थ (अपनी प्रयोजनसिद्धि करनेवाले) नहीं होते तभी तक सभी लोग सभी के साथ विनय-शीलता दिखाते हैं, परन्तु प्रयोजन सिद्ध हो जानेपर कौन किसे पूँछता है? ॥२५॥

विशेषार्थ—व्यास ने[5] भी उक्त विषय का उल्लेख किया है।

---

१. तथा च गुरुः—विद्यापत्यं विवाहस्य दंपत्योश्चामिता रतिः। पूर्वकर्मानुसारेण सर्वं संपद्यते सुखं ॥१॥

२. तथा च राजपुत्रः—नान्यचिन्तां भजेन्नारीं पुरुषः कामपंडितः। यतो न दर्शयेद्भावं नैवं गर्भं ददाति च ॥१॥

३. तथा च राजपुत्रः—ईषत्कलहकौटिल्यं दम्पत्योर्जायते यदा। तथाकोशविदेहंगस्ताभ्यामेव परस्परं ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—तावन्मात्रो बलो यस्य नान्यत्सैन्यं करोति च। शत्रुभिर्हीनसैन्यः स लक्षयित्वा निपात्यते ॥१॥

५. तथा च व्यासः—सर्वस्य हि कृतार्थस्य मतिरन्या प्रवर्तते। तस्मात्सा देवकार्यस्य किमन्यैः पोषितैः विटैः ॥१॥

शरीर की क्षणभङ्गुरता—

सहसम्भवो देहोऽपि नामुत्र सहानुयायी किं पुनरन्यः* ॥२६॥

अर्थ—जब जीव के साथ उत्पन्न हुआ शरीर भी इसके साथ दूसरे भव में नहीं जाता तब क्या अन्य पदार्थ जा सकते हैं ? ॥२६॥

अनिष्ट का प्रतीकार—

अशुभस्य कालहरणमेव प्रतीकारः ॥२७॥

अर्थ—अशुभ व्यसनों को शान्त करने के लिए अर्थात्—दूर करने के लिए समय का बिता देना ही एकमात्र उपाय है ॥२७॥

विशेषार्थ—नारद[1] ने भी अशुभ वस्तु की शान्ति का उक्त उपाय बताया है।

स्त्रियों से लाभ—

पक्वान्नादिव स्त्रीजनाद्दाहोपशान्तिरेव प्रयोजनं किं तत्र रागविरागाभ्यां ॥२८॥

अर्थ—जिसप्रकार बुभुक्षित (भूखे) पुरुष को क्षुधा की निवृत्ति-हेतु पके हुए अन्न-भक्षण से प्रयोजन रहता है उसीप्रकार कामरूपी अग्नि से सन्तप्त हुए पुरुष को भी शारीरिक आताप (मैथुनेच्छा) को शान्त करने के लिए स्त्री से प्रयोजन रहता है, इसलिए उनमें आसक्ति और विरक्ति नहीं करनी चाहिए।

सारांश यह है कि स्त्रियों के प्रति माध्यस्थ्यभाव रखना ही श्रेयस्कर है ॥२८॥

विशेषार्थ—गौतम[2] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

साधारण मनुष्य से लाभ—

तृणेनापि प्रयोजनमस्ति किं पुनर्न पाणिपादवता मनुष्येण ॥२९॥

अर्थ—जब कि समय पर घास के तिनके से भी मनुष्य का दन्त-शुद्धि-आदि प्रयोजन सिद्ध होता है तब क्या हाथ-पैरवाले मनुष्य से उसका प्रयोजन सिद्ध नही होगा ? अतः सबसे मैत्रीभाव रखना चाहिए ॥२९॥

विशेषार्थ—विष्णुशर्मा[3] ने भी उक्त सिद्धान्त का समर्थन किया है।

लेख का अनादर करना अनुचित—

न कस्यापि लेखमवमन्येत, लेखप्रधाना हि राजानस्तन्मूलत्वात्सन्धिविग्रहयोः सकलस्य जगद्व्यापारस्य च ॥३०॥

अर्थ—किसी साधारण राजा के लेख की अवज्ञा (अनादर) नही करनी चाहिए। राजाओं के यहाँ लेख ही मुख्य होते है, उसी के आधार पर सन्धि और विग्रह का कार्य सम्पन्न होता है और समस्त संसार के कार्य भी लेख के माध्यम से होते है ॥३०॥

---

*. सूत्रमिदं मु० मू० प्रतितः संगृहीतं—सम्पादक

१. तथा च नारदः—अशुभस्य पदार्थस्य भविष्यस्य प्रशान्तये। कालातिक्रमणं मुक्त्वा प्रतीकारो न विद्यते ॥१॥

२. तथा च गौतमः—न रागो न विरागो वा स्त्रीणां कार्यो विचक्षणैः। पक्वान्नमिव तापस्य शान्तये स्याच्च सर्वदा ॥१॥

३. तथा च विष्णुशर्मा—दन्तस्य निष्कोषणकेन नित्यं, कर्णस्य कण्डूयनकेन चापि।
तृणेन कार्यं भवतीश्वराणां किं पादयुक्तेन नरेण न स्यात् ॥१॥

विशेषार्थ—गुरु[1] ने भी लेख के विषय में उक्त सिद्धान्त का समर्थन किया है।

युद्ध के विषय में नीतिकारों की मान्यता—

पुष्पयुद्धमपि नीतिवेदिनो नेच्छन्ति किं पुनः शस्त्रयुद्धं ॥३१॥

अर्थ—जब कि नीतिवेत्ता महापुरुष पुष्पों के द्वारा भी युद्ध करने की अभिलाषा नहीं करते तब शस्त्रों से युद्ध छेड़ने के विषय में तो कहना ही क्या है ? ॥३१॥

विशेषार्थ—विदुर[2] ने भी उक्त सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है।

स्वामी का लक्षण और उसकी विशेषता—

स प्रभुर्यो बहून् बिभर्ति किमर्जुनतरोः फलसम्पदा या न भवति परेषामुपभोग्या ॥३२॥

अर्थ—स्वामी वही है जो अनेकों का भरण-पोषण करता है और जो व्यक्ति धनाढ्य हो करके भी कृपणता-वश दूसरों का भरण-पोषण नहीं करता वह उसप्रकार निरर्थक और निन्द्य है जिसप्रकार दूसरों के द्वारा उपभोग में न आनेवाली अर्जुनवृक्ष की प्रचुर फलसम्पत्ति निरर्थक और निन्द्य होती है ॥३२॥

विशेषार्थ—व्यास[3] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

त्यागी का लक्षण—

मार्गपादप इव स त्यागी यः सहते सर्वेषां संबाधां ॥३३॥

अर्थ—जिसप्रकार मार्ग में स्थित हुआ वृक्ष पान्थों द्वारा किये हुए उपद्रव (पुष्प व फल तोड़ना-आदि) सहन करता हुआ हरा भरा रहता है उसीप्रकार सच्चा त्यागी भी अभ्यागतों व याचकों के लिए भोजन व वस्त्र-आदि का दान देकर उनके द्वारा दिये हुए कष्ट सहन करता हुआ प्रसन्न रहता है ॥३३॥

विशेषार्थ—गुरु[4] ने भी सच्चे त्यागी का यही लक्षण बताया है।

राजाओं का स्वरूप—

पर्वता इव राजानो दूरतः सुन्दरालोकाः ॥३४॥

अर्थ—राजा लोग उसप्रकार दूर से ही मनोज्ञ दर्शनवाले होते हैं जिसप्रकार पर्वत दूर से ही मनोज्ञ दर्शन वाले होते हैं ॥३४॥

विशेषार्थ—गौतम[5] ने भी उक्त विषय का उल्लेख किया है।

परदेश का स्वरूप—

वार्तारमणीयः सर्वोऽपि देशः ॥३५॥

अर्थ—सभी देश लोगों की बातचीत से मनोज्ञ प्रतीत होते हैं। निस्सन्देह परदेश में क्लेश होना स्वाभाविक है, अतः अपना देश छोड़कर अन्यत्र जाना उचित नहीं ॥३५॥

विशेषार्थ—रैभ्य[6] के उद्धरण में भी उक्त विषय का उल्लेख है।

---

१. तथा च गुरुः—लेखमुख्यो महीपालो लेखमुख्यं च चेष्टितं। दूरस्थस्यापि लेखो हि लेखोऽस्तो ह्यवमन्यते ॥१॥

२. तथा च विदुरः—पुष्पैरपि न योद्धव्यं किं पुनः निशितैः शरैः ॥½॥

३. तथा च व्यासः—स्वल्पवित्तोऽपि यः स्वामी यो बिभर्ति बहून् सदा। प्रभूतफलयुक्तोऽपि सम्पदाप्यर्जुनस्य च ॥१॥

४. तथा च गुरुः—यथामार्गतरुस्तद्वत्सहते य उपद्रवं। अभ्यागतस्य लोकस्य स त्यागी नेतरः स्मृतः ॥१॥

५. तथा च गौतमः—दुरारोहा हि राजानः पर्वता इव चोन्नताः। दृश्यन्ते दूरतो रम्याः समीपस्थाश्च कष्टदाः ॥१॥

६. तथा च रैभ्यः—दुर्भिक्षाढ्येऽपि दुःस्थेऽपि दूराजसहितोऽपि च। स्वदेशं च परित्यज्य नान्यस्मिन्निव (च्छु) गे व्रजेत् ? ॥१॥

दरिद्र और बन्धु-हीन के लिये समृद्धिशाली भूमि—

अधनस्याबान्धवस्य च जनस्य मनुष्यवत्यपि भूमिर्भवति महाटवी ॥३६॥

अर्थ—निर्धन (दरिद्र) और बन्धु-हीन पुरुष के लिए अनेक मनुष्यों से भरी हुई भी यह पृथिवी महाटवी-सरीखी कष्टदायक प्रतीत होती है ॥३६॥

विशेषार्थ—रैभ्य[1] ने भी यही कहा है।

धनाढ्य के लिए वनस्थली भी सुखप्रद—

श्रीमतो ह्यरण्यान्यपि राजधानी ॥३७॥

अर्थ—धनाढ्य व्यक्तियों के लिए वनस्थली भी राजधानी-सरीखी सुखप्रद होजाती है ॥३७॥

निकटवर्ती विनाश वाले व्यक्ति की परिभाषा—

सर्वस्याप्यासन्नविनाशस्य भवति प्रायेण मतिर्विपर्यस्ता ॥३८॥

अर्थ—विनाश काल के निकट आने पर प्रायः सभी की बुद्धि विपरीत हो जाती है, क्योंकि निकट मृत्यु वाला व्यक्ति हितैषियों की निन्दा और शत्रुओं की प्रशंसा-आदि विपरीत कार्य करता है, जिससे ज्ञान होता है कि इसका विनाश निकटवर्ती है ॥३८॥

विशेषार्थ—गर्ग[2] ने भी निकट मृत्यु वाले की यही परिभाषा की है।

दो सूत्रों में भाग्यशाली का माहात्म्य—

पुण्यवतः पुरुषस्य न क्वचिदप्यस्ति दौःस्थ्यं ॥३९॥

अर्थ—भाग्यशाली पुण्यवान् पुरुष को कभी भी आपत्तियाँ नहीं होतीं ॥३९॥

दैवानुकूलः कां सम्पदं न करोति विघटयति वा विपदं ॥४०॥

अर्थ—जब दैव (भाग्य) अनुकूल होता है, तब कौन-सी सम्पत्ति सुलभ नहीं होती ? और कौन विपत्ति दूर नहीं होती ? ॥४०॥

विशेषार्थ—हारीत[3] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

कर्म चाण्डालों के भेद—

असूयकः पिशुनः कृतघ्नो दीर्घरोष इति कर्मचाण्डालाः ॥४१॥

अर्थ—दूसरों की निन्दा करनेवाला, चुगलखोर, कृतघ्न अर्थात् दूसरों का उपकार न माननेवाला गुन-मेटा, और दीर्घ काल तक क्रोध करनेवाला ये चार कर्म से चाण्डाल है ॥४१॥

विशेषार्थ—गर्ग[4] ने भी उक्त चार को कर्मचाण्डाल माना है।

पैतृक सम्पत्ति के अधिकारी छह पुत्र—

औरसः क्षेत्रजो दत्तः कृत्रिमो गूढोत्पन्नोऽपविद्ध एते षट् पुत्रा दायादाः पिण्डदाश्च ॥४२॥

---

१. तथा च रैभ्यः—निर्धनस्य मनुष्यस्य बान्धवै रहितस्य च। प्रभूतैरपि संकीर्णा जनैर्भूमिर्महाटवी ॥१॥

२ तथा च गर्गः—सर्वेष्वपि हि कृत्येषु वैपरीत्येन वर्तते। यदा॰मांस्तदा ज्ञेयो मृत्युना सोऽवलोकित. ॥१॥

३. तथा च हारीतः—यस्य स्यात् प्राक्तनं कर्म शुभं मनुजधर्मणः। अनुकूलं तदा तस्य सिद्धिं यान्ति समुद्धयः ॥१॥

४. तथा च गर्गः—पिशुनो निंदकश्चैव कृतघ्नो दीर्घरोषकृत्। एते तु कर्मचाण्डाला जात्या चैव तु पंचम. ॥१॥

अर्थ—अपनी विवाहिता धर्मपत्नी से उत्पन्न हुआ औरस पुत्र, अपनी विवाहिता स्त्री से दूसरे स्थान में उत्पन्न हुआ क्षेत्रज, दत्तक पुत्र, कृत्रिम पुत्र अर्थात् जो युद्ध द्वारा जीता गया हो अथवा जो संकट से मुक्त कर संरक्षण किया गया हो, गूढोत्पन्न अर्थात् जो गूढ गर्भ से उत्पन्न हुआ हो, और अपविद्ध अर्थात् जो पति के अन्यत्र चले जाने पर या मरने के बाद उत्पन्न हुआ हो, ये छह प्रकार के पुत्र दायाद अर्थात् पैतृक सम्पत्ति के अधिकारी और पिता के स्वर्गारोहण के पश्चात् उसकी स्मृति में पिण्डदान करनेवाले होते हैं ॥४२॥

विशेषार्थ—किसी नीतिवेत्ता[1] के तीन उद्धरणों में भी उक्त छह प्रकार के पुत्रों का उल्लेख है।

छह प्रकार के अधम पुत्र—

कानीनः सहोढः क्रीतः पौनर्भवः स्वयंदत्तः शौद्रश्चेति षट् पुत्राः न दायादा नापि पिण्डदाश्च* ॥४३॥

अर्थ—कन्या से उत्पन्न हुआ कानीन, सहोढ अर्थात्—दायाद, क्रीत अर्थात्—पैसे से खरीदा हुआ, पौनर्भव अर्थात्—विधवा से उत्पन्न हुआ, स्वयंदत्त और शूद्र स्त्री से उत्पन्न हुआ ये छह प्रकार के पुत्र अधम होने के कारण न पैतृक सम्पत्ति के अधिकारी होते है और न पितरो को पिण्डदान करनेवाले होते है ॥४३॥

दायभाग के नियम—

देशकालकुलापत्यस्त्रीसमापेक्षो दायादविभागोऽन्यत्र यतिराजकुलाभ्यां ॥४४॥

अर्थ—आचार्य-कुल और राजवश को छोड़कर दायभाग (पैतृक सम्पत्ति प्राप्त करना) के अधिकारियों का निर्णय देश, काल, वश, पुत्र और स्त्री की दृष्टि से होता है। अर्थात्—समस्त देशो मे व सभी वंशो मे दायभाग के अधिकारी एक-सरीखे नही होते।

उदाहरणार्थ—जैसे केरल देश में पुत्र की मौजूदगी में भी भागिनेय (भानेज) पैतृक सम्पत्ति पाने का अधिकारी होता है दूसरा नही। किन्हीं-किन्ही वंशों में दुहिता (लड़की का लड़का) दायभाग का अधिकारी होता है। इत्यादि। परन्तु आचार्य-कुल में उसका प्रधान शिष्य (दीक्षित साधु) ही आचार्य पदवी का अधिकारी होगा अन्य नही। इसीप्रकार राज-वंश में भी पट्टरानी का ही ज्येष्ठ पुत्र राज्यपद का अधिकारी होगा, दूसरा नही ॥४४॥

विशेषार्थ—गुरु[2] ने भी देश-कालादि की अपेक्षा दायभाग का विश्लेषण किया है।

अति परिचय का दुष्परिणाम—

अतिपरिचयः कस्यावज्ञां न जनयति ॥४५॥

अर्थ—अत्यधिक संसर्ग से किसका अनादर नही होता? ॥४५॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[3] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

---

१ तथा चोक्तं—औरसो धर्मपत्नीतः सजातः पुत्रिकासुतः। क्षेत्रजः क्षेत्रजातः स्वगोत्रेणेतरेण वा ॥१॥
दद्यान्माता पिता बन्धुः स पुत्रो दत्तसंज्ञितः। कृत्रिमो मोचितो बन्धात् क्षत्रयुद्धेन वा जितः ॥२॥
गृहप्रच्छन्नकोत्पन्नो गूढजस्तु सुतः स्मृतः। गते मृतेऽथवोत्पन्नः सोऽपविद्धः सुतः पतौ ॥३॥

* सूत्रमिदं मु० मू० प्रतितः सकलितं—सम्पादक।

२. तथा च गुरुः—देशाचाराश्रयाचारौ स्त्र्यपेक्षासमन्वितौ ? देयो दायादभागस्तु तेषां चैवानुरूपतः ॥१॥
एकस्मै दीयते सर्वं विभवं रूपसंभवं। यः स्यादद्भुतस्तु सर्वेषां तथा च स्यात्समुद्भवः ॥२॥

३. तथा च वल्लभदेवः—अतिपरिचयादवज्ञा भवति विशिष्टेऽपि वस्तुनि प्रायः। लोकः प्रयागवासी कूपे स्नानं समाचरति ॥१॥

सेवक के अपराध का दुष्परिणाम—

भृत्यापराधे स्वामिनो दण्डो यदि भृत्यं न मुञ्चति ॥४६॥

अर्थ—यदि नौकर अपराध करे तो उसका स्वामी दण्ड का पात्र है, यदि वह अपने अपराधी नौकर को नहीं निकालता ॥४६॥

विशेषार्थ—गुरु[1] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

महत्ता का दूषण—

अलं महत्तया समुद्रस्य यः लघु शिरसा वहत्यधस्ताच्च नयति गुरुम् ॥४७॥

अर्थ—समुद्र की महत्ता व्यर्थ है, जो कि तृणादि छोटी वस्तु को अपने शिर पर धारण करता है अर्थात्—जो सारहीन वस्तु को ऊपर तैरने देता है और भारी सार-युक्त वस्तु को डुबो देता है।

आचार्य प्रवर का अभिप्राय यह है—कि उसीप्रकार साधारण भृत्यों को सन्मानित करने वाले और महान् अधिकारियों की अवज्ञा करनेवाले स्वामी की महत्ता भी समुद्र-सरीखी व्यर्थ है ॥४७॥

विशेषार्थ—विष्णुशर्मा[2] ने भी उक्त विषय का उल्लेख किया है।

रतिविलास-आदि की वेला में कर्तव्य—

रतिमंत्राहारकालेषु न कमप्युपसेवेत ॥४८॥

अर्थ—मैथुनकर्म, मन्त्रणा और भोजन के समय किसी व्यक्ति को समीप में नहीं रहने देना चाहिए ॥४८॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] ने भी उक्त विषय का इसीप्रकार उल्लेख किया है।

तिर्यञ्च जाति के पशु-पक्षियों पर विश्वास करना अनुचित—

सुष्ठु परिचितेष्वपि तिर्यक्षु विश्वासं न गच्छेत् ॥४९॥

अर्थ—तिर्यञ्च जाति के पशु-पक्षियों पर विश्वास नहीं करना चाहिए, चाहे वे अच्छी तरह से परिचित भी हों ॥४९॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[4] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

मदोन्मत्त हाथी पर आरोहण करने का दुष्परिणाम—

मत्तवारणारोहिणो जीवितव्ये सन्देहो निश्चितश्चापायः ॥५०॥

अर्थ—मतवाले हाथी पर आरोहण करनेवाले मानव को जीवन में सन्देह रहता है और यदि वह भाग्यवश जीवित बच जाता है तो निश्चित रूप से उसके शारीरिक अङ्गोपाङ्ग भंग हो जाते है ॥५०॥

विशेषार्थ—गौतम[5] ने भी मतवाले हाथी पर आरोहण करने से उक्त हानि का निर्देश किया है।

---

१. तथा च गुरुः—यः स्वामी न त्यजेद्भृत्यमपराधे कृते सति। तत्तस्य पतितो दण्डो दुष्टभृत्यसमुद्भवः ॥१॥

२. तथा च विष्णुशर्मा—स्थानेष्वेव नियोज्यन्ते भृत्याश्च निजपुत्रकाः। न हि चूडामणिं पादे कश्चिदेवात्र संन्यसेत् ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—रतिमंत्राशनविधं कुर्वाणो नोपगम्यते। अभीष्टतमश्च लोकोऽपि यतो द्वेषमवाप्नुयात् ॥१॥

४. तथा च वल्लभदेवः—सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः।
मीमांसाकृतमुन्ममाथ तरसा हस्ती मुनिं जैमिनिं ॥१॥
छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिंगलं। चाज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः ॥१॥

५. तथा च गौतमः—यो मोहान्मत्तनागेन्द्रं समारोहति दुर्मतिः। तस्य जीवितनाशः स्याद्गात्रभंगस्तु निश्चितः ॥१॥

अश्व क्रीड़ा से हानि—

अत्यर्थं हयविनोदोऽङ्गभङ्गमनापाद्य न तिष्ठति ॥५१॥

अर्थ—घोड़े पर सवार होकर जो उससे अत्यधिक क्रीड़ा की जाती है, वह सवार के शारीरिक अङ्गोपाङ्ग तोड़े विना विश्राम नहीं लेती ॥५१॥

विशेषार्थ—रैभ्य[1] ने भी उक्त विषय का उल्लेख किया है।

दो सूत्रों में कर्जा न चुकानेवाले की दुर्गति—

ऋणमददानो दासकर्मणा निर्हरेत् ॥५२॥

अर्थ—जो ऋणी पुरुष ऋण देनेवाले धनाढ्य पुरुष का कर्जा विना चुकाए ही मर जाता है, उसे दूसरे जन्म में दास होकर उसका ऋण चुकाना पड़ता है ॥५२॥

विशेषार्थ—नारद[2] ने भी कर्जा न चुकाने वाले के विषय में उक्त बात कही है।

अन्यत्र यतिब्राह्मणक्षत्रियेभ्यः ॥५३॥

अर्थ—परन्तु साधु, ब्राह्मण और क्षत्रियों पर उक्त कर्जा का नियम लागू नहीं होता; क्योंकि साधु और विद्वान् ब्राह्मणों से धनाढ्यों का हित-साधन होता है, अतः वे ऋणी नहीं रहते। इसीप्रकार क्षत्रिय राजा लोग जो प्रजा से टेक्स वसूल करते हैं वह कर्जा ही नहीं कहा जाता ॥५३॥

विशेषार्थ—भार्गव[3] ने भी यही कहा है।

व्याधि-ग्रस्त शरीर शत्रु-सरीखा होता है—

तस्यात्मदेह एव वैरी यस्य यथालाभमशनं शयनं च न सहते ॥५४॥

अर्थ—जिसका यथालाभ भोजन और शयन रोगादि के कारण सुखप्रद नही है अर्थात्—पचता नहीं है, उस व्यक्ति का अपना शरीर ही शत्रु है ॥५४॥

विशेषार्थ—जैमिनि[4] ने भी उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

साधु जीवनवाले महापुरुष की विशेषता—

तस्य किमसाध्यं नाम यो महामुनिरिव सर्वान्नीनः सर्वक्लेशसहः सर्वत्र सुखशायी च ॥५५॥

अर्थ—जो व्यक्ति महामुनि-सरीखा उत्तम-मध्यम-आदि सभी जाति के अन्न-भक्षण करने की रुचि रखनेवाला है और समस्त प्रकार के शीत-उष्ण-आदि के कष्ट-सहन करने में समर्थ है एवं सभी जगह (पाषाण-आदि) पर सुखपूर्वक निद्रा लेने की प्रकृति-युक्त है उसे ससार में कोई कार्य असाध्य नही है ॥५५॥

विशेषार्थ—गुरु[5] ने भी साधु जीवन के विषय में उक्त प्रकार उल्लेख किया है।

१. तथा च रैभ्यः—अत्यर्थं कुरुते यस्तु वाजिक्रीडा सकौतुकां। गात्रभंगो भवेत्तस्य रैभ्यस्य वचनं यथा ॥१॥

२. तथा च नारदः—ऋण यच्छति नो यस्तु धनिकाय कथंचन। देहान्तरमनुप्राप्तस्तस्य दासत्वमाप्नुयात् ॥१॥

३. तथा च भार्गवः—यतीनां च दासत्वं न विद्यते ऋणजं परं ॥१॥

४. तथा च जैमिनिः—भोजनं यस्य नो याति परिणामं न भक्षितं। निद्रा सुशयने नैति तस्य कायो निजो रिपुः ॥१॥

५ तथा च गुरुः—नारुचि. क्वचिदन्न्ये तवन्तेऽपि कथंचन। निद्रां कुर्वं हि तस्यापि स समर्थः सदा भवेत् ॥१॥

लक्ष्मी का स्वरूप—

स्त्रीप्रीतिरिव कस्य नामेयं स्थिरा लक्ष्मीः ॥५६॥

अर्थ—स्त्री की प्रीति-सरीखी यह लक्ष्मी भी किसके पास स्थिर रह सकती है ? ॥५६॥

राजाओं के प्रेमपात्र—

परपैशून्योपायेन राज्ञां वल्लभो लोकः ॥५७॥

अर्थ—प्राय: लोग दूसरों की चुगली करनेरूप उपाय से राजाओं के प्रेमपात्र होते है ॥५७॥

विशेषार्थ—हारीत[1] ने भी राजाओं के प्रेमपात्र होने का उक्त उपाय बताया है।

जिस कर्म से नीच अपने को बड़ा मानता है—

नीचो महत्त्वमात्मनो मन्यते परस्य कृतेनापवादेन ॥५८॥

अर्थ—नीच पुरुष दूसरों की निन्दा करके अपने को बड़ा मानता है ॥५८॥

विशेषार्थ—जैमिनि[2] ने भी नीच पुरुष का यही लक्षण किया है।

गुण-कृत महत्त्व—

न खलु परमाणोरल्पत्वेन महान् मेरुः किन्तु स्वगुणेन ॥५९॥

अर्थ—जिसप्रकार सुमेरु पर्वत अपने गुण (ऊँचाई-आदि) के कारण महान् है न कि परमाणु की लघुता की दृष्टि से, उसीप्रकार मानव भी विद्वत्ता और सदाचार-आदि सद्गुणों से महान् होता है न कि किसी व्यक्ति की दुष्टता की दृष्टि से ॥५९॥

विशेषार्थ—गुरु[3] ने भी सुमेरु की महत्ता के विषय में कहा है।

महापुरुषों की विशेषता—

न खलु निर्निमित्तं महान्तो भवन्ति कलुषितमनीषाः ॥६०॥

अर्थ—निस्सन्देह महापुरुष बिना किसी कारण के ही किसी के प्रति कलुषित बुद्धिवाले (कुपित बुद्धिवाले) नही होते अर्थात्—जिस प्रकार दुष्ट लोग बिना प्रयोजन अचानक कुपित हो जाते है वैसे महापुरुष नही होते वे किसी कारण-वश कुपित होते है ॥६०॥

विशेषार्थ—भारद्वाज[4] ने भी महापुरुषों के विषय में यही कहा है।

दृष्टान्तपूर्वक सत्-असत् संग का प्रभाव—

स वह्नेः प्रभावो यत्प्रकृत्या शीतलमपि जलं भवत्युष्णं ॥६१॥

अर्थ—जिसप्रकार स्वभाव से शीतल जल अग्नि के प्रभाव से उष्ण होजाता है उसीप्रकार कायर पुरुष भी वीर पुरुष के आश्रय से वीर होजाता है और वीर पुरुष भी कायर के आश्रय से कायर होजाता है ॥६१॥

१. तथा च हारीतः—पैशून्ये निरतो लोको राज्ञां भवति वल्लभः। कातरोऽप्यकुलीनोऽपि बहुदोषान्वितोऽपि च ॥१॥
२. तथा च जैमिनिः—आत्मानं मन्यते भद्रं नीचः परापवादतः। न जानाति परे लोके पातं नरकसंभवम् ॥१॥
३. तथा च गुरुः—नीचेन कर्मणा मेरुर्न महत्त्वमुपागतः। स्वभावनियतिस्तस्य यथा याति महत्त्वताम् ॥१॥
४. तथा च भारद्वाजः—न भवन्ति महात्मानो निर्निमित्तं क्रुधान्विताः। निमित्तेऽपि संजाते यथान्ये दुर्जना जनाः ॥१॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[1] ने भी कहा है—'घोड़ा, शस्त्र, शास्त्र, वीणा-वाणी आदि, पुरुष विशेष के आश्रय से योग्य और अयोग्य होजाते हैं।

प्रयोजनार्थी का कर्तव्य—

सुचिरस्थायिनं कार्यार्थी वा साधूपचरेत् ॥६२॥

अर्थ—अपनी कार्य-सिद्धि के इच्छुक मनुष्य को ऐसे मानव की अच्छी तरह सेवा करनी चाहिए, जो कि स्थिर बुद्धिवाला हो और उसकी कार्य-सिद्धि में सहायता देने की क्षमता रखता हो ॥६२॥

विशेषार्थ—शुक्र[2] का उद्धरण भी उक्त विषय की प्रतिष्ठा करता है।

निर्धन का धनाढ्य के प्रति कर्तव्य—

स्थिरैः सहार्थोपचारेण व्यवहारं न कुर्यात् ॥६३॥

अर्थ—दुर्बल (निर्धन) पुरुष को स्थायी (धनाढ्य व्यक्ति) के साथ अर्थ व्यवहार (रुपये पैसे के लेन देन का संबंध) नहीं करना चाहिए ॥६३॥

विशेषार्थ—गुरु[3] ने भी उक्त विषय का निरूपण किया है।

दो सूत्रों में सत्पुरुष-सेवा का परिणाम—

सत्पुरुषपुरश्चारितया शुभमशुभं वा कुर्वतो नास्त्यपवादः प्राणव्यापादो वा ॥६४॥

अर्थ—सत्पुरुषों की सेवा करने से मानव में ऐसा व्यक्तित्व आजाता है, कि वह अच्छा-बुरा कुछ भी कार्य कर रहा है अर्थात्-यदि अपराध कर बैठता है उससे उसकी निन्दा अथवा प्राण-सङ्कट नहीं होता ॥६४॥

विशेषार्थ—हारीत[4] ने भी महापुरुषों की सेवा का उक्त माहात्म्य निर्दिष्ट किया है।

सपदि सम्पदमनुबध्नाति विपच्च विपदं ॥६५॥

अर्थ—सत्पुरुषों की सेवा तत्काल सम्पत्ति उत्पन्न करती है और विपत्ति का नाश करती है ॥६५॥

विशेषार्थ—हारीत[5] ने भी महापुरुषों की सेवा का इसी प्रकार माहात्म्य बताया है।

कार्यार्थी का कर्तव्य—

गोरिव दुग्धार्थी को नाम कार्यार्थी परस्परं विचारयति ॥६६॥

अर्थ—जिसप्रकार गाय से दूध चाहनेवाला व्यक्ति उसके आचार (अपवित्र वस्तु का भक्षण) पर दृष्टि पात नहीं करता उसीप्रकार अपना प्रयोजन सिद्ध करनेवाला व्यक्ति भी प्रयोजन सिद्धि में सहायक व्यक्ति के कार्य-अकार्य पर विचार नहीं करता ॥६६॥

विशेषार्थ—शुक्र[6] ने भी प्रयोजन सिद्धि के इच्छुक पुरुष का यही कर्तव्य बताया है।

सुखी बनाने वालीं वस्तुएँ—

शास्त्रविदः स्त्रियश्चानुभूतगुणाः परमात्मानं रञ्जयन्ति ॥६७॥

---

१. तथा च वल्लभदेवः—अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च।
पुरुषविशेषं लब्ध्वा भवन्ति योग्या अयोग्याश्च ॥१॥

२. तथा च शुक्रः—कार्यार्थी वा यशोऽर्थी वा साधु संसेवयेत्स्थिरं। सर्वात्मना ततः सिद्धिः सर्वदा यत्प्रजायते ॥१॥

३. तथा च गुरुः—महद्भिः सह नो कुर्याद् व्यवहारं सुदुर्बलः। गतस्य गोचरं तस्य न स्यात्प्राप्त्या महान् व्ययः ॥१॥

४. तथा च हारीतः—महापुरुषसेवायामपराधेऽपि संस्थिते। नापवादो भवेत्पुंसां न च प्राणवधस्तथा ॥१॥

५. तथा च हारीतः—शीघ्रं [समानयेल्लक्ष्मी] नाशयेद्व्यसनं महत्। सत्पुरुषे कृता सेवा कालेनापि च नान्यथा ॥१॥

६. तथा च शुक्रः—कार्यार्थी न विचारं च कुरुते च प्रियान्वितः। दुग्धार्थी च पशोर्धेनोरमेध्यस्य प्रभक्षणात् ॥१॥

अर्थ—जिनके प्रकाण्ड ज्ञान व सदाचार-आदि गुणों का अनुभव किया गया है, ऐसे शास्त्र वेत्ता विद्वान् और कमनीय कामिनियाँ (स्त्रियाँ) अपने को और दूसरे मानवों को सुखी बनाती हैं ॥६७॥

विशेषार्थ—शुक्र[1] ने भी उक्त दोनों वस्तुओं को आल्हादजनक कहा है।

राजा के प्रति मनुष्य-कर्तव्य—

चित्रगतमपि राजानं नावमन्येत क्षात्रं हि तेजो महती सत्पुरुषदेवतास्वरूपेण तिष्ठति ॥६८॥

अर्थ—चित्र-गत भी राजा का अपमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि क्षत्रियत्व का तेज निस्सन्देह महान् पुरुष शरीर धारक देवता के रूप में वर्तमान होता है ॥६८॥

विशेषार्थ—गर्ग[2] ने भी राजा को पूज्य कहा है।

कार्य आरम्भ करने के उपरान्त विचार निरर्थक—

कार्यमारभ्य पर्यालोचः शिरो मुण्डयित्वा नक्षत्रप्रश्न इव ॥६९॥

अर्थ—जिसप्रकार शिर का मुण्डन कराकर पश्चात् शुभ नक्षत्र का पूँछना निरर्थक है उसीप्रकार कार्य आरम्भ करने के उपरान्त उसके शुभाशुभ का विचार करना भी निरर्थक है। सारांश यह है कि कार्य आरम्भ करने के पूर्व में ही उस पर विचार कर लेना उचित है ॥६९॥

विशेषार्थ—नारद[3] ने भी दो पद्यों में उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

ऋण शेष रखने से हानि—

ऋणशेषाद्रिपुशेषादिवावश्यं भवत्यायत्यां भयं ॥७०॥

अर्थ—जो मानव शत्रु को शेष रखने की तरह ऋण शेष रखता है उसे भविष्य में भय रहता है। सारांश यह है सुखाभिलाषी पुरुष अग्नि, रोग, शत्रु और ऋण इन चार कष्टदायक चीजों को शेष न रक्खे अन्यथा ये बढ़कर अत्यन्त पीड़ा पहुँचाती है ॥७०॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] ने भी उक्त चार चीजों के उन्मूलन करने का उल्लेख किया है।

नया सेवक अविश्वसनीय—

नवसेवकः को नाम न भवति विनीतः ॥७१॥

अर्थ—कौन नया सेवक विनयशील नहीं होता ? अर्थात्—प्रारम्भ मे सभी सेवक विशेष नम्रता प्रदर्शित करते है परन्तु भविष्य में नहीं ॥७१॥

विशेषार्थ—वल्लभदेव[5] ने भी प्रायः सभी मनुष्यों को नये सेवकों की विनय द्वारा एवं अतिथि, वेश्याओं-आदि के मीठे वचनों द्वारा ठगे जाने का उल्लेख किया है।

प्रतिज्ञा निर्वाह—

यथाप्रतिज्ञं को नामात्र निर्वाहः ॥७२॥

---

१ तथा च शुक्रः—स्त्रियं वा यदि वा किञ्चित्तदनुभूय विचक्षणाः। आत्मानं चापरं वापि रञ्जयन्ति न चान्यथा ॥१॥

२. तथा च गर्गः—नावमन्येत भूपालं हीनकोशं सुदुर्बलं। क्षात्रं तेजो यतस्तस्य देवरूपं तनौ वसेत् ॥१॥

३. तथा च नारदः—अनारम्भेण कृत्यानामालोचः क्रियते पुरा। आरम्भे तु कृते पश्चात्पर्यालोचो वृथा हि सः ॥१॥
शिरसो मुण्डने यद्वन् कृते मूर्खतमैर्नरैः। [सुनक्षत्रस्य प्रश्नोऽत्र] पर्यालोचस्तथैव सः ॥२॥

४. तथा च शुक्रः—अग्निशेषं रिपोः शेषं तृणार्णाम्या च शेषकं। पुनः पुनः प्रवर्धेत तस्मान्निःशेषता नयेत् ॥१॥

५. तथा च वल्लभदेवः—अभिनवसेवकविनयैः प्राघूर्णिकोक्तैर्विलासिनीरुदितैः।
धूर्तजनवचननिकरैरिह कश्चिदवञ्चितो नास्ति ॥१॥

अर्थ—इस लोक में अपनी प्रतिज्ञा के अनुरूप कौन उसका निर्वाह कर पाता है? सारांश यह है खूब सोच-समझकर प्रतिज्ञा लेकर उसका पालन करना चाहिए, अन्यथा प्रतिज्ञा भङ्ग होने से पुण्य क्षीण होता है ॥७२॥

विशेषार्थ—नारद[1] के उद्धरण में भी प्रतिज्ञा के निर्वाह का उल्लेख है।

निर्धन अवस्था में उदारता—

अप्राप्तेऽर्थे भवति सर्वोऽपि त्यागी ॥७३॥

अर्थ—निर्धन अवस्था में सभी लोग उदार होते हैं। सारांश यह है कि दरिद्रावस्था में प्रायः सभी लोग प्रचुर दान करने के मनोरथ करते हैं, पश्चात् धनाढ्य होनेपर दान से मुख मोड़ लेते हैं ॥७३॥

विशेषार्थ—रैभ्य[2] का उद्धरण भी समानार्थक है।

धनाभिलाषी का कर्तव्य—

अर्थार्थी नीचैराचरणान्नोद्विजेत् किन्नाधो व्रजति कूपे जलार्थी ॥७४॥

अर्थ—धन का इच्छुक व्यक्ति अपनी प्रयोजनसिद्धि के लिए नीच आचरण से भी भयभीत नहीं होता, क्या जलाभिलाषी मनुष्य कुआ खोदते समय नीचे नहीं जाता? ॥७४॥

विशेषार्थ—शुक्र[3] का उद्धरण भी समानार्थक है।

स्वामी द्वारा पृथक् किये हुए सेवक का कर्तव्य—

स्वामिनोपहतस्य तदाराधनमेव निर्वृतिहेतुः, जनन्या कृतविप्रियस्य हि बालस्य जनन्येव भवति जीवितव्याकरणं ॥७५॥

अर्थ—जिस प्रकार अपराध के कारण माता द्वारा तिरस्कृत किये हुए बच्चे की माता ही जीवन-रक्षा करती है उसी प्रकार अपराध-वश पृथक् किये हुए सेवक की जीवन रक्षा उसके द्वारा पुनः कीं जाने वाली स्वामी की सेवा-शुश्रूषा द्वारा ही होती है ॥७५॥

विशेषार्थ—शुक्र[4] का उद्धरण भी उक्त विषय में समानार्थक है।

इति प्रकीर्णक-समुद्देशः।

इसप्रकार दार्शनिक-चूड़ामणि श्रीमद्वम्बादास जी शास्त्री व श्रीमत्पूज्य आध्यात्मिक सन्त श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य एवं वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के भूतपूर्व साहित्य विभाग के अध्यक्ष न्यायाचार्य, साहित्याचार्य और कविचक्रवर्ती श्रीमत्मुकुन्दशास्त्री खिस्ते के प्रधान शिष्य, 'नीतिवाक्यामृत' और 'यशस्तिलकचम्पू' महाकाव्य के अनुसन्धान-पूर्वक भाषा टीकाकार सम्पादक व प्रकाशक, जैनन्यायतीर्थ, प्राचीन न्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ, आयुर्वेद विशारद एवं महोपदेशक-आदि अनेक उपाधि-विभूषित सागर (म० प्र०) निवासी परवार जैन जातीय श्रीमत्सुन्दरलाल शास्त्री द्वारा रची हुई श्रीमत्सोमदेव सूरि के 'नीतिवाक्यामृत' के द्वितीय संस्करण की 'नीतिवाक्यामृत-बोधिका' नाम को भाषाटीका में बत्तीसवाँ 'प्रकीर्णक समुद्देश' समाप्त हुआ।

इति भद्रं भूयात्।

१. तथा च नारदः—प्रतिज्ञां यः पुरा कृत्वा पश्चाद्भंगं करोति च। ततः स्याद्गमनिश्च हसत्येव जानन्ति के? ॥१॥

२. तथा च रैभ्यः—दरिद्रः कुरुते वाञ्छां सर्वदानसमुद्भवा। यावन्नाप्नोति वित्तं स वित्ताप्त्या विमुखो भवेत् ॥१॥

३. तथा च शुक्रः—स्वकार्यसिद्धये पुंभिर्नीचमार्गोऽपि सेव्यते। कूपस्य खनने यद्वत् पुरुषेण जलार्थिना ॥१॥

४. तथा च शुक्रः—निःसारितस्य भृत्यस्य स्वामी निर्वृतिकारणं। यथा कुपितया मात्रा बालस्यापि च सा गतिः ॥१॥

ग्रन्थकार की प्रशस्ति

इति सकलतार्किकचक्रचूडामणिचुम्बितचरणस्य, पंचपंचाशन्महावादिविजयोपार्जितकीर्तिमन्दाकिनी-पवित्रितत्रिभुवनस्य, परमतपश्चरणरत्नोदन्वतः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः प्रियशिष्येण वादीन्द्रकालानलश्रीमन्महेन्द्र-देवभट्टारकानुजेन, स्याद्वादाचलसिंह-तार्किकचक्रवर्तिवादीभपंचानन वाक्कल्लोलपयोनिधिकविकुलराजप्रभृतिप्रश-स्तिप्रशस्तालङ्कारेण, षण्णवतिप्रकरण-युक्तिचिन्तामणिसूत्र-महेन्द्रमातलिसंजल्पयशोधरमहाराजचरितमहा-शास्त्रवेधसा श्रीसोमदेवसूरिणा विरचितं (नीतिवाक्यामृतं) समाप्तमिति ।

अर्थ—जिनके चरणकमल समस्त तार्किकचक्रचूड़ामणियों द्वारा पूजे गये हैं, जिन्होंने पचपन महा-वादियों पर विजयश्री पाने से प्राप्त की हुई कीर्तिरूपी स्वर्गंगा से तीन भुवन पवित्र किये हैं एवं जो परम तपश्चरणरूपी रत्नों के रत्नाकर (समुद्र) है, ऐसे श्रीमान् भगवान् 'नेमिदेव' के प्रिय शिष्य, वादीन्द्रकालानल श्रीमान् महेन्द्रदेवभट्टारक के लघु भ्राता, 'स्याद्वादाचलसिंह', 'तार्किकचक्रवर्ती', 'वादीभपंचानन', 'वाक्कल्लोल-पयोनिधि', 'कविकुलराज' इत्यादि प्रशस्तियों से अलङ्कृत तथा षण्णवतिप्रकरण, युक्तिचिन्तामणि, महेन्द्र-मातलिसंजल्प, यशोधरमहाराज चरित (यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य) रूप महाशास्त्र के बृहस्पति-सरीखे रचयिता ऐसे श्रीमान् सोमदेवसूरि द्वारा विरचित 'नीतिवाक्यामृत' नाम का राजनीतिशास्त्र समाप्त हुआ ।

अल्पेऽनुग्रहधीः समे सुजनता मान्ये महानादरः, सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरिते श्रीसोमदेवे मयि ।
यः स्पर्धेत तथापि दर्पदृढताप्रौढिप्रगाढाग्रहस्तस्याखर्वितगर्वपर्वतपविर्मद्वाक् कृतान्तायते ॥१॥
सकलसमयतर्के नाकलङ्कोऽसि वादी, न भवसि समयोक्तौ हंससिद्धान्तदेवः ।
न च वचनविलासे पूज्यपादोऽसि तत्त्वं, वदसि कथमिदानीं सोमदेवेन सार्धम् ॥२॥
[दुर्जनांघ्रिपकठोरकुठार] स्तर्ककर्कशविचारणसारः । सोमदेव इव राजनि सूरिर्वादिमनोरथभूरिः ? ॥३॥

संशोधितं परिवर्तितं च—सम्पादक

दर्पान्धबोधबुधसिन्धुरसिंहनादे वादिद्विपोद्दलनदुर्धरवाग्विवादे ।
श्रीसोमदेवमुनिपे [वचनासराले[1]] वागीश्वरोऽपि पुरतोऽस्ति न वादकाले ॥४॥ —सं० परि० —सम्पादक

अर्थ—'छोटों के साथ अनुग्रह, बराबरी वालों के साथ सज्जनता और पूज्य पुरुषों के साथ महान् आदर का बर्ताव करना' यह उच्च व चित्र (आश्चर्यजनक) चरित्रवाले मुझ सोमदेव का सिद्धान्त है, तथापि जो व्यक्ति अत्यधिक गर्व-वृद्धि से दुराग्रही होकर मुझ से स्पर्द्धा करता है—ऐंठ दिखाता है—उसके गर्वरूप पर्वत को भेदन करने के लिए मेरे वचन वज्रसरीखे व काल-तुल्य आचरण करते है ॥१॥

हे वाद-विवाद करनेवाले वादी ! न तो तू समस्त दर्शनशास्त्रों पर तर्क करने के लिए अकलङ्कदेव के समान है, न जैन सिद्धान्त निरूपण करने के लिए हंससिद्धान्तदेव-सा है और न व्याकरण मे पूज्यपाद के समान उसका पारदर्शी है, फिर इस समय पर सोमदेव सूरि के साथ किस बिरते पर बात करने तत्पर हुआ है ? ॥२॥

श्रीमत्सोमदेवसूरि राजा के समान गुणों से विभूषित हैं, क्योकि वे दुर्जनरूपी वृक्षों के उन्मूलन करने के लिए तीक्ष्ण कुठार (कुल्हाड़ी) सरीखे हैं, तर्कशास्त्र (न्यायशास्त्र और पक्षान्तर में मुद्दई मुद्दायलों के मुकदमें

---

१. महति । 'असरालाः महान्तः' इति यश० पञ्जिकाकारः ।

का न्यायोचित निर्णय) के गम्भीर विचार करने में शक्तिशाली हैं तथा अपनी दार्शनिक विद्वत्ता से वादियों को परास्त करनेवाले हैं और पक्षान्तर में अर्थात्—राजा के पक्ष में वादी प्रतिवादी के विवाद में सत्यता के निर्णायक हैं ॥३॥

अत्यधिक अभिमानी पण्डित रूप हाथियों को सिंह-सरीखे ललकारने वाले, वादीरूप गजों को दलित करनेवाला दुर्धर वादविवाद करनेवाले और युक्ति-युक्त वक्तृत्वकला से महान् (तार्किक चूड़ामणि) 'सोमदेवसूरि' के सामने वाद के समय जब बृहस्पति भी नहीं ठहर सकता, फिर अन्य साधारण पण्डित किस प्रकार ठहर सकते हैं ? ॥४॥

इति ग्रन्थकार की प्रशस्ति समाप्त ।

अन्त्य मङ्गलगान व आत्मपरिचय—

जो है मोक्षमार्ग का नेता अरु रागादि विजेता है।
जिसकी पूर्णज्ञान-रश्मि से, जग प्रतिभासित होता है।
जिसकी चरणकमल-सेवा से, यह अनुवाद रचाया है।
ऐसे 'ऋषभदेव' को हमने, शत-शत शीश नवाया है ॥१॥

दोहा

सागर नगर मनोज्ञतम, धर्म-धान्य आगार। वर्णाश्रम-आचार का, शुभ्ररूप साकार ॥१॥
जैनी जन तहँ बहु वसें, दयाधर्म निजधार। पूज्य चरण वर्णी लसे, जिनसे हों भव पार ॥२॥
जैन जाति परवार में जनक 'कन्हैयालाल'। जननी 'हीरादेवि' थीं, कान्तरूप गुणमाल ॥३॥
पुत्र पाँच उनसे भये, पहले 'पन्नालाल'। दूजे 'कुंजीलाल' अरु, तीजे 'छोटेलाल' ॥४॥
चौथे 'सुन्दरलाल' वा, पंचम 'भगवतलाल'। प्रायः सबही बन्धुजन, रहें मुदित खुशहाल ॥५॥
वर्तमान में बन्धु दो, विलसत हैं अमलान। बड़े 'छोटेलाल' वा 'सुन्दरलाल' सुजान ॥६॥
भाई 'छोटेलाल' तो, करें वणिज व्यापार। जिनसे रहती है सदा, कमला मुदित अपार ॥७॥
बाल्यकाल तें मम रुचि, प्रकटी विद्या हेत। तातें हम काशी लसे, ललित कला-संकेत ॥८॥

चौपाई

द्वादश वर्ष साधना करी। गुरु-पद पङ्कज में चित दई।
'मातृसंस्था[1]' में शिक्षा लही। गैल सदा उन्नति की गही ॥९॥
व्याकरण, काव्य, कोश, अतिमाना। तर्क, धर्म, अरु नीति बखाना।
[2]वाग्मित्व-आदि कला परधाना। नानाविध सिख भयो सुजाना[3] ॥१०॥

दोहा

कलकत्ता कालेज की, तीर्थ उपाधि महान। जो हमने उत्तीर्ण कीं, तिनका करूँ बखान ॥११॥

१. श्री स्याद्वाद जैन महाविद्यालय का स्नातक—सम्पादक। २. वक्तृत्वकला। ३.

चौपाई

पहली 'न्यायतीर्थ' कूँ आनों। दूजी 'प्राचीनन्याय'[1] प्रमानों।
तीजी 'काव्यतीर्थ' को मानों। जिसमें साहित्य सकल समानों ॥१२॥
गुरुजन मेरे विद्यासागर। ललितकला के सरस सुधाकर।
पहले शास्त्री 'अम्बादत्त'। जो थे दर्शनशास्त्र महत्त ॥१३॥
दूजे श्रीमद्गुरु 'गणेश' थे, न्यायाचार्य अरु तीर्थ समान।
वर्णी बापू थे अति दार्शनिक, सौम्यप्रकृति वा सन्त महान ॥१४॥

दोहा

सरस्वती मेरी प्रिया, उनसे हुई सन्तान। एक पुत्र पुत्री-उभय, जो है बहु गुणखान ॥१५॥
पत्नी मम दुर्दैव ने, सद्यः लीनी छीन। सुवंशवेलि बढ़ावने, सुत 'मनहर' परवीन ॥१६॥
मेरी शिष्य परम्परा भी है अति विद्वान। जिसका अति संक्षेप से, अब हम करें बखान ॥१७॥
पहले 'महेन्द्रकुमार' है दूजे 'पवनकुमार'। 'मनरञ्जन' तीजे लसें चौथे 'कनककुमार' ॥१८॥

चौपाई

वि० संवत् वीस से द्वय तीस, माघ शुकल तेरस दिन ईश।
पूर्ण प्रकाशित जब यह हुआ, शुभ उद्यम का मम फल हुआ ॥१९॥

दोहा

अल्पबुद्धि परमाद तें भूल चूक जो होय।
सुधी सुधार पढ़ो सदा, जाते सज्जन होय ॥२०॥

सुन्दरलाल शास्त्री
प्राचीनन्याय-काव्यतीर्थ—सम्पादक

१. भारतीय षड्दर्शन शास्त्र की उपाधि परीक्षा।

'धन्यवाद'

निम्नलिखित उदार, श्रुतभक्त, सज्जन महानुभावों ने श्रुत-सेवा की पवित्र भावना से प्रेरित होकर प्रस्तुत ग्रन्थरत्न की निम्न प्रकार प्रतियों के, निर्धारित मूल्य में ग्राहक बनते हुए एवं प्रकाशनार्थ भी कुछ आर्थिक सहयोग देते हुए इसके द्वितीय संस्करण के प्रकाशन में प्रोत्साहित किया, अतः प्रकाशन संबंधी इस मङ्गलमय वेला में हम उन्हें हार्दिक अनेक धन्यवाद अर्पित करते हैं।

नाम	प्रति-संख्या
श्री दा० सेठ भगवानदास जी शोभालाल जी चेरिटेबिल ट्रस्ट सागर (म० प्र०)	१०
श्री प्रिन्सिपल श्री महावीर जैन, ब्रह्मचर्याश्रम (गुरुकुल) कारंजा (अकोला)	१०
श्री धर्म० सेठ गुलाबचन्द्र जी माणिकचन्द्र जी काला सांभरलेक (जयपुर)	१०
श्री दा० वा० सुबोधकुमार जी रईस आरा मंत्री श्री दि० प्रान्तीय तीर्थ क्षेत्र कमेटी	१०
सुराणा विश्व बन्धुत्व ट्रस्ट १३९० चाँदनी चौक देहली	१०
श्री धर्म० दयावती देवी जैन धर्म० श्री सेठ मोती-लाल जी जैन फजलगंज कानपुर	४
श्री दा० कृष्णादेवी जैन धर्म० श्री दा० वा० रामकुमार जी जैन B. A. LL. B वकील प्रतापगढ	४
श्री धर्म० दयावती देवी धर्म० श्री सेठ रामनाथ जी सर्राफ नयागंज कानपुर	४
श्री धर्म० मातेश्वरी Dr स्नेहलता देवी जैन M. A. M. E D. P. H. D, इलाहाबाद	४
श्री दा० कुसुमकुमारी देवी मातेश्वरी श्री वा० सुबोधकुमार जी कागजी अहियागंज लखनऊ	४
श्री धर्म० सौ० चन्द्रकलादेवी सुपुत्री श्री वा० फूलचन्द्र जी जैन गोटेवाले लखनऊ	४
श्री धर्म० चम्पादेवी धर्म० श्री वा० गुलाबचन्द्र जी बीड़ी मर्चेण्ट कानपुर	४

नाम	प्रति संख्या
श्री धर्म० ब्र० प्यारीदेवी श्री १०८ पूज्य मुनिराज पुष्पदन्तसागरजी महाराज संघ C/O श्री राजकुमार श्रवणकुमारजी oil एण्ड Rice मिलवाले तालकटोरा रोड, लखनऊ	४
श्री गुप्तदान मारफत श्री १०८ मुनिराज पुष्पदन्तसागरजी महाराज लखनऊ	४
श्री धर्म० कुसुमलक्ष्मी देवी धर्म० श्री चन्द्रकुमारजी जैन वैद्यराज Pro, सुधाकर औषधालय अमीनाबाद लखनऊ	४
श्री वा० महावीरप्रसादजी प्रेमचन्द्रजी मु० ऊहापकगंज पो० जायस (रायबरेली)	४
श्री धर्म० सरलादेवी धर्म० वा० देवेन्द्रकुमारजी जैन पारससदन आर्यनगर लखनऊ	४
श्री वा० कुन्दनमलजी माणिकचन्द्रजी गंगवाल गणेशगंज लखनऊ	४
श्री वा० ज्ञानचन्द्रजी सौभाग्यमलजी काला किरानामर्चेन्ट लखनऊ	४
श्री धर्म० वा० कस्तूरचन्द्रजी मुलतानमलजी वाकलीवाल बछरावा (रायबरेली)	
श्री धर्म० वा० हरकचन्द्रजी सेठी डेहवाले सीतापुर (लखनऊ)	
श्री दा० वा० लाढूलालजी सुमेरचन्द्रजी पाटनी डालीगंज लखनऊ	
श्री वा० इन्द्रचन्द्रजी जैन क्लॉथमर्चेन्ट डालीगंज लखनऊ	४

नाम	प्रति-संख्या
श्री धर्म० बाबूलाल पदमचन्द्रजी जैन टिकैतनगर (बारावंकी)	४
श्री धर्म० शिखरदेवी धर्म० बा० छोटेलालजी जैन Pro. छायासिनेमा बारावंकी	४
श्री पं० महीनाथजी झा डायरेक्टर जनसम्पर्क विभाग सेक्रेटिएट पटना	४
श्री दा० चमेलीदेवी धर्म० श्री बा० हुकमचन्द्रजी पाटोदी क्लॉथमर्चेन्ट बादशाहीनाका कानपुर (यू० पी०)	४
श्री दा० सेठ लालचन्द्रजी, फूलचन्दजी, हुकमचन्दजी चाँदूवाड़ फर्म श्री सेठ लक्ष्मीनारायण मेघराजजी एण्ड Co. कलरमर्चेन्ट कानपुर	४
श्री धर्म० बा० त्रिलोकचन्द्रजी लुहाड्या फर्म० श्री मूलचन्द्रजी हरिश्चन्द्रजी कमीशन एजेन्ट बेलनगंज आगरा (यू० पी०)	४
श्री धर्म० बा० पूर्णचन्द्रजी जैन फर्म० जैन हार्ड-वेयर स्टोर्स बेलनगंज आगरा (यू० पी०)	४
श्री दा० ला० महावीरप्रसादजी जैन, चैरिटेबिल ट्रस्ट चाँवड़ीबाजार देहली	४
श्री दा० ला० मुन्शीलालजी जैन रिजीजियस एण्ड चैरिटेबिल ट्रस्ट चाँवड़ीबाजार दिल्ली	४
श्री धर्म० ला० शान्तिलालजी कागजी फर्म० श्री ला० हजारीलाल शान्तिलालजी कागजी चाँवड़ीबाजार देहली	४
श्री दा० ला० सिद्धोमल चैरिटेबिल ट्रस्ट चाँवड़ी बाजार दिल्ली	४
श्री दा० मखमलीदेवी धर्म० श्री बा० दयाचन्द्र जी जैन रईस १५ लिंकरोड़ जंगपुरा न्यूदिल्ली १४	४
श्री धर्म० श्रीमतीदेवी धर्म० स्व० बा० राजेन्द्र कुमारजी जैन रईस दिल्ली फ्लोरमिल सब्जीमंडी दिल्ली	४
श्री धर्म० बा० मदनलालजी चाँदूवाड़ रामगंज मंडी (कोटा)	४

नाम	प्रति-संख्या
श्री धर्म० मुन्नीदेवी धर्म० श्री ला० राजेन्द्रकुमार जी जैन अन्सारी रोड़ दरियागंज देहली	४
श्री० बा० खेमचन्द प्रेमचंदजी जैन, १२५९ गली गुलियान देहली ६	४
श्री बा० रघुवीर सिंह प्रेमचन्द्रजी जैन रईस Pro, जैना वाच कम्पनी देहली	४
श्री धर्म० ला० करोड़ीमल सुमतिप्रकाशजी, सब्जी मंडी दिल्ली ७	४
श्री धर्म० ला० लट्टूमल नानूरामजी सब्जीमंडी दिल्ली	४
श्री धर्म० बा० सुन्दरसिंहजी जैन मन्त्री पद्मावती पोरवाल दि० जैन मन्दिर मस्जिदखजूर धर्मपुरा देहली	४
श्री दा० बिरमोदेवी मातेश्वरी श्री बा० रविकुमार जी जैन डिप्टीगंज देहली	४
श्री डा० बा० शीलचन्द्रजी सिंघई अध्यक्ष श्री महावीर औषधालय मुंगावली (गुना) (M P.)	४
श्री धर्म० बा० रमेशचन्द्रजी जैन समैया फर्म० श्री सेठ जमनादास फूलचन्द्रजी धान्य मिल-वाले मिरजापुर (यू० पी०)	३
श्री धर्म० बा० रतनलालजी, मदनलालजी नवरतनमलजी पहाड्या जैनरोडवेज करांची खाना कानपुर	३
श्री धर्म० बा० अञ्जनलालजी जैन फर्म० नेतराम एण्ड सन्स छीपीटोला आगरा (यू० पी०)	३
श्री धर्म० ला० गुमानीचन्द्रजी जैन मुलतानवाले ३५ साउथ बस्ती हरफूल सिंह फर्म० D. K. Jain देहली	३
श्री धर्म० अनारदेवी मातेश्वरी बा० महावीरप्रसाद जी जैन मिरजापुर	२
श्री बा० रामनाथजी रतनचन्द्रजी मिरजापुर	२
समस्त दि० जैन समाज कुनकुरी (रायगढ़) (M. P.) ह० बा० ज्ञानचन्द्र जी पाटोदी किराना ;	२

नाम	प्रति-संख्या
श्री सेठ मूलचन्द्र प्रकाशचन्द्रजी कासलीवाल सुपारी मर्चेन्ट विश्वेश्वर गंज वाराणसी	२
श्री धर्म० सेठ घीसालालजी जयचन्द्र लालजी विनायका क्लाथ मर्चेन्ट भागलपुर	२
श्री दा० वा० कपूरचन्द्रजी ट्रस्ट Pro, श्री धर्म० वा० रविचन्द्रजी जैन M.A. फर्म० विश्वेश्वर नाथ मूलचन्द्रजी टिम्बर मर्चेन्ट करांचीखाना कानपुर (यू० पी०)	२
श्री दि० जैन महिलासमाज शीशामहू कानपुर १२ (यू० पी०)	२
श्री धर्म० शीलकुमारीदेवी धर्म० श्री वा० इन्द्र-जीतजी जैन एडवोकेट स्वरूपनगर कानपुर (यू० पी०)	२
श्री महावीर कम्पनी बाराबंकी (यू० पी०)	२
श्री धर्म० मैनासुन्दरी देवी धर्म० वा० निर्मल कुमारजी जैन स्वरूपनगर कानपुर (यू०पी०)	२
श्री धर्म० मगनदेवी धर्म० श्री वा० विजयकुमार जी 'मगनविहार' कानपुर (यू० पी०)	२
श्री धर्म० केशवदेवजी जैन किरानामर्चेन्ट फर्म० श्री वंशीधर सुभाषचन्द्र नयागंज कानपुर (यू० पी०)	२
श्री वा० सुभाषचन्द्रजी जैन फर्म० वंशीधर सुभाष चन्द्र नयागंज कानपुर	२
श्री धर्म० महेन्द्रकुमार कमलकुमारजी जैन राजगद्दी हटिया कानपुर (यू० पी०)	२
श्री पुष्पादेवी धर्म० वा० मोहनलालजी जैन मोहन कुटीर कानपुर (यू० पी०)	२
श्री धर्म० सौभाग्यवती देवी धर्म० वा० देवकुमार जी जैन कानपुर (यू० पी०)	२
श्री धर्म० निर्मलादेवी धर्म० श्री वा० जुगमन्धर दासजी क्लॉथमर्चेन्ट वादशाही नांका कानपुर यू० पी०)	२
श्री धर्म० फतहचन्दजी ऋषभचन्द्रजी कानपुर (यू० पी०)	२

नाम	प्रति-संख्या
श्री दा० वा० छगनलाल उम्मेदमलजी पांड्या कुचामनवाले शान्तिरोड़वेज कानपुर यू० पी०	२
श्री धर्म० ला० ख्यालीराम अमोलकचन्द्रजी जैन रईस बेलनगंज आगरा (यू० पी०)	२
श्री धर्म० वा० हजारीमलजी मुरारीलालजी टोपीवाले जौहरी बाजार आगरा (यू० पी०)	२
श्री धर्म० वा० प्रकाशचन्द्रजी जैन रेडीमेड मन्त्री शास्त्र सभा श्री अग्रवाल दि० जैन बड़ा मन्दिर मोतीकटरा आगरा (यू० पी०)	२
श्री वा० शतीशचन्द्र देवेन्द्रकुमारजी जैन छीपी-टोला आगरा (यू० पी०)	२
श्री चन्दाबाबू जैन बाकलीवाल मोतीकटरा आगरा	२
श्री धर्म० रामोदेवी जैन अध्यापिका धर्म० श्री स्व० वा० कपूरचन्द्रजी जैन आगरा	२
श्री वा० महतापसिंहजी जौहरी एडवोकेट बड़ा दरीवा देहली	२
श्री धर्म० वा० ज्ञानचन्द्रजी जैन मन्त्री जैन समाज करोलवाग नई दिल्ली	२
श्री शान्तिप्रसादजी जैन करोलवाग नई दिल्ली	२
श्री वा० भोलारामजी ऋषभदासजी मुल्तानवाले सदरवाजार दिल्ली	२
श्री वा० प्रेमचन्द्रजी जैन मुल्तानवाले सदरवाजार दिल्ली	२
श्री वा० शिवनाथमल जी जैन मुलतानवाले सदर वाजार दिल्ली	२
श्री वा० भोलारामजी रंगीलालजी सदरवाजार दिल्ली ६	२
श्री वा० आडूरामजी जैन सदरवाजार दिल्ली	२
श्री वा० हंसराजजी जैन गांधीस्ट्रीट फतहपुरी दिल्ली	२
श्री वा० धनश्यामदासजी इन्द्रकुमारजी जैन वस्तीहरफूलसिंह दिल्ली	२
श्री धर्म० कान्तादेवी धर्म० श्री सेठ सुन्दरलालजी जैन वीड़ीमर्चेन्ट रूपनगर देहली	२

नाम	प्रति-संख्या
श्री धर्म० परसन्दी देवी धर्म लां० महावीरप्रसाद जी पनामावाले पहाड़ी धीरज दिल्ली	२
समस्त दि० जैन महिला समाज पहाड़ो धीरज दिल्लो	२
श्रो महावीर प्रसादजी प्रेमचन्द्रजी सितारोंवाले वड़ा दरीवा देहली	२
श्री धर्म० वा० कुलदोपकरायजी जैन मंत्री श्री जैन समाज शहादरा दिल्ली	२
श्री धर्म वा० जिनेन्द्रजो जैन रईस फर्शवाजार शहादरा दिल्ली	२
श्री धर्म० वा० मोतीलाल रतनलालजी वड़जात्या इम्फाल (मनीपुर)	२
श्री धर्म० विधावती देवी धर्म० श्री ला० वेजनाथ जी सरावगी किनारी वाजार दिल्ली	२
श्री महावीरप्रसाद जी सुखवीरप्रसाद जी जैन दरियागंज देहली	२
श्री वा० शिखरचन्द्रजी जैन धर्मपुरा दिल्ली	२
श्री वा० माणिकचन्द्रजी लुहाड़्या चाँवड़ी वाजार दिल्ली	२
श्री सेठ राजमल नथमलजी पाटनी जेलरोड वीकानेर	२
श्री वा० मांगीलालजी सेठिया दरियागंज देहली	२
श्री वा० विजयचन्द्रजी जैन M. A. सुपुत्र श्री ला० रतनलालजी माधोपुरिया स्कूल लेन नई दिल्ली	२
श्री धर्म० राजेश्वरी देवी धर्म० वा० ऋषभकुमार जी जैन इब्राहीमपुरा (भोपाल)	२

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
कार्यपात्र	कार्यपात्रं	५	२२
सचय	संचय	१३	१०
ततसुखी	ततः सुखी	१९	८
परदारतो	परदाररतो	२२	टि० पं० ३
वुद्धि	बुद्धि	३१	२१
विशेषाथ	विशेषार्थं	४०	१
'क्षुत्तपीड़ा'	'क्षुत्तर्षपीड़ा'	४७	टि० ३
कुत्तः	कुतः	५०	टि० १
यूजने	पूजने	५६	टि० ४
प्रतिष्ठायो	प्रतिष्ठाप्यो	५७	टि० ४
तपस्तेपां	तपसस्तेषां	५९	टि० २
वाद्धुषिकानाम्	वार्द्धुषिकानां	६७	२
गुरु[२]	गुरु[४]	८८	२५
स्वभावन	स्वभावेन	९७	२
गृहंन्तयात्	गृह्णीयात्	१००	११
चर्याः	चार्यः	१२०	२०
दर्ण्डत	दण्डित	१५२	२४
करनी	करती	१७६	१९
जहरले	जहरीले	१८०	१७
अतिप्रसक्ते	अतिप्रसक्तेः	१८१	७
अत्वधिक	अत्यधिक	१८१	८
ति के	पति के	१८१	९
परि म	परिणाम	१८१	१०
मनशायिषु	मनुशायिषु	१९०	२१
बिवदः	विबादः	२३१	७